KGS IAS

भारतीय राज्यव्यवस्था

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform

KGS IAS

Test Series

UPSC Prelims 2024

Offline | Online

- Detailed Solutions for all Questions (PDF)
- Time - Bound, Disciplined, & Result-Oriented Tests
- Holistic Coverage of all Study Materials & Sources
- Pattern and Trend Based on UPSC CSE Prelims Exam
- Fundamental and Comprehensive Test

Scan to Know More

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform

विषय सूची

संविधान एवं शासन प्रणाली	1
भारत में संवैधानिक विकास एवं भारतीय संविधान	16
संविधान की प्रस्तावना	27
संघ और उसका राज्यक्षेत्र	30
नागरिकता	34
मूल अधिकार	42
राज्य के नीति निदेशक तत्व	58
मूल कर्तव्य	64
संघीय कार्यपालिका	66
संघीय विधायिका	83
उच्चतम न्यायालय	109
राज्य कार्यपालिका	124
राज्य विधानमंडल	137
जम्मू एवं कश्मीर	145
संघ-शासित प्रदेश	150
उच्च न्यायालय	154
स्थानीय प्रशासन	162
केन्द्र-राज्य संबंध	176
आपातकालीन प्रावधान	185
लोक सेवाएँ	190
निर्वाचन, राजनीतिक दल व दबाव समूह	193
विशेष वर्गों के लिए उपबंध	199
राजभाषा	201
संविधान संशोधन	203
संविधान की अनुसूचियाँ	209
संवैधानिक एवं गैर-संवैधानिक निकाय	211

Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

संविधान एवं शासन प्रणाली
(Constitution & System of Governance)

संविधान का अर्थ (Meaning of Constitution)

ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो जब से राज्य का उद्भव हुआ है तभी से राज्य व जनता के आपसी रिश्तों को संचालित करने के लिए कुछ नियमों को लिखित अथवा अलिखित रूप में स्वीकार किया गया। इसे संविधान का प्राचीनतम रूप माना जा सकता है।

आधुनिक संदर्भ में संविधान किसी भी देश की सर्वोच्च मौलिक विधि होती है। संविधान का तात्पर्य उस लेखपत्र (Document) या दस्तावेज़ से है, जिसको एक विशिष्ट वैधानिक गरिमा प्राप्त होती है और जो सरकार की रूपरेखा व प्रमुख कृत्यों (Functioning) का निर्धारण करता है।

संविधान का आशय विभिन्न विद्वानों द्वारा निम्नानुसार है:–

- ***डायसी के अनुसार***– 'संविधान उन समस्त नियमों का संग्रह है जिनका राज्य की प्रभुत्व सत्ता के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़ता है।'
- ***बूल्जे के अनुसार***– 'संविधान नियमों के उस समूह को कहते हैं जिसके अनुसार, सरकार की शक्तियों, शासितों के अधिकारों और इन दोनों के पारस्परिक संबंधों के विषय में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।'
- ***फाइनर के अनुसार***– 'संविधान आधारभूत राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था होती है।'
- ***गैटिल के अनुसार***– 'वे मौलिक सिद्धांत, जिनके द्वारा किसी राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है संविधान कहलाता है'।
- ***चार्ल्स बर्गेन्ड के अनुसार***– 'संविधान एक आधारभूत कानून होता है, जिसके द्वारा किसी राज्य की सरकार संगठित की जाती है और जिसके अनुसार व्यक्तियों अथवा नैतिक नियमों का पालन करने वाले मनुष्य तथा समाज के पारस्परिक संबंध निर्धारित किये जाते हैं।'

किसी देश का संविधान उस देश की राजनीतिक व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत उसके लोग शासित होते हैं, के मूलभूत ढाँचे को स्पष्ट करता है। यह राज्य के मुख्य अंगों की शक्तियों को परिभाषित करता है, उनके उत्तरदायित्वों का निर्धारण करता है और उनके पारस्परिक संबंधों तथा जनता के साथ संबंधों को विनियमित (Regulate) करता है। इसे देश की 'आधारभूत विधि' (Fundamental Law) भी कहा जा सकता है, जो जनता के विश्वास व उनकी आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करता है।

संविधान का निर्माण पूर्णत: किसी एक निश्चित समय में नहीं हुआ। यह अपनी प्रकृति से विकास का परिणाम है। इसके विकास में कई महत्वपूर्ण तत्व सहायक होते हैं, जैसे–

- ***प्रथाएँ और परंपराएँ***– इन्होंने संविधान के विकास को दिशा दी है। ग्रेट ब्रिटेन का संविधान तो अधिकांशत: प्रथाओं और परंपराओं से निर्मित है। इसके अलावा अन्य देशों के संविधानों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत इत्यादि पर भी प्रथाओं और परंपराओं का प्रभाव देखा जा सकता है।
- ***न्यायाधीशों के निर्णय***– न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णयों और व्याख्याओं से भी संविधान के विकास को गति मिलती है। भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में इसे देखा जा सकता है। अमेरिका के विषय में कहा जाता है कि, 'संविधान वही है जो न्यायाधीश कहते हैं।' संशोधनों द्वारा भी संविधान परिवर्तित और परिवर्धित होते रहते हैं। अत: इनका भी संविधान के विकास पर प्रभाव देखा जा सकता है।

संविधान का महत्व (Importance of Constitution)

चूँकि संविधान किसी देश की मौलिक विधि होती है इसलिए इसका महत्व देश, सरकार, नागरिकों पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में निम्नलिखित बिंदुओं से समझा जा सकता है:–

- संविधान बुनियादी नियमों का एक ऐसा समूह उपलब्ध कराता है, जिससे समाज के सदस्यों में एक न्यूनतम समन्वय और विश्वास बना रहे।
- संविधान यह स्पष्ट करता है कि, समाज में निर्णय लेने की शक्ति किसके पास होगी? साथ ही संविधान यह भी निश्चित करता है कि सरकार कैसे निर्मित होगी?
- संविधान सरकार द्वारा अपने नागरिकों पर लागू किये जाने वाले कानूनों की एक सीमा तय करता है। ये सीमाएँ इस रूप में मौलिक होती हैं कि सरकार कभी इनका उल्लंघन नहीं कर सकती।
- संविधान सरकार को ऐसी क्षमता प्रदान करता है, जिससे वह जनता की आकांक्षाओं को पूरा कर सके और एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण कर सके।
- संविधान किसी समाज व राष्ट्र की आधारभूत पहचान को निर्मित करता है।

संविधान सरकार की शक्तियों को कई तरह से सीमित करता है। सरकार की शक्तियों को सीमित करने का सबसे प्रभावी व सहज तरीका यह है कि, नागरिक के रूप में हमारे मौलिक अधिकारों को स्पष्ट कर दिया जाए और कोई भी सरकार कभी भी उनका उल्लंघन न कर सके। इन अधिकारों का वास्तविक स्वरूप और व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न संविधानों में बदलती रहती हैं, लेकिन अधिकतर संविधानों में कुछ विशेष मौलिक अधिकार सदैव पाए जाते हैं। नागरिकों को मनमाने ढंग से बिना किसी कारण के गिरफ्तार करने के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त होती है। यह सरकार की शक्तियों के ऊपर एक मूलभूत सीमा है। नागरिकों को सामान्यत: कुछ मौलिक स्वतंत्रताओं का अधिकार है, जैसे–भाषण की स्वतंत्रता, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संगठन बनाने की स्वतंत्रता आदि। इसी प्रकार संविधान, सरकार को शक्तियाँ भी प्रदान करता है, जिससे लोकहित में सरकार आवश्यक कदम उठा सके तथा राष्ट्र, समाज और नागरिकों की सुरक्षा कर सके जैसे– इन अधिकारों को राष्ट्रीय आपातकाल में सीमित किया जा सकता है। संविधान उन परिस्थितियों का उल्लेख भी करता है, जिनमें इन अधिकारों को वापस लिया जा सकता है।

संविधान के माध्यम से ही किसी समाज की एक सामूहिक इकाई के रूप में पहचान होती है। इस सामूहिक पहचान को बनाने के लिए हमें इस संबंध में कुछ बुनियादी नियमों पर सहमत होना पड़ता है कि हम पर शासन कैसे होगा और शासितों में कौन-कौन से लोग होंगे? संविधान बनने के पहले हमारी अनेक प्रकार की पहचान या अस्मिताएँ होती हैं, लेकिन कुछ बुनियादी नियमों और सिद्धांतों पर सहमत होकर हम अपनी मूलभूत राजनीतिक पहचान बनाते हैं। संवैधानिक नियम हमें एक ऐसा व्यवस्थित ढाँचा प्रदान करते हैं, जिसके अंतर्गत हम अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं, लक्ष्य और स्वतंत्रताओं का प्रयोग करते हैं। संविधान आधिकारिक बंधन लगा कर यह तय कर देता है कि कोई क्या कर सकता है और क्या नहीं? इस रूप में संविधान हमें एक नैतिक पहचान भी देता है। इसलिए यह संभव हो सका है कि अनेक बुनियादी राजनीतिक और नैतिक नियम विश्व के सभी प्रकार के संविधानों में स्वीकार किये गये हैं।

संविधानवाद (Constitutionalism)

संविधानवाद का सामान्य अर्थ यह है कि, सरकार की सत्ता संविधान से उत्पन्न होती है तथा इसी से उसकी सीमा भी तय होती है। संविधानवाद सरकार के उस स्वरूप को कहते हैं, जिसमें संविधान की प्रमुख भूमिका होती है। अधिकारियों को मनमाने निर्णय की छूट न होने तथा 'कानून के राज्य' का पक्ष लेना ही संविधानवाद है। संविधानवाद की मूल भावना यह है कि, सरकारी अधिकारी कुछ भी और किसी भी तरीके से कार्य करने के लिए स्वतंत्र नहीं होते हैं बल्कि उन्हें अपनी शक्ति की सीमाओं के अंदर रहते हुए ही कार्य करने की आजादी होती है और वह भी संविधान में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार,

संविधानवाद पर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं-

- ***पिनॉक व स्मिथ***- 'संविधानवाद उन विचारों की ओर संकेत करता है जो संविधान का विवेचन व समर्थन करते हैं तथा जिनके माध्यम से राजनीतिक शक्ति पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करना संभव होता है।'
- ***कार्ल. जे. फ्रेडरिक***- 'शक्तियों का विभाजन सभ्य सरकार का आधार है, यही संविधानवाद है।'
- ***कॉरी और अब्राहम***- 'स्थापित संविधान के निर्देशों के अनुरूप शासन को संविधानवाद कहते हैं।'
- ***के.सी. व्हीयर***- 'संवैधानिक शासन का अर्थ किसी शासन के नियमों के अनुसार शासन चलाने से अधिक कुछ नहीं है। इसका अर्थ है कि निरंकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन केवल अधिकार का उपयोग करने वालों की इच्छा और क्षमता के अनुसार चलने वाला शासन नहीं बल्कि संविधान के नियमों के अनुसार चलने वाला शासन होता है।

संविधानवाद की अवधारणाएँ

संविधानवाद की तीन प्रचलित अवधारणाएँ हैं:-

1. ***पाश्चात्य अवधारणा***- इसे उदारवादी लोकतांत्रिक अवधारणा भी कहा जाता है। यह 'राज्य व व्यक्ति' के बीच समन्वयात्मक व सहजीवी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। इसमें व्यक्तिगत स्वच्छन्दता व राज्य-निरंकुशता दोनों को अस्वीकार किया गया है। यह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनों यथा सीमित व उत्तरदायी सरकार, विधि का शासन, मौलिक अधिकारों की व्यवस्था, स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका, शक्ति पृथक्करण और शक्ति विभाजन, नियत-कालिक व नियमित निर्वाचन व्यवस्था, राजनीतिक दलों की उपस्थिति, प्रेस की स्वतंत्रता इत्यादि का प्रयोग करती है।
2. ***साम्यवादी अवधारणा***- साम्यवाद यह मानता है कि संपूर्ण व्यवस्था के मूल में आर्थिक घटक कार्य करता है जिसका तात्पर्य उत्पादन प्रणाली से है। इसमें दो घटक होते हैं- एक उत्पादन साधन और दूसरा उत्पादन संबंध। जिस वर्ग के पास उत्पादन के साधन होते हैं वही शासन करता है। सामाजिक, राजनैतिक सभी व्यवस्थाएँ उसी के अनुरूप चलती हैं। यह राज्य को कृत्रिम संगठन और शोषण का यंत्र मानता है। इसी परिप्रेक्ष्य में वह व्यक्ति की स्वतंत्रता बचाने तथा उसे सामाजिक व आर्थिक न्याय कैसे दिलाया जाए, इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ज़ोर देता है- (a) वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना जिससे शोषण समाप्त किया जा सके। (b) उत्पादन के साधनों पर समाज पर नियंत्रण ताकि प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार काम और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार पारितोषिक प्रदान किया जा सके। (c) संपत्ति के वितरण से समाज में समानता लायी जा सके। (d) मानव को यंत्र न मानकर मानव माना जाए, जिससे मानवीय पराधीनता के प्रत्येक स्वरूप को समाप्त किया जा सके। इस प्रकार यह मानव कल्याण की बात करता है।
3. ***विकासशील लोकतांत्रिक अवधारणा***- वास्तव में संविधानवाद की दो ही मौलिक अवधारणाएँ हैं। तीसरी अवधारणा कुछ विद्वान विकासशील देशों द्वारा अपनी आवश्यकता के अनुरूप उपरोक्त दोनों अवधारणाओं के विभिन्न तत्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न मानते हैं। यह अवधारणा राष्ट्रों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का लचीलापन दर्शाती है।

इस प्रकार, संविधानवाद मूल रूप से शासन व्यवस्था के नियमों, संचालन, लक्ष्य, आदर्श इत्यादि का प्रतिनिधित्व करता है।

संविधान के प्रकार (Types of Constitution)

दुनिया के सभी संविधानों में भले ही भावात्मक समानता हो, परन्तु इनका विकास उनके सांस्कृतिक संदर्भों में होने के कारण अलग-अलग देशों में संविधान के प्रारूपों में भिन्नता दिखाई देती है। अपनी प्रकृति, प्रारूप एवं अन्तर्निहित विशेषताओं के आधार पर संविधान के निम्नलिखित मुख्य प्रकार हो सकते हैं-

उत्पत्ति के आधार पर

उत्पत्ति के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं- विकसित और निर्मित संविधान। विकसित संविधान वह संविधान है, जिनका निर्माण संविधान सभा जैसी किसी संस्था द्वारा निश्चित समय पर नहीं किया जाता बल्कि यह विभिन्न परंपराओं, रीति-रिवाजों, प्रथाओं और न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित होता है। इंग्लैण्ड का संविधान इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। यहाँ राजा, मंत्रिपरिषद, संसद अथवा अन्य राजनैतिक संस्थाओं की शक्ति और उसके अधिकार क्षेत्र आदि लेखबद्ध नहीं हैं तथा न ही उनसे संबंधित नियमों का एक समय निर्माण किया गया है। वस्तुत: ब्रिटिश संविधान का वर्तमान स्वरूप उसके पंद्रह सौ वर्षों के संवैधानिक विकास का परिणाम है।

निर्मित संविधान वे संविधान होते हैं जिनका निर्माण एक विशेष समय पर संविधान सभा जैसी किसी विशेष संस्था द्वारा किया जाता है। ये स्वाभाविक रूप से लिखित होते हैं और साधारणतया कठोर भी। 'अमेरिका' का संविधान विश्व का प्रथम लिखित संविधान है जो 1787 ई. में फिलाडेल्फिया सम्मेलन में निर्मित किया गया। इसी प्रकार स्विट्जरलैंड का संविधान भी निर्मित है, जिसका प्रारूप 1848 में 14 सदस्यों के एक आयोग द्वारा तैयार किया गया था, जिसमें 1874 में व्यापक परिवर्तन किये गये। 1982 का चीनी संविधान भी इसी का उदाहरण है।

विकसित संविधान और निर्मित संविधान में मौलिक अंतर

- विकसित संविधान में गतिशीलता होती है, यह लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप सदा परिवर्तन की प्रक्रिया में रहता है, परंतु इसका दोष है कि, इसमें निश्चितता नहीं होती है तथा यह असंख्य अलग-अलग व बिखरे हुए प्रपत्रों और राजनीतिक रीति-रिवाजों के रूप में रहता है।
- वहीं निर्मित संविधान सर्वथा सुनिश्चित होता है, संहिताबद्ध रूप में होने के कारण यह सदा सुविधायुक्त होता है।

प्रथाओं और कानूनों के आधार पर

इनके आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं- लिखित एवं अलिखित संविधान-

1. लिखित संविधान में शासन के सभी नियमों एवं मानकों का संहिताकरण होता है। इसके अलावा लिखित संविधान इसी कार्य के लिए बनाये गये निकाय द्वारा तैयार किया जाता है, जैसे भारत में इस कार्य के लिए संविधान सभा संगठित की गयी थी। लिखित संविधान के लागू होने की एक निश्चित तिथि होती है, जैसे भारतीय संविधान के लिए 26 जनवरी, 1950 या अमेरिकी संविधान 1787 को लागू हुआ था। विश्व के अधिकांश संविधान लिखित संविधान ही हैं।

2. अलिखित संविधान से अभिप्राय यह नहीं होता है कि वह कहीं पर लिखा हुआ नहीं है, बल्कि अलिखित संविधान के प्रावधान उद्विकासीय होते हैं अर्थात् धीरे-धीरे विकसित होता है। अलिखित संविधान होने का अर्थ सिर्फ इतना है कि ऐसे देशों में संविधान नामक कोई एक वृहद् कानूनी दस्तावेज़ नहीं होता, बल्कि विभिन्न कानूनों, परंपराओं तथा कानूनी व्याख्याओं के समुच्चय को ही संविधान कह दिया जाता है, यथा ब्रिटेन का संविधान अलिखित संविधान है जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है।

संविधान में संशोधन के आधार पर

इस आधार पर संविधान के दो भेद होते हैं- लचीला तथा कठोर संविधान।

1. लचीला संविधान वह संविधान है जिसमें सामान्य कानून और संवैधानिक कानून के निर्माण और संशोधन प्रक्रिया में अंतर न हो। 'गार्नर' के अनुसार, 'लचीला संविधान वह है जिसको साधारण कानून से अधिक शक्ति एवं सत्ता प्राप्त नहीं है और जो साधारण कानून की भाँति ही बदला जा सकता है, चाहे वह एक प्रलेख या अधिकांशत: परंपराओं के रूप में हो'। जैसे इंग्लैंड में संसद सामान्य नियम निर्माण की प्रक्रिया द्वारा संवैधानिक कानूनों में परिवर्तन कर सकती है। इसी प्रकार चीन का संविधान भी साधारण कानून निर्माण की प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता है।
2. कठोर संविधान से अभिप्राय, उस संविधान से है जिसमें संशोधन के लिए किसी विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है। इसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में भेद किया जाता है। कठोर संविधान के उदाहरण, स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रेलिया, रूस, इटली, फ्रांस, डेनमार्क, स्वीडन, नॉर्वे, जापान तथा भारत के संविधान है। परंतु इसका सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान है, जहाँ संशोधन के लिए कांग्रेस के 2/3 बहुमत तथा 3/4 राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति आवश्यक है। इसी प्रकार स्विस प्रक्रिया में यह व्यवस्थापिका (संघीय सभा) के दोनों सदनों के बहुमत द्वारा पास होना चाहिए तथा इसके बाद उसका समर्थन मतदाताओं और केन्टनों (राज्य) के बहुमत से होना चाहिए।

शासन प्रणाली (System of Governance)

सभी मानवीय समुदायों ने सामाजिक संबंधों के संयोजन, संघर्षों की रोकथाम और समाधान तथा समाज के समान उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कोई न कोई नियंत्रण व्यवस्था अपना रखा है। सत्ता और नियंत्रण की इस व्यवस्था को सरकार (शासन) कहा जाता है। मूलत: सरकार (शासन) के तीन कार्य होते हैं, पहला- कानून बनाना, दूसरा- कानून लागू करना और तीसरा- विवादों को सुलझाना। इन कार्यों को पूरा करने वाले सरकार के तीन अंग होते हैं- विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका। विधानमंडल व कार्यपालिका के पारस्परिक संबंधों के आधार पर सरकारों का वर्गीकरण करने पर दो प्रकार की सरकारें होती हैं-1. संसदीय सरकार 2. अध्यक्षीय सरकार।

संसदीय सरकार

जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का जन्म व्यवस्थापिका में से होता है और कार्यपालिका, विधानमंडल के नियंत्रण में कार्य करती है एवं पूर्ण रूप से उसके प्रति ही उत्तरदायी होती है तो ऐसी सरकार (शासन व्यवस्था) को संसदीय सरकार या मंत्रिमंडलीय शासन या उत्तरदायी शासन कहते हैं।

अध्यक्षीय सरकार

यदि विधानमंडल और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक व स्वतंत्र होकर कार्य करते हैं और दोनों समकक्ष दर्जे के होते हैं, दूसरे शब्दों में ये दोनों शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत के आधार पर काम करते हैं, तो ऐसी सरकार को अध्यक्षात्मक सरकार कहते हैं। इसी प्रकार राज्यों के आकार और उनकी समस्याओं, उनके गठन इत्यादि के कारण उनकी व्यवस्था में भी संघात्मक और एकात्मक लक्षणों की उपस्थिति होती है, जिसके आधार पर एकात्मक या संघात्मक शासन प्रणाली का स्वरूप पाया जाता है।

संसदात्मक शासन प्रणाली (Parliamentary form of Government)

संसदात्मक/संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका शक्तियां मंत्रिपरिषद के हाथों में रहती हैं और यह कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद या मंत्रिमंडल), व्यवस्थापिका या उसके निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रणाली में राज्याध्यक्ष नाममात्र का शासक या प्रधान होता है।

प्रो. गार्नर ने संसदात्मक या मंत्रिमंडलीय सरकार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "संसदीय सरकार वह प्रणाली है, जिसमें वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) अपने विधायी और प्रशासनिक कार्यों के लिए प्रत्यक्ष और कानूनी तौर पर विधानमंडल अथवा उसके एक सदन (प्राय: लोकप्रिय सदन) के प्रति और राजनीतिक तौर पर निर्वाचक गणों के प्रति उत्तरदायी होती है, जबकि नाममात्र की कार्यपालिका (राज्य का प्रधान) अनुत्तरदायी स्थिति में होती है।"

संसदात्मक/संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ

संसदीय शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- ***वास्तविक और नाममात्र की कार्यपालिका में भेद***- संसदीय प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिकाएँ होती हैं-पहली, नाममात्र की कार्यपालिका और दूसरी, वास्तविक कार्यपालिका। राज्य का प्रधान, नाममात्र की कार्यपालिका और प्रधानमंत्री सहित मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन में वर्तमान समय में रानी और भारत में राष्ट्रपति नाममात्र के प्रधान ही हैं।
- ***कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अभिन्न संबंध***- संसदीय शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अभिन्न संबंध होता है। कार्यपालिका का व्यवस्थापिका में से चयन होता है। मंत्रीगण व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं, वे व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका वाद-विवाद, प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि के द्वारा मंत्रिपरिषद को नियंत्रित करती है और हटा भी सकती है। दूसरी ओर कार्यपालिका के सदस्य अर्थात् मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग लेते हैं, व्यवस्थापिका का नेतृत्व करते हैं।
- ***राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति***- राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष (प्रधानमंत्री) की नियुक्ति की जाती है। यह नियुक्ति लोकसदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता की होती है।
- ***कार्यपालिका की अवधि की अनिश्चितता***- इस शासन में मंत्रिपरिषद का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है, मंत्रिपरिषद उसी समय तक रह सकती है, जब तक कि उसे निचले सदन में बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है।
- ***सामूहिक उत्तरदायित्व***- इसका अर्थ यह है कि, किसी एक मंत्री के कार्य के लिए अकेला वही उत्तरदायी नहीं,वरन समस्त मंत्रिपरिषद उत्तरदायी होती है। कारण यह है कि मंत्रिपरिषद में निर्णय सामूहिक रूप से ही होते हैं।
- ***राजनीतिक सजातीयता***- मंत्रिपरिषद की सजातीयता उसकी एकता व सामूहिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से आवश्यक है। गंभीर संकट के समय अन्य दल के लोगों को लेकर राष्ट्रीय सरकार बनायी जा सकती है।
- ***मंत्रिमंडल की एकता***- मंत्रिमंडल एक इकाई है, इसलिए मंत्रिमंडल में जो निर्णय बहुमत से हो जाते हैं, उन्हें प्रत्येक मंत्री को स्वीकार करना पड़ता है या उन्हें मंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।
- ***प्रधानमंत्री का नेतृत्व***- संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री का विशिष्ट स्थान होता

है। वह मंत्रिपरिषद का नेता व उसका कप्तान होता है। वह राष्ट्रीय प्रशासन का संचालक होता है तथा मंत्रियों की नियुक्ति व निष्कासन करता है। लॉर्ड मार्ले ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को 'मंत्रिमंडल रूपी भवन की आधाशिला' कहा है।

- ***गोपनीयता***– मंत्रिमंडल की कार्यवाही गुप्त रहती है। सभी मंत्री गोपनीयता की शपथ ग्रहण करते हैं। मंत्रिगण मंत्रिमंडल के निर्णयों को या मतभेदों को संसद में या सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं कर सकते। मंत्री उचित समय पर ही कैबिनेट के निर्णयों को जनता तक पहुँचाते हैं।

संसदात्मक/संसदीय शासन प्रणाली के गुण

संसदात्मक शासन प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं–

- ***कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष का अभाव***– संसदीय शासन प्रणाली का एक गुण यह है कि व्यवस्थापिका (संसद) और कार्यपालिका में मतैक्य रहता है, संघर्ष नहीं। दोनों अंग एक–दूसरे की आवश्यकता और उपादेयता को समझते हैं, मंत्री व्यवस्थापिका में बैठते हैं, इच्छानुसार विधेयक व बजट आदि पारित कराते हैं और संसद के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करते हैं।
- ***शीघ्र निर्णय***– शक्तियाँ मंत्रिमंडल में निहित होती हैं, जिसका संसद में बहुमत होता है। अत: वह शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम हो जाता है।
- ***कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो सकती***– यह सरकार उत्तरदायी सरकार है, जिसमें संसद मंत्रिपरिषद से प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव व अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसे नियंत्रित करती है।
- ***उत्तरदायित्व का निर्धारण सरलता से***– संसदीय शासन में उत्तरदायित्व का निर्धारण भी सरलता से हो जाता है, क्योंकि विधि निर्माण व प्रशासन का कार्य एक ही दल के हाथों में रहता है।
- ***लचीली व्यवस्था***– प्रो. डायसी के अनुसार, लचीलापन संसदीय शासन का महत्वपूर्ण गुण है। यह शासन नयी परिस्थितियों व संकटकाल का सामना कुशलता से कर सकता है। यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन में चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमंत्री बनाया गया था, ऐसा परिवर्तन अध्यक्षीय शासन में संभव नहीं है। इसमें गंभीर संकट के समय राष्ट्रीय सरकार बनाने की व्यवस्था होती है।
- ***राजनीतिक चेतना और शिक्षा***– जनता में राजनीतिक चेतना पैदा होती है, लोगों को राजनीतिक प्रशिक्षण भी मिलता है। सरकार तथा विभिन्न दल समाचार पत्रों, सभा–सम्मेलनों, दलीय पत्रिकाओं आदि के माध्यम से जनता तक पहुँचते हैं और उन्हें जागरूक रखते हैं।
- ***राज्याध्यक्ष दलबंदी से दूर***– संसदीय प्रणाली में राज्य का प्रधान राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है, वह सरकार के आलोचनात्मक मित्र के रूप में कार्य करता है।
- ***वैकल्पिक शासन की व्यवस्था***– यदि किसी कारणवश सत्तारूढ़ दल अपना त्यागपत्र देता है तो तुरंत ही विरोधी दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करके वैकल्पिक सरकार बनाई जा सकती है। जिससे शासन के कार्यों में रूकावट पैदा नहीं होती है।
- ***जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व***– डायसी के शब्दों में, 'संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल को जनमत के प्रति बहुत सचेत रहना पड़ता है।' मंत्रिमंडल जनता की इच्छा व उसकी आलोचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है, शासन व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी होती है।

संसदीय शासन प्रणाली के दोष

संसदीय शासन प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं–

- ***अस्थिर शासन***– संसदीय शासन का पहला दोष यह है कि यह अस्थिर शासन प्रणाली होती है, क्योंकि मंत्रिपरिषद का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। बार–बार मंत्रिपरिषद के बदलने से प्रशासनिक नीतियों में भी स्थिरता नहीं रहती और इस प्रकार जनता के हितों को हानि पहुँचती है।
- ***शक्तिहीन कार्यपालिका***– अध्यक्षीय शासन की अपेक्षा संसदीय शासन में कार्यपालिका दुर्बल रहती है, क्योंकि पदच्युत होने के डर से वह संसद को प्रसन्न करने में लगी रहती है। मंत्रिपरिषद नई नीतियों का प्रयोग साहसपूर्वक नहीं कर पाती है।
- ***विधानमंडल में समय और शक्ति का दुरुपयोग***– संसदीय शासन में विभिन्न राजनीतिक दलों का पारस्परिक विरोध उग्र रूप धारण कर लेता है। विरोधी दल की आलोचना भी सदैव रचनात्मक नहीं होती है। इस गतिरोध से विधानमंडल में समय नष्ट होता है, कानून बनाने में विलंब होता है और जनता में उदासीनता आती है।
- ***उग्र राजनीतिक दलबंदी***– संसदीय शासन राजनीतिक दलबंदी को प्रोत्साहन देता है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "यह प्रथा दलबंदी की भावना में वृद्धि करती है और इसे सदैव उबालती रहती है। यदि राष्ट्र के सामने महत्वपूर्ण नीति संबंधी विषय न हो तो भी इसमें पद प्राप्त करने की लड़ाई बनी रहती है। एक दल के पास पद होता है, दूसरा इसे लेने की इच्छा रखता है और यह झगड़ा चलता रहता है क्योंकि पराजित होने के शीघ्र बाद ही हारा हुआ दल जीते हुए दल को हटाने के लिए अभियान आरंभ कर देता है"।
- ***बहुमत दल की निरंकुशता का भय***– संसदीय शासन में बहुमत दल संसद और देश में निरकुंशता का व्यवहार करता है। प्राय: कैबिनेट के अधिनायकतंत्र की बात कही जाती है। यदि कार्यपालिका चाहे तो छोटे से छोटे विषय को विश्वास का प्रश्न बनाकर संसद को अपनी बात को मानने के लिए बाध्य कर सकती है।
- ***शक्ति पृथक्करण सिद्धांत की उपेक्षा***– संसदीय शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में समन्वय रहता है। अत: शक्ति पृथक्करण के अभाव में न केवल व्यवस्थापिका की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है वरन् नागरिकों की स्वतंत्रता के अपहरण का डर भी बना रहता है।
- ***संकट के समय दुर्बल शासन***– युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय संसदीय शासन अनुपयुक्त रहता है। निर्णय लेने से पूर्व मंत्रिमंडल में पर्याप्त वाद–विवाद करना पड़ता है। मतभेद होने की स्थिति में प्रधानमंत्री को निर्णय लेने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अधिकांश समय विचार–विमर्श व वाद–विवाद में नष्ट हो जाता है। प्रोगिलक्राइस्ट के शब्दों में, 'शांति के समय में वाद–विवाद करना संसदीय शासन का गुण है, परंतु युद्धकाल में यह इसके सबसे बड़े दोषों में से एक है।'
- ***नौकरशाही का शासन पर अनुचित प्रभाव***– संसदीय शासन में मंत्री पद उनको दिया जाता है, जो दल में अपना प्रभाव रखते हैं, जिन्हें राजनीतिक हथकंडे आते हैं। योग्यता के आधार पर तो कम लोगों को ही मंत्री पद मिलता है। फिर मंत्रियों का अधिकांश समय संसदीय वाद–विवादों में, दल की बैठकों में, उद्घाटन समारोह आदि में व्यतीत होता है। फलस्वरूप मंत्री नौसिखिए बने रहते हैं और विशेषज्ञों अर्थात् सिविल सेवकों के हाथों में वे कठपुतली बने रहते हैं।
- ***निजी कार्यक्षेत्र से विमुखता***– कई बार कार्यपालिका अपने प्रशासनिक कार्यों से विमुख होकर विधायी कार्यों में जुट जाती है, इसी प्रकार संसद कानून बनाने से विमुख होकर शासन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करने लगती है।
- ***देश हित का उल्लंघन***– संसदीय शासन में सत्तारूढ़ दल का अपना दलीय स्वार्थ होता है। इस शासन में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा का भय सदैव बना रहता है। फलस्वरूप प्रजातंत्र का ह्रास होता है।
- ***सरकार गठन में बहुदलीय व्यवस्था का प्रभाव***– एक दल को जब स्पष्ट

बहुमत नहीं मिलता है तो गठबंधन सरकार बनती है, जो कि नीति निर्माण व क्रियान्वयन में बाधक सिद्ध होती है। फ्रांस ने बहुदलीय प्रणाली के कारण संसदीय प्रणाली को छोड़ दिया क्योंकि इसके कारण यहाँ सरकार में अस्थिरता बनी रहती थी।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली (Presidential Form of Government)

अध्यक्षात्मक/अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति विभाजन सिद्धांत पर आधारित होती है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत है। इसमें व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सभी एक-दूसरे से पृथक व स्वतंत्र रहकर अपना कार्य करते हैं। कार्यपालिका से संबंधित शक्तियाँ राष्ट्रपति में ही निहित होती हैं जिनका प्रयोग वह स्वतंत्रतापूर्वक करता है। राष्ट्रपति या उसके मंत्री न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और न ही उसकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। राष्ट्रपति का कार्यकाल भी निश्चित होता है। व्यवस्थापिका उसे अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकती है। इसी प्रकार व्यवस्थापिका भी अपने गठन, कार्य तथा कार्यकाल की दृष्टि से कार्यपालिका से पृथक व स्वतंत्र होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राज़ील, अर्जेंटीना, चिली, मैक्सिको तथा एशियाई देश जैसे- फिलीपींस, दक्षिण कोरिया आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

प्रो. गार्नर ने अध्यक्षीय सरकार की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'यह वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका (मंत्रियों सहित राज्य का प्रधान) संवैधानिक रूप से अपने कार्यकाल के संबंध में और राजनीतिक नीतियों के संबंध में व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होती है। इस प्रकार की प्रणाली में राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका नहीं होता, वरन वास्तविक कार्यपालिका होता है और उन शक्तियों का वास्तव में प्रयोग करता है, जो संविधान व कानून के अनुसार उसको प्राप्त होती हैं।'

अध्यक्षीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ

अध्यक्षीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- ***राज्य के अध्यक्ष की स्थिति***- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति राज्य व सरकार दोनों का ही प्रधान होता है। वह राष्ट्रीय नीति का निर्माण करता है, सेनाओं के संचालन का आदेश देता है, आपातस्थिति की घोषणा कर सकता है तथा देश में व्यवस्था बनाए रखने हेतु कानूनों के प्रवर्तन के लिए सभी आवश्यक कदम उठाता है।
- ***राष्ट्रपति का निश्चित कार्यकाल***- अध्यक्षीय सरकार में राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है। इस अवधि से पहले व्यवस्थापिका उसे महाभियोग के अलावा अन्य किसी तरह से नहीं हटा सकती है।
- ***राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं***- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है तथा राष्ट्रपति (कार्यपालिका), व्यवस्थापिका को भंग नहीं कर सकता है। राष्ट्रपति तथा उसके मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका में कोई महत्वपूर्ण भाषण देने हेतु जा सकता है अथवा वह अपना संदेश भेज सकता है जिसे व्यवस्थापिका स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। राष्ट्रपति या उसके मंत्री न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और न उन्हें अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है।
- ***मंत्रिमंडल का अभाव***- राष्ट्रपति को सहायता व परामर्श देने के लिए कुछ सचिव होते हैं। इन सचिवों को सामूहिक नाम से 'राष्ट्रपति की कैबिनेट' कह दिया जाता है। परंतु सच्चे अर्थों में यह कैबिनेट नहीं है, न तो यह कैबिनेट एक इकाई के रूप में कार्य करती है, न ही वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी है और न ही उसकी तानाशाही है। राष्ट्रपति ही उनका स्वामी है।
- ***शक्ति-पृथक्करण सिद्धांत पर आधारित***- यह शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित होती है। सरकार के तीनों अंग एक-दूसरे से पृथक व स्वतंत्र होते हैं।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली के गुण

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं-

- ***स्थायी एवं दृढ़ शासन***- अध्यक्षीय शासन का सबसे महत्वपूर्ण गुण है- शासन में स्थायित्व। निश्चित कार्यकाल के कारण, राष्ट्रपति अधिक आत्मविश्वास के साथ नीतियों का निर्माण व उन पर अमल कर सकता है। कार्यपालिका का भाग्य व्यवस्थापिका के परिवर्तनशील मत पर निर्भर नहीं होता है। अत: सरकार स्थिर नीति का पालन कर सकती है।
- ***कुशल शासन***- शक्ति पृथक्करण पर आधारित होने के कारण यह शासन संसदीय शासन की तुलना में अधिक कुशल होता है। इसका कारण बताते हुए मैरियट ने लिखा है कि, 'शासन की इस व्यवस्था में प्रशासन में वास्तविक रूप से कुशलता आती है, क्योंकि मंत्रियों को हर समय व्यवस्थापिका में उपस्थित रहने में समय लगाना नहीं होता और व्यवस्थापन कार्य भी कुशलता से होता है, क्योंकि व्यवस्थापिका के सदस्यों के मस्तिष्क अपने विशिष्ट कार्य में ही लगे रहते हैं'।
- ***दलबंदी का अभाव***- अध्यक्षीय शासन में दलबंदी का उग्र व दूषित वातावरण वैसा नहीं रहता, जैसा संसदीय शासन में देखा जाता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका (राष्ट्रपति) व व्यवस्थापिका के निर्वाचनों के समय ही राजनीतिक दल सक्रिय रहते हैं, हर समय नहीं क्योंकि बीच में राष्ट्रपति को हटाया नहीं जा सकता है। अनावश्यक विरोध भी नहीं होता है और न राष्ट्रपति का दल उसका अंधानुकरण करता है। दलबंदी की भावना जितनी संसदात्मक प्रणाली में होती है, उतनी अध्यक्षीय प्रणाली में नहीं होती।
- ***संकटकाल के लिए उपयुक्त***- यह शासन संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शासन है। कारण यह है कि, कार्यपालिका शक्तियाँ सैद्धांतिक व व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से राष्ट्रपति में ही निहित होती हैं। अत: किसी संकट के समय में वह अकेला निर्णय लेने में समर्थ है।
- ***राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ता***- अध्यक्षीय शासन का एक गुण यह भी है कि, राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ रहती है। राष्ट्रपति पूरे देश का नेता होता है, एक दल का नहीं। इसलिए भी उससे बुद्धिपूर्ण, न्यायोचित और राष्ट्रहित की अपेक्षा लोगों को रहती है।
- ***निरंकुशता का अभाव***- इस शासन प्रणाली में शक्ति पृथक्करण होता है। अत: शक्तियाँ एक स्थान पर केंद्रित न होने के कारण जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं को संसदीय शासन की अपेक्षा कम खतरा रहता है।
- ***योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को मंत्री पद***- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति मंत्रियों को योग्यता व अनुभव के आधार पर नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है। परंतु संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री के ऊपर कई प्रकार के बंधन होते हैं और वह मंत्रियों की नियुक्ति केवल योग्यता व अनुभव के आधार पर नहीं करता है।
- ***बहुदलीय प्रणाली वाले देशों के लिए उपयुक्त***- उन देशों के लिए जहाँ बहुदलीय प्रणाली है, अध्यक्षीय शासन अधिक लाभकारी हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि, राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए हो जाएगा, संसदीय सरकार की तरह मिले-जुले मंत्रिमंडलों के बदलने का भय समाप्त हो जाएगा।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली के दोष

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं-

- ***अनुत्तरदायी एवं निरंकुश शासन***- अध्यक्षीय शासन का सबसे बड़ा दोष यह है कि, इसमें राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होने के कारण उसके निरंकुश होने का खतरा बना रहता है। उसे महाभियोग की अत्यधिक कठिन प्रक्रिया होने के कारण आसानी से नहीं हटाया जा सकता। अत: वह एक अधिनायक की तरह शासन कर सकता है।
- ***सहयोग का अभाव***- अध्यक्षीय शासन में शक्ति पृथक्करण के कारण सरकार के विभिन्न अंगों में सहयोग नहीं रह पाता है, राष्ट्रपति न तो व्यवस्थापिका की समस्या को समझ पाता है और न व्यवस्थापिका राष्ट्रपति की समस्या को। कभी-कभी इन कारणों से शासन में मतभेद व गतिरोध पैदा हो जाता है। विशेष रूप से उस समय जब राष्ट्रपति के दल का व्यवस्थापिका में बहुमत न हो।
- ***कठोर शासन प्रणाली***- अध्यक्षीय शासन में लचीलेपन का गुण नहीं होता है, जो कि संसदीय शासन में होता है। इसके तीन कारण हैं, प्रथम, शासन संबंधी सभी बातें संविधान में निश्चित होती हैं। दूसरा, जब कोई संवैधानिक विवाद पैदा होता है तो न्यायालय की शरण ली जाती है, जिसका रवैया कठोर ही रहता है। तीसरा, संविधान कठोर होता है, अत: आवश्यकतानुसार संशोधन नहीं किये जा सकते हैं। ये सब बातें अमेरिका के संविधान में पायी जाती हैं।
- ***उत्तरदायित्व के निर्धारण की समस्या***- अध्यक्षीय शासन में जब कोई गलत कार्य होता है तो कार्यपालिका व व्यवस्थापिका इसका उत्तरदायित्व एक-दूसरे पर थोपने का प्रयास करते हैं। संसदीय शासन की तरह यह उत्तरदायित्व कार्यपालिका के पास निश्चित नहीं होता है। चूँकि राजसत्ता बँट जाती है, अत: यह पता नहीं चलता कि शासन की बुराई के लिए कार्यपालिका दोषी है अथवा विधानमंडल।
- ***वैदेशिक नीति की दुर्बलता***- अमेरिकी अध्यक्षीय शासन के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि, राष्ट्रपति स्वतंत्र व सुदृढ़ वैदेशिक नीति पर नहीं चल सकता, क्योंकि व्यवस्थापिका उसके कार्यों में बाधा डालती है। 1919 में राष्ट्रपति विलसन द्वारा की गयी 'वर्साय की संधि' को अमेरिकी सीनेट ने ठुकरा दिया था।
- ***एक व्यक्ति पर उत्तरदायित्व***- अध्यक्षीय शासन का एक दोष यह भी है कि, शासन का पूरा भार एक ही व्यक्ति (राष्ट्रपति) पर होता है। अत: शासन की सफलता या विफलता उसी के गुणों व अवगुणों पर निर्भर रहती है।

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकारों में अंतर

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकारों में सामान्यत: निम्नलिखित अंतर पाये जाते हैं-

- संसदीय सरकार का आधार शक्तियों का संयोजन है, जबकि अध्यक्षीय सरकार का आधार है- शक्ति पृथक्करण।
- संसदीय सरकार में राज्य का प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) नाममात्र का होता है, प्रधानमंत्री सहित मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका होती है। अध्यक्षीय शासन में, राष्ट्रपति ही राज्य व सरकार दोनों का प्रधान होता है। अत: एक ही कार्यपालिका होती है।
- संसदीय सरकार में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका से स्वतंत्र नहीं रहती जबकि अध्यक्षीय शासन में वह व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रहती है। अध्यक्षीय शासन में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहते हैं।
- संसदीय शासन में कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर है, जब तक उसे संसद (प्राय: निचले सदन) में बहुमत का समर्थन प्राप्त है, परंतु अध्यक्षीय शासन में कार्यपालिका (राष्ट्रपति) का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। इससे पहले केवल महाभियोग की कार्यवाही से ही उसे पदच्युत किया जा सकता है।
- संसदीय शासन में मंत्रिगण व्यक्तिगत व सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं, परंतु अध्यक्षीय शासन में केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
- संसदीय शासन में मंत्रिगण आवश्यक रूप से व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और उनकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। इतना ही नहीं वे व्यवस्थापिका का मार्ग-निर्देशन व नेतृत्व भी करते हैं। अध्यक्षीय शासन में मंत्री राष्ट्रपति के अधीनस्थ होते हैं।
- संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री देश का नेतृत्व करता है और अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति देश का नेतृत्व करता है।

एकात्मक शासन प्रणाली
(Unitary Form of Government)

एकात्मक शासन व्यवस्था में शक्तियों का केंद्रीकरण होता है। संविधान द्वारा शासन की समस्त शक्तियाँ केवल केंद्रीय सरकार को ही सौंपी जाती है तथा इकाइयों को शासन की शक्तियाँ केंद्र से प्राप्त होती हैं। स्थानीय अथवा इकाइयों की सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियाँ केंद्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती है। एकात्मक शासन व्यवस्थाओं के प्रमुख उदाहरण हैं- ब्रिटेन, फ्रांस, चीन और बेल्जियम।

विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक शासन की परिभाषाएँ दी हैं-

- ***सी.एफ.स्ट्रांग के अनुसार***- 'एकात्मक शासन में केंद्रीय सरकार सर्वोच्च होती है तथा संपूर्ण शासन एक केंद्रीय सरकार के अधीन संगठित होता है और उसके अधीन जो भी क्षेत्रीय प्रशासन कार्य करता है, उसकी शक्तियाँ उसे केंद्र सरकार से प्राप्त होती हैं।'
- ***फाइनर के शब्दों में***- 'एकात्मक शासन वह शासन है, जिसमें संपूर्ण सत्ता व शक्ति केंद्र में निहित होती है और जिसकी इच्छा एवं अभिकरण पूर्ण क्षेत्र पर वैध रूप से मान्य होते हैं।'
- ***प्रो. गार्नर के अनुसार***- 'एकात्मक शासन, शासन का वह रूप है जिसमें शासन की सर्वोच्च शक्ति संविधान के माध्यम से एक केंद्रीय सरकार को प्राप्त होती है तथा केंद्र एवं स्थानीय सरकार के बीच संवैधानिक शक्ति का विभाजन नहीं होता और केंद्र सरकार से ही स्थानीय सरकारों को शक्ति एवं स्वतंत्रता प्राप्त होती है।'
- ***डायसी के शब्दों में***- 'एकात्मक राज्य में कानून बनाने की समस्त शक्तियाँ केंद्रीय सत्ता के हाथों में रहती है।'
- ***विलोबी के शब्दों में***- 'एकात्मक शासन में शासन का संपूर्ण अधिकार मौलिक रूप से एक केंद्रीय सरकार में निहित रहता है तथा केंद्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार शक्तियों का वितरण इकाइयों में करती है।'

एकात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएँ

एकात्मक शासन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

- ***शासन की पूर्ण शक्ति केंद्र में निहित***- एकात्मक शासन की प्रमुख विशेषता यह है कि, शासन की समस्त कार्य शक्तियाँ केंद्रीय सरकार में निहित रहती हैं। शासन की सुविधा के लिए राज्य को प्रदेशों एवं प्रांतों में बाँटा जा सकता है। किंतु इन प्रदेशों व प्रांतीय सरकारों को शासन कार्य के लिए स्वतंत्र शक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। केंद्र ही उन्हें आवश्यकतानुसार शक्तियाँ देता है। इनका अस्तित्व पूर्णत: केंद्र सरकार की इच्छा पर निर्भर रहता है।

- ***इकहरी नागरिकता***– एकात्मक शासन में नागरिकों को इकहरी नागरिकता (केंद्र की) प्राप्त होती है, जैसे–ब्रिटेन जबकि संघात्मक शासन में केंद्र व राज्यों की पृथक–पृथक यानि दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, जैसे– USA
- ***एक संविधान***– एकात्मक शासन में संपूर्ण राष्ट्र का एक संविधान होता है। इकाइयों का कोई अलग संविधान नहीं होता। संघात्मक शासन में कहीं–कहीं पर राज्यों का अलग–अलग संविधान भी होता है।

एकात्मक शासन प्रणाली के गुण

एकात्मक शासन प्रणाली के निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं, जो उसे महत्वपूर्ण बनाते हैं–

- ***शासन में एकरूपता व शक्ति संपन्नता***– एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन में एकरूपता पाई जाती है। संपूर्ण राष्ट्र के लिए एक–सा कानून होता है और केंद्र के निर्देशन में उसे समान रूप से सर्वत्र लागू किया जाता है। फलतः पूरे राष्ट्र के शासन कार्यों में एकरूपता बनी रहती है।
- ***राष्ट्रीय एकता में वृद्धि***– एकात्मक शासन व्यवस्था में संपूर्ण राज्य में एक–सा कानून, एक–सी शासन व्यवस्था होने तथा सभी को एक समान न्याय मिलने के कारण, आपसी मतभेद पैदा नहीं हो पाते और राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती है।
- ***संकटकाल के लिए उपयुक्त***– एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की शक्ति एक ही स्थान पर केंद्रित होने के कारण संकट के समय यह शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम होता है। इन निर्णयों को गुप्त भी रखना होता है और शीघ्र ही कार्यान्वित भी करना पड़ता है, इस हेतु एकात्मक शासन ही सक्षम होता है।
- ***मितव्यत्तता***– एकात्मक शासन व्यवस्था में एक ही स्थान से शासन का संचालन होने और राज्य इकाइयों में अलग से कोई मंत्रिमंडल व व्यवस्थापिका का गठन न करने से काफी खर्च बच जाता है। इस दृष्टि से यह मितव्ययी शासन व्यवस्था है।
- ***छोटे राज्यों के लिए उपयोगी***– एकात्मक शासन व्यवस्था छोटे राज्यों के लिए बहुत ही उपयोगी है, क्योंकि इसमें संपूर्ण शासन का संचालन एक ही स्थान से किया जाता है।
- ***नीति–निर्माण में एकरूपता***– एकात्मक शासन प्रणाली में नीति संबंधी जो भी निर्णय लिए जाते हैं उनमें एकरूपता बनी रहती है, क्योंकि ये निर्णय एक स्थान से अर्थात केंद्र से लिये जाते हैं।
- ***आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त***– एकात्मक शासन व्यवस्था में एक ही स्थान से निर्णय लिये जाने के कारण पूरे राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्णय लिये जा सकते हैं, जिस कारण यह व्यवस्था आर्थिक विकास के लिए उपयोगी होती है।
- ***अंतर्राष्ट्रीय परिपेक्ष्य में सुदृढ़ता***– एकात्मक शासन के अंतर्गत, अंतर्राष्ट्रीय मामलों में शीघ्रता से निर्णय लिया जा सकता है, समान रूप से नीति का अनुसरण किया जा सकता है और अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को अधिक कुशलता के साथ निभाया जा सकता है।
- ***संघर्ष की संभावना नहीं***– एकात्मक शासन में शासन की समस्त शक्तियां केंद्र के हाथों में रहती हैं तथा इकाइयाँ केंद्र के पूर्णतः अधीन होकर कार्य करती हैं। जिस कारण केंद्र तथा इकाइयों के बीच संघर्ष की संभावना नहीं रहती और प्रशासनिक निर्णय लेने में आसानी होती है।

एकात्मक शासन प्रणाली के दोष

अनेक गुणों के बावजूद एकात्मक शासन प्रणाली की कुछ कमियां भी हैं जो निम्नलिखित हैं–

- ***शासन की कार्य कुशलता में कमी***– एकात्मक शासन में शासन कार्यों का संपूर्ण संचालन एक ही स्थान अर्थात केंद्र से संचालित होता है, जिसे शासन कार्य की कुशलता के लिए उपर्युक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही स्थान से केंद्रीय सरकार पूरे देश में कुशल शासन संचालन कर ले यह संभव नहीं है। अतः देश के सभी भागों के हितों व आवश्यकताओं की पूर्ति केंद्र द्वारा नहीं हो सकती।
- ***लोकतांत्रिक भावना के विरुद्ध***– एकात्मक शासन व्यवस्था लोकतंत्र की भावना के विरुद्ध है क्योंकि इसमें प्रांतीय अथवा स्थानीय स्वशासन को वो महत्ता नहीं मिलती जो लोकतंत्र में मिलनी चाहिए।
- ***शासन की निरंकुशता की संभावना***– एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की निरंकुशता का भय बना रहता है क्योंकि शासन की समस्त शक्तियां केंद्र में ही निहित होती हैं। केंद्र अपनी शक्तियों को बढ़ा कर निरंकुश न हो जाए और शासन के सभी क्षेत्रों में अपनी मनमानी न करने लगे, इस बात की संभावना बनी रहती है।
- ***विविधताओं वाले राष्ट्रों में असफल***– छोटे–छोटे राज्यों के लिए यह शासन व्यवस्था सफल हो सकती है, बड़े व विविधताओं वाले राष्ट्रों में नहीं, क्योंकि एक ही स्थान से शासन चलाने पर विभिन्न जाति, धर्म, भाषाओं व नस्लों के लोगों के हितों की पूर्ति संभव नहीं हो सकती।
- ***स्थानीय संस्थाओं के क्रिया–कलापों पर प्रतिबंध***– एकात्मक शासन व्यवस्था में, शासन में इतनी कठोरता और अंकुश रहता है कि इससे स्थानीय संस्थानों के क्रिया–कलापों पर प्रतिबंध लग जाते हैं और उनकी स्वायत्तता लगभग समाप्त हो जाती है।
- ***शासन कार्यों के प्रति उदासीन जनता***– जनता को सार्वजनिक कार्यों में भागीदारी का पूर्ण अवसर प्राप्त नहीं होता, जिस कारण जनता सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन रहती है।

संघात्मक शासन प्रणाली (Federal Governance System)

संघात्मक शासन प्रणाली में संविधान के द्वारा केंद्र व उसकी इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। इस शासन में संघीय (केंद्रीय) सरकार और राज्य सरकारें अपने–अपने क्षेत्रों में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर शासन कार्य करती हैं। संघ शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के फोएड्स शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है, 'समझौता' या 'संधि'। इस अर्थ के आधार पर समझौता या संधि द्वारा निर्मित राज्य को 'संघ' कहा जाता है। विश्व के 6 बड़े राज्यों में 5 संघीय राज्य हैं, जैसे– संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ब्राजील, रूस आदि।

परिभाषाएँ

- ***फाइनर के अनुसार***– 'संघात्मक राज्य वह है, जिसमें सत्ता शक्ति का एक भाग इकाइयों में निहित रहता है, दूसरा भाग केंद्र में, जो क्षेत्रीय इकाइयों के लोगों द्वारा जान–बूझकर संगठित की जाती है।'
- ***गार्नर के अनुसार***– 'संघ एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें केंद्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति (संविधान) के अधीन होती हैं तथा ये सरकारें अपने–अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं।'
- ***स्ट्रांग के शब्दों में***– 'एक संघात्मक राज्य कई राज्यों के मेल से बना एक प्रभुत्व संपन्न राज्य होता है जिसकी अपनी सत्ता, मेल करने वाले राज्यों से प्राप्त होती है और जिसमें वे राज्य इस प्रकार बंधे होते हैं कि जिससे एक राजनीतिक इकाई का निर्माण होता है।'

संघात्मक शासन की विशेषताएँ

संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- ***लिखित एवं कठोर संविधान***- संघीय शासन का संविधान लिखित एवं कठोर होता है, ऐसा इसलिए कि इकाइयों के अहित में संविधान में कोई संशोधन न हो सके।
- ***संविधान की सर्वोच्चता***- संघात्मक शासन में संविधान सर्वोच्च होता है। संघात्मक शासन में इकाइयां तथा संघ संविधान द्वारा प्राप्त शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं, वे संविधान के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकती हैं।
- ***संप्रभु शक्ति का दोहरा प्रयोग***- संघीय शासन में संप्रभुता अविभाजित होती है, किंतु एक संघीय राज्य में संप्रभुता की अभिव्यक्ति केंद्र सरकार व राज्य सरकार को प्राप्त शक्तियों के आधार पर होती है तथा दोनों ही अपनी शक्तियां संविधान से प्राप्त करती हैं।
- ***कार्यों एवं शक्ति का विभाजन***- संघीय शासन व्यवस्था में शासन की शक्तियों का विभाजन संविधान द्वारा केंद्र व राज्य सरकारों के बीच किया जाता है। शक्तियों के वितरण के साथ ही दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने को भी स्वतंत्र होती हैं।
- ***स्वतंत्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका***- संघीय शासन में सर्वोच्च न्यायालय स्वतंत्र होता है। उस पर सरकार के किसी भी अंग (व्यवस्थापिका व कार्यपालिका) का न तो कोई प्रभाव होता है, न ही कोई दबाव। संविधान के संरक्षक के रूप में होने के कारण यह सर्वोच्च होता है।
- ***दोहरी नागरिकता***- संघीय शासन व्यवस्था में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, एक तो केंद्र की व दूसरी राज्यों (इकाइयों) की। किंतु भारतीय संघ इसका एक अपवाद है। यहाँ नागरिकों को संघ की ही नागरिकता प्राप्त होती है।
- ***संबंध विच्छेद की स्वीकृति नहीं***- संघीय शासन व्यवस्था में संघ एक स्थाई राज्य होता है। इसलिए किसी भी संघात्मक राज्यों में इकाइयों को केंद्र से अलग होने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है।
- ***द्विसदनीय विधानमंडल***- संघीय शासन व्यवस्था में द्विसदनीय विधानमंडल (संसद) की व्यवस्था होती है। पहला सदन, जिसमें राष्ट्र का प्रतिनिधित्व होता है और दूसरा सदन, जिसमें संघ की इकाइयों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। अमेरिकी 'प्रतिनिधि सभा' व भारत की 'लोकसभा' समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हैं, जबकि 'सीनेट' व 'राज्य सभा' इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

संघात्मक शासन के गुण

विश्व के अनेक देशों में स्वीकृत संघात्मक शासन प्रणाली में निम्नलिखित गुण होते हैं-

- ***विविधता वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी***- संघात्मक शासन व्यवस्था विविधता वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी है। जिस राष्ट्र में धर्म, जाति, वर्ग व भाषा के आधार पर विविधता पाई जाती है, उस राष्ट्र में यह शासन व्यवस्था इन विविधताओं की रक्षा करते हुए उपयोगी सिद्ध होती है। इस शासन व्यवस्था के अंतर्गत राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय शासन दोनों के ही हित संभव हैं।
- ***छोटे व कमजोर राज्यों के लिए उपयुक्त***- संघीय शासन व्यवस्था में छोटे व कमजोर राज्य संगठित होकर शक्तिशाली राज्य बन सकते हैं, क्योंकि संघीय शासन व्यवस्था में छोटे व कमजोर राज्यों की स्वतंत्रता और उनका पृथक अस्तित्व बना रहता है और उन्हें आर्थिक विकास व सुरक्षा के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं।
- ***बड़े राष्ट्रों हेतु उपयोगी***- संघीय शासन प्रशासनिक क्षमता की दृष्टि से बड़े राष्ट्रों के लिए उपयोगी है। संघीय शासन में केंद्र व राज्य इकाइयों के बीच शासन कार्यों की शक्तियों का बंटवारा होने के कारण यह शासन विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त है।
- ***नागरिक अधिकारों की सुरक्षा***- संघीय शासन में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा बनी रहती है, क्योंकि इस शासन व्यवस्था में शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण लगाये जाते हैं, जिससे नागरिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं।
- ***आर्थिक रूप से लाभकारी***- संघात्मक शासन आर्थिक रूप से लाभकारी है। इस शासन व्यवस्था में केंद्र तथा राज्य इकाइयों को अपने-अपने आर्थिक संसाधनों को विकसित करने का अवसर मिलता है। संघात्मक शासन मितव्ययी भी होता है।
- ***सार्वजनिक कार्यों में सहभागिता***- संघात्मक शासन में नागरिकों की राजनीतिक चेतना के कारण सार्वजनिक कार्यों के प्रति उनमें उत्साह रहता है। संघात्मक शासन में नागरिकों को शासन-कार्यों में भागीदारी प्राप्त होती है।
- ***लोकतांत्रिक व्यवस्था में उपयोगी***- संघात्मक शासन-व्यवस्था प्रजातंत्र के लिए उपयोगी है, क्योंकि इसमें सत्ता के विकेंद्रीकरण के कारण स्थानीय स्वशासन की भावनाओं का विकास होता है, जो प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है।
- ***निरंकुशता में कमी***- संघात्मक शासन व्यवस्था में सरकार के निरकुंश होने की संभावना नहीं रहती। शासन-सत्ता का स्पष्ट विभाजन रहने के कारण केंद्रीय सरकार निरकुंश और स्वेच्छाचारी नहीं बन सकती है। संविधान तथा न्यायपालिका का उनकी शक्तियों पर नियंत्रण रहता है।

संघात्मक शासन के दोष

अनेक गुणों का संघटन होने के बावजूद संघात्मक शासन में कुछ सन्निहित दोष भी पाये जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

- ***संगठन व कार्य पद्धति में भिन्नता***- संघीय शासन प्रणाली में प्रशासनिक संगठन व कार्य पद्धति में भिन्नता पाई जाती है, क्योंकि केंद्र एवं राज्यों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्रता और शक्तियां प्राप्त होती हैं।
- ***जटिल और खर्चीली शासन प्रणाली***- संघीय शासन व्यवस्था में संविधान कठोर होने के कारण इसमें आसानी से संशोधन नहीं किया जा सकता, जिस कारण कई बार शासन कार्यों में परेशानी आ जाती है और शासन कार्य जटिल हो जाता है। केंद्र व राज्यों में दोहरी शासन प्रणाली होने के कारण यह व्यवस्था बहुत ही खर्चीली हो जाती है।
- ***केंद्र व राज्य सरकारों में विवाद***- इस शासन व्यवस्था में कई बार संघ व राज्य सरकारों में शासन कार्यों के विषय में विवाद उत्पन्न हो जाता है। वित्तीय शक्तियों के संदर्भ में यह विवाद अधिकतर उभर कर सामने आ जाते हैं।
- ***संकट काल में अनुपयुक्त***- संघीय शासन प्रणाली में संविधान संशोधन की प्रक्रिया अत्यंत जटिल होती है, जिस कारण यह शासन प्रणाली संकटकाल के लिए उपयोगी नहीं होती।
- ***प्रशासनिक कार्यों में एकरूपता का अभाव***- संघीय शासन में केंद्र व राज्य सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्रता व शक्तियां प्राप्त होती हैं और वे अपने-अपने राजनीतिक हितों और सुविधाओं के अनुसार कार्य करती हैं, कभी-कभी एक राज्य की नीति दूसरे राज्य पर गलत प्रभाव डालती है।

एकात्मक और संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर

एकात्मक और संघात्मक शासन प्रणालियों में निम्नलिखित आधारों पर अंतर पाया जाता है-

- ***कार्यों और शक्तियों के विभाजन के आधार पर***- एकात्मक शासन प्रणाली में शक्ति का स्रोत केंद्र ही होता है। स्थानीय सरकारों को जो भी शक्ति प्राप्त होती है, वह केंद्र के द्वारा ही होती है और शासन कार्यों में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं होता। किंतु संघात्मक शासन में शासन शक्तियां केंद्र में निहित न होकर क्षेत्रीय सरकारों में भी वितरित होती हैं और इन शक्तियों का स्रोत संविधान होता है।
- ***सरकारों की स्थिति के आधार पर अंतर***- एकात्मक शासन व्यवस्था में केंद्र सरकार के पास शासन की समस्त शक्तियां होती हैं तथा स्थानीय सरकारें केंद्र के अधीन रह कर कार्य करती हैं। अत: इस शासन व्यवस्था में स्थानीय सरकारों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत संघात्मक शासन में केंद्र के साथ-साथ स्थानीय सरकारों को भी शासन शक्तियां प्राप्त होती हैं तथा वे केंद्र से स्वतंत्र होकर संविधान की सीमाओं में रहकर कार्य करती हैं।
- ***नागरिकता के आधार पर अंतर***- एकात्मक शासन वाले राज्यों में नागरिकों की एक ही नागरिकता होती है अर्थात राष्ट्रीय नागरिकता होती है, जबकि संघात्मक राज्यों में नागरिकों को राष्ट्रीय नागरिकता के साथ-साथ इकाइयों की नागरिकता भी प्राप्त होती है अर्थात संघात्मक राज्यों में दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है।
- ***संविधान की स्थिति के आधार पर अंतर***- एकात्मक शासन वाले राज्यों में संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकारों का हो सकता है, जबकि संघात्मक शासन वाले राज्यों में शासन की शक्ति केंद्र व राज्य सरकारों में विभाजित होती है और उस विभाजन को स्पष्ट करने की दृष्टि से संविधान का लिखित होना अनिवार्य है।
- ***न्यायपालिका के कार्य संबंधी अंतर***- संघात्मक शासन में न्यायपालिका को केंद्र व इकाइयों, इकाई व इकाई के पारस्परिक अधिकारों संबंधी विवादों का निर्णय करना होता है, जबकि एकात्मक शासन में न्यायपालिका का कार्य मात्र यह देखना होता है कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून कितनी ईमानदारी से लागू हो रहे हैं।

विभिन्न संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन

विश्व के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन उनमें निहित विशेषताओं तथा समानताओं के आधार पर हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

संविधान संशोधन

- भारतीय संविधान नम्य व अनम्य प्रावधानों का समन्वय है, जिसमें अनुच्छेद 368 के अनुसार, संशोधन दो प्रकार से होता है प्रथम- उपस्थित व मतदान करने वालों के दो-तिहाई मत अर्थात् विशेष बहुमत द्वारा तथा द्वितीय-संसद के विशेष बहुमत व आधे से अधिक राज्यों की सहमति द्वारा होता है। भारतीय संविधान में संशोधन के पश्चात् उसके मूल रूप में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
- ब्रिटेन में विधानमंडल द्वारा साधारण पद्धति से संशोधन की प्रक्रिया संपन्न की जाती है। वहां संसद साधारण कानूनों के अनुरूप साधारण बहुमत से किसी भी संवैधानिक व्यवस्था को परिवर्तित कर सकती है। भारतीय संविधान में भी कतिपय अनुच्छेदों को इस पद्धति के द्वारा संशोधित किया जा सकता है। जैसे, अनुच्छेद 2 में संसद को यह शक्ति दी गई है कि नये राज्य का निर्माण उसके नाम में परिवर्तन व सीमा में परिवर्तन साधारण बहुमत द्वारा कर सकती है।
- विधानमंडल द्वारा विशेष प्रतिबंधों के साथ संशोधन की पद्धति में संशोधन विधानमंडल द्वारा ही किया जाता है पर कुछ व्यवस्थाओं को भी जोड़ दिया जाता है, जैसा कुछ देशों में किया जाता है:-
  - बेल्जियम तथा रूमानिया में प्रस्तावित संशोधन के लिए सदस्यों की एक निश्चित संख्या अनिवार्य है तथा उसे पारित करने के लिए साधारण बहुमत से अधिक बहुमत की व्यवस्था की जाती है।
  - नॉर्वे तथा स्वीडन में संविधान संशोधन से पहले विधानसभा को भंग कर दिया जाता है तथा संशोधन को आधार बनाकर चुनाव लड़ा जाता है। चुनाव के पश्चात् नवीन व्यवस्थापिका को ही संविधान में संशोधन का अधिकार प्रदान किया जाता है।
  - दक्षिण अफ्रीका में संविधान संशोधन के लिए व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान है, जबकि भारत में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।
- जनमत द्वारा लोकमत निर्देशन से संशोधन का प्रावधान स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रेलिया, आयरलैंड तथा कुछ सीमा तक इटली व फ्रांस में प्रयुक्त किया जाता है। इस पद्धति में संविधान के संशोधनों पर जनता का मत जानने के लिए जनमत संग्रह कराया जाता है। यह जनमत ऐच्छिक या अनिवार्य हो सकता है। संविधान संशोधन उसी स्थिति में स्वीकार्य माना जाता है, जब जनता उस संशोधन के पक्ष में अपना मत दे।
- संघ राज्य की इकाइयों के बहुमत से संशोधन का प्रावधान संघात्मक राज्यों जैसे भारत व अमेरिका में पाया जाता है। इस प्रक्रिया में विधानमंडल द्वारा पास किये गये प्रस्तावों पर राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। अमेरिका में यह अनुपात 3/4 तथा भारत में 1/2 से अधिक है।
- लैटिन अमेरिका, बुल्गारिया तथा अमेरिका आदि देशों में संविधान का संशोधन विशेष सम्मेलन द्वारा किया जाता है। जिसमें संविधान संशोधन के लिए एक विशिष्ट सभा की रचना की जाती है।
- रूस का संविधान एक अचल संविधान है, यहां संविधान में संशोधन का प्रस्ताव दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाता है।

शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत

- भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली होने के कारण व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका समन्वयात्मक रूप से कार्य करती हैं। दोनों अन्तर्निभर हैं तथापि न्यायपालिका पूर्णतया स्वतंत्र है। इस प्रकार भारत में पूर्ण पृथक्करण न होकर आंशिक शक्ति विभाजन पाया जाता है।
- ब्रिटेन में वास्तव में शक्ति पृथक्करण न होकर मंत्रिमंडलात्मक पद्धति है, जिसमें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का अटूट संबंध है। उच्च सदन अर्थात् हाऊस ऑफ लार्ड्स देश का सर्वोच्च न्यायालय है। इस प्रकार वहां शक्ति का पृथक्करण न होकर शक्ति का समन्वय अथवा सामंजस्य है।
- फ्रांस में शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत अंशत: लागू है। उदाहरणार्थ, चतुर्थ गणतंत्र के संविधान में शक्ति के पृथक्करण को स्थान नहीं दिया गया तथापि पंचम गणतंत्र के संविधान में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका से पृथक करने का प्रयास किया गया। राष्ट्रपति जो कार्यपालिका का अध्यक्ष है, उसका निर्वाचन संसद द्वारा न करके एक निर्वाचक मंडल द्वारा किया जाता है तथा मंत्रियों को संसद की सदस्यता से वंचित कर दिया गया है तथापि शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण नहीं हुआ है।
- जापान के संविधान में शक्ति विभाजन का सिद्धांत आंशिक रूप से अपनाया गया है तथा न्यायपालिका को स्वतंत्रता दी गई है। कार्यपालिका को किसी भी अधिकरण की अंतिम शक्ति नहीं सौंपी गई है। कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को एक-दूसरे से पृथक रखने का प्रयास किया गया है।

- स्विट्जरलैंड के संविधान में भी आंशिक शक्ति पृथक्करण है। यद्यपि कार्यपालिका का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा होता है तथापि कार्यपालिका के पास व्यवस्थापिका को भंग करने की शक्ति नहीं है, न ही व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पारित करके कार्यपालिका को अपदस्थ कर सकती है।
- सोवियत संघ ने, संविधान में शक्ति के पृथक्करण सिद्धांत को नहीं अपनाया था। यहां मंत्रिपरिषद का चुनाव सुप्रीम सोवियत द्वारा होता था तथा मंत्रिपरिषद सुप्रीम सोवियत के प्रति उत्तरदायी होती थी। इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी सर्वोच्च सोवियत द्वारा की जाती थी। यद्यपि न्यायाधीशों को कानून की दृष्टि से स्वतंत्रता प्राप्त थी, परन्तु उन्हें संविधान की व्यवस्था करने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल प्रेसीडियम को था। प्रेसीडियम का स्वरूप तथा संगठन, शक्ति पृथक्करण सिद्धांत के सर्वथा विपरीत है।
- अमेरिकी संविधान की विशेषता शक्ति का पृथक्करण, नियंत्रण और संतुलन प्रणाली है। अमेरिकी संविधान में समस्त व्यवस्थापिका संबंधी शक्तियां एक कांग्रेस में निहित होंगी तथा कार्यपालकीय शक्तियां राष्ट्रपति में निहित होंगी। न्याय संबंधी शक्ति सर्वोच्च न्यायालय व उसके अधीनस्थ न्यायालयों में निहित होंगी। जिन्हें समय-समय पर कांग्रेस द्वारा स्थापित किया जायेगा। इस प्रकार अमेरिकी संविधान में शासन के तीनों अंगों को पृथक-पृथक कर दिया गया है तथा उन्हें एक-दूसरे से स्वतंत्र रखने की व्यवस्था की गई है।

मौलिक अधिकार

वे अधिकार, जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक होते हैं, मौलिक अधिकार कहलाते हैं। इन अधिकारों की गारंटी संविधान द्वारा प्रदान की जाती है।

- भारतीय संविधान में अधिकारों को दो श्रेणियों में रखा जाता है, नागरिकों को दिये जाने वाले अधिकार तथा व्यक्तियों को दिये जाने वाले अधिकार। इन प्रावधानों के अंतर्गत प्रदान किये जाने वाले प्रमुख अधिकार हैं, समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार जिसमें भाषण देने की स्वतंत्रता, कारोबार करने की स्वतंत्रता आदि शामिल हैं, इसके अलावा शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति व शिक्षा संबंधी अधिकार तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान किये गये हैं।
- रूसी संविधान में भारतीय संविधान द्वारा प्रदान किये जाने वाले अधिकारों के अलावा काम करने का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, विश्राम तथा अवकाश का अधिकार दिये जाने के साथ शरण पाने का अधिकार भी दिया गया है। रूस में नागरिकों को श्रम उपार्जित आय, बचत, निवास, गृह आदि संपत्ति पर पूर्ण अधिकार है।
- जापान में समानता, स्वतंत्रता, भाषण व प्रेस की स्वतंत्रता के अतिरिक्त मतदान का अधिकार, याचिका भेजने का अधिकार, सौदेबाजी का अधिकार तथा कर दंड के निषेध को भी मौलिक अधिकारों की श्रेणी में रखा गया है।
- फ्रांस में मूल अधिकारों का वर्णन नहीं किया गया बल्कि कुछ मौलिक स्वतंत्रताओं का वर्णन किया गया है। फ्रांस का संविधान कहता है कि 'किसी नागरिक को निरकुंश ढंग से बंदी बनाकर नहीं रखा जा सकता' न्यायालय द्वारा संविधान की यह व्यवस्था लागू की जा सकती है।
- चीन में भी संविधान का भाग 3 मूल अधिकारों से संबंधित है, जिसमें चीन के नागरिकों को न्यायिक समानता, राजनीतिक समानता, लेखन, भाषण व संगठन की स्वतंत्रता तथा स्त्रियों को अधिकार, वृद्धावस्था में सहायता के अतिरिक्त शिक्षा, शरण व आपत्तियों के निराकरण का मूल अधिकार प्रदान किया गया है।
- ब्रिटेन में विधि के शासन के अधीन नागरिकों को कुछ प्रमुख अधिकार प्रदान किये गए हैं, जैसे बिना विधि का पालन किये बंदी न बनाया जाना अथवा दंडित न होने का अधिकार, भाषण व सार्वजनिक सभा व उत्सवों में भाग लेने का अधिकार शामिल है।
- अमेरिका में मूल अधिकारों को तीन भागों में विभक्त किया गया है, ये हैं, वैयक्तिक अधिकार, न्यायिक प्रक्रिया संबंधी अधिकार तथा संपत्ति का अधिकार।
- वैयक्तिक अधिकारों में दासता से मुक्ति, विधि के समान संरक्षण, अधिकार अपहरण, देशद्रोह अभियोग, शस्त्र धारण करने का अधिकार, धर्म, भाषण व प्रेस की स्वतंत्रता आदि शामिल है। न्यायिक प्रक्रिया संबंधी अधिकारों में शीघ्र व खुली अदालत में न्याय का अधिकार, कानूनी सहायता तथा अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए विवश न किये जाने का अधिकार शामिल है। इसके अलावा बंदी प्रत्यक्षीकरण तथा निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार प्रदान किया गया है। संपत्ति के अधिकार के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

न्यायिक पुनरावलोकन

- न्यायिक पुनर्निरीक्षण, जिसकी उत्पत्ति व विकास अमेरिका में हुआ। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित तथा कार्यपालिका द्वारा किये गये कार्यों से संबंधित अपने समक्ष आये मुकदमों में न्यायालय द्वारा उस जांच को कहा जाता है जिसके अंतर्गत वो निर्धारित करते हैं कि, वे कानून अथवा कार्य संविधान द्वारा प्रतिबंधित हैं अथवा नहीं।
- भारत के संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्निरीक्षण अधिकार का स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता तथापि सर्वोच्च न्यायालय इस शक्ति का यथावसर प्रयोग करता है। उसने कार्यपालिका के उन कार्यों को असंवैधानिक घोषित किया जो संवैधानिक उपबंधों के प्रतिकूल थे और विधायिका द्वारा पारित विधि या संविधान संशोधन को भी संविधान की मूल भावना के विपरीत होने के आधार पर अंसवैधानिक घोषित किया है।
- अमेरिका के संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को स्पष्ट रूप से न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्तियां प्राप्त नहीं थी, परन्तु 1803 में एक विवाद में मुख्य न्यायाधीश ने स्पष्ट किया कि अमेरिका में संविधान ही सर्वोच्च है, यदि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कोई कानून संविधान के अनुकूल नहीं है, तब उच्चतम न्यायालय उस कानून को अवैध घोषित कर सकता है। इस शक्ति के कारण सर्वोच्च न्यायालय अब तीसरा सदन बन गया है तथा इसी के परिणामस्वरूप नियंत्रण तथा संतुलन का सिद्धांत क्रियान्वित हो सका है।
- स्विट्जरलैंड में न्यायिक पुनर्निरीक्षण की व्यवस्था है तथापि संघीय न्यायमंडल का यह अधिकार केवल केंटनों (प्रांतों) के कानूनों तक ही सीमित है, वह संघीय व्यवस्थापिका के कानूनों की व्याख्या ही कर सकता है। उनकी संवैधानिक वैधानिकता, अवैधानिकता के विषय में कोई निर्णय नहीं दे सकता।
- सोवियत संघ में सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार नहीं था। सर्वोच्च न्यायालय, सर्वोच्च सोवियत के कानूनों, प्रेसीडियम के अध्यादेशों व मंत्रिमंडल के आदेशों को असंवैधानिकता के आधार पर रद्द नहीं कर सकता था। सोवियत संघ में सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक न होकर, प्रशासन का एक अंग माना गया था।

यह भी जाने

26 नवंबर भारत में 'संविधान दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इसकी शुरूआत 2015 से हुई, क्योंकि यह वर्ष संविधान निर्माता डॉ. भीमराव अंबेडकर के 125वें जन्मवर्ष के रूप में मनाया गया था। 26 नवंबर, 1949 को भारतीय संविधान सभा द्वारा संविधान को अपनाया गया और 26 जनवरी, 1950 से इसे लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के साथ लागू किया गया था, इसलिए 26 नवंबर का दिन संविधान के महत्व का प्रसार करने हेतु चुना गया।

कार्यपालिका

कार्यपालिका शासन का वह अंग होता है जो अपने अधिकारों का प्रयोग करता है साथ ही इस पर राज्य के प्रशासन की जिम्मेदारी होती है। कार्यपालिका कानूनों का निष्पादन एवं क्रियान्वयन करती है।

शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था में शक्तियों का विभाजन शासन के तीन अंगों में हुआ है- विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। इस प्रकार की व्यवस्था में कार्यपालिका को कानून निर्माण एवं इनकी व्याख्या करने की शक्ति नहीं होती। उन्हें विधायिका द्वारा निर्मित एवं न्यायालय द्वारा व्याख्यायित कानूनों का क्रियान्वयन करना होता है। आधुनिक काल में जैसे-जैसे लोकतंत्र एवं संविधानवाद का विकास हुआ, कार्यपालिका की संरचना में परिवर्तन आने लगा। वर्तमान समय में इसके कई रूप दिखाई पड़ते हैं। जिन्हें दो भागों के अंतर्गत समझा जा सकता है-

- ***राजनीतिक कार्यपालिका***- यह कार्यपालिका के सर्वोच्च स्तर पर होती है। जिसे निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। उदाहरण- भारत में केन्द्रीय मंत्रिमंडल एवं अमेरिका में राष्ट्रपति इसी प्रकार चुने जाते हैं। राजनीतिक कार्यपालिका के भी कई प्रकार देखे जा सकते हैं-
  - ***अध्यक्षीय कार्यपालिका***- जहां जनता निर्वाचकगण के माध्यम से कार्यपालिका के प्रमुख का चयन करती है। उदाहरण- अमेरिकी राष्ट्रपति।
  - ***संसदीय कार्यपालिका***- विधायिका के सदस्यों में से ही राजनीतिक कार्यपालिका का चयन होता है। विधायिका में जिस दल के सदस्य बहुमत में होते हैं, वही दल अपनी सरकार बनाता है। सरकार चलाने वाले सदस्यों के समूह को मंत्रिमंडल कहा जाता है। यह प्रणाली भारत एवं इंग्लैंड जैसे देशों में प्रचलित है।
  - ***दोहरी कार्यपालिका***- इसके अंतर्गत, कार्यपालिका की शक्तियां राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री में विभाजित होती हैं। राष्ट्रपति का चुनाव अमेरिका की अध्यक्षीय प्रणाली के समान एवं प्रधानमंत्री का चुनाव संसदीय प्रणाली के समान होती है। यह प्रणाली फ्रांस जैसे कुछ देशों में दिखाई पड़ती है।
  - ***बहुल कार्यपालिका***- यह स्विट्जरलैंड जैसे कुछ देशों में प्रचलित है। इसके अंतर्गत, राजनीतिक कार्यपालिका के सभी सदस्य बराबर शक्तियां रखते हैं। सर्वोच्च अधिकारी का पद नाममात्र का होता है।
- ***स्थायी कार्यपालिका***- इसके विपरीत स्थायी कार्यपालिका में वे उच्च पदाधिकारी शामिल होते हैं जो अधिकारिता के अंग होते हैं। उदाहरण- भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा अन्य सिविल सेवा। इसे राजनीतिक कार्यपालिका के दिशा-निर्देशों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। यह अधिकारीतंत्र विशेष दक्षता से युक्त होता है।

विश्व के प्रमुख लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं वाले देशों की कार्यपालिका का अध्ययन करके उपरोक्त व्यवस्थाओं को समझा जा सकता है-

- **भारत की कार्यपालिका**- इसमें राजनीतिक कार्यपालिका के स्तर पर ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली जैसा ढाँचा स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार, लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल मंत्रिमण्डल का गठन करता है। मंत्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है। राष्ट्रपति भारतीय कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, किन्तु सामान्य स्थितियों में उसे मंत्रिमण्डल के निर्देशों के अनुसार ही काम करना होता है। राजनीतिक कार्यपालिका के अलावा, भारत में स्थायी कार्यपालिका के रूप में एक सशक्त नौकरशाही है। इसमें भारतीय प्रशासनिक सेवा जैसी अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी भी शामिल हैं और भारतीय राजस्व सेवा जैसी केंद्रीय सेवाओं के अधिकारी भी। राज्यों के स्तर पर उनकी अपनी लोक-सेवाएँ भी कार्य करती हैं।
- ***ब्रिटिश कार्यपालिका***- ब्रिटिश कार्यपालिका एक मंत्रिपरिषद के अधीन काम करती है, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। राज मुकुट कॉमन्स सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमंत्री के रूप में चुनता है। यदि चुनावों में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत न हो तो सर्वाधिक सदस्य संख्या वाले दल के नेता को गठबंधन सरकार बनाने का अवसर दिया जाता है। प्रधानमंत्री की सहायता से अन्य मंत्रियों का चुनाव किया जाता है। ये मिलकर सरकार बनाते हैं और विभिन्न सरकारी विभागों के राजनीतिक प्रमुख के रूप में कार्य करते हैं। लगभग 20 मंत्री कैबिनेट बनाते हैं। यह सरकार तभी तक कार्य करती है, जब तक उसे कॉमन्स सभा का विश्वास हासिल है। अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से सरकार को अपने कार्यकाल की समाप्ति से पहले भी हटाया जा सकता है। यदि यह प्रस्ताव पारित हो जाता है तो मंत्रिपरिषद को इस्तीफा देना होता है। मंत्रिपरिषद के निर्णयों को सिविल सेवा नामक संगठन द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।
- ***अमेरिकी कार्यपालिका***- अमेरिकी लोकतंत्र अध्यक्षीय प्रणाली पर आधारित है, इंग्लैंड की संसदीय प्रणाली पर नहीं। अमेरिका का राष्ट्रपति वास्तविक राज्याध्यक्ष होता है, सिर्फ नाममात्र का नहीं। वह कार्यपालिका का प्रमुख होता है। उसका चुनाव 4 वर्षों के लिए होता है तथा अमेरिकी संविधान के अनुसार, कोई भी व्यक्ति अपने जीवनकाल में दो से ज्यादा बार राष्ट्रपति पद के लिए नहीं चुना जाता। राष्ट्रपति का कार्यकाल स्थिर होता है और उसे केवल महाभियोग द्वारा ही कार्यकाल के बीच में हटाया जा सकता है, जो कि लगभग असंभव प्रक्रिया है। महाभियोग देशद्रोह, जघन्य अपराध या भारी भ्रष्टाचार के आरोप में ही चलाया जाता है। संसद के दोनों सदनों द्वारा यह प्रस्ताव पारित होना चाहिए (पहले प्रतिनिधि सभा में फिर सीनेट से)। अमेरिकी राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचक मंडल द्वारा होता है। अमेरिकी नागरिक अपने-अपने क्षेत्र से निर्वाचन मंडल के सदस्यों का चुनाव करते हैं और फिर निर्वाचन मंडल के सदस्य राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।

राष्ट्रपति अपने मंत्रिमंडल का निर्माण करने के लिए ब्रिटिश व्यवस्था की तरह विधायिका के सदस्यों में से चयन करने को बाध्य नहीं होता। वह अपनी पसंद के किसी भी व्यक्ति को मंत्री बना सकता है और जब चाहे उसे हटा भी सकता है। ये मंत्री राष्ट्रपति के सहयोगी नहीं सहायक होते हैं। वह संघीय एजेंसियों के प्रमुखों की नियुक्ति भी करता है। मंत्रिमंडल और स्वतंत्र संघीय एजेंसियाँ कांग्रेस (विधायिका) द्वारा निर्मित कानूनों का क्रियान्वयन और प्रशासन के लिए उत्तरदायी होती हैं।

अमेरिकी उपराष्ट्रपति भी कार्यपालिका का अंग होता है, उसका निर्वाचन भी निर्वाचकगण द्वारा होता है। निर्वाचकगण के प्रत्येक सदस्य राष्ट्रपति के साथ एक वोट उपराष्ट्रपति के लिए भी डालते हैं। उपराष्ट्रपति सीनेट की अध्यक्षता करता है। वह राष्ट्रपति पद के कर्तव्यों का भी निर्वाह कर सकता है। जब राष्ट्रपति की मृत्यु होने, त्यागपत्र देने, स्वास्थ्य कारणों से या यदि उसे महाभियोग द्वारा हटा दिया जाए तो उपराष्ट्रपति इसका पद संभालता है।

- ***स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका***- स्विट्जरलैंड की कार्यकारी शक्ति एक विशेष समूह के हाथ में होती है, जिसे संघीय परिषद कहते हैं। इस परिषद में 7 सदस्य होते हैं, जिन्हें विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में 4 वर्षों के लिए चुना जाता है। संघीय परिषद के अध्यक्ष को स्विस परिसंघ का राष्ट्रपति व अन्य सदस्यों को मंत्री कहा जाता है। संघ का राष्ट्रपति सिर्फ सांकेतिक राज्याध्यक्ष होता है, उसकी शक्तियां अन्य सदस्यों के ही बराबर होती हैं। हर वर्ष बाद राष्ट्रपति बदलता है। कार्यपालिका के इसी प्रकार की संरचना को बहुल कार्यपालिका कहा जाता है।

संघीय सभा के सदस्यों का कार्यकाल निश्चित होता है, उन्हें महाभियोग या

अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से नहीं हटाया जा सकता।

संघीय सभा राष्ट्रपति के साथ-साथ उपराष्ट्रपति का भी चुनाव करती है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की स्थिति प्रत्येक वर्ष बदलती रहती है। प्रत्येक सदस्य जो उपराष्ट्रपति बनता है वह राष्ट्रपति बन जाता है। संघीय राष्ट्रपति सभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है। यदि कभी संघीय सभा निर्णय करने की स्थिति में न हो तो राष्ट्रपति को निर्णय करने की शक्ति प्राप्त होती है।

- ***फ्रांस की कार्यपालिका***- फ्रांस में एकात्मक शासन प्रणाली है। फ्रांस की कार्यपालिका दोहरी कार्यपालिका पर आधारित है, जिसके अंतर्गत राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों के पास कार्यपालिका की निश्चित शक्तियां होती हैं। राष्ट्रपति का चुनाव जनता प्रत्यक्ष विधि से करती है और प्रधानमंत्री का चुनाव संसद में बहुमत के आधार पर होता है। राष्ट्रपति, ब्रिटिश राजा/भारतीय राष्ट्रपति की तरह नाममात्र का प्रधान नहीं होता है उसे प्रधानमंत्री के साथ-साथ कई कार्यकारी शक्तियां प्राप्त होती हैं।

फ्रांसीसी शासन व्यवस्था में राजनीतिक कार्यपालिका की शक्तियां संसद की तुलना में काफी ज्यादा हैं। संसद केवल मूल सिद्धांत एवं मार्गदर्शक सिद्धांत ही बना सकती है अन्य क्षेत्रों में सरकार को कानून बनाने की पर्याप्त शक्ति मिली हुई है। कभी-कभी प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति भिन्न भिन्न दलों के होते हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो जाता है जिसे सहचारिता कहते हैं। फ्रांस की चुनाव प्रणाली को 'द्वितीयक पूर्ण बहुमत प्रणाली' या 'पुनर्मतदान प्रणाली' कहते हैं। इसके अंतर्गत पंजीकृत मतदाताओं के कम से कम एक चौथाई मत तथा मतदान में डाले गए कुल मान्य मतों के कम से कम 50% वोट प्राप्त करने होते हैं। यदि पहली बार किसी उम्मीदवार को ऐसा बहुमत प्राप्त नहीं होता है तो पंजीकृत मतदाताओं की कुल संख्या के साढ़े बारह प्रतिशत से ज्यादा वोट जिन उम्मीदवारों को मिलते हैं, उनके बीच पुनः मतदान कराया जाता है। इसमें सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को विजयी घोषित कर दिया जाता है चाहे इसे पूर्ण बहुमत मिला हो या नहीं।

फ्रांस के राष्ट्रपति के चुनाव में यही पद्धति भिन्न तरीके से प्रयोग की जाती है। इसमें यदि पहली बार किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले दो उम्मीदवारों में पुनः मुकाबला कराया जाता है और सर्वाधिक मत प्राप्त उम्मीदवार राष्ट्रपति चुन लिया जाता है।

फ्रांस का राष्ट्रपति प्रधानमंत्री एवं अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। यदि राष्ट्रपति के राजनीतिक दल का संसद में बहुमत होता है तो राष्ट्रपति प्रशासनिक कार्यों में प्रभावी भूमिका निभाता है। वह जिसे चाहे मंत्री बना सकता है। यदि उसके प्रतिद्वंद्वी दल का संसद में बहुमत है तो उसकी भूमिका सीमित हो जाती है। सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। निंदा प्रस्ताव के पारित होने पर सरकार को इस्तीफा देना होता है।

सरकार के मंत्री संसदीय अनुमोदन के बिना किसी विधान (कानून) को पारित नहीं कर सकते। यद्यपि प्रधानमंत्री को नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है, लेकिन वह संसदीय प्रभुत्व का उल्लंघन नहीं कर सकता है।

- ***जर्मनी की कार्यपालिका***- यहाँ, राष्ट्रपति जर्मनी का राज्याध्यक्ष होता है, जो नामामात्र का ही प्रधान होता है। वास्तविक शक्तियां चांसलर के हाथ में रहती हैं, जो कि भारतीय प्रधानमंत्री के समतुल्य हैं। चांसलर सरकार के अध्यक्ष की भूमिका निभाता है। संघीय सरकार के अन्य सभी मंत्री चांसलर द्वारा चुने जाते हैं। चांसलर को इसके पद पर रहने के दौरान सामान्यतः हटाया नहीं जा सकता अर्थात् 4 वर्ष की अवधि पूरी होने से पहले इसे हटाया नहीं जा सकता। वह 'रचनात्मक अविश्वास प्रस्ताव' के माध्यम से हटाया जा सकता है। यदि विधायिका के निम्न सदन में चांसलर के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाया जाता है तो उस प्रस्ताव में ही निर्दिष्ट करना होता है कि प्रस्ताव पारित हो जाने की स्थिति में नया चांसलर कौन होगा? यदि सदन प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार कर लेता है तो ही चांसलर पद से हटाया जाता है। इसका लाभ यह है कि सरकार गिरने पर भी जर्मन राजव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न नहीं होती।

न्यायपालिका

न्यायपालिका शासन का एक अंग है। जिसका प्रमुख कार्य यह है कि विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार विभिन्न विवादों का समाधान करे, किन्तु आजकल न्यायपालिका की भूमिका काफी हद तक विधायिका के समान ही होने लगी है। इसका कारण यह है कि, कई कानून इतने जटिल और अस्पष्ट होते हैं कि न्यायपालिका को उनकी मौलिक व्याख्या करनी पड़ती है। ये व्याख्याएं स्वतः कानून का दर्जा प्राप्त कर लेती हैं। जिन्हें न्यायाधीश निर्मित कानून या निर्णय कानून कहते हैं। वर्तमान समय में इन्हीं कानूनों की एक पृथक शाखा के रूप में महत्व दिया जाता है। ध्यातव्य है कि, उच्च स्तर के न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णय निचली अदालतों के लिए पूर्वनिर्णय होते हैं तथा उनके लिए बाद के किसी भी समान मामले में उन पूर्वनिर्णयों को आधार बनाना जरूरी होता है।

- ***भारतीय न्यायपालिका***- भारतीय राजव्यवस्था का ढांचा विधायिका और कार्यपालिका के स्तर पर भले ही संघात्मक हो, परन्तु न्यायपालिका स्वतंत्र एवं तुलनात्मक रूप से अधिक एकात्मक है। यहां केन्द्र और राज्यों के स्तर पर भिन्न-भिन्न न्यायपालिकाएं नहीं हैं तथा राज्यों के उच्च न्यायालय सीधे तौर पर सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं। इसके अलावा, मूल अधिकारों के संरक्षक के तौर पर तथा संविधान के निर्वचन की अंतिम शक्ति रखने के कारण भारतीय न्यायपालिका काफी शक्तिशाली है। भारतीय न्यायपालिका ने प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत को पूरी तरह स्वीकार किया है। वह इस मूल सिद्धांत पर कार्य करती है कि "हजार अपराधी भले छूट जाएं, एक भी निरपराध को सजा नहीं मिलनी चाहिए।" प्रत्येक अभियुक्त को अदालत में अपना पक्ष रखने का मौका मिलता है, चाहे उसका कृत्य कितना भी घृणित हो या चाहे उसे सिद्ध करने के लिए कई गवाह मौजूद हों।

मुंबई हमले के अभियुक्त अजमल कसाब पर चलने वाला अत्यंत खर्चीला व अत्यधिक समय लेने वाला मुकदमा यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय न्यायव्यवस्था प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत को पूरी प्रतिबद्धता से स्वीकार करती है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी व राजीव गांधी के हत्यारों को अदालत द्वारा अपना पक्ष रखने का पूरा मौका दिया जाना भी इसी बात को प्रमाणित करता है।

- ***इंग्लैण्ड की न्यायपालिका***- यहाँ, न्यायपालिका सामान्यतः कार्यपालिका और विधायिका के हस्तक्षेप से मुक्त है, हालांकि संसदीय प्रणाली के अंतर्गत शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Powers) की वैसी स्थिति नहीं है, जैसी संयुक्त राज्य अमेरिका में है। न्यायालय आमतौर पर स्वतंत्र होकर काम करते हैं, किन्तु वे संसद द्वारा पारित विधेयकों का पुनर्निरीक्षण या पुनर्विलोकन (Judicial Review) करने की शक्ति नहीं रखते। वैसे भी, न्यायपालिका का सर्वोच्च स्तर लॉर्ड्स सभा के विधि लॉर्ड्स (Law Lords) में ही है। इस दृष्टि से भी ब्रिटिश संसद न्यायपालिका से बहुत अधिक शक्तिशाली है।

2009 में, इंग्लैंड में सर्वोच्च न्यायालय का गठन किया गया है, इसके 12 न्यायाधीश 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' के विधि लॉर्ड्स (Law Lords) ही हैं। इसलिए इस परिवर्तन से कोई संरचनागत परिवर्तन नहीं हुआ है, अंतर सिर्फ इतना आया है कि अब इंग्लैंड के पास औपचारिक रूप से एक सर्वोच्च न्यायालय हो गया है। यह 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) के सिद्धांत के अनुसार कार्य करती है, न कि 'यथोचित विधि प्रक्रिया' (Due Process of Law) के अनुसार। इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि, ब्रिटिश न्यायपालिका संसद द्वारा पारित विधियों का पुनर्विलोकन (Review) सिर्फ इस

आधार पर कर सकती है कि विधि पारित करने के लिए 'वैध प्रक्रिया' का पालन किया गया है या नहीं वह इस आधार पर विधियों का पुनर्विलोकन नहीं कर सकती कि विधि की विषय-वस्तु (Content) अपने आप में उचित है या नहीं।

ब्रिटिश न्यायपालिका 'सकारात्मक विधि' (Positive Law) के सिद्धांत के अनुसार कार्य करती है, उसे यह शक्ति हासिल नहीं है कि वह 'प्राकृतिक विधि' या 'नैसर्गिक विधि' (Nature's Law) के सिद्धांत के अनुसार संसद की शक्तियों को नियंत्रित कर सके। गौरतलब है कि 'सकारात्मक विधि' के अंतर्गत मनुष्यों द्वारा बनाई गई विधि को सर्वोच्च माना जाता है।

'सकारात्मक विधि' की सर्वोच्चता का अर्थ है कि, यदि संसद ने उपर्युक्त प्रक्रिया का पालन करते हुए कोई विधि पारित की है तो न्यायपालिका उसे इस आधार पर खारिज नहीं कर सकती कि वह प्रकृति द्वारा मनुष्यों को दिए गए अधिकारों या प्रकृति के आधारभूत नियमों के खिलाफ है। यह सिद्धांत ब्रिटिश न्यायपालिका को संसद के समक्ष कमजोर साबित करता है।

- ***अमेरिकी न्यायपालिका***- अमेरिकी राजव्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका महत्वपूर्ण है। वर्तमान में इसमें मुख्य न्यायाधीश सहित कुल 9 न्यायाधीश हैं। जिनकी सेवानिवृत्ति का निर्धारण नहीं किया गया है। संघात्मक संविधान के मामले में लिखित संविधान का तथा संविधान के उपबंधों के समुचित निर्वचन का विशेष महत्व होता है, इसलिये स्वभाविक तौर पर सर्वोच्च न्यायालय अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय अपनी सर्वोच्चता की सिद्धि दो शक्तियों, न्यायिक पुनरीक्षण तथा अधिनिर्णयन द्वारा करता है।

अमेरिकी न्यायपालिका 'यथोचित विधि प्रक्रिया' (Due process of law) के सिद्धांत के अनुसार कार्य करती है, न कि 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure established by law) के अनुसार। अमेरिकी संविधान के 5वें तथा 14वें संशोधनों में 'यथोचित विधि प्रक्रिया' (Due process of law) वाक्यांश का प्रयोग किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि, यह 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure established by law) के ब्रिटिश सिद्धांत से अलग है। इसके अंतर्गत न्यायपालिका संसद द्वारा पारित किसी विधि का पुनर्विलोकन न सिर्फ 'उपयुक्त प्रक्रिया' के आधार पर कर सकती है, बल्कि इस आधार पर भी कर सकती है कि विधि की विषय-वस्तु या अंतर्वस्तु (Content of law) नागरिकों के मूल अधिकारों के खिलाफ तो नहीं है। इस सिद्धांत से भी अमेरिकी न्यायपालिका को काफी ताकत हासिल हुई है। अमेरिकी न्यायपालिका 'प्राकृतिक विधि' या 'नैसर्गिक विधि' (Nature's Law) के सिद्धांत के अनुसार कार्य करती है, वह 'सकारात्मक विधि' (Positive Law) को अंतिम विधि नहीं मानती। इसका अर्थ है कि यदि संसद ने उपयुक्त प्रक्रिया का पालन करते हुए कोई विधि पारित की है तो भी न्यायपालिका उसे इस आधार पर खारिज कर सकती है कि वह प्रकृति द्वारा मनुष्यों को दिए गए अधिकारों या प्रकृति के आधारभूत नियमों के खिलाफ है। यह व्याख्या भी अमेरिकी न्यायपालिका को अत्यधिक शक्ति प्रदान करती है।

- ***स्विट्जरलैंड की न्यायपालिका***- यह संघीय एवं केंटन प्रांत स्तर पर गठित है। संघीय सर्वोच्च न्यायालय स्विट्जरलैंड का उच्च स्तरीय न्यायालय है। यह संघीय स्तर पर न्यायिक कार्यों को करता है। संघीय आपराधिक न्यायालय, संघीय प्रशासनिक न्यायालय एवं संघीय पेटेंट न्यायालय, संघीय स्तर पर अन्य न्यायालय है।
  - ***संघीय सर्वोच्च न्यायालय***- यह स्विट्जरलैंड का उच्च स्तरीय न्यायिक निकाय है। यह उच्च स्तरीय केंटन के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अंतिम अपीलीय न्यायालय है। कानूनों का पुनर्विलोकन एवं नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करना इसका अन्य कार्य है।
  - ***संघीय आपराधिक न्यायालय***- अधिकांश आपराधिक मामले केंटन के स्तर पर न्यायालयों द्वारा निपटाए जाते हैं, परन्तु संघीय आपराधिक न्यायालय उन मामलों को देखता है, जो संघीय हितों से संबंधित हों, जैसे- संगठित अपराध, भ्रष्टाचार, धन शोधन आदि।
  - ***संघीय प्रशासनिक न्यायालय***- यह संघ के प्रशासनिक निकायों द्वारा लिए गए निर्णयों के विरुद्ध अपीलों पर सुनवाई करता है।
  - ***संघीय पेटेंट न्यायालय***- यहाँ तकनीकी से संबंधित नवाचारों को पेटेंट के रूप में उचित कानूनी संरक्षण प्राप्त है। यदि कोई विवाद उत्पन्न होता है तो उस पर इस न्यायालय द्वारा विचार किया जायेगा।

- ***जर्मनी की न्यायपालिका***- जर्मनी की न्यायपालिका का कार्य कानूनों की व्याख्या करना एवं लागू करना है। जर्मन सिविल कानून साधारणत: व्यापक कानूनों का संग्रह है। आपराधिक और प्रशासनिक, मामलों में जर्मनी न्यायिक तंत्र 'पूछताछ प्रणाली' का प्रयोग करता है, जिसमें न्यायाधीश स्वत: ही तथ्यों की जांच में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। यह प्रणाली परंपरागत रूप से प्रचलित 'विरोधात्मक प्रणाली' से भिन्न है। जहाँ मामले के दोनों पक्ष वकीलों के माध्यम से अपना मामला रखते हैं और न्यायाधीश निष्पक्ष भूमिका में होते हैं।
- ***फ्रांसीसी न्यायपालिका***- फ्रांसीसी न्यायालय दो भाग में विभाजित है- न्यायिक न्यायालय और प्रशासनिक न्यायालय। उच्च स्तरीय न्यायिक न्यायालय के रूप में वहाँ सर्वोच्च न्यायालय मौजूद है जो एक अपीलीय न्यायालय है। जबकि उच्च स्तरीय प्रशासनिक न्यायालय के रूप में राज्यों की परिषद मौजूद है।

फ्रांस की न्यायिक प्रणाली का सबसे विशिष्ट लक्षण वहाँ की संवैधानिक परिषद है। न्यायालय की यह शाखा संसद द्वारा निर्मित कानूनों की समीक्षा करती है। फ्रांस के आम चुनावों का पर्यवेक्षण, जनता द्वारा किसी कानून की संवैधानिकता से संबंधित प्रश्नों का जवाब देना भी इसके अन्य कार्य हैं।

विधायिका

विधायिका का कार्य कानूनों का निर्माण करना है। राजतंत्रीय प्रणाली में यह कार्य आमतौर पर राजा के हाथ में होता था तथा राजा की इच्छाओं को ही कानून का दर्जा प्राप्त था। धर्मतंत्रीय शासन प्रणाली (Theocratic System) में धार्मिक ग्रंथों को ही कानून तथा धर्म के सर्वोच्च पदाधिकारियों को कानूनों का अंतिम व्याख्याकार माना जाता था।

आधुनिक काल में, लोकतंत्र की स्थापना के बाद माना गया है कि कानूनों का निर्माण जनता की इच्छाओं के अनुसार होना चाहिए। स्विट्जरलैंड जैसे कुछ देशों में कोशिश की जाती है कि जनता की इच्छाओं को सीधे तौर पर ही जान लिया जाये। इसके लिए वहां कुछ विशेष व्यवस्थाएं प्रचलित हैं, जैसे- पहल (Initiative) तथा जनमतसंग्रह (Referendum)। किन्तु, सामान्यत: जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की अधिकता के कारण व्याहारिक तौर पर यह संभव नहीं होता कि सारी जनता की इच्छा जानी जा सके। इसलिए, आजकल अधिकांश देशों में प्रतिनिधि लोकतंत्र (Representative Democracy) के माध्यम से विधायिका का गठन किया जाता है। इसके अंतर्गत, एक क्षेत्र विशेष का जनसमुदाय अपने एक प्रतिनिधि को चुनकर विधायिका या विधानमंडल में भेजता है तथा सभी क्षेत्रों से चुनकर आये ऐसे प्रतिनिधि आपसी सहमति से कानूनों का निर्माण करते हैं।

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में विधायिका आमतौर पर दो सदनों (Two houses) से मिलकर बनती है, जैसे भारत में लोकसभा और राज्यसभा।

जनमत संग्रह

इसके शब्दिक अर्थ में, 'जनमत संग्रह' शब्द का अर्थ है 'संदर्भित होना चाहिए'। इसके द्वारा मताधिकार प्राप्त नागरिक किसी प्रस्तावित या पहले से पारित विधान पर अपना मत देते हैं कि वह 'अनुमोदित है या अस्वीकार'। जनमत संग्रह मूल रूप से नकारात्मक कार्यवाही का एक साधन है। जनमत संग्रह दो प्रकार के होते हैं- (1) अनिवार्य (2) वैकल्पिक।

अनिवार्य जनमत संग्रह के मामले में विधायिका द्वारा पारित विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकता, जब तक इसे जनमत संग्रह में लोगों द्वारा अनुमोदित नहीं किया जाता है। वहीं वैकल्पिक जनमत संग्रह में मतदाताओं की निर्दिष्ट संख्या द्वारा मांग किये जाने पर लोगों को संदर्भित किया जाता है।

पहल

पहल का साधन एक सकारात्मक उपकरण है, जिसके तहत मतदाताओं का एक हिस्सा कानून के लिए एक प्रस्ताव लाता है। जो विधायिका द्वारा बाद में अनुमोदित हो सकता है अथवा अस्वीकार किया जाता है।

- ***भारतीय विधायिका (Indian Legislature)-*** एक संघात्मक ढांचे (Federal Structure) पर आधारित है। केन्द्र और विभिन्न राज्यों की विधायिकाएं संविधान में निर्दिष्ट अपने-अपने क्षेत्रों के लिए विधान बनाती हैं। केन्द्रीय विधायिका या संसद (Parliament) द्विसदनीय (Bicameral) है। प्रचलित भाषा में, इसके दो सदनों में से 'लोकसभा' को निचला सदन तथा 'राज्यसभा' को उच्च सदन कहते हैं। (हालांकि संविधान में इस शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है।) 'राज्यसभा' का गठन कुछ हद तक अमेरिकी सीनेट की तरह राज्यों को प्रतिनिधित्व देने के लिए और कुछ हद तक ब्रिटेन के 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' की तरह गणमान्य नागरिकों को विधायिका का हिस्सा बनाने के लिए किया गया। राज्यों या प्रांतों की विधायिकाएं आमतौर पर एकसदनीय (Unicameral) हैं। इस सदन को 'विधानसभा' कहते हैं। संविधान में व्यवस्था है कि यदि किसी राज्य विशेष में जरूरत महसूस की जाए तो दूसरे सदन के तौर पर 'विधान परिषद' की स्थापना की जा सकती है। विधायिका के एक अंग के रूप में भारतीय राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयकों (Bills) पर अपनी सहमति प्रदान करता है।
- ***इंग्लैंड की विधायिका (Legislature of England)-*** इंग्लैंड की विधायिका दो सदनों से मिलकर बनी होती है, कॉमन्स सभा तथा लार्ड्स सभा। कॉमन्स सभा (House of Commons) कहने को भले ही निचला सदन हो, शक्तियों की दृष्टि से यह लॉर्ड्स सभा से बहुत आगे है। यह सदन इंग्लैंड के संबंध में सिद्धांतत: ऐसा सब कुछ कर सकता है जो प्राकृतिक दृष्टि से असंभव न हो। कॉमन्स सभा के सदस्यों की वर्तमान संख्या 650 है। ये सभी सदस्य प्रत्यक्ष चुनाव (Direct Election) के माध्यम से इस सदन में आते हैं। इनका कार्यकाल 5 वर्षों का होता है। विधेयकों (Bills) को पारित करने की दृष्टि से कॉमन्स सभा लॉर्ड्स सभा से बहुत अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि धन विधेयक (Money Bills) तो सिर्फ इसी में शुरू हो सकते हैं शेष विधेयकों में से भी महत्वपूर्ण विधेयक इसी में शुरू होते हैं। लॉर्ड्स सभा की शक्ति सिर्फ औपचारिक किस्म की है, क्योंकि कॉमन्स सभा यदि किसी विधेयक को एक वर्ष में दो बार पारित कर देती है तो वह कानून बन जाता है, चाहे लॉर्ड्स सभा उसके पक्ष में न हो। संसद का दूसरा सदन लॉर्ड्स सभा (House of Lords) है, जिसे उच्च सदन कहा जाता है। ध्यातव्य है कि एकात्मक (Unitary) शासन प्रणाली में वस्तुत: दूसरे सदन की जरूरत नहीं होती, किन्तु इंग्लैंड में कुछ कारणों से यह सदन चला आ रहा है। इसके सदस्य जनसाधारण द्वारा निर्वाचित नहीं होते। इसमें वे लोग शामिल हैं, जिन्हें या तो वंशानुगत रूप से 'लॉर्ड' की पद्वी मिली हुई है, या वे पुरोहित वर्ग (Clergy) के प्रतिष्ठित सदस्य होने के कारण इसमें शामिल किये गए हैं, या फिर अपनी विशेष योग्यताओं आदि के कारण उन्हें लॉर्ड्स नियुक्ति आयोग (Lords Appointment Commission) ने जीवन भर के लिए लॉर्ड्स सभा में मनोनीत कर दिया है। 1999 ई. के बाद से लेबर पार्टी के प्रयासों के कारण वंशानुगत रूप से लॉर्ड की पद्वी दिये जाने की परंपरा बंद कर दी गई है और अब 100 से भी कम ऐसे सदस्य रह गए हैं, जो वंशानुगत रूप से इस सभा में हैं।

लॉर्ड्स सभा के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं है। आजकल इनकी संख्या 800 के आसपास (776) है हालांकि कभी-कभी यह 1200 तक भी हो जाती है। इसके पुरुष और महिला सदस्यों को सम्मान देने के लिए उनके नाम से पूर्व क्रमश: 'लॉर्ड' तथा 'लेडी' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। लॉर्ड्स सभा के प्रमुख को लॉर्ड चांसलर (Lord Chancellor) कहा जाता है। पुरोहित वर्ग (Clergy) से जुड़े लॉर्ड्स को 'लॉर्ड स्पिरिचुअल' (Lord Spititual) कहा जाता है जबकि शेष को 'लॉर्ड टेम्पोरल' (Lord Temporal) कहा जाता है लॉर्ड्स सभा की एक विशेष बात यह भी है कि इसमें 12 विधि लॉर्ड्स (Law lords) शामिल होते हैं, जो कानूनी क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं। इन्हें आजीवन नियुक्ति प्रदान की जाती है और इनकी भूमिका तब अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है, जब लॉर्ड्स सभा इंग्लैंड के सर्वोच्च न्यायाधिकरण (Highest Tribunal) तथा अंतिम अपील न्यायालय (Final court of appeal) के रूप में कार्य करती है। जब लॉर्ड्स सभा उच्चतम न्यायालय (Highest Court) के तौर पर काम करती है, तब उसमें लॉर्ड चांसलर के अलावा सिर्फ विधि लॉर्ड्स ही उपस्थित होते हैं। विधि लॉर्ड्स 75 वर्ष की उम्र तक विधि लॉर्ड्स रहते हैं, फिर वे विधि लॉर्ड्स नहीं रहते, किन्तु अन्य लॉर्ड्स की तरह आजीवन लॉर्ड्स सभा में बने रहते हैं।

ध्यातव्य है कि, सामान्यत: लॉर्ड्स सभा के सदस्य राजनीति में भाग नहीं ले सकते। ऐसे बहुत कम ही उदाहरण हुए हैं कि लॉर्ड्स सभा के सदस्यों ने राजनीतिक पद संभाले हों।

लॉर्ड्स सभा पर यह आक्षेप किया जाता है कि, वह गैर-लोकतांत्रिक (Non Democratic) सदन है और अमीर वर्ग तथा रूढ़िवादियों (Conservatives) का गढ़ है।

- ***अमेरिकी विधायिका (American Legislature)-*** अमेरिकी विधायिका (American Legislature) को कांग्रेस कहा जाता है। चूंकि अमेरिका संघीय प्रणाली (Federal Structure) पर आधारित है, इसलिए स्वाभाविक तौर पर वहां का विधानमंडल द्विसदनीय (Bicameral) है। इनमें से पहला सदन 'प्रतिनिधि सभा' (House of Representative) है जिसे निचला सदन (Lower House) भी कहा जाता है, दूसरा सदन सीनेट (Senate) है जिसे उच्च सदन (Upper House) भी कहा जाता है।

प्रतिनिधि सभा (House of Representative) में 435 सदस्य होते हैं, जो पूरे देश की जनता द्वारा चुने जाते हैं। इनके निर्वाचन क्षेत्र जनसंख्या के आधार पर तय होते हैं, इसलिए स्वाभाविक है कि प्रत्येक राज्य से आने वाले प्रतिनिधियों की संख्या असमान होती है। यह आवश्यक है कि, चुनाव लड़ने वाला उम्मीदवार उसी निर्वाचन क्षेत्र (Constituency) का निवासी होना चाहिए। इस नियम के कारण कभी-कभी कुछ प्रतिभाशाली लोग राजनीतिक अवसरों से वंचित हो जाते हैं किन्तु इससे लोकतंत्र की भावना को मजबूती मिलती है। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का निर्वाचन दो वर्षों के लिए होता है और इस अवधि को किसी भी तरह बढ़ाया या घटाया नहीं जा सकता।

अमेरिकी कांग्रेस के दूसरे सदन 'सीनेट' (Senate) का ढांचा संघात्मक शासन प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुरूप है। प्रत्येक राज्य को सीनेट में दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, चाहे जनसंख्या या क्षेत्र की दृष्टि से राज्य का आकार कुछ भी हो। चूंकि अभी संयुक्त राज्य अमेरिका में 50 राज्य हैं, इसलिए सीनेट में 100 सदस्य होते हैं, इन सदस्यों का निर्वाचन आरंभ में राज्यों के

विधानमंडलों द्वारा होता था, किंतु 1913 ई. के बाद से राज्य की जनता इनका प्रत्यक्ष चुनाव (Direct Election) करती है। सीनेट के प्रत्येक सदस्य को 6 वर्षों के लिए चुना जाता है। प्रत्येक 2 वर्षों के बाद सीनेट के एक तिहाई सदस्य सेवानिवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार पूरी सीनेट कभी भी भंग नहीं होती। यही कारण है कि, इसे स्थायी सदन (Permanent House) भी कहा जाता है।

- ***स्विट्जरलैंड की विधायिका (Legislature of Switzerland)-*** संघ के स्तर पर संघीय सभा (Federal Assembly) विधायिका (Legislature) का कार्य करती है। संघात्मक ढांचे के अनुरूप इसके दो सदन हैं। निचले सदन को राष्ट्रीय परिषद (National Council) कहा जाता है। जबकि उच्च सदन को राज्य परिषद (Council of States) कहते हैं। निचले सदन अर्थात् राष्ट्रीय परिषद में 200 सदस्य होते हैं जो सार्वजनिक वयस्क मताधिकार (Universal Adult Suffrage) के आधार पर चुने जाते हैं। यह चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के अनुसार दलीय सूची प्रणाली (Party List System) के आधार पर आयोजित होता है। इन सांसदों का चयन 4 वर्षों के लिए होता है। उच्च सदन अर्थात् राज्य परिषद में कुल 46 सदस्य होते हैं, जिनमें से प्रत्येक केन्टन से दो तथा प्रत्येक अर्द्ध-केन्टन से एक सदस्य आता है।
- ***जर्मनी की विधायिका (Legislature of Germany)-***जर्मनी की 'संघीय विधायिका' (Federal Legislature) के दो सदन हैं- निम्न सदन (Lower House) तथा उच्च सदन (Upper House)। निम्न सदन के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति (Direct Method) से जबकि उच्च सदन के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रीति (Indirect Method) से होता है। निम्न सदन उच्च सदन की तुलना में काफी ज्यादा शक्तिशाली है, हालांकि उच्च सदन को विधेयकों (Bills) के मामले में निषेधाधिकार (Veto) की व्यापक शक्ति प्राप्त है, जो भारतीय राज्यसभा से काफी ज्यादा है।

जर्मन संघ के निम्न सदन के चुनाव एक विशेष रीति से होते हैं, जिसे 'दो वोट मतदान प्रक्रिया' (Two vote ballot procedure) कहते हैं। इस व्यवस्था के अंतर्गत, प्रत्येक मतदाता के दो वोट होते हैं। पहला वोट स्थानीय जिले से एक सदस्य को निर्वाचित करने के लिए होता है और सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को निर्वाचित माना जाता है। दूसरा वोट मतदाता की पंसद के दल के लिए होता है। यह वोट सूची प्रणाली (List System) के लक्षणों से संबंधित है। सदन के आधे स्थान तो पहले वोट से भर दिये जाते हैं किन्तु शेष आधे स्थान दलीय सूची (Party List) के आधार पर भरे जाते हैं। इससे लाभ यह होता है कि, यदि किसी दल को बहुत सारे चुनाव क्षेत्रों में अच्छी संख्या में मत प्राप्त होते हैं, किन्तु वे मत चुनाव जीतने के लिए पर्याप्त नहीं होते तो उस दल को मतदाताओं की पंसद के समानुपातिक (Proportional) कुछ स्थान हासिल हो जाते हैं।

इस प्रकार विभिन्न संविधानों की तुलना करने पर हमें उनमें कुछ समानताएं तो कुछ असमानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। इन परिवर्तनों को स्थानीय आवश्यकताओं के संदर्भ में समझा जाना चाहिए, विभिन्न देशों ने अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उचित शासन पद्धति, शासन के विभिन्न अंगों की शक्तियों और उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया जो उनके इतिहास, परिस्थिति इत्यादि को प्रदर्शित करती हैं। इसी कारणवश विभिन्न संविधानों में हमें विविधता नजर आती है।

भारत में संवैधानिक विकास एवं भारतीय संविधान
(Constitutional Development in India & Indian Constitution)

भारत में संवैधानिक विकास
(Constitutional Development in India)

भारत में संविधान का निर्माण यद्यपि संविधान सभा द्वारा किया गया तथापि यह संविधान ब्रिटिश काल में निर्मित विभिन्न कानूनों के उद्विकासीय संदर्भ पर आधारित था। संविधान सभा ने पूर्व के अधिनियम व कानूनों से प्रेरणा लेते हुए भारत के अनुकूल इसका परिमार्जन करते हुए संविधान का निर्माण किया है। ब्रिटिश शासनकाल में भारत को नियमित करने के लिये लाये गए विभिन्न कानून ही भारतीय संविधान के आधार बने हैं। जिनका वर्णन निम्नलिखित है–

1773 का अधिनियम (रेग्युलेटिंग एक्ट)

इस अधिनियम द्वारा कम्पनी के डायरेक्टर्स के लिए राजस्व संबंधित सभी मामलों तथा दीवानी एवं सैन्य प्रशासन के संबंध में किये गये सभी प्रकार के कार्यों से ब्रिटिश सरकार को अवगत कराना आवश्यक कर दिया गया तथा इसके तहत कंपनी के कर्मचारियों का निजी व्यापार करना और भारतीय लोगों से उपहार व रिश्वत लेना प्रतिबंधित कर दिया गया।

इस अधिनियम द्वारा बंगाल (कलकत्ता) में (1774 में) एक उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) की स्थापना की गई, जिसको प्राथमिक तथा अपीलीय अधिकार प्राप्त थे।

इस अधिनियम के अंतर्गत, बंगाल में एक प्रशासक मंडल गठित किया गया, जिसमें गवर्नर-जनरल तथा चार सदस्य नियुक्त किये गये। पाँच वर्षीय कार्यकाल वाले ये सदस्य, नागरिक तथा सैन्य प्रशासन से संबंधित थे। इस मंडल में निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाते थे। इनको कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की सिफारिश पर केवल ब्रिटिश सम्राट द्वारा ही हटाया जा सकता था।

कानून बनाने का अधिकार गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद को दे दिया गया। किंतु इन कानूनों को लागू करने से पूर्व भारत सचिव से अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था। बंगाल के गवर्नर को अब समस्त अंग्रेजी क्षेत्रों का गवर्नर कहा गया। सपरिषद गवर्नर-जनरल को बंगाल में फोर्ट विलियम की प्रेसीडेंसी को असैनिक तथा सैनिक शासन का अधिकार दिया गया। कुछ विशेष मामलों में उसे बंबई तथा मद्रास की प्रेसीडेंसियों का अधीक्षण भी करना था।

1784 का पिट्स इण्डिया अधिनियम

1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट की कमियों को दूर करने के लिए पारित इस अधिनियम द्वारा 6 कमिश्नरों के एक नियंत्रण बोर्ड की स्थापना की गई, जिसे भारत में अंग्रेज अधिकृत क्षेत्र पर पूरा अधिकार दिया गया। इसे 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के नाम से जाना जाता था। इसके सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटेन के सम्राट द्वारा की जाती थी।

इससे बंबई तथा मद्रास के गवर्नर पूर्णरूपेण गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिये गए। भारत में कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों को पहली बार नया नाम 'ब्रिटिश अधिकृत भारतीय प्रदेश' दिया गया। देशी राजाओं से युद्ध तथा संधि से पहले गवर्नर-जनरल का कम्पनी के डायरेक्टरों से स्वीकृति लेना अनिवार्य कर दिया गया।

इस अधिनियम के अंतर्गत, भारत में अंग्रेज अधिकारियों के ऊपर मुकदमा चलाने के लिए इंग्लैण्ड में एक न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया।

1786 का अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा, गवर्नर-जनरल को मुख्य सेनापति की शक्तियां भी मिल गई तथा गवर्नर-जनरल को विशेष परिस्थितियों में अपनी परिषद के निर्णयों को रद्द करने तथा अपने निर्णय लागू करने का अधिकार दे दिया गया।

1793 का चार्टर अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा, कम्पनी के व्यापारिक अधिकारों को अगले 20 वर्षों के लिए और आगे बढ़ा दिया गया। गवर्नर-जनरल एवं गवर्नरों की परिषद के सदस्यों की योग्यता हेतु इस शर्त का प्रावधान किया गया कि सदस्य को कम-से-कम 12 वर्षों तक भारत में रहने का अनुभव हो।

विगत शासकों के व्यक्तिगत नियमों के स्थान पर ब्रिटिश भारत में लिखित विधि-विधानों द्वारा प्रशासन की आधारशिला रखी गई, नियमों तथा लिखित विधियों की व्याख्या न्यायालय द्वारा की जानी थी।

1813 का चार्टर अधिनियम

1813 के चार्टर अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार, कम्पनी का भारतीय व्यापार पर एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, यद्यपि उसका चीन से व्यापार एवं चाय के व्यापार पर अधिकार बना रहा तथा कम्पनी को भारतीय राजस्व से 10.5 प्रतिशत लाभांश दिए जाने की व्यवस्था की गई।

कम्पनी को अगले 20 वर्षों के लिये भारतीय प्रदेशों तथा राजस्व पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया गया। किंतु स्पष्ट कर दिया गया कि, इससे इन प्रदेशों में क्राउन के प्रभुत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। नियंत्रण बोर्ड की शक्ति को परिभाषित करते हुए उनका विस्तार भी कर दिया गया।

ईसाई धर्म प्रचारकों को भारत में धर्म-प्रचार के लिये आने की सुविधा प्राप्त हो गई। ब्रिटिश व्यापारियों तथा इंजीनियरों को भारत आने तथा यहाँ बसने की अनुमति प्रदान कर दी गई, लेकिन इसके लिये उनका संचालन मंडल या नियंत्रण बोर्ड से लाइसेंस लेना आवश्यक था।

1833 का चार्टर अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा, चाय का व्यापार तथा चीन के साथ व्यापार करने संबंधी कम्पनी के अधिकार को समाप्त करने का प्रावधान किया गया अर्थात कंपनी के व्यापारिक अधिकार पूर्णत: समाप्त कर दिये गये।

बंगाल के गवर्नर जनरल को 'भारत का गवर्नर जनरल' कहा जाने लगा तथा गवर्नर जनरल को सभी नागरिक व सैन्य शक्तियां प्रदान की गई। मद्रास और बंबई के गवर्नर की कानून बनाने की शक्ति समाप्त कर दी गई तथा भारत के गवर्नर जनरल को पूरे ब्रिटिश भारत में विधि निर्माण का एकाधिकार प्रदान किया गया। इसके अंतर्गत बनाये गये कानूनों को 'एक्ट या अधिनियम' कहा गया। भारत का प्रथम गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक बना। इस अधिनियम द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी के प्रदेशों में रहने वाले किसी भारतीय को केवल धर्म, वंश, रंग या जन्म स्थान इत्यादि के आधार पर कम्पनी के किसी पद से वह जिसके योग्य हो, वंचित नहीं किया जाएगा।

इस एक्ट के तहत, सिविल सेवकों के चयन के लिए खुली प्रतियोगिता के आयोजन का प्रयास किया गया। हालांकि कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के विरोध के कारण यह प्रावधान लागू नहीं हो सका। भारतीय कानूनों का वर्गीकरण किया गया व इस कार्य

के लिए 'लॉर्ड मैकाले' की अध्यक्षता में प्रथम 'विधि आयोग' का गठन किया गया। भारत में दास-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया तथा गवर्नर-जनरल को निर्देश दिया गया कि वह भारत से दास-प्रथा को समाप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जिसके अनुसार, 1843 में दास प्रथा उन्मूलन किया गया। भारत में ब्रिटिश राज्य के दौरान संविधान निर्माण के प्रथम संकेत इस एक्ट में मिलते हैं।

1853 का चार्टर अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा, गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के 'कानूनी सदस्य' को परिषद का पूर्ण सदस्य बना दिया गया। पहली बार गवर्नर जनरल की परिषद के विधायी एवं प्रशासनिक कार्यों को अलग कर दिया। जिसके कारण, गवर्नर जनरल के लिए नई विधान परिषद का गठन हुआ, इसके तहत परिषद में छह नए पार्षद और जोड़े गए। इस परिषद ने कार्य की वही प्रक्रिया अपनाई जो ब्रिटिश संसद में अपनाई जाती थी। इसके द्वारा भारत की केन्द्रीय व्यवस्था में सर्वप्रथम 'क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के सिद्धांत' को प्रतिपादित किया गया।
इस अधिनियम के द्वारा, सिविल सेवकों के चयन एवं भर्ती हेतु खुली प्रतियोगिता की व्यवस्था का शुभारंभ किया गया, इस प्रकार यह सेवा भारतीयों के लिए खोल दी गई और इसके लिए 1854 में मैकाले समिति को नियुक्त किया गया। इसके द्वारा भारतीय क्षेत्र को इंग्लैंड राजशाही के विश्वास के तहत कब्जे में रखने का अधिकार दिया गया। कम्पनी के भारतीय प्रदेशों को 'जब तक संसद चाहे' तब तक के लिये कंपनी के अधीन रखने की अनुमति दे दी गई।

1858 का चार्टर अधिनियम

1857 की क्रांति ने शासन की असंतोषजनक नीतियां उजागर कर दी थीं जिससे ब्रिटिश संसद को, कम्पनी के शासन को अपने हाथ में लेने का बहाना मिल गया। 1858 के भारत शासन अधिनियम द्वारा भारत का शासन ब्रिटेन की संसद को दे दिया गया। इस अधिनियम से नियंत्रण बोर्ड और निदेशक कोर्ट समाप्त कर भारत में शासन की द्वैध प्रणाली समाप्त कर दी गई।
इस अधिनियम के द्वारा, प्रावधान किया गया कि, अब भारत का शासन, ब्रिटिश साम्राज्ञी की ओर से भारत राज्य सचिव को चलाना था, जिसकी सहायता के लिए 15 सदस्यीय 'भारत परिषद' का गठन किया गया। अब भारत के शासन से संबंधित सभी कानूनों एवं कार्यवाहियों पर भारत राज्य सचिव की स्वीकृति अनिवार्य कर दी गई। भारत परिषद के 15 सदस्यों में से 7 सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट को तथा शेष सदस्यों के चयन का अधिकार कम्पनी के डायरेक्टर्स को दे दिया गया। अखिल भारतीय सेवाओं तथा अर्थव्यवस्था से संबंधित मसलों पर भारत राज्य सचिव, भारत परिषद की राय मानने को बाध्य था और भारत के गवर्नर-जनरल को भारत राज्य सचिव की आज्ञा के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर दिया गया। भारत राज्य सचिव की परिषद एक निगमित निकाय थी, जिसे भारत और इंग्लैंड में मुकदमा करने का अधिकार था। 1858 के कानून का उद्देश्य, प्रशासनिक मशीनरी में सुधार था, जिसके माध्यम से इंग्लैंड में भारतीय सरकार का अधीक्षण और उसका नियंत्रण हो सकता था।
इस अधिनियम के अनुसार, गवर्नर-जनरल भारत में क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगा तथा उसे 'वायसराय' की उपाधि दी गई। लॉर्ड केनिंग भारत के प्रथम वायसराय बने। अब संरक्षण ताज, सपरिषद भारत राज्य सचिव तथा भारतीय अधिकारियों में बँट गया।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 भारत के संवैधानिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके द्वारा भारत सरकार की मंत्रिमंडलीय व्यवस्था की नींव रखी गई थी। इस अधिनियम में यह उपबंध किया गया कि, वायसराय की कार्यकारी परिषद, जो अभी तक अनन्य रूप से सरकारी अधिकारियों का एक समूह थी। वह अब विधान परिषद के रूप में विधायी कार्य करेगी, इसमें न्यूनतम 6 और अधिकतम 12 अतिरिक्त मनोनीत सदस्यों का प्रावधान किया गया था। उनमें कम से कम आधे सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था, किन्तु इनकी शक्ति विधि निर्माण तक ही सीमित होती थी। ये सदस्य किसी प्रकार के प्रशासनिक कार्यों की आलोचना का अधिकार नहीं रखते थे।
1862 में लॉर्ड केनिंग ने तीन भारतीय, बनारस के राजा, पटियाला के महाराजा और सर दिनकर राव को विधान परिषद में मनोनीत किया। वायसराय को विधान सभा में भारतीयों के नाम निर्दिष्ट करने की शक्ति प्रदान की गई थी। यह राज्य सचिव के नियंत्रण तथा निरीक्षण में कार्य करती थी। वायसराय को कुछ विशेषाधिकार तथा आपात स्थिति में अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया। जिसके तहत लॉर्ड केनिंग ने भारतीय शासन में पहली बार संविभागीय प्रणाली की शुरूआत की तथा बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसियों को कानून बनाने की शक्ति वापस देकर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की शुरूआत की गई।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1892

इस अधिनियम के प्रावधान के अनुसार, भारत सरकार की विधि निर्मात्री संस्था में अतिरिक्त सदस्य 10 से 16 तक किए जाने की व्यवस्था की गई, जिसमें कम-से-कम 40 प्रतिशत सदस्यों का गैर-सरकारी होना जरूरी था। साथ ही विधि निर्मात्री संस्था को प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने का अधिकार सीमित रूप में प्राप्त हो गया। केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषद में गैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति के अप्रत्यक्ष एवं सीमित चुनावी प्रावधान किये गए। हालांकि 1892 के अधिनियम में 'चुनाव' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। इन सदस्यों के नामांकन के लिए वायसराय को शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। भारतीय परिषद अधिनियम, 1892, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1889 से 1891 तक के अधिवेशनों में स्वीकार किये गए प्रस्तावों से प्रभावित होकर पारित किया गया था।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 (मॉर्ले-मिंटो सुधार)

भारत के तत्कालीन राज्य सचिव लॉर्ड मॉर्ले और वायसराय लॉर्ड मिंटो के नाम से 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम को जाना जाता है, इस अधिनियम के द्वारा केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि का प्रावधान किया गया। केंद्रीय परिषद में इनकी संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गई और प्रांतीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत स्थापित किया गया। किंतु गैर-सरकारी सदस्यों में नामांकित एवं बिना चुने सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण निर्वाचित सदस्यों की तुलना में अभी भी उनकी संख्या अधिक बनी रहीं। स्थानीय निकायों से निर्वाचन परिषद का गठन होता था। ये प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्यों का निर्वाचन करती थीं। प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्य केंद्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन करते थे। इस प्रकार सभी निर्वाचित सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे।
पहली बार पृथक निर्वाचन व्यवस्था का प्रारम्भ किया गया। साथ ही मुसलमानों को प्रतिनिधित्व के मामलों में विशेष रियायत दी गई। उन्हें केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषद में जनसंख्या के अनुपात में अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। इस अधिनियम के द्वारा, वायसराय की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। पहले भारतीय सदस्य के रूप में सत्येंद्र प्रसाद सिन्हा को नियुक्त किया गया। इस अधिनियम के द्वारा, विधान परिषद के विचार-विमर्श के कृत्यों में भी वृद्धि हुई। इससे उन्हें यह अवसर दिया गया कि वे बजट या लोकहित के किसी विषय पर संकल्प प्रस्तावित करके प्रशासन की नीति पर प्रभाव डाल सकें। सशस्त्र बल, विदेश संबंध और देशी रियासतें जैसे कुछ विर्निदिष्ट विषय इसके बाहर रखे गए।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1919 (मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार)

भारत के तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ई.एस. मांटेग्यू और वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड को ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की 20 अगस्त, 1917 की ब्रिटिश सरकार की घोषणा को कार्यरूप देने का कार्य सौंपा गया। सिफारिशों को इस अधिनियम के अन्तर्गत विधिक रूप प्रदान किया गया। इस अधिनियम द्वारा बनाए गए प्रावधानों के अनुसार–

- प्रांतीय सरकार में द्वैध-शासन प्रणाली का आरंभ किया गया। इस प्रणाली के जन्मदाता सर लियोनेल कर्टिस थे। इस प्रणाली के आधार पर प्रांतीय कार्यकारिणी परिषद को दो भागों में विभक्त किया गया। पहले भाग में गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी के सदस्य तथा दूसरे भाग में गवर्नर तथा उसके मंत्रिगण थे।
- प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया-(अ) आरक्षित विषय तथा (ब) हस्तांतरित विषय। आरक्षित विषयों में सभी महत्वपूर्ण विषय, जैसे-कानून एवं व्यवस्था, वित्त, भू-राजस्व, सिंचाई, खनिज संसाधन, प्रशासन, उद्योग, कृषि तथा आबकारी इत्यादि सम्मिलित थे। आरक्षित विषयों का शासन गवर्नर अपनी कार्यकारी परिषद के परामर्श से तथा हस्तांतरित विषयों का विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों के परामर्श से करता था। शासन की इस दोहरी व्यवस्था को द्वैध शासन व्यवस्था कहा गया। हालांकि यह व्यवस्था काफी हद तक असफल रही।
- प्रांतों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर गवर्नर राज्य के प्रशासन एवं हस्तांतरित विषयों का दायित्व अपने ऊपर ले सकता था। भारत सचिव तथा वायसराय आवश्यकता पड़ने पर 'आरक्षित विषयों' में हस्तक्षेप कर सकते थे, किंतु 'हस्तांतरित विषयों' में उन्हें हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी।
- मंत्री, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे तथा यदि व्यवस्थापिका उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दे, तो उन्हें त्याग-पत्र देना पड़ता था, जबकि गवर्नर की कार्यकारी परिषद के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे।
- इस अधिनियम के द्वारा, प्रांतीय व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या में बहुत वृद्धि कर दी गई। मताधिकार में भी वृद्धि कर दी गई तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का अत्यधिक विस्तार कर दिया गया। अर्थात सांप्रदायिक आधार पर सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों और यूरोपियों के लिए पृथक निर्वाचन के सिद्धांत को विस्तारित कर दिया। साथ ही पहली बार महिलाओं को भी वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया।
- प्रांतीय व्यवस्थापिका की सभाएँ किसी भी प्रस्ताव को प्रस्तुत कर सकती थीं, किंतु उसे पारित होने के लिये गवर्नर की सहमति आवश्यक थी। गवर्नर को प्रस्तावों को अस्वीकार करने तथा अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य बजट को अस्वीकार कर सकते थे, किंतु गवर्नर आवश्यक समझे तो सदस्यों की अनुमति के बिना भी उसे पास कर सकता था। प्रांतीय परिषद को इस अधिनियम के अन्तर्गत विधान परिषद की संज्ञा दी गई।
- इस अधिनियम के द्वारा, केंद्रीय सरकार की अनुत्तरदायी शासन की व्यवस्था यथावत बनी रही। वायसराय मुख्य कार्यपालिका अधिकारी था। वायसराय की कार्यकारिणी के 8 सदस्यों में से 3 भारतीय नियुक्त किए गए और उन्हें विधि, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग सौंप दिए गए।
- व्यवस्थापिका के सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे, अनुपूरक मांगें प्रस्तुत कर सकते थे, स्थगन प्रस्ताव ला सकते थे तथा बजट को अस्वीकार कर सकते थे, किंतु अभी भी बजट का 75 प्रतिशत हिस्सा सदस्यों की सहमति के बिना भी पारित किया जा सकता था।
- इस कानून से लंदन में भारत के उच्चायुक्त के कार्यालय का सृजन किया गया तथा भारत सचिव द्वारा किए जा रहे कुछ कार्यों को उच्चायुक्त को स्थानांतरित कर दिया गया। कुछ भारतीय सदस्यों को सरकार की स्थायी समितियों, जैसे- वित्त समिति अथवा लोक लेखा समिति में नियुक्त किया गया।
- एक लोक सेवा आयोग के गठन का प्रावधान किया गया। अत: 1926 में सिविल सेवकों की भर्ती के लिए केन्द्रीय लोक सेवा आयोग का गठन किया गया। इसने पहली बार केन्द्रीय बजट को राज्यों के बजट से अलग कर दिया और राज्य विधानसभाओं को अपना बजट स्वयं बनाने के लिए अधिकृत कर दिया।

भारत शासन अधिनियम, 1935

भारत में संवैधानिक विकास की जो प्रक्रिया वर्ष 1861 से आरंभ हुई थी, उसका अंतिम चरण 1935 का 'भारत शासन अधिनियम' था। ब्रिटिश संसद द्वारा अगस्त, 1935 में इस अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार, एक संघ बनाने का प्रस्ताव किया गया, जिसमें सभी ब्रिटिश भारतीय प्रांतों, मुख्य आयुक्त के प्रांतों सहित सभी भारतीय प्रांतों का सम्मिलित होना अनिवार्य था, किंतु देशी रियासतों का सम्मिलित होना वैकल्पिक था। इसके लिए दो शर्तें थीं-

- रियासत के प्रतिनिधियों में न्यूनतम आधे प्रतिनिधि चुनने वाली रियासतें संघ में सम्मिलित हों।
- रियासतों की कुल जनसंख्या में से आधी जनसंख्या वाली रियासतें संघ में सम्मिलित हों।

नोट- जिन शर्तों पर इन सभी रियासतों को संघ में सम्मिलित होना था, उनका उल्लेख एक पत्र में किया जाना था। चूँकि ऐसा नहीं हो सका, इसलिए यह संघ कभी अस्तित्व में नहीं आया तथा 1946 तक केंद्र सरकार, भारत शासन अधिनियम, 1919 के प्रावधानों के अनुसार ही चलती रही।

साइमन आयोग या संवैधानिक आयोग

इस आयोग का उद्गम 1919 के अधिनियम से माना जाता है। इस अधिनियम में यह उपबंध था कि अधिनियम के पारित होने के 10 वर्ष पश्चात एक संवैधानिक आयोग नियुक्त किया जाएगा। जो नए संविधान के अधीन भारत की दशा की जाँच करेगा एवं उस पर अपना प्रतिवेदन देगा। तदानुसार तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री बाल्डविन ने 8 नवम्बर, 1927 (निश्चित अवधि से 2 वर्ष पूर्व) को सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक सात सदस्यीय संवैधानिक आयोग की नियुक्ति की, जिसने 1930 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें आयोग द्वारा प्रांतों में प्रतिनिधि सरकार की सिफारिश तो की गई थी, लेकिन केंद्र में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना को अनिश्चित काल हेतु स्थगित रखा गया था। रिपोर्ट में 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन प्रणाली समाप्त करने की संस्तुति की गई थी। आयोग में एक अध्यक्ष को मिलाकर 7 सदस्य थे और वे सभी ब्रिटिश थे। भारतीयों को इस बात से चोट पहुँची कि भारत की दशा की जाँच करने के लिए बने आयोग में एक भी भारतीय सदस्य नहीं है इसी कारण चारों तरफ इसका विरोध हुआ।

इस अधिनियम में भी वायसराय समस्त संविधान का केन्द्र बिंदु था। प्रशासन के विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया- आरक्षित एवं हस्तांतरित। आरक्षित विषयों में विदेशी मामले, रक्षा, जनजातीय क्षेत्र तथा धार्मिक मामले थे, जिनका प्रशासन वायसराय को कार्यकारी पार्षदों की सलाह पर करना था। कार्यकारी पार्षद, केंद्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। हस्तांतरित विषयों में वे सभी अन्य विषय सम्मिलित थे, जो आरक्षित विषयों में सम्मिलित नहीं थे। इन विषयों का प्रशासन, वायसराय को उन मंत्रियों की सलाह से करना था, जिनका निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया गया था। ये मंत्री केंद्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे तथा अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर उन्हें त्याग-पत्र देना अनिवार्य था।

देश की वित्तीय स्थिरता, भारतीय साख की रक्षा, भारत या उसके किसी भाग में शांति की रक्षा, अल्पसंख्यकों, सरकारी सेवकों तथा उनके आश्रितों की रक्षा,

अंग्रेजी तथा बर्मी वस्तुओं के विरुद्ध किसी भेदभाव से उसकी रक्षा, भारतीय राजाओं के हितों एवं सम्मान की रक्षा तथा अपने निजी विवेकाधीन शक्तियों की रक्षा इत्यादि के संबंध में वायसराय को व्यक्तिगत निर्णय लेने का अधिकार था।
संघीय विधान मंडल (व्यवस्थापिका) द्विसदनीय थी, जिसमें राज्य परिषद (उच्च सदन) तथा संघीय सभा (निम्न सदन) थी। राज्य परिषद एक स्थायी सदन था, जिसके एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक 3 वर्ष के पश्चात चुने जाने थे। इसकी अधिकतम सदस्य संख्या 260 होनी थी, जिसमें से 156 प्रांतों के चुने हुए प्रतिनिधि और अधिकतम 104 रियासतों के प्रतिनिधि होने थे, जिन्हें सम्बद्ध राजाओं को मनोनीत करना था। संघीय सभा का कार्यकाल पाँच वर्ष होना था। इसके सदस्यों में से 250 प्रांतों के तथा अधिकाधिक 125 सदस्य रियासतों के होने थे। रियासतों के सदस्य सम्बद्ध राजाओं द्वारा मनोनीत किए जाने थे, जबकि ब्रिटिश प्रांतों के सदस्य प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा चुने जाने थे।
इस अधिनियम के अंतर्गत, साधारण प्रचलन के विपरीत एक विचित्र व्यवस्था यह थी कि उच्च सदन के सदस्यों का चुनाव सीधे मतदाताओं द्वारा किया जाए तथा निम्न सदन, जो ज्यादा महत्वपूर्ण था, सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष तरीके से हो। इसी प्रकार राजाओं को उच्च सदन के 40 प्रतिशत तथा निम्न सदन के 33 प्रतिशत सदस्य मनोनीत करने थे।
इस अधिनियम के अंतर्गत किए अन्य महत्वपूर्ण प्रावधान निम्नलिखित थे–

- समस्त विषयों का बँटवारा तीन सूचियों में केंद्रीय सूची (59 विषय), राज्य सूची (54 विषय) तथा समवर्ती सूची (36 विषय) के रूप में किया गया। अवशिष्ट शक्तियां वायसराय को दी गईं।
- संघीय सभा के सदस्यों द्वारा मंत्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता था।
- धर्म एवं जाति आधारित निर्वाचन व्यवस्था को आगे भी जारी रहने देने की व्यवस्था की गई।
- संघीय बजट का 75 प्रतिशत भाग ऐसा था, जिस पर विधानमंडल मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता था।
- प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान कर दी गई।
- प्रांतों को स्वायत्तता एवं पृथक विधिक पहचान बनाने का अधिकार दिया गया।
- प्रांतों को भारत सचिव एवं वायसराय के 'आलाकमान वाले आदेशों' से मुक्त कर दिया गया, इस प्रकार वे प्रत्यक्ष अथवा सीधे तौर पर ब्रिटिश क्राउन के अधीन आ गए।
- प्रांतों को स्वतंत्र आर्थिक शक्तियाँ एवं संसाधन दिए गए। प्रांतीय सरकारें अपनी स्वयं की साख पर धन उधार ले सकती थीं।
- गवर्नर प्रांत में ताज का मनोनीत प्रतिनिधि होता था, जो महामहिम ताज (Crown) की ओर से समस्त कार्यों का संचालन एवं नियंत्रण करता था। इसके अलावा केंद्र में द्वैध शासन, सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था का विस्तार दलित जातियों, महिलाओं, मजदूरों तक किया गया। मताधिकार का विस्तार संघीय न्यायालय की स्थापना इत्यादि का प्रावधान किया गया।

एटली की घोषणा (20 फरवरी, 1947)

20 फरवरी, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली द्वारा की गई घोषणा में कहा गया कि, ब्रिटिश सरकार 30 जून, 1948 तक भारतवासियों को सत्ता सौंप देगी। यदि इस तिथि तक संविधान नहीं बन सका तो उस स्थिति में ब्रिटिश सम्राट की सरकार यह विचार करेगी कि निश्चित तिथि को ब्रिटिश शासित भारत की केंद्रीय सरकार की सत्ता किसको सौंपी जाए। क्या ब्रिटिश भारत की केंद्रीय सरकार के किसी रूप को अथवा कुछ भागों में वर्तमान प्रांतीय सरकारों को अथवा किसी अन्य ढंग से जो सर्वाधिक न्यायसंगत एवं भारतीयों के सर्वाधिक हित में हो, सत्ता दी जाए? इस सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया को वास्तविक रूप देने के लिए लॉर्ड वेवेल के स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का नया वायसराय नियुक्त किया गया।

अंतरिम सरकार का गठन

24 अगस्त, 1946 को अंतरिम राष्ट्रीय सरकार के गठन की घोषणा की गई। इसमें पंडित जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, आसफ अली, शरतचंद्र बोस, डॉ. जॉन मथाई, सर शफात अहमद खाँ, जगजीवन राम, सरदार बलदेव सिंह, सैयद अली जहीर, सी. राजगोपालाचारी और डॉ. सी. एच. भाभा शामिल किए गए।
जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में उनके 11 सहयोगियों के साथ 2 दिसम्बर, 1946 को अंतरिम सरकार का गठन किया गया। इसमें मुस्लिम लीग के सदस्य शामिल नहीं हुए हालांकि उनके शामिल होने के लिए विकल्प खुला रखा गया था। अंततः 26 अक्टूबर, 1946 को जब सरकार का पुनर्गठन किया गया, तब मुस्लिम लीग के पाँच प्रतिनिधियों को शामिल करके आंरभ में लिए गए तीन सदस्यों- सैयद अली जहीर, शरतचंद्र बोस और सर शफात अहमद खाँ को परिषद से बाहर कर दिया गया।
अंतरिम सरकार में शामिल होने के बावजूद भी मुस्लिम लीग ने 'संविधान सभा' में शामिल होने से इंकार कर दिया। मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति में ही 11 दिसम्बर, 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में संविधान सभा का गठन कर दिया गया। मुस्लिम लीग ने इस संविधान सभा का विरोध किया और अलग पाकिस्तान की मांग को और प्रखर रूप में रखा।
राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 को एक ऐतिहासिक घोषणा करते हुए कहा कि, भारतीय राजनैतिक दलों के आपसी मतभेद, संविधान सभा के कार्य में योजनाबद्ध तरीके से बाधा डालते हैं। इस राजनैतिक अनिश्चितता को देखते हुए 30 जून, 1948 तक राजसत्ता भारत के जिम्मेदार लोगों को सौंप दी जाएगी।

माउंटबेटन योजना

देश में सांप्रदायिक हिंसा और गृह युद्ध की स्थिति की तीव्रता को देखते हुए 3 जून, 1947 को भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लुई माउंटबेटन की अध्यक्षता में भारत और पाकिस्तान के बीच बंटवारे के प्रश्न पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के साथ एक योजना तैयार की गई, जिसे 'माउंटबेटन योजना' के नाम से जाना जाता है। इस योजना के अंतर्गत हस्तांतरण प्रक्रिया को सुगम बनाने तथा दोनों मुख्य सम्प्रदायों का समायोजन करने के लिए देश को दो भागों भारत और पाकिस्तान, में विभाजित करने का परामर्श दिया गया।
योजना की मुख्य बातें इस प्रकार हैं- बंगाल और पंजाब की प्रांतीय विधानसभाओं को कहा जाए कि वे दो भागों में विभाजित हों। एक भाग में मुस्लिम बहुमत वाले जिलों के प्रतिनिधि होंगे और दूसरे भाग में शेष प्रांत के होंगे। दोनों भागों के सदस्य पृथक रूप से बैठकर इस बात के लिए मतदान देंगे कि क्या उस प्रांत का विभाजन किया जाए? यदि दोनों में साधारण बहुमत से विभाजन के पक्ष में निर्णय होता है तो प्रत्येक विधानसभा का वह भाग उन क्षेत्रों के बारे में, जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है, निर्णय करेगा कि क्या वह विद्यमान संविधान सभा में सम्मिलित होगा या पृथक संविधान सभा में?
उपर्युक्त योजना के अनुसार, दोनों प्रांतों (पश्चिम पंजाब और पूर्वी बंगाल) के मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने विभाजन और नए पाकिस्तान में शामिल होने के पक्ष में मतदान किया। पश्चिमी-सीमांत प्रांत और सिलहट में जनमत पाकिस्तान के पक्ष में गया। 26 जुलाई, 1947 को माउंटबेटन ने पाकिस्तान के लिए अलग संविधान सभा की स्थापना की घोषणा की।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

माउंटबेटन की 3 जून, 1947 की योजना पर दोनों समुदायों द्वारा सहमति प्रदान करने के उपरांत ब्रिटिश संसद ने उक्त योजना के आधार पर भारतीय स्वतंत्रता विधेयक का प्रारूप तैयार किया और इस विधेयक को ब्रिटिश संसद द्वारा बहुमत से पारित करके भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के नाम से स्थापित किया गया। 18 जुलाई, 1947 को इस अधिनियम पर सम्राट द्वारा स्वीकृति प्रदान की गई।

माउंटबेटन योजना के आधार पर, ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किए गए भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के प्रावधानों के अनुसार, ब्रिटिश संसद की भारत पर प्रभुसत्ता समाप्त हो गई और डोमिनियन व्यवस्थापिकाएँ प्रभुता संपन्न बन गईं। वायसराय तथा प्रांतीय गवर्नर संवैधानिक प्रमुख बन गए और ब्रिटिश सम्राट की देशी राज्यों पर सर्वोच्च सत्ता की समाप्ति के साथ ही उनके भारत के सम्राट की उपाधि समाप्त हो गई। 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश भारत का विभाजन कर, भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र व प्रभुत्व संपन्न राज्यों के निर्माण का प्रावधान किया गया। इस अधिनियम के प्रावधानों द्वारा की गई प्रमुख व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं–

इस अधिनियम में यह उपबंध किया गया कि–

- 15 अगस्त, 1947 से दो स्वतंत्र डोमिनियन स्थापित किए जाएंगे। जो भारत और पाकिस्तान के नाम से जाने जाएंगे।
- बंगाल तथा पंजाब में दो-दो प्रांत बनाए जाने का प्रस्ताव किया गया।
- पाकिस्तान को मिलने वाले क्षेत्रों को छोड़कर ब्रिटिश भारत में सम्मिलित सभी प्रांत भारत में सम्मिलित माने गए।
- पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिंध और असम का सिलहट जिला पाकिस्तान में सम्मिलित होना था।
- भारत में ब्रिटिश क्राउन की सरकार का उत्तरदायित्व तथा भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश क्राउन का अधिराजत्व 15 अगस्त, 1947 को समाप्त हो जाएगा।

इस प्रकार, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अनुसार, 14 व 15 अगस्त को क्रमशः पाकिस्तान तथा भारत दो सम्प्रभु अधिराज्यों का गठन कर दिया गया।

संविधान सभा (Constituent Assembly)

कैबिनेट मिशन योजना, 1946 के प्रस्तावों के अंतर्गत, भारत के संविधान निर्माण हेतु एक संविधान सभा गठित करने का प्रावधान किया गया। इसके अनुसार, संविधान सभा का निर्वाचन, प्रांतों की विधान सभाओं के सदस्य तथा प्रांतों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के द्वारा किए जाने की व्यवस्था की गई। निर्वाचक मण्डल में केवल तीन वर्ग सम्मिलित किए गए, जो मुस्लिम, सिक्ख व अन्य जिसमें हिन्दू भी सम्मिलित थे, के रूप में वर्गीकृत थे। प्रस्तावित संविधान सभा में 389 सदस्य होने थे, जिसमें से 292 सदस्य भारतीय प्रांतों से, 4 मुख्य आयुक्तों के राज्यों से तथा 93 देशी रियासतों से चुने जाने थे।

जुलाई, 1946 में संविधान सभा के गठन हेतु प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में चुनाव हुए और इस चुनाव में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को 208, मुस्लिम लीग को 73 तथा छोटे समूह व स्वतंत्र सदस्यों को 15 सीटें मिलीं, हालांकि देशी रियासतों को आवंटित सीट नहीं भर पाई, क्योंकि उन्होंने स्वयं को संविधान सभा से अलग रखा।

यद्यपि संविधान सभा का चुनाव मतदान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं हुआ, तब भी प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधियों को इसमें जगह मिली तथा इसमें महिलाएं भी शामिल थीं। महात्मा गांधी तथा मोहम्मद अली जिन्ना इस सभा का हिस्सा नहीं थे।

संविधान सभा की कार्यवाही

9 दिसंबर, 1946 को भारत की संविधान सभा की प्रथम बैठक हुई। मुस्लिम लीग के बहिष्कार तथा देशी रियासतों के इसमें शामिल न होने के कारण बैठक में सिर्फ 211 सदस्यों की भागीदारी रहीं। सभा के सबसे वरिष्ठ सदस्य डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा को सभा का अस्थायी अध्यक्ष बनाया गया। 11 दिसंबर 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को सभा का स्थायी अध्यक्ष बनाया गया।

उद्देश्य प्रस्ताव

13 दिसंबर, 1946 को पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' सभा में प्रस्तुत किया, जो 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा द्वारा स्वीकृत किया गया। उद्देश्य प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं–

- भारत को एक स्वतंत्र तथा संप्रभु गणराज्य के रूप में स्थापित किया जाएगा।
- भारत की संप्रभुता का स्रोत भारत की जनता होगी।
- ब्रिटिश भारत में शामिल सभी क्षेत्र तथा वे अन्य क्षेत्र जो इसमें शामिल होना चाहेंगे, भारतीय संघ का हिस्सा होंगे, उनको अवशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त होंगी।
- इस गणराज्य में भारत के समस्त नागरिकों को राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समानता प्राप्त होगी।
- भारत के समस्त नागरिकों को विचार व अभिव्यक्ति, संस्था बनाने, कोई व्यवसाय करने, किसी भी धर्म को मानने या न मानने की स्वतंत्रता होगी।
- अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों व जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के हितों की सुरक्षा के लिए उपयुक्त रक्षोपाय किए जाएंगे।
- देश की एकता को स्थायित्व प्रदान किया जाएगा।
- भारत की प्राचीन सभ्यता को उसका उचित स्थान व अधिकार दिलाया जाएगा तथा विश्व शांति व मानव कल्याण में उसका योगदान सुनिश्चित किया जाएगा।

यही उद्देश्य प्रस्ताव संविधान की 'प्रस्तावना' का आधार बना और इसी ने संपूर्ण संविधान के दर्शन को मूर्त रूप प्रदान किया।

स्वतंत्रता अधिनियम द्वारा परिवर्तन

संविधान सभा की प्रथम बैठक में सिर्फ 211 सदस्यों ने भाग लिया, क्योंकि मुस्लिम लीग ने स्वतंत्र पाकिस्तान की माँग उठाते हुए इसका बहिष्कार कर दिया था, और दूसरे देशी रियासतों ने इसमें शामिल होने से पहले ही मना कर दिया था। जैसे-जैसे संविधान सभा की कार्यवाही आगे बढ़ी, देशी रियासतों के कई प्रतिनिधि इसका महत्व समझकर इसमें शामिल होने लगे। जब लॉर्ड माउंटबेटन ने 3 जून, 1947 को भारत के विभाजन की योजना प्रस्तुत कर दी तो उसके बाद देशी रियासतों के अधिकांश प्रतिनिधि संविधान सभा में शामिल हो गए। भारतीय हिस्से की मुस्लिम लीग के सदस्य भी संविधान सभा में शामिल हुए। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या 299 हो गई।

अब संविधान सभा पूरी तरह संप्रभुता से युक्त थी, क्योंकि ब्रिटिश शासन इसकी शक्तियों को सीमित नहीं कर सकता था तथा वह अब ब्रिटिश संसद द्वारा भारत के लिए बने किसी भी कानून को खारिज कर सकती थी। संविधान सभा स्वतंत्र भारत की पहली विधायिका भी बन गई थी। अब इसे न सिर्फ स्वतंत्र भारत के लिए संविधान का निर्माण करना था बल्कि विधायिका के तौर पर नए कानूनों का निर्माण तथा उन्हें लागू करने की जिम्मेदारी भी निभानी थी।

अन्य कार्य

संविधान सभा ने संविधान निर्माण और आम कानूनों को लागू करने के अलावा निम्न कार्य भी किए–

- इसने 22 जुलाई, 1947 को राष्ट्रीय ध्वज को अपनाया।
- मई, 1949 में इसने राष्ट्रमंडल में भारत की सदस्यता को औपचारिक तौर पर स्वीकृत किया।
- इसने 24 जनवरी, 1950 को 'जन-गण-मन' को राष्ट्रगान तथा 'वंदे मातरम' को राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार किया तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भारत के पहले राष्ट्रपति के रूप में चुना।

संविधान सभा की समितियाँ

संविधान सभा ने संविधान के निर्माण से संबंधित विभिन्न कार्यों को करने के लिए कई समितियों का गठन किया। इनमें से 8 बड़ी समितियाँ थीं तथा अन्य छोटी। इन समितियों तथा इनके अध्यक्षों के नाम इस प्रकार हैं-

बड़ी समितियाँ

- संघ शक्ति समिति – जवाहरलाल नेहरू
- संघीय संविधान समिति – जवाहरलाल नेहरू
- प्रांतीय संविधान समिति – सरदार पटेल
- प्रारूप समिति – डॉ. बी. आर. अंबेडकर
- मौलिक अधिकारों, अल्पसंख्यकों एवं जनजातियों तथा बहिष्कृत क्षेत्रों के लिए सलाहकार समिति (परामर्शदाता समिति) – सरदार पटेल। इस समिति के अंतर्गत निम्नलिखित पाँच उप-समितियाँ थीं:
  - मौलिक अधिकार पर उप समिति – जे.बी. कृपलानी
  - अल्पसंख्यक उप-समिति – एच.सी.मुखर्जी
  - उत्तर-पूर्व सीमांत जनजातीय क्षेत्र असम को छोड़कर तथा आंशिक रूप से छोड़े गए क्षेत्र के लिए उप-समिति – गोपीनाथ बार्दोलोई।
  - छोड़े गए एवं आंशिक रूप से छोड़े गए क्षेत्रों (असम में सिंचित क्षेत्रों के अलावा) के लिए उप-समिति – ए.वी.ठक्कर।
  - उत्तर-पश्चिम फ्रंटियर जनजाति क्षेत्र उप-समिति।
- प्रक्रिया नियम समिति – डॉ. राजेंद्र प्रसाद।
- राज्यों के लिए समिति – जवाहरलाल नेहरू
- (राज्यों से समझौता करने वाली)
- संचालन समिति – डॉ. राजेंद्र प्रसाद

छोटी समितियाँ

- वित्त एवं कर्मचारी (स्टाफ) समिति – डॉ. राजेंद्र प्रसाद
- प्रत्यायक (क्रेडेन्सियल समिति)– अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर
- सदन समिति– बी. पट्टाभिसीतारमैय्या
- कार्य संचालन समिति– डॉ. के. एम. मुंशी
- राष्ट्र ध्वज संबंधी तदर्थ समिति – डॉ. राजेंद्र प्रसाद
- संविधान सभा के कार्यों के लिए समिति– जी. वी. मावलंकर
- सर्वोच्च न्यायालय के लिए तदर्थ समिति – एस. वरदाचारी (जो कि सभा के सदस्य नहीं थे)
- मुख्य आयुक्तों के प्रांतों के लिए समिति – बी. पट्टाभिसीतारमैय्या
- संघीय संविधान के वित्तीय प्रावधान – नलिनी रंजन सरकार (जो कि संबंधी समिति सभा के सदस्य नहीं थे)।
- प्रारूप संविधान की जाँच के लिए – जवाहरलाल नेहरू विशेष समिति
- प्रेस दीर्घा समिति – ऊषा नाथ सेन
- नागरिकता पर तदर्थ समिति – एस. वरदाचारी (जो कि सभा के सदस्य नहीं थे)

प्रारूप समिति

संविधान सभा की सभी समितियों में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण थी- प्रारूप समिति। इसका गठन 29 अगस्त, 1947 को हुआ था। यह वह समिति थी, जिसे नए संविधान का प्रारूप तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। इसमें सात सदस्य थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

1. डॉक्टर बी.आर. अंबेडकर (अध्यक्ष)।
2. एन. गोपालस्वामी आयंगर।
3. अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर।
4. डॉक्टर के.एम. मुंशी।
5. सैय्यद मोहम्मद सादुल्ला।
6. एन. माधव राव (इन्होंने बी.एल.मित्र की जगह ली, जिन्होंने स्वास्थ्य कारणों से त्याग-पत्र दे दिया था)।
7. टी.टी. कृष्णामचारी (इन्होंने सन् 1948 में डी.पी. खेतान की मृत्यु के बाद उनकी जगह ली)।

विभिन्न समितियों के प्रस्तावों पर विचार करने के बाद प्रारूप समिति ने भारत के संविधान का पहला प्रारूप तैयार किया। इसे फरवरी, 1948 में प्रकाशित किया गया। भारत के लोगों को इस प्रारूप पर चर्चा करने और संशोधनों का प्रस्ताव देने के लिए 8 माह का समय दिया गया। लोगों की शिकायतों, आलोचनाओं और सुझावों के परिप्रेक्ष्य में प्रारूप समिति ने दूसरा प्रारूप तैयार किया, जिसे अक्टूबर, 1948 में प्रकाशित किया गया।

प्रारूप समिति ने अपना प्रारूप तैयार करने में छह माह से भी कम का समय लिया। इस दौरान इसकी कुल 141 बैठकें हुईं।

संविधान सभा के समक्ष चुनौतियाँ

भारतीय संविधान सभा जिस दायित्व का निर्वाह कर रही थी, उनकी पूर्ति करना अत्यंत कठिन और चुनौतीपूर्ण था। सबसे पहली चुनौती विभिन्न विचारधाराओं तथा हितों में समन्वय स्थापित करने की थी, क्योंकि संविधान सभा में विभिन्न विचारधाराएं, जैसे- उदारवाद, समाजवाद आदि के समर्थक मौजूद थे। इन सभी विचारधाराओं से विकास का उचित मार्ग चुनना था। पाकिस्तान निर्माण के बाद भारत में सांप्रदायिक मतभेद शुरू हुआ। साम्प्रदायिकता से जूझने के साथ ही अल्पसंख्यकों को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ना तथा विभिन्न रियासतों से मिलकर बने राष्ट्र की एकता और अखंडता की सुरक्षा करना भी अत्यंत चुनौतीपूर्ण था। संविधान सभा के लिए यह तय कर पाना भी अत्यंत कठिन था कि भारत में लोकतंत्र संसदीय हो या अध्यक्षात्मक तथा संविधान अपनी मूल प्रकृति में केन्द्रीकरण की स्थापना का प्रयास करे या विकेन्द्रीकरण का। इन सभी चुनौतियों का समाधान करने के लिए संविधान सभा ने मूलत: दो नीतियाँ अपनाईं- पहली, सर्वसम्मति से निर्णय तथा दूसरी, समायोजन का सिद्धांत जिसका अर्थ दो परस्पर विरोधी समझे जाने वाले सिद्धांतों के बीच समन्वय स्थापित करना था।

भारतीय संविधान की विशेषताएँ (Features of Indian Constitution)

विश्व के विभिन्न देशों के संविधानों एवं न्यायिक निर्णयों तथा संवैधानिक विशेषज्ञों के विचारों से प्रभावित 'भारत का संविधान' विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। तब भी, यह विदेशी संविधानों का अनुकरण मात्र न होकर अपने आप में एक सर्वथा अनुपम और नूतन प्रयोग है, क्योंकि संविधान निर्माताओं ने अपने राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सिर्फ वही तत्व अपनाए, जो भारत के लिए उपयोगी थे तथा उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किए।

संविधान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

लिखित और विशाल संविधान

भारत का संविधान एक 'लिखित' तथा 'विशाल/लंबा' संविधान है, जिसका निर्माण एक विशेष संविधान सभा द्वारा किया गया है। यह ब्रिटिश संविधान की तरह 'अलिखित' तथा 'विकसित' नहीं है। यह आकार की दृष्टि से विश्व के अन्य सभी संविधानों से विशाल भी है। इसके मौलिक संस्करण में 395 अनुच्छेद, 22 भाग और 8 अनुसूचियाँ थीं, किन्तु कई संशोधनों के बाद वर्तमान में इसमें 470 अनुच्छेद, 25 भाग और 12 अनुसूचियाँ हैं। ध्यातव्य है कि, भारतीय

संविधान में सूची की दृष्टि से अभी भी 395 अनुच्छेद ही हैं, क्योंकि संशोधनों के माध्यम से जो भी अनुच्छेद इसमें जोड़े गए हैं, वे किसी न किसी अनुच्छेद के विस्तार के रूप में जोड़े गए हैं, जैसे- अनुच्छेद 21(क), 51(क), अनुच्छेद 300 (क) इत्यादि। ऐसा इसलिए किया गया है, ताकि अनुच्छेदों का मूल क्रम न बदले और उन्हें पढ़ने में बार-बार बाधाएँ पैदा न हों।

भारतीय संविधान के अत्यंत विशाल होने के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण हैं, जैसे-

- भारतीय संविधान निर्माताओं ने विश्व के लगभग 60 देशों के संविधानों का अध्ययन किया था और उनके उपयुक्त प्रावधानों को स्वीकार किया था। अमेरिका, ब्रिटेन, आयरलैंड और जर्मनी के संविधानों का प्रभाव विशेष रूप से स्वीकार किया गया। इससे संविधान का लंबा होना स्वाभाविक ही था।
- भारतीय संविधान में अमेरिकी संविधान की तरह सिर्फ संघ से संबंधित प्रावधान नहीं हैं, बल्कि विभिन्न प्रांतों से जुड़े प्रावधान भी शामिल हैं। विभिन्न राज्यों से संबंधित विशेष प्रावधान लिखे जाने से भी संविधान लंबा हो गया।
- चूँकि भारत में धार्मिक, क्षेत्रीय और भाषायी विविधता बहुत ज्यादा है तथा मुख्यधारा से कटे हुए बहुत से लोग अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों में शामिल हैं, इसलिए संविधान निर्माता उन सभी को मुख्यधारा में लाने वाले प्रावधान करना चाहते थे।
- भारतीय संविधान में सिर्फ मूल सिद्धांतों का वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि विस्तृत रूप से प्रशासनिक ढांचे से जुड़े प्रावधान भी प्रस्तुत किए गए हैं।
- चूंकि संविधान निर्माण के समय राष्ट्रीय एकता और अखंडता से जुड़ी बहुत-सी समस्याएँ संभावित थीं, इसलिए संविधान निर्माताओं ने विशेष रूप से आपातकालीन प्रावधानों को भी शामिल किया।
- मूल अधिकारों के विस्तृत वर्णन के साथ-साथ विशिष्ट परिस्थितियों में उन पर लागू होने वाले युक्ति-युक्त प्रतिबंधों या निर्बंधनों को भी संविधान सभा ने अपनी दूर-दृष्टि का परिचय देते हुए संविधान में शामिल किया। इतना ही नहीं, उन्होंने राज्य के नीति निदेशक तत्वों को भी शामिल किया, जिससे संविधान लंबा हो गया।
- संविधान में उस समय की तात्कालिक समस्याओं को देखते हुए कुछ अस्थायी प्रावधान भी किए गए थे, जो भाग-21 के अंतर्गत, अनुच्छेद 369 से 392 तक विस्तृत थे। आगे चलकर, इनमें से कई प्रावधान हटा दिए गए। संविधान के लंबे होने का एक कारण ये अस्थायी प्रावधान भी थे।

संविधान की सर्वोच्चता

संविधान द्वारा भारत में संवैधानिक सर्वोच्चता स्थापित की गई है। इसका अर्थ है कि, संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। कोई भी कानून या आदेश संविधान के विरुद्ध जारी नहीं किया जा सकता। सरकार के सभी अंगों को संविधान द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं के अधीन रहकर ही कार्य करना पड़ता है। यदि विधायिका द्वारा निर्मित कोई कानून या राष्ट्रपति द्वारा जारी कोई अध्यादेश संविधान के 'आधारभूत ढाँचे' के विरुद्ध हो, तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है। ये सारे लक्षण 'विधि के शासन' की स्थापना करते हैं।

कठोरता व लचीलेपन का समन्वय

भारत का संविधान 'कठोर' या 'अनम्य' तथा 'लचीले' या 'सुनम्य' संविधानों का समन्वित रूप है। लचीला या सुनम्य संविधान वह होता है, जिसके प्रावधानों को सरल प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता है। इसके विपरीत, कठोर या अनम्य संविधान में संवैधानिक संशोधन के लिए अत्यंत जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप संविधान में संशोधन लगभग असंभव हो जाता है। भारत में संविधान के अधिकांश उपबंधों को संशोधित करने के लिए संसद के सदस्यों के बहुमत के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की भी आवश्यकता होती है और कुछ उपबंधों, जैसे-राष्ट्रपति के चुनाव, उच्चतम न्यायालय से संबंधित विषयों तथा अनुच्छेद में संशोधन के लिए, इसके अलावा कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति भी आवश्यक होती है। इसके बावजूद, इसमें बहुत से विषय ऐसे भी हैं, जिन्हें भारतीय संसद साधारण बहुमत द्वारा संशोधित कर सकती है। उदाहरण के लिए, राज्यों में विधान परिषदों के निर्माण तथा केन्द्रशासित प्रदेशों के विधानमंडलों से संबंधित प्रावधान इसी वर्ग में शामिल हैं। इस तरह भारत में संवैधानिक संशोधन की कठिन व सरल दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं को अपनाया गया है। यह अमेरिका के अनम्य या कठोर संविधान तथा ब्रिटेन के सुनम्य या लचीले संविधान के बीच का रास्ता अपनाता है।

संघात्मक व्यवस्था, किन्तु एकात्मकता की ओर झुकाव

यूं तो भारतीय संविधान का अनुच्छेद 1 भारत को एक एकात्मक राज्य घोषित करता है, किन्तु तत्वत: भारतीय संविधान संघवाद के मूल्यों को लेकर चला है। भारत में संघात्मक प्रणाली के तीनों प्रमुख लक्षणों को अपनाया गया है- (क) लिखित संविधान, (ख) सर्वोच्च व स्वतंत्र न्यायपालिका, तथा (ग) केंद्र एवं इकाइयों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन। किन्तु, भारत में केंद्र-राज्य संबंधों का निरूपण कुछ इस प्रकार किया गया है कि केंद्र का पलड़ा व्यवहारत: काफी भारी हो गया। राज्यपालों की नियुक्ति, आपातकाल संबंधी प्रावधानों, समवर्ती सूची का प्रभावी होना, वित्तीय प्रणाली पर केन्द्र के हावी होने जैसे लक्षणों के आधार पर केन्द्र को अधिक ताकतवर समझा जा सकता है।

संसदीय व्यवस्था

संसदीय व्यवस्था की स्थापना भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। यह विशेषता इंग्लैंड के संविधान से ली गई है, क्योंकि स्वाधीनता प्राप्ति से पहले भारतीय समाज इसका अभ्यस्त हो चुका था। 1935 के भारत सरकार अधिनियम में यही प्रणाली लागू की गई थी। भारतीय संसद राष्ट्रपति, लोकसभा एवं राज्यसभा से मिलकर बनती है। भारत के राष्ट्रपति इंग्लैंड के 'सम्राट' की तरह राज्य का नाममात्र का अध्यक्ष है। हालांकि वह 'वंशानुगत' आधार पर नहीं, निर्वाचन के आधार पर अपना पद प्राप्त करता है। उसकी वास्तविक कार्यकारी शक्तियां मंत्रिपरिषद में निहित होती हैं। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श से ही करता है। मंत्रिपरिषद और संसद में घनिष्ठ संबंध होता है। सभी मंत्री संसद के सदस्य होते हैं, जो अपनी नीतियों व कार्यों के लिए निम्न सदन अर्थात लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। लोकसभा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर जब चाहे मंत्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकती है। इसका अभिप्राय है कि, जब तक मंत्रिपरिषद को लोकसभा में सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है, तब तक वह अपने पद पर बनी रहती है। लगभग ये सारी विशेषताएँ ब्रिटेन के संसदीय ढाँचे से प्रभावित होकर ग्रहण की गई हैं।

पिछले दो दशकों में भारत में यह विवाद कई बार उठा है कि संविधान निर्माताओं द्वारा संसदीय प्रणाली का चयन करना उचित था या नहीं? 1990 के दशक में जिस तरह से सरकारें बार-बार बनीं और गिरीं, उससे लगने लगा कि, अब या तो अध्यक्षीय प्रणाली को अपना लिया जाना चाहिए अन्यथा बहुदलीय प्रणाली के स्थान पर द्विदलीय प्रणाली को। किन्तु पिछले एक दशक में राजनीतिक अस्थिरता की समस्या भारतीय जनमानस की परिपक्वता से अपने आप सुलझ गई, क्योंकि जनसामान्य ने धीरे-धीरे गठबंधनीय ढाँचे को अपना लिया, जो देश की संघात्मक जरूरतों के अनुकूल भी था और अस्थिरता की समस्या का समाधान भी करता था।

स्वतंत्र न्यायपालिका

भारतीय संविधान, एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है, जो कि संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना के लिए जरूरी भी होता है। यह विशेषता अमेरिकी संविधान में दिखाई पड़ती है। भारतीय संविधान में उन सभी बातों का उल्लेख किया गया है, जो स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के लिए आवश्यक हैं। इसके लिए संविधान में कई विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं, जैसे- सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किया जाना, न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीशों के आचरण पर संसद और प्रांतीय विधायिकाओं द्वारा विचार न कर सकना आदि। पिछले 70 वर्षों में, भारतीय न्यायपालिका ने कई बार अपनी स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता का परिचय देकर लोगों में अपने प्रति आस्था मजबूत की है। केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य तथा शाहबानो जैसे मामलों में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा सशक्तता का प्रमाण दिया है।

संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय

भारतीय संविधान के अंतर्गत, ब्रिटेन की संसदीय सर्वोच्चता और अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता की धारणाओं के बीच अद्‌भुत समन्वय स्थापित किया गया है। भारत में संसदीय व्यवस्था को अपनाकर संसदीय सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया तथा संसद को नए विधान बनाने व संविधान के प्रावधानों को संशोधित करने का व्यापक अधिकार दिया गया है। किन्तु, इसके साथ ही संघात्मक प्रणाली के आदर्श के अनुरूप सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की अंतिम व्याख्या करने तथा उन विधियों और आदेशों को अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है, जो संविधान की मूल भावना के विरुद्ध हों।

प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य

भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारत को एक प्रभुत्व-संपन्न राज्य घोषित करती है। इसका निहितार्थ यह है कि, भारत पर आंतरिक एवं बाह्य दृष्टि से किसी विदेशी सत्ता का नियंत्रण नहीं है। किसी भी विदेशी शक्ति को इसकी गृह व विदेश नीति में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है और वह किसी भी अंतर्राष्ट्रीय समझौते अथवा संधि को मानने के लिए बाध्य नहीं है। ध्यातव्य है कि कुछ लोग भारत द्वारा 'राष्ट्रमंडल' की सदस्यता लिए जाने की आलोचना करते हैं और इसे संप्रभुता के विरुद्ध बताते हैं, किन्तु पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रमंडल की सदस्यता लेते समय स्पष्ट तौर पर घोषित किया था कि, हम एक संप्रभु राष्ट्र की हैसियत से राष्ट्रमंडल के सदस्य बन रहे हैं। हम ब्रिटिश राजा को सांकेतिक तौर पर ही राष्ट्रमंडल का प्रमुख मानते हैं, किन्तु हमारे लिए उसका कोई वास्तविक महत्व नहीं है। यदि ब्रिटिश राजा भारत आता है, तो उसे हमारे राष्ट्रपति की तुलना में कोई प्रमुखता प्राप्त नहीं होगी।

लोकतांत्रिक गणराज्य

संविधान की प्रस्तावना के अनुसार, भारत एक लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। इसका निहितार्थ है कि, शासन की शक्ति किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष में निहित न होकर भारतीय जनता में निहित है और जनता निर्वाचन प्रक्रिया के माध्यम से स्वयं शासक वर्ग का चयन करती है। भारतीय राज्य का 'गणतंत्रात्मक' स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी अर्थात राष्ट्रपति वंशानुगत राजा न होकर भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है। ध्यातव्य है कि, ब्रिटेन आधुनिक लोकतंत्र का जनक होकर भी अभी तक 'गणतंत्र' नहीं बन सका है, क्योंकि वह 'सम्राट' को अभी भी 'वंशानुगत' आधार पर राज्य का अध्यक्ष मानता है, जबकि भारत नवोदित लोकतांत्रिक राष्ट्र होकर भी 'गणतंत्र' को स्वीकार करता है, जो कि उसकी राजनीतिक परिपक्वता का स्पष्ट प्रमाण है।

समाजवादी राज्य

भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारत को एक समाजवादी राज्य घोषित करती है। ध्यातव्य है कि, मूल संविधान की प्रस्तावना में यह शब्द (समाजवाद) नहीं था, इसे 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में जोड़ा गया है। प्रस्तावना में उल्लिखित 'समाजवादी राज्य' का तात्पर्य यह है कि, भारत द्वारा लोक कल्याणकारी नीतियों के माध्यम से 'आर्थिक न्याय' उपलब्ध कराने की कोशिश की जाएगी। ध्यातव्य है कि भारत में अपनी परिस्थितियों के अनुकूल समाजवाद को अपनाया गया है, जो गाँधीवादी विचारधारा और लोकतंत्र को भी साथ लेकर चलता है। यह भूतपूर्व सोवियत संघ, चीन तथा अन्य चिरपरिचित समाजवादी प्रणालियों से अलग है। मोटे तौर पर इसे 'लोकतांत्रिक समाजवाद' की श्रेणी में रखा जा सकता है।

पंथनिरपेक्ष राज्य

भारत एक पंथनिरपेक्ष या धर्मनिरपेक्ष राज्य है। 42वें संशोधन द्वारा संशोधित भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारत को एक 'पंथनिरपेक्ष' राज्य घोषित करती है। इसका निहितार्थ यह है कि, भारत का अपना कोई राजधर्म नहीं है और यह सभी पंथों व धर्मों का समान रूप से आदर करता है। ध्यातव्य है कि, भारतीय संविधान में पंथनिरपेक्षता के नकारात्मक नहीं, सकारात्मक रूप को अपनाया गया है। यही कारण है कि भारतीय राज्य सभी धर्मों को नकारने के स्थान पर सभी का आदर करता है तथा उनके विकास में सहायक भी होता है। संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 भारतीय नागरिकों को विभिन्न प्रकार की धार्मिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करते हैं, जो भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का ठोस प्रमाण है।

एकल नागरिकता

भारतीय संविधान, ब्रिटेन की तरह एकल नागरिकता के सिद्धांत को अपनाता है, अमेरिका की तरह दोहरी नागरिकता का सिद्धांत यहाँ नहीं अपनाया गया है। भारत में संघ एवं राज्य के सभी लोगों को एक ही नागरिकता प्रदान की गई है। ऐसा करने का मूल कारण यह था कि, भारतीय संविधान सभा राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखने की चुनौतियों को लेकर अत्यंत सजग थी। यही कारण है कि, भारत के किसी भी स्थान पर इसके अंतर्गत रहने वाले नागरिक सिर्फ 'भारतीय' कहलाते हैं, उनकी नागरिकता की पहचान 'राज्य' के आधार पर नहीं होती है।

मौलिक अधिकार

अमेरिका एवं आयरलैंड के संविधानों की तरह भारतीय संविधान में भी नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार व नीति निदेशक तत्व प्रदान किए गए हैं। संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से 32 तक नागरिकों के छः प्रकार के मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है। ये अधिकार हैं-

- समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18)।
- स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22)।
- शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 से 24)।
- धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28)।
- सांस्कृतिक एवं शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29 से 30)।
- संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)।

नीति निदेशक तत्व

आयरलैंड के संविधान की तरह भारतीय संविधान के भाग 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक राज्य के नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि, नीति निदेशक तत्वों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यकारी रूप से लागू नहीं कराया जा सकेगा। किंतु तब भी ये तत्व देश के शासन में मूलभूत

महत्व रखते हैं। वस्तुत: नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से भारतीय राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

कल्याणकारी राज्य की स्थापना

भारतीय संविधान को यदि समग्र रूप में देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि, इसका मुख्य उद्देश्य एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। चाहे पंडित नेहरू द्वारा प्रस्तावित 'उद्देश्य प्रस्ताव' रहा हो या संविधान की 'प्रस्तावना' को देखा जाए, मौलिक अधिकार हों या राज्य के नीति निर्देशक तत्व, इन सभी में भारतीय राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप पर बल दिया गया है।

समग्रत: यह कहा जा सकता है कि, भारतीय संविधान की विशेषताएँ अदभुत एवं अपने-आप में अनूठी हैं। यद्यपि इन विशेषताओं में से अधिकांश विश्व के अन्य संविधानों में भी देखने को मिल जाती हैं, पर उनका जो विशिष्ट संयोजन भारतीय संविधान में किया गया है, वह इसे अनूठा बनाता है।

भारतीय संविधान के विभिन्न स्रोत (Various Sources of Indian constitution)

हमारे संविधान की आधारशिला रखने वाले संविधान निर्माताओं के समक्ष विश्व के समस्त ज्ञात संविधानों के परिचालन से संचित अनुभव था तथा उन संविधानों के परिचालन में आने वाली समस्याओं से वे परिचित थे। अत: दूसरे संविधानों से कुछ प्रावधानों को सम्मिलित करने के अतिरिक्त, इन संविधानों के परिचालन में अनुभव की गई कुछ समस्याओं के निराकरण के लिए अनेक प्रावधानों को भारतीय संविधान में सम्मिलित किया गया। यह एक प्रमुख कारण था कि, हमारा संविधान विश्व के समस्त लिखित संविधानों में सर्वाधिक दीर्घ तथा सर्वाधिक व्यापक (Comprehensive) बनाया गया। हमारे संविधान के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं–

- ***1935 का भारत शासन अधिनियम–*** भारतीय संविधान का लगभग दो तिहाई भाग 1935 के भारत शासन अधिनियम से लिया गया है। राजनीति की आधारभूत संरचना, केन्द्र-राज्य संबंधों को नियमित करने वाले प्रावधान, आपातकाल की घोषणा, संघीय पद्धति, संघीय न्यायपालिका की शक्ति तथा राज्यपाल के प्राधिकार का प्रावधान इत्यादि प्रमुख रूप से इसी अधिनियम से लिये गए हैं।
- ***अमेरिकी संविधान–*** राज्य की कार्यपालिका के प्रमुख तथा सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च कमांडर के रूप में राष्ट्रपति के होने का प्रावधान, राज्यसभा के पदेन सभापति के रूप में उपराष्ट्रपति का प्रावधान, मौलिक अधिकारों पर अधिकार प्रपत्र (Bill of Rights) का प्रभाव, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review), प्रस्तावना तथा सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का निष्कासन आदि व्यवस्थाएँ अमेरिकी संविधान से ली गई हैं।
- ***ब्रिटिश संविधान–*** विधि (Law) निर्माण की प्रक्रियाएँ, विधि का शासन (Rule of Law), एकल नागरिकता की पद्धति तथा मंत्रियों के उत्तरदायित्व वाली संसदीय प्रणाली की व्यवस्था ब्रिटिश संविधान से प्रेरित हैं।
- ***कनाडा का संविधान–*** कनाडा के संविधान से केन्द्र-राज्य संबंध विषयक प्रावधान, केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण, एक शक्तिशाली केन्द्र से युक्त संघ एवं केन्द्र में अवशिष्ट शक्तियों का विधान आदि तत्व लिया गया है।
- ***आयरलैंड का संविधान–*** आयरलैंड के संविधान से नीति निदेशक सिद्धांत, राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया, राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के सदस्यों को मनोनीत किया जाना आदि व्यवस्थाएँ ग्रहित की गई हैं।
- ***जर्मनी का वाइमर संविधान–*** आपातकाल में मौलिक अधिकारों के स्थगन से संबंधित प्रावधान जर्मनी के वाइमर संविधान से प्रेरित है।
- ***ऑस्ट्रेलिया का संविधान–*** ऑस्ट्रेलिया के संविधान से समवर्ती सूची, व्यापार, वाणिज्य तथा परस्पर सम्पर्क (Intercourse) से संबंधित प्रावधान, सहयोगात्मक संघात्मकता (Co-operative Federalism) तथा संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा आदि तत्व लिये गए हैं।

भारतीय संविधान पर अन्य देशों के संविधानों का प्रभाव
भारत शासन अधिनियम, 1935
संघीय व्यवस्था
राज्यपाल का कार्यालय
न्यायपालिका का ढाँचा
लोक सेवा आयोग
आपातकालीन उपबंध
शक्तियों के वितरण की तीन सूचियाँ
ब्रिटेन का संविधान
संसदीय व्यवस्था
राज्याध्यक्ष का प्रतीकात्मक या नाममात्र का महत्व
विधायी प्रक्रिया
एकल नागरिकता
मंत्रिमण्डल प्रणाली
परमाधिकार रिटें
संसदीय विशेषाधिकार
द्विसदनवाद
विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया
अमेरिका का संविधान
मूल अधिकार
न्यायपालिका की स्वतंत्रता
न्यायिक पुनरीक्षण या पुनरावलोकन का सिद्धांत
उपराष्ट्रपति का पद
उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को पद से हटाया जाना और राष्ट्रपति पर महाभियोग
यथोचित विधि प्रक्रिया
आयरलैंड का संविधान
राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत
राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति
राज्य सभा के लिए सदस्यों का नामांकन
कनाडा का संविधान
सशक्त केन्द्र के साथ संघीय व्यवस्था
अवशिष्ट शक्तियों का केन्द्र में निहित होना
केन्द्र द्वारा राज्य के राज्यपालों की नियुक्ति
उच्चतम न्यायालय का परामर्शी न्याय निर्णयन
ऑस्ट्रेलिया का संविधान
समवर्ती सूची

व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता
संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक
जर्मनी का वाइमर संविधान
आपातकाल के समय मूल अधिकारों का स्थगन
सोवियत संघ (भूतपूर्व) का संविधान
मूल कर्तव्य और प्रस्तावना में सामाजिक/आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय का आदर्श
फ्रांस का संविधान
गणतंत्रात्मक ढाँचा
प्रस्तावना में स्वतंत्रता, समता और बंधुता के आदर्श
दक्षिण अफ्रीका का संविधान
संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन

भारतीय संविधान का स्वरूप एवं भारत की स्थिति (Nature of Indian Constitution & Status of India)

यद्यपि, संविधान सभा की प्रारूप समिति (Drafting Committee) के सदस्यों ने भारतीय संविधान को परिसंघात्मक (Federal) कहा है, जबकि स्वयं संविधान में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं है, इसीलिए कुछ न्यायवेत्ता इसे विवाद का विषय मानते हैं।

पाश्चात्य विद्वान प्राय: अमेरिकी संविधान को परिसंघात्मक संविधान का आदर्श रूप मानते हैं और जो संविधान इसके अनुरूप नहीं हैं, उन्हें परिसंघात्मक संविधान के रूप में वे स्वीकार नहीं करते, परन्तु अब यह अधिकांशत: अनुभव किया जा रहा है कि इस प्रकार की अवधारणा दोषपूर्ण है और प्राय: यह स्वीकार किया जा रहा है कि कोई राज्य एकल (Unitary) है अथवा परिसंघात्मक (Federal) यह इस पर निर्भर करता है कि उसमें कितने अंशों में संघ की विशेषताएँ विद्यमान हैं। यदि भारतीय संविधान के प्रावधानों पर सूक्ष्म दृष्टि डाली जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि, इसके द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था (Political System) में, परिसंघीय राजनीति (Federal Polity) की समस्त अनिवार्य विशेषताएँ हैं।

भारतीय संविधान एक ऐसे द्वैध राजनीतिक तन्त्र की स्थापना करता है, जिसके केन्द्र में संघ तथा परिधि में राज्य हैं तथा जिनकी शक्तियों का संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से निर्धारण किया गया है। हमारा संविधान लिखित, कठोर व लचीलापन और सर्वोच्च है, जिसमें इसकी पर्याप्त शक्ति है कि वह संघ या राज्य की विधायिकाओं की शक्तियों से परे जाकर लागू किए जाने वाले कानूनों को अतिक्रमणकारी (Ultra Vires) घोषित कर दे, जो 1973 में केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के वाद (Case) के निर्णय से दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाता है। इसके अतिरिक्त, केन्द्र या राज्यों की शक्तियों या दर्जे में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन करने वाला संशोधन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक इसमें राज्यों की प्रतिभागिता न हो (अनुच्छेद 368)।

अन्तत: सर्वोच्च न्यायालय, भारतीय संविधान की व्याख्या तथा इसके साथ ही साथ केन्द्र-राज्य सम्बन्धों से जुड़े विवादों के निर्णय के लिए भी सर्वोच्च सत्ता (Apex Authority) है। यद्यपि भारतीय संविधान में परिसंघीय शासन की सभी पाँच अनिवार्य विशेषताएँ विद्यमान हैं, तथापि कुछ विशेष स्थितियों में संविधान राज्यों से सम्बन्धित विषयों में हस्तक्षेप करने के लिए केन्द्र को शक्ति प्रदान करता है। इससे राज्यों की स्थिति गौण (Subordinate) रूप में प्रकट होती है।

यूनियन (Union) , फेडरेशन (Federation) तथा कनफेडरेशन (Confederation) में अंतर

यूनियन विनाशी राज्यों का अविनाशी संघ होता है। जिसमें केंद्रीय राज्य द्वारा प्रशासनिक और अन्य सुविधाओं की दृष्टि से संघ के अंदर इकाइयों की स्थापना की जाती है। इसमें इकाइयों का कोई निश्चित अस्तित्व नहीं रहता, जैसे- भारत।

वहीं फेडरेशन अविनाशी राज्यों (इकाइयों) का अविनाशी संघ होता है, इसमें दोनों अर्थात राज्यों और संघ का निश्चित अस्तित्व रहता है। इकाइयां और संघ आपसी समझौते द्वारा अपने संबंधों का निर्धारण करते हैं। इसमें राज्यों को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं होता है। जैसे- संयुक्त राज्य अमेरिका।

वहीं कनफेडरेशन में संघ का अस्तित्व राज्यों के बीच आपसी समझौते के परिणामस्वरूप और शक्तियां भी इसी से निर्धारित होती है। परंतु इसमें राज्यों को संघ से पृथक होने का अधिकार है, जैसे-पूर्व सोवियत संघ।

भारत की परिसंघीय प्रकृति को प्रभावित करने वाले संवैधानिक कारक

अमेरिका व ऑस्ट्रेलिया में राज्यों का अपना-अपना पृथक संविधान होता है, जो संघ के संविधान के समान ही शक्तिशाली होता है, किन्तु भारत के राज्यों का कोई पृथक संविधान नहीं होता। पहले अनुच्छेद 370 के तहत जम्मू-कश्मीर में अलग संविधान का विधान था, लेकिन 5 अगस्त, 2019 से अनुच्छेद 370 के क्लॉज 2 और 3 के निष्कासन तथा जम्मू-कश्मीर के राज्य के दर्जे की समाप्ति और जम्मू-कश्मीर और लद्दाख के रूप में दो केंद्रशासित प्रदेश बनने से (31 अक्टूबर, 2019) अब पूरे देश में एक ही संविधान लागू होगा।

भारत समान तथा एकल नागरिकता (Uniform & Single Citizenship) के सिद्धान्त का पालन करता है, जबकि अमेरिका व ऑस्ट्रेलिया में द्वैध (दोहरी) नागरिकता (Double Citizenship) का प्रचलन है। वहाँ संघ के अतिरिक्त नागरिकों को राज्य की भी नागरिकता प्रदान की जाती है।

अमेरिका में संघीय सरकार के लिए किसी राज्य की क्षेत्रीय सीमा में एकतरफा परिवर्तन करना सम्भव नहीं है, परन्तु भारत में सम्बद्ध राज्य की सहमति के बिना भी संसद उसकी क्षेत्रीय सीमा परिवर्तित कर सकती है। अतएव, भारत में राज्यों को क्षेत्रीय अखण्डता (Territorial Integrity) का अधिकार नहीं है।

यदि अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत, राष्ट्रपति समग्र भारत या उसके किसी क्षेत्र विशेष हेतु राष्ट्रीय आपात (National Emergency) की घोषणा करता है, तब संसद उन विषयों पर भी कानून बना सकती है, जो अन्य स्थिति में पूर्णत: राज्य सूची में है। संसद राज्यों को निर्देश दे सकती है कि वे अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों के सम्बन्ध में अपनी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग किस रूप में करें? वित्तीय प्रावधानों को भी निलम्बित किया जा सकता है। अत: एक ही झटके में भारतीय संघ की प्रकृति एकल (Unitary) हो जाती है, परन्तु अन्य परिसंघीय संविधानों में ऐसी स्थिति संभव नहीं है।

भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची विधायन सम्बन्धी विषयों, जिन पर संसद या राज्य विधायिकाएँ कानून लागू कर सकती हैं, को तीन सूचियों में विभाजित करता है- संघ सूची (Union List), राज्य सूची (State List) तथा समवर्ती सूची (Concurrent List)। संघ सूची (Union List) में मूल रूप से 97 लेकिन वर्तमान में 100 विषय हैं, जिन पर केवल संसद का नियंत्रण है जबकि राज्य सूची (State List) में मूल रूप से 66 लेकिन वर्तमान में केवल 61 विषय हैं, जिन पर राज्य विधायिकाओं का नियंत्रण है। राज्य कर (State Tax) के एक मात्र विषय को छोड़कर सभी महत्वपूर्ण विषय संघ सूची (Union List) के अन्तर्गत हैं। संविधान के लागू होने के समय समवर्ती सूची में 47 विषय थे, वर्तमान समय में इसमें

52 विषय हैं, समवर्ती सूची (Concurrent List) के विषयों पर केन्द्र व राज्य के कानूनों में विरोध होने की स्थिति में राज्य को केन्द्र के समक्ष उस अंश तक पीछे हटना पड़ता है, कानूनों में जिस अंश तक विरोध है, उस अंश तक राज्य का कानून निरस्त कर दिया जाएगा।

भारतीय संविधान में, अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Power) अर्थात उन विषयों पर कानून बनाने की शक्तियाँ, जो विषय किसी भी सूची के अन्तर्गत नहीं आते, केन्द्र में निहित है (कनाडा का संघीय प्रारूप), न कि राज्यों में। इसके विपरीत अमेरिका व ऑस्ट्रेलिया में अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों में निहित हैं।

संसद को संघ सूची (सातवीं अनुसूची) के विषयों पर कानून बनाने का एकमात्र अधिकार है, परन्तु राज्यों को राज्य सूची पर कानून बनाने का वैसा एकमात्र (Exclusive) अधिकार नहीं है। कुछ विशेष दशाओं व परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी संसद कानून बना सकती है। ऐसी कुल पाँच दशाएँ निम्नलिखित हैं–

- ***अनुच्छेद 249 के अनुसार***– यदि राज्य सभा राज्य के किसी विषय पर कानून बनाने के लिए संसद को, इस आधार पर कि यह राष्ट्रहित के लिए अनिवार्य है, अधिकृत (Authorise) करते हुए इस आशय का संकल्प (Resolution) न्यूनतम दो-तिहाई बहुमत से पारित कर देती है, तो संसद उन विषयों पर कानून बना सकती है। ऐसे कानून केवल 1 वर्ष के लिए लागू होंगे और उस अवधि को निरन्तर कितनी भी बार बढ़ाया जा सकेगा, परन्तु एक बार में 1 वर्ष से अधिक नहीं।
- ***अनुच्छेद 250 के अनुसार***– यदि राष्ट्रीय आपात (National Emergency) घोषित कर दिया जाता है, तो संसद को राज्य के सभी 61 विषयों के संबंध में कानून बनाने का अधिकार स्वत: प्राप्त हो जाता है अर्थात राज्य सूची (State List) को समवर्ती सूची (Concurent List) में परिवर्तित कर दिया जाता है।
- ***अनुच्छेद 252 के अनुसार***– यदि दो या दो से अधिक राज्यों की विधायिकाएँ राज्य के किसी विशेष विषय पर कानून बनाने के लिए संसद से अनुरोध करती हैं, तो संसद ऐसा कर सकती है, परन्तु संसद ऐसे कानूनों को संशोधित या निरसित भी (Repeal) कर सकती है।
- ***अनुच्छेद 253 के अनुसार***– अंतर्राष्ट्रीय समझौतों, जिसमें भारत एक पक्ष (Party) हो, का पालन करने के लिए संसद राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है। राज्य ऐसी पहल का विरोध नहीं कर सकते।
- ***अनुच्छेद 356 के अनुसार***– यदि राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाया जाता है, तो राज्य विधायिका की शक्तियों का प्रयोग संसद के अधीन अथवा उसके अधिकार में होता है।
- ***अनुच्छेद 155 के अनुसार***– राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और राज्यपाल राज्य विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। अत: परोक्ष रूप से राज्यपाल की नियुक्ति के माध्यम से राज्य के ऊपर केन्द्र का नियंत्रण रहता है। इसी प्रकार, यदि अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत, इस आधार पर कि भारत या उसकी किसी इकाई की वित्तीय स्थिरता या साख खतरे में है, राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय आपात (Financial Emergency) लगाया जाता है, तो वित्तीय आपात की अवधि में राज्य विधायिका द्वारा पारित सभी धन विधेयकों (Money Bills) पर केन्द्र का नियंत्रण होता है।
- ***अनुच्छेद 256 के अनुसार***– केन्द्र, राज्यों को प्रशासनिक निर्देश दे सकता है, जो राज्यों पर बाध्यकारी (Binding) होता है। संविधान में इसके भी उपाय दिए गए हैं, जिसे अपनाकर केन्द्र ऐसे निर्देशों के क्रियान्वयन को सुनिश्चित कर सके।
- ***अनुच्छेद 312 के अनुसार***– भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS), भारतीय पुलिस सेवा (IPS) तथा भारतीय वन सेवा (IFS) इन अखिल भारतीय सेवाओं के पदाधिकारियों की नियुक्ति केन्द्र द्वारा की जाती है, किन्तु उनके वेतन का भुगतान व उनका नियंत्रण राज्य द्वारा किया जाता है, परन्तु किसी पदाधिकारी द्वारा की गई किन्हीं अनियमितताओं (Irregularities) की स्थिति में राज्य उन्हें निलम्बित करने के अतिरिक्त किसी भी अनुशासनात्मक कार्यवाही की पहल नहीं कर सकता।
- ***अनुच्छेद 217 के अंतर्गत***– सम्बद्ध राज्य के राज्यपाल से विचार-विमर्श (Consultation) के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है और इसमें राज्यों की कोई भूमिका नहीं होती।
- ***अनुच्छेद 324 के अंतर्गत***– राज्य विधानसभा एवं संसद इन दोनों का निर्वाचन कराने के लिए एक केंद्रीकृत निर्वाचन तंत्र की स्थापना की गई है। इसी प्रकार अनुच्छेद 148 में, केन्द्र व राज्यों के आय-व्यय का लेखा-जोखा भारत का नियंत्रक व महालेखापरीक्षक (Comptroller & Auditor General of India) करता है, जिसकी नियुक्ति तथा पदमुक्ति राष्ट्रपति करता है।

इस प्रकार केन्द्र की ओर झुकाव वाले कुछ एक प्रावधानों को छोड़कर भारतीय संविधान मुख्यत: परिसंघात्मक प्रकृति का ही है।

संविधान की प्रस्तावना
(Preamble of the Constitution)

परिचय

प्रस्तावना या उद्देशिका, किसी संविधान को सार-रूप में प्रस्तुत करती है, जिसमें संविधान के आदर्शों, उद्देश्यों, सरकार के स्वरूप तथा संविधान की तिथि लागू होने आदि का संक्षेप में उल्लेख होता है।

प्रख्यात न्यायविद व संवैधानिक विशेषज्ञ एन.ए.पालकीवाला ने प्रस्तावना को 'संविधान का परिचय पत्र' कहा है। सबसे पहले अमेरिकी संविधान निर्माताओं ने अपने संविधान में प्रस्तावना को सम्मिलित किया था। भारतीय संविधान की प्रस्तावना को संविधान सभा द्वारा 22 जनवरी 1947 को स्वीकार किया गया तथा यह पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा बनाए तथा पेश किए गए 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर आधारित है। यही कारण है कि, भारतीय संविधान की प्रस्तावना को 'उद्देशिका' भी कहा जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना अमेरिकी संविधान से ली गई है, लेकिन प्रस्तावना की भाषा आस्ट्रेलियाई संविधान की प्रस्तावना से प्रभावित है।

प्रस्तावना का महत्व (Importance of Preamble)

हमारे संविधान के आधारभूत दर्शन और राजनीतिक, धार्मिक व नैतिक मौलिक मूल्यों का उल्लेख प्रस्तावना में किया गया है।

प्रस्तावना संविधान का एक अति महत्वपूर्ण भाग है और उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णयों में प्रस्तावना का महत्व और उसकी उपयोगिता बताई गई है। गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1950) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह निर्णय दिया गया कि, प्रस्तावना को न्यायालय में प्रवर्तित नहीं किया जा सकता है लेकिन लिखित संविधान की प्रस्तावना में वे उद्देश्य लेखबद्ध किए जाते हैं, जिनकी स्थापना और संप्रवर्तन के लिए संविधान की रचना होती है। बेरूवाड़ी के मामले में उच्चतम न्यायालय ने गोपालन वाद से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि प्रस्तावना संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क की कुंजी है। संविधान के शब्द जहां अस्पष्ट पाए जाएं या उनका अर्थ स्पष्ट न हो, वहां संविधान निर्माताओं के आशय को समझने के लिए प्रस्तावना अर्थात् उद्देशिका की सहायता ली जा सकती है और पता लगाया जा सकता है कि उस शब्द विशेष का प्रयोग व्यापक संदर्भ में किया गया है या संकीर्ण संदर्भ में। बेरूवाड़ी संघ मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि, प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। केशवानंद भारती मामले (1973) में उच्चतम न्यायालय ने पूर्व निर्णय को अस्वीकार करते हुए कहा कि, प्रस्तावना संविधान का एक भाग है। प्रस्तावना में उल्लिखित विचारों को ध्यान में रखकर संविधान का अध्ययन किया जाना चाहिए।

सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य के मामले में न्यायमूर्ति मघोलकर ने कहा था कि प्रस्तावना गहन 'विचार-विमर्श' की छाप है, उस पर सुस्पष्टता का ठप्पा है और उसे संविधान निर्माताओं ने विशेष महत्व दिया है।

संविधान की प्रस्तावना उन मुख्य उद्देश्यों को निर्धारित करती है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए संविधान सभा (Constituent Assembly) तत्पर थी। यह भारत के लोगों के आदर्शों व आकांक्षाओं को समाहित किए हुए हैं।

प्रस्तावना की प्रकृति ऐसी है कि, इनका प्रवर्तन न्यायालय में नहीं हो सकता अर्थात यह न्यायालय में अप्रवर्तनीय है। संविधान का मूलभूत ढाँचा प्रस्तावना में उल्लिखित उद्देश्यों में निहित है, जिसके द्वारा हम संविधान का सार समझ सकते हैं। प्रस्तावना का संशोधन केवल एक बार 1976 में किया गया है, जब 42वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत 'समाजवादी','पंथनिरपेक्ष' तथा 'अखंडता'- ये तीन शब्द जोड़े गए।

संविधान की प्रस्तावना

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवंबर 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत दो हजार छह विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

प्रस्तावना के निर्वचन एवं संशोधन से जुड़े विभिन्न वाद (Cases)

बेरूवाड़ी संघ, गोलकनाथ, केशवानंद भारती, रघुनाथ राव आदि वाद इससे जुड़े हुए हैं।

बेरूबारी संघ वाद (1960)

उच्चतम न्यायालय ने कहा कि प्रस्तावना संविधान में निहित सामान्य प्रयोजनों को दर्शाता है। अत: "यह संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क को समझने की कुंजी है।" उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि, प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है।

गोलकनाथ वाद (1967)

उच्चतम न्यायालय ने कहा कि "जहाँ संविधान की भाषा अस्पष्ट या संदिग्ध हो, वहाँ उसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तावना का सहारा लिया जा सकता है।"

केशवानंद भारती वाद (1973)

उच्चतम न्यायालय ने बेरूवाड़ी संघ वाद में दिए गए स्वयं के निर्णय को अस्वीकार कर दिया और यह व्यवस्था दी कि "प्रस्तावना संविधान का एक भाग है।" यहाँ न्यायालय ने यह भी कहा कि "संसद अनुच्छेद 368 के तहत, इसका संशोधन भी कर सकती है, लेकिन प्रस्तावना में निहित मूल ढाँचे को संशोधित नहीं किया जा सकता है।"

रघुनाथ राव बनाम भारत संघ वाद (1993)

उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित बातें कही:-

प्रस्तावना शक्ति का स्रोत नहीं है, विधि की शक्ति का स्रोत विनिर्दिष्ट अनुच्छेद ही हो सकता है।

प्रस्तावना विधानमंडल की शक्तियों पर प्रतिबंध आरोपित करने का स्रोत नहीं है।

संविधान के संदिग्ध तथा द्विअर्थी उपबंधों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए प्रस्तावना उपयोगी है।

एस.आर. बोम्मई वाद (1994)

"प्रस्तावना संविधान का अभिन्न अंग है। सरकार का प्रजातांत्रिक स्वरूप नवीन संरचना, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता, पंथनिरपेक्षता, समाजवादी स्वरूप, सामाजिक न्याय एवं न्यायिक पुनर्विलोकन भी इसकी मौलिक संरचना में सम्मिलित हैं।"

एल. आई. सी. ऑफ इंडिया वाद (1994)

उच्चतम न्यायालय ने पुन: व्यवस्था दी कि प्रस्तावना संविधान का आंतरिक हिस्सा है।

प्रस्तावना का दर्शन (Philosophy of Preamble)

संविधान घोषित करता है कि, भारत के लोगों ने ही संविधान को अंगीकृत (Adopted), अधिनियमित (Enacted) तथा आत्मार्पित (Dedicated) किया है। अत: इस देश की सम्प्रभुता (Sovereignty) अन्तत: लोगों में ही स्थापित है। यह लोगों के आदर्शों (Ideals) व आकांक्षाओं (Aspirations), जिन्हें प्राप्त करने की आवश्यकता है, को भी उद्घोषित करती है। आदर्श एवं आकांक्षाएँ

एक-दूसरे से भिन्न है जहाँ एक ओर संविधान द्वारा भारत को एक "संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य" के रूप में घोषित करने से आदर्शों को प्राप्त कर लिया गया है। परन्तु आकांक्षाओं के अन्तर्गत न्याय, स्वतंत्रता, समता व बन्धुता आते हैं, जिन्हें अभी भी प्राप्त किया जाना है। (आदर्श, आकांक्षाओं की प्राप्ति के साधन हैं।)

प्रस्तावना के दर्शन के रूप में इन आदर्शों का विश्लेषण किया जा सकता है–

प्रभुता संपन्न

इस शब्द का अभिप्राय यह है कि, भारत का संविधान ब्रिटिश संसद की देन नहीं है अपितु इसे भारत के लोगों ने एक प्रभुत्व संपन्न संविधान सभा में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से अधिकथित किया था। 26 जनवरी, 1950 को संविधान प्रवृत होने के साथ ही, इंग्लैंड के सम्राट का भारत में कोई विधिक या सांविधानिक प्राधिकार नहीं रहा। संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न या सार्वभौम शब्द का प्रयोग किया जाना इस बात का द्योतक है कि भारत के आंतरिक तथा वैदेशिक मामलों में भारत सरकार सार्वभौम तथा स्वतंत्र है अर्थात संविधान के प्रावधानों के अनुरूप कार्यरत सरकार किसी भी प्रकार के विदेशी दबावों से मुक्त रहते हुए अपनी नीतियों के माध्यम से कार्य करेगी। संप्रभु राज्य होने के नाते भारत किसी विदेशी राज्य का अधिग्रहण अथवा किसी अन्य देश के पक्ष में अपनी सीमा के किसी हिस्से पर से दावा छोड़ सकता है।

समाजवाद

समाजवाद शब्द संविधान के मूल ढाँचे की प्रस्तावना में समाविष्ट नहीं था बल्कि इसे 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा संविधान की उद्देशिका में अंतनिर्हित किया गया है।

समाजवादी शब्द का आशय है कि, "ऐसी संरचना जिसमें उत्पादन के मुख्य साधनों, पूँजी, जमीन, सम्पत्ति आदि पर सार्वजनिक नियंत्रण के साथ वितरण में समतुल्य सामंजस्य हो।" इसका अर्थ यह नहीं है कि, भारतीय संविधान निजी सम्पत्ति के पूर्ण उन्मूलन हेतु प्रतिबद्ध है अपितु यह उस पर कुछ निर्बंधन लगाता है, जिससे उसका उपयोग राष्ट्रीय हित में किया जा सके और लोगों के बीच असमानता में अत्यधिक वृद्धि न हो सके।

लोकतांत्रिक समाजवाद मिश्रित अर्थव्यवस्था से संबंध रखता है। जहाँ सार्वजनिक व निजी क्षेत्र साथ-साथ कार्य करते हैं। इस समाजवाद का उद्देश्य गरीबी, बीमारी, उपेक्षा व अवसर की असमानता को समाप्त करना है।

भारतीय समाजवाद गाँधीवादी समाजवाद की ओर झुका है। 1990 की भूमंडलीकरण की व्यवस्था ने उदारीकरण, निजीकरण व वैश्वीकरण द्वारा आर्थिक नीति से भारतीय समाजवादी प्रतिरूप में थोड़ा लचीलापन आया है।

आर्थिक क्षेत्र में राज्य का बढ़ता हुआ हस्तक्षेप और भागीदारी वर्तमान सदी की एक अनिवार्य विशेषता है। वर्तमान परिदृश्य में दुनिया का कोई ऐसा देश नहीं है, जहाँ विभिन्न आर्थिक, औद्योगिक और व्यवसाय प्रबन्धन एवं इनके विनिमयन में वहाँ की सरकार सक्रिय रूप से भाग न लेती हों। सामान्यत: इसको राज्य की प्रक्रिया पर समाजवाद का प्रभाव माना जाता है।

पंथनिरपेक्ष राज्य

भारत में अनेक धार्मिक मतों एवं धर्मावलम्बियों की विविधता को देखते हुए, लोगों की एकता और उनमें बंधुता स्थापित करने के लिए संविधान में 'पंथनिरपेक्ष राज्य' का आदर्श रखा गया है। भारतीय संविधान में पंथ निरपेक्षता का तात्पर्य है कि, राज्य सभी मतों की समान रूप से रक्षा करेगा और स्वयं किसी भी मत को राज्य धर्म के रूप में संरक्षण नहीं देगा अर्थात् राज्य का कोई धर्म नहीं होगा और वह सभी धर्मों के साथ समान दृष्टिकोण रखेगा।

राज्य के इस 'पंथनिरपेक्ष' उद्देश्य को 42वें संविधान संशोधन, 1976 के द्वारा उद्देशिका में अंत:स्थापित करके सुनिश्चित किया गया है। साथ ही अनुच्छेद 25 से 29 में धर्म की स्वतंत्रता को सभी नागरिकों के मूल अधिकार के रूप में समाविष्ट करके क्रियान्वित किया गया है। ये अधिकार, प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने, आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार देते हैं तथा राज्य की ओर से और इसके साथ ही राज्य की विभिन्न संस्थाओं की ओर से सभी धर्मों के प्रति पूर्ण निष्पक्षता सुनिश्चित करते हैं।

भारत में धर्मनिरपेक्षता

भारत में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म का विरोध या अधार्मिकता नहीं है अपितु, इसका अर्थ है- सर्वधर्म समभाव अर्थात् सभी धर्मों को समान आदर देना, चाहे वह बहुसंख्यक समुदाय का धर्म हो या अल्पसंख्यक का हो। धर्मनिरपेक्षता में प्रत्येक व्यक्ति को पूजा और प्रचार की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है, लेकिन राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है और वह किसी धर्म विशेष के आधार पर अपने किसी भी नागरिक के साथ किसी भी प्रकार के भेदभाव और पक्षपात का निषेध करता है।

लोकतांत्रिक गणराज्य

संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक लोकतांत्रिक राज्य घोषित किया गया है, क्योंकि भारतीय संविधान में प्रतिनिधि संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था है, जिसमें कार्यकारिणी अपनी सभी नीतियों व कार्यों हेतु विधायिका के प्रति जवाबदेह है। लोकतांत्रिक व्यवस्था सामाजिक समानता, स्वाधीनता व भ्रातृत्व को मान्यता देती है। प्रस्तावना में निहित 'लोकतंत्रात्मक गणराज्य' का आदर्श लोकतंत्र, राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से है अर्थात् न केवल शासन में लोकतंत्र होगा बल्कि समाज भी लोकतंत्रात्मक होगा, जिसमें 'न्याय,स्वतंत्रता, समता और बंधुता' की भावना होगी। राजशक्ति पर किसी एक वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं होगा और शासन का संचालन बहुमत के सिद्धांत के आधार पर होगा। इस प्रकार जनता की शासन में पूर्ण सहभागिता होगी। इस पर डॉ. अंबेडकर ने 1949 ई. को संविधान सभा में अपने भाषण में कहा कि- "राजनीतिक तंत्र तब तक स्थायी नहीं बन सकता, जब तक कि उसके मूल में सामाजिक लोकतंत्र नहीं हो।" सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ है, वह जीवन शैली जो स्वाधीनता, समानता तथा भ्रातृत्व को मान्यता देती है।

इसमें शासन का प्रमुख आनुवंशिक या नामनिर्देशित न होकर सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर चुना जाएगा, जो एक निश्चित समय तक संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार जनता पर शासन करेगा। भारत का कोई भी नागरिक इस पद को ग्रहण कर सकता है।

शासन के लक्ष्यों की घोषणा

प्रस्तावना में शासन के तीन अंगों (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका) के लक्ष्यों की स्पष्ट रूप से घोषणा की गई है। प्रस्तावना के अनुसार, भारतीय गणतंत्र के प्रमुख चार लक्ष्य हैं- न्याय, स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व। भारतीय संविधान निर्माता इस तथ्य से पूर्णत: जागरूक थे कि सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता नगण्य है। अत: उन्होंने स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के आदर्श सिद्धांतों पर भारत के संविधान को आधार प्रदान किया और राज्य को इस दिशा में कार्य करने के लिए तथा नागरिकों के अधिकारों को बनाए रखने के लिए स्पष्ट रूप से प्रावधान करता है।

न्याय

प्रस्तावना में उल्लिखित न्याय की संकल्पना वस्तुत: अति व्यापक है। यह केवल संकीर्ण कानूनी न्याय तक सीमित नहीं, बल्कि इसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी तरह के न्याय को महत्व दिया गया है। जिनकी सुरक्षा मौलिक

अधिकारों व नीति निदेशक सिद्धांतों में उपबंधित है। न्याय का अर्थ है- व्यक्तियों के परस्पर हितों, समूह के परस्पर हितों के बीच और एक ओर व्यक्तियों तथा समूहों के हितों तथा दूसरी ओर समुदाय के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित हो। न्याय की स्वतंत्रता और रक्षा के लिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया है। उद्देशिका में सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय का आश्वासन दिया गया है, जो कि रूसी क्रांति से लिया गया है।

सामाजिक न्याय से अभिप्राय है कि, मानव-मानव के बीच में जाति, वर्ण के आधार पर भेद न किया जाए और प्रत्येक नागरिक को उन्नति के समुचित अवसर सुलभ हों। आर्थिक न्याय से अभिप्राय है कि, उत्पादन एवं वितरण के साधनों का न्यायोचित वितरण हो और धन सम्पदा का केवल कुछ ही हाथों में केंद्रीकरण न हो जाए। राजनीतिक न्याय का अभिप्राय है कि, राज्य के अंतर्गत समस्त नागरिकों को समान रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। इस प्रकार प्रस्तावना उपबंधित न्याय के विचार से लोक कल्याणकारी राज्य का विचार प्रतिध्वनित होता है और नागरिकों को सभी क्षेत्रों में न्याय का आश्वासन देकर स्वतंत्रता व समानता जैसे मूल्यों को और भी सशक्त करता है।

स्वतंत्रता

संविधान की उद्देशिका में स्वतंत्रता की एक सकारात्मक व्याख्या की गई है, जिसका तात्पर्य केवल नियंत्रण या आधिपत्य का अभाव ही नहीं है अपितु इसमें "विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" के अधिकार की सकारात्मक संकल्पना भी निहित है। इस सकारात्मक अर्थ बोध में स्वतंत्रता का अर्थ है- किसी व्यक्ति की अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता जिससे कि वह अपने मानवीय मूल्यों के विकास के साथ ही अपनी गरिमा बनाए रखने में सक्षम हो सके। जिसे मौलिक अधिकारों द्वारा प्रदान किया गया है।

हमारी प्रस्तावना में स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के आदर्शों को फ्रांस की क्रांति (1789-1799 ई.) से लिया गया है।

समानता

'समानता' एक व्यापक अभिव्यक्ति वाला शब्द है, जिसका अर्थ यह नहीं कि सभी मनुष्य सभी परिस्थितियों में समान हैं क्योंकि उनके बीच शारीरिक, मानसिक और आर्थिक अंतर होते ही हैं। समानता से अभिप्राय है कि, अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हो समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। सभी नागरिकों को देश की शासन प्रणाली में समान भाग मिलना चाहिए। समान योग्यता और समान श्रम के लिए सभी का पारिश्रमिक समान होना चाहिए। किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग को अन्य व्यक्तियों या वर्गों के शोषण करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। समानता में तीन आयाम शामिल हैं- आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक-

- सामाजिक समानता में कुछ मौलिक अधिकार भी निहित है जैसे- विधि के समक्ष समता (अनुच्छेद-14)
- धर्म, जाति, लिंग या जन्म-स्थान व मूलवंश के आधार पर निषेध (अनुच्छेद- 15)
- लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता (अनुच्छेद-16)

अस्पृश्यता का अंत (अनुच्छेद-17)

उपाधियों का अंत (अनुच्छेद-18)

भारतीय संविधान के अनुसार, सभी नागरिक समान होंगे और उन्हें देश की विधियों का समान रूप से संरक्षण प्राप्त होगा। संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को स्थान और अवसर की समता प्रदान करने के साथ ही सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश तथा लोक नियोजन के विषय में धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर किसी भी प्रकार के विभेद से सुरक्षा प्रदान की गई है, जिससे प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर प्राप्त हो सके।

राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत (अनुच्छेद 39) महिला और पुरुष को जीवन यापन के लिए पर्याप्त साधन और समान कार्य के लिए समान वेतन के अधिकार को सुरक्षित करते हैं।

बंधुत्व

प्रस्तावना में निहित भावों के माध्यम से सर्वसामान्य नागरिकता से संबंधित उपबंधों का उद्देश्य भारतीय बंधुत्व की भावना को मजबूत करना तथा एक सुदृढ़ लोकतंत्र का निर्माण करना है। यदि भारतीय नागरिकों के बीच बंधुता की भावना कमजोर होगी तो भारतीय लोकतंत्र कमजोर हो सकता है। सशक्त लोकतंत्र हेतु यह भावना होनी आवश्यक है कि हम सभी एक ही मातृभूमि के संतान हैं। यह भारत जैसे देश के लिए जहाँ विभिन्न मूलवंश, धर्म, भाषा और संस्कृति वाले लोग हैं, और भी आवश्यक है।

बंधुता का एक अंतर्राष्ट्रीय पक्ष भी है, जो विश्वबंधुत्व की संकल्पना 'वसुधैव कुटुंबकम' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है, के प्राचीन भारतीय आदर्श की ओर ले जाता है। जिसे संविधान के अनुच्छेद 51 में नीति निदेशक सिद्धांतों के अंतर्गत स्पष्ट किया गया है। बंधुत्व का उद्देश्य राष्ट्रीय अखंडता के लिए बाधक तत्वों, भीड़तंत्र, सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि बाधाओं से पार पाना है।

प्रस्तावना में संशोधन
(Amendments in Preamble)

प्रस्तावना को संविधान की अनुच्छेद 368 के तहत, संशोधित किया जा सकता है परन्तु इस संशोधन से प्रस्तावना में निहित मूल विशेषताओं में संशोधन नहीं किया जा सकता। अब तक प्रस्तावना को केवल एक बार 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के तहत संशोधित किया गया है। इसके जरिए तीन नए शब्दों को जोड़ा गया- समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं अखंडता जो कि मूल विशेषताओं को संशोधित नहीं करते हैं। इसलिए न्यायालय द्वारा इस संशोधन को वैध ठहराया गया है।

राष्ट्रीय एकता

क्षेत्र, भाषा व संस्कृति इत्यादि की पर्याप्त विविधता होते हुए भी सम्पूर्ण भारत एक है। अत: भारतीय संविधान की प्रस्तावना में राष्ट्रीय एकता पर बल प्रदान दिया गया है। प्रस्तावना में राष्ट्रीय एकता के भाव में एक राजनैतिक इकाई के रूप में भौगोलिक एकता के साथ ही विधिक, प्रशासनिक व सामाजिक सांस्कृतिक एकता आदि निहित है, जिनके आधार पर एक राष्ट्र/राज्य के रूप में भारत की अखण्डता को सुरक्षित रखा जा सके।

इस प्रकार, प्रस्तावना के दर्शन में सम्पूर्ण संविधान का सार निहित है। प्रस्तावना के द्वारा व्यक्ति के राजनैतिक, आर्थिक लक्ष्यों के साथ ही उनकी मानवीय गरिमा को निश्चित किया गया है। प्रस्तावना ही हम भारत के लोगों के माध्यम से संविधान को सम्पूर्ण प्रभुता प्रदान करके तथा भारतीय राजनैतिक व्यवस्था की लोकतांत्रिक गणराज्य प्रणाली को स्थापित करते हुए संविधान के लिये प्रेरणा स्रोत का कार्य कर रही है।

संघ और उसका राज्यक्षेत्र
(Union and its Territories)

भारत संघ और उसका राज्यक्षेत्र
(Indian Union and Its Territories)

भारतीय संविधान के भाग 1 के अनुच्छेद 1 से 4 तक, भारतीय संघ और भारतीय राज्य क्षेत्र में भिन्नता तथा इनके आपस में संबंध के बारे में बताया गया है।

अनुच्छेद 1

संविधान के अनुच्छेद 1 के तीन खंड हैं, अनुच्छेद 1(1), 1(2) एवं 1(3)। इन तीनों में भारत संघ तथा उसके राज्यक्षेत्र से संबंधित बुनियादी सूचनाएं दी गई हैं। अनुच्छेद 1(1) में कहा गया है कि 'इंडिया अर्थात् भारत राज्यों का संघ होगा'। इसमें 'इंडिया अर्थात् भारत' संविधान निर्माताओं द्वारा एक ही देश के दो नामों का उल्लेख लिखकर किया गया है। संविधान सभा में इस मुद्दे पर काफी चर्चा हुई कि देश का नाम भारत हो या इंडिया। जो लोग प्राचीन संस्कृति एवं परंपरा के अनुयायी थे, वे इस बात पर बल दे रहे थे कि देश का नाम 'भारत' होना चाहिए। दूसरी ओर, कुछ अन्य नेताओं का कहना था कि हमारे देश के सभी अंतर्राष्ट्रीय समझौते इंडिया नाम से होते हैं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में भी भारत का नाम इंडिया है अर्थात् भारत पूरे विश्व में 'इंडिया' नाम से पहचाना जाता है, इसलिए देश का नाम 'इंडिया' होना चाहिए। संविधान सभा में एक मत पर सर्वसम्मति न होने के कारण, विवाद से बचने के लिए संविधान निर्माताओं ने दोनों ही नामों को शामिल करना उचित समझा। 'इंडिया दैट इज भारत' से यह अभिव्यक्त होता है कि इंडिया देश का औपचारिक नाम है।

इस अनुच्छेद में प्रयुक्त 'संघ (Union)' शब्द के प्रयोग के पीछे डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने दो कारण स्पष्ट किए-

- भारत विभिन्न राज्यों के मध्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है।
- किसी भी राज्य को भारत संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है।

संविधान सभा शुरू में राज्यों को पूर्ण स्वायत्तता देने के पक्ष में थी, किन्तु भारत-पाक विभाजन के बाद उनकी राय बदली कि केन्द्र की शक्ति राज्यों से अधिक हो। अनेक रियासतों से मिलकर बने देश के समक्ष राष्ट्रीय एकता और अखंडता बनाए रखना एक बड़ी चुनौती थी। राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने से भविष्य में राष्ट्रीय एकता को खतरा न हो, जैसा कि अमेरिका में हुआ। अमेरिका को यह सिद्ध करने के लिए कि उनका संघ अविनाशी है, गृहयुद्ध करना पड़ा। संविधान निर्माताओं ने भविष्य के विवादों से बचाने के लिए आरंभ में ही संघ की स्पष्ट व्याख्या कर दी। हमारा संघ 'विभाजित राज्यों का अविभाजित संघ' है।

अनुच्छेद 1 (2) में यह बताया गया है कि, राज्य और राज्यक्षेत्र वे होंगे जो संविधान की पहली अनुसूची में निर्दिष्ट किए गए हैं। भारतीय संविधान की पहली अनुसूची में सभी राज्यों के नाम तथा भौगोलिक क्षेत्र दिए गए हैं-

अनुच्छेद 1(3) में भारत के राज्य क्षेत्र को तीन वर्गों में बाँटा गया है-

- राज्यों का राज्य क्षेत्र
- संघ राज्य क्षेत्र
- ऐसे अन्य राज्य क्षेत्र जो अर्जित किए जाए।

वर्तमान में संविधान की प्रथम सूची में 28 राज्य तथा 8 संघ राज्य क्षेत्र है, परन्तु भारत द्वारा अर्जित राज्य क्षेत्रों की सूची में कोई क्षेत्र शामिल नहीं है। जब भारत ने पुदुचेरी, कराइकल, माहे और यमन को फ्रांस से अर्जित किया था तब 1954 से 1962 तक इन क्षेत्रों के अर्जित राज्य क्षेत्रों की सूची में रखकर प्रशासित किया गया था, क्योंकि फ्रांस की संसद ने तब तक अध्यर्पण की संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए थे। 1962 में संधि पर हस्ताक्षर के बाद ये क्षेत्र संघ राज्य क्षेत्र बन गए। इसके अलावा भारत द्वारा समय समय अन्य विदेशी क्षेत्रों, जैसे- गोवा, दमन व दीव, दादरा और नगर हवेली आदि अर्जित किया गया। किंतु वर्तमान में ये सभी राज्यों या संघ राज्य क्षेत्रों में शामिल हैं।

इस अनुच्छेद के भाव से स्पष्ट है कि, संविधान में राज्यों से संबंधित जितने भी उपबंध हैं, वे सभी राज्यों एवं संघ राज्यों में एक समान रूप से लागू होते हैं। यद्यपि अनुच्छेद 371 के अंतर्गत कई राज्यों, जैसे- महाराष्ट्र, गुजरात (अनुच्छेद 371), नागालैंड [अनुच्छेद 371(क)], असम [अनुच्छेद 371(ख)], मणिपुर [अनुच्छेदु 371(ग)], आंध्र प्रदेश [अनुच्छेद 371(घ, ड.)], सिक्किम [अनुच्छेद 371(च)], मिजोरम [अनुच्छेद 371(छ)], अरुणाचल प्रदेश [अनुच्छेद 371(ज)], गोवा [अनुच्छेद 371(झ)], तथा कर्नाटक [अनुच्छेद 371 (ञ)] के संबंध में विशेष प्रावधान किए गए हैं-

भारतीय संघ के लक्षण

भारतीय संघ में केवल उन्हीं राज्यों का समावेश है, जो केन्द्र के साथ संघीय शक्तियों में भागीदारी करते हैं। प्रारूप समिति इसे आरम्भ में ही स्पष्ट कर देना चाहती थी, क्योंकि इसे अटकलों **(Speculations)** के लिए नहीं छोड़ा जा सकता था।

'भारतीय संघ' (Union of India) पद को 'भारतीय राज्य क्षेत्र' (Territory of India) पद से पृथक करना आवश्यक है। भारतीय संघ (Union of India) में केवल राज्यों का समावेश है, जो केन्द्र के साथ संघीय शक्तियों में भागीदारी करते हैं, जबकि भारतीय राज्य क्षेत्र (Territory of India) में उन सभी राज्य क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाता है, जिन पर देश की प्रभुसत्ता (Sovereignty) का व्यवहार होता है। देश के राज्य क्षेत्र में राज्यों के अलावा संघशासित प्रदेशों तथा भारत द्वारा प्राप्त किये गये अन्य क्षेत्रों का भी समावेश होता है।

इसके अतिरिक्त पाँचवीं और छठी अनुसूची में अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के लिए कुछ विशेष उपबंध भी किए गए हैं।

अनुच्छेद 2 में कहा गया है कि, "संसद, विधि द्वारा, ऐसे निर्बंधनों और शर्तों पर, जो वह ठीक समझे, संघ में नए राज्यों का प्रवेश या उनकी स्थापना कर सकेगी। अर्थात् संसद के पास नए राज्यों को संघ में शामिल करने तथा नए राज्य स्थापित करने की शक्ति है। नये राज्यों को भारत में शामिल करने के लिए संसद को राज्यों के समर्थन की जरूरत नहीं है। यदि संसद को उचित लगे तो उसे ऐसा करने की पूरी छूट है।

अनुच्छेद 2 (क) सिक्किम एकमात्र ऐसा राज्य था, जो स्वतंत्र देश था। इसे 36वें संविधान संशोधन 1975 द्वारा संघ में शामिल कर भारत के अन्य राज्यों के समकक्ष बनाया गया। अनुच्छेद 3 में कहा गया है कि, संसद विधि द्वारा नए राज्यों का निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों में परिवर्तन निम्न तरह से कर सकेगी।

- किसी राज्य में से उसका राज्यक्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्यक्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नए राज्य का निर्माण कर सकेगी।
- किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी।
- किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी।
- किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी।
- किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी।

मूल संविधान में इस अनुच्छेद के प्रावधान प्राय: इतने ही थे। आगे 5वें तथा 18वें संविधान संशोधनों के माध्यम से इसमें कुछ अन्य प्रावधान जोड़े गए।

5वें संशोधन, 1955 के माध्यम से राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की गई कि, वह राज्यों के क्षेत्र, सीमा और नामों को प्रभावित करने वाले प्रस्तावित केंद्रीय विधान पर अपने मत देने के लिए राज्यों के विधानमंडलों को निश्चित समय सीमा का निर्धारण करें।

18वें संशोधन अधिनियम, 1966 द्वारा पंजाब को विभाजित करके हरियाणा राज्य तथा चंडीगढ़ संघ राज्य क्षेत्र का निर्माण किया गया। इस संशोधन से यह स्पष्ट कर दिया गया कि संसद की राज्य निर्माण की शक्ति में दो राज्यों को जोड़ने व पृथक करने की शक्ति निहित है।

खास बात यह है कि राज्यों की सीमाओं को बदलने या उनका नाम बदलने के लिए संसद को विशेष बहुमत की भी जरूरत नहीं है, वह ऐसा साधारण बहुमत से कर सकती है। राज्यों का नाम, सीमा या क्षेत्र बदलने की प्रक्रिया-

राज्यों का नाम, सीमा या क्षेत्र में परिवर्तन करने के लिए संसद को एक निश्चित प्रक्रिया को पूरा करना होता है, प्रक्रिया के चरण-

- राज्य निर्माण संबंधी कोई भी विधेयक संसद में तभी पेश किया जा सकता है, जब राष्ट्रपति इसकी सिफारिश करें।
- राष्ट्रपति को वह विधेयक संबंधित राज्य या राज्यों के विधानमंडलों को विचार हेतु भेजना होगा तथा राष्ट्रपति विचार के लिए एक समय-सीमा भी निर्धारित करेंगे।
- राज्य के विधानमंडल को निर्धारित समय-सीमा के भीतर अपने विचारों या राय के साथ विधेयक वापस भेजना होगा, यदि वह ऐसा नहीं करता है तो राष्ट्रपति को संसद में प्रस्तुत करने की अनुमति दे सकता है। राष्ट्रपति चाहे तो निर्दिष्ट समय-सीमा को बढ़ा भी सकता है।
- यदि राज्य विधानमंडल निर्धारित समय में अपने विचार राष्ट्रपति को भेज देता है तो भी संसद उन विचारों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। यदि संसद चाहे तो साधारण बहुमत से राज्य विधानमंडल की राय के विरूद्ध जाकर उसके भू-भाग या नाम बदल सकती है।
- संघ राज्य क्षेत्र में परिवर्तन के लिए विधेयक का किसी विधानमंडल में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। संसद अपनी इच्छा से यह कर सकती है।

उपरोक्त उपबंध राज्यों को कमजोर और केन्द्र को अत्यंत शक्तिशाली बनाता है। संविधान निर्माताओं ने ऐसा इसलिए किया, क्योंकि उस समय सभी रियासतें भारतीय संघ में विलय की जा रही थी, तथा उस समय उनकी सीमाएँ अप्राकृतिक, अस्थायी तथा अतार्किक थी तथा राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में राज्यों के उचित पुनर्गठन की समस्याओं का समाधान संसद सुगमता से कर सके। इस दृष्टि से देखा जाए तो भारत का संविधान, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया जैसे संघात्मक संविधानों से काफी अलग है क्योंकि इन देशों में संघीय शासन अपनी इच्छा से राज्यों के नामों या सीमाओं में परिवर्तन नहीं कर सकता है इसीलिए अमेरिका को 'अविनाशी राज्यों का अविनाशी संघ' कहा गया है।

अनुच्छेद 4 में कहा गया है कि, यदि संसद अनुच्छेद 2 या अनुच्छेद 3 में निर्दिष्ट किसी विधि के द्वारा नए राज्यों की स्थापना या किसी राज्य के नाम, क्षेत्र या सीमा आदि में बदलाव करने के लिए संविधान की पहली या चौथी अनुसूची में कोई परिवर्तन करती है तो ऐसी विधि को अनुच्छेद 368 के अनुरूप संविधान में संशोधन नहीं माना जायेगा।

इसके संबंध में 1960 में एक महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आया कि, क्या संसद को अधिकार है कि वो किसी राज्य के क्षेत्र को समाप्त कर (अनुच्छेद 3 के अंतर्गत) भारतीय क्षेत्र को किसी अन्य देश को दे दे? इस विवाद का संबंध भारत और पाकिस्तान के मध्य 1958 में हुए एक समझौते से था। यह समझौता दोनों देशों ने अपने सीमा संबंधी विवादों से निपटने तथा सीमा को तर्कसंगत बनाने के उद्देश्य से किया था जिसके अनुसार 'बेरूबाड़ी संघ' भारत द्वारा पाकिस्तान को दिया जाना था तथा कूच बिहार के कुछ क्षेत्रों को लिया जाना था। इस समझौते के विरोध में एक सशक्त जन आंदोलन उठ खड़ा हुआ। गंभीर स्थिति के कारण भारत के राष्ट्रपति ने यह मामला अनुच्छेद 143 के तहत, सर्वोच्च न्यायालय को इस मुद्दे पर उसकी राय देने के लिए भेजा। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्धारित किया कि, अनुच्छेद 3 भारत के राज्यों के क्षेत्रों के आंतरिक पुनर्नियोजन से संबंधित है। उसमें यह निहित नहीं है कि देश का कोई भाग विदेशी राज्य को अर्पित किया जा सकता है, परन्तु किसी भी संप्रभु राष्ट्र के पास 'अन्य विदेशी क्षेत्र' अर्जित करने या अपने भू-भाग का कोई अंश किसी अन्य देश को अर्पित करने की शक्ति होनी आवश्यक है। इसलिए भारतीय संसद अनुच्छेद 368 के तहत, संविधान संशोधन करके ऐसा कर सकती है।

भारतीय संसद ने 1960 में 9वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया ताकि पाकिस्तान के साथ हुए समझौते को क्रियान्वित कर सकें।

इसी प्रकार 100वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2015 द्वारा भारत के कुछ भू-भाग पर बांग्लादेश तथा बांग्लादेश के कुछ भू-भाग पर भारत का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इस संशोधन के माध्यम से भारत और बांग्लादेश के बीच विवाद को हल किया गया।

राज्य पुनर्गठन आयोग

भारत की सांस्कृतिक व प्रशासनिक विविधता एवं क्षेत्रीय मांगों को देखते हुए 1953 में 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश फजल अली थे और पंडित एच. एन. कुंजरू और सरदार के. एम. पणिक्कर को इसका सदस्य बनाया गया। 22 दिसम्बर, 1953 को गठित फजल अली आयोग ने 30 सितम्बर, 1955 में केंद्र सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और राज्यों के पुनर्गठन के संबंध में निम्न सिफारिशें प्रस्तुत कीं:

- राज्यों का पुनर्गठन भाषा और संस्कृति के आधार पर अनुचित है।
- राज्यों का पुनर्गठन राष्ट्रीय सुरक्षा, वित्तीय एवं प्रशासनिक आवश्यकता एवं पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।
- ए,बी,सी, और डी वर्गों में विभाजित राज्यों को समाप्त कर दिया जाये तथा इनकी जगह पर सोलह राज्यों तथा तीन केंद्रशासित प्रदेशों का निर्माण किया जाये।

संसद ने इस आयोग की सिफारिशों को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार करते हुए 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के अंतर्गत, भारत में चौदह राज्य और छः केन्द्रशासित प्रदेश थे। आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, बंबई, जम्मू-कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल नामक राज्य तथा दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा एवं अंडमान-निकोबार द्वीप समूह नामक केन्द्र शासित प्रदेश बनाये गये।

केंद्रशासित प्रदेशों एवं राज्यों का उद्भव (Emergence of Union Territories and States)

देशी रियासतों का एकीकरण

आजादी के समय भारत दो राजनीतिक इकाइयों में विभक्त था, ब्रिटिश प्रांत तथा देशी रियासतें। भारत में 9 ब्रिटिश प्रांत तथा लगभग 552 देशी रियासतें थी। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम (1947) के अंतर्गत, दो स्वतंत्र देश भारत और पाकिस्तान का निर्माण किया गया तब देशी रियासतों के पास तीन विकल्प थे- पहला भारत में सम्मिलित हो, दूसरा पाकिस्तान में शामिल हो, तीसरा स्वतंत्र रहें। 552 देशी रियासतों में से 549 आसानी से भारत में शामिल हो गयी, शेष तीन जूनागढ़, हैदराबाद तथा जम्मू-कश्मीर को क्रमशः जनमत संग्रह, पुलिस कार्यवाही (ऑपरेशन पोलो) एवं विलय पत्र पर हस्ताक्षर करके बाद में मिलाया गया।

1950 में संविधान में भारतीय संघ के राज्यों को भाग-क, भाग-ख, भाग-ग एवं भाग-घ में वर्गीकृत किया गया। भाग-क में वे राज्य थे, जहां ब्रिटिश भारत में गर्वनर का शासन था, भाग-ख में 9 राज्य विधानमंडल के साथ शाही शासन,

भाग-ग भारत का केन्द्रीकृत प्रशासन तथा भाग-घ में अकेले अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह को रखा गया था। वर्ष 1953 में गठित राज्य पुनर्गठन आयोग की सलाह पर संसद ने 7वें संविधान (संशोधन) अधिनियम 1956 से 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956' के माध्यम से भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र को दो वर्गों में विभाजित कर राज्य तथा संघ राज्य क्षेत्र का निर्माण किया। संघ राज्य क्षेत्र में वही राज्य शामिल थे, जो भाग-ग और भाग-घ में सम्मिलित थे।

धर आयोग और जेवीपी समिति

1948 में भारत सरकार ने एस. के. धर की अध्यक्षता में भाषायी प्रांत आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि राज्यों का पुनर्गठन भाषायी आधार पर न होकर प्रशासनिक सुविधा के अनुसार होना चाहिए। इससे अत्यधिक असंतोष फैला, जिसके कारण कांग्रेस ने 1948 में जे.वी.पी. समिति का गठन किया गया। इसने अपनी रिपोर्ट में राज्यों के पुनर्गठन का आधार भाषा होनी चाहिए, इस बात को अस्वीकार किया, परंतु लोकप्रिय माँग के आधार पर प्रांतों के गठन को सहमति प्रदान की।

अक्टूबर 1953 में भारत सरकार को भाषा के आधार पर पहले राज्य का गठन आंध्र प्रदेश के रूप में करना पड़ा, जिसे मद्रास से तेलुगू भाषी क्षेत्रों को पृथक करके बनाया गया।

फजल अली आयोग

भारत सरकार ने 1953 में तीन सदस्यीय राज्य पुनर्गठन आयोग फजल अली की अध्यक्षता में गठित की गयी। इसने अपनी रिपोर्ट में राज्यों के पुनर्गठन में भाषा को मुख्य आधार बनाये जाने की बात पर अपनी सहमति दी। लेकिन इसने 'एक राज्य एक भाषा' के सिद्धांत को अस्वीकार किया। आयोग की सिफारिशों के परिणास्वरूप 1 नवंबर 1956 को 14 राज्य और 6 केन्द्र शासित क्षेत्रों/प्रदेशों का गठन किया गया।

1956 में भारतीय राज्य क्षेत्र (Indian territories in 1956)

आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, बंबई, जम्मू एवं कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल।

संघ शासित क्षेत्र- अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, लक्कादीव, मिनिकॉय और अमीनदिवी द्वीप समूह, मणिपुर, त्रिपुरा।

1956 के बाद बनाए गए राज्य एवं संघ-शासित क्षेत्र

- ***गुजरात व महाराष्ट्र***– बम्बई (पुनर्गठन) अधिनियम, 1960 के द्वारा बम्बई राज्य को दो राज्यों महाराष्ट्र व गुजरात में बाँट दिया गया। जनता के दबाव में आकर भारत सरकार ने 1960 में यह निर्णय लिया कि बंबई राज्य को महाराष्ट्र और गुजरात दो राज्यों में बांट दिया जाए, बंबई नगर महाराष्ट्र को मिले तथा अहमदाबाद को गुजरात की राजधानी बना दिया जाए।
- ***नागालैण्ड***– नागालैण्ड राज्य अधिनियम, 1962 द्वारा असम राज्य से अलग कर बनाया गया। पहले यह छठी अनुसूची में शामिल जनजाति क्षेत्र था।
- ***हरियाणा***– पंजाब (पुनर्गठन) अधिनियम, 1966 द्वारा पंजाब राज्य से अलग करके बनाया गया। संयुक्त पंजाब की राजधानी और नवनिर्मित शहर चंडीगढ़ को संघ राज्य क्षेत्र अथवा केन्द्रशासित प्रदेश बना दिया गया तथा इसी को पंजाब और हरियाणा की संयुक्त राजधानी बना दिया गया।
- ***हिमाचल प्रदेश***– हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 द्वारा हिमाचल केन्द्रशासित प्रदेश को राज्य का दर्जा दिया गया।
- ***मेघालय***– 22वें संविधान संशोधन, 1969 द्वारा पहले असम राज्य के अन्दर ही उपराज्य बनाया गया। बाद में 1971 में 'उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971' द्वारा इसे एक पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।
- ***मणिपुर तथा त्रिपुरा***– 'उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971' द्वारा इन दोनों ही केन्द्रशासित प्रदेशों को राज्य का दर्जा दिया गया।
- ***सिक्किम***– 35वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1974 के द्वारा पहले इसे सहायक राज्य (Associate State) का दर्जा दिया गया। बाद में 36वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा इसे पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।
- ***मिजोरम***– मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा इसे पूर्ण राज्य का दर्जा मिला। इससे पहले, 1971 के 'पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम' के तहत इसे संघ शासित क्षेत्र बनाया गया था।
- ***अरुणाचल प्रदेश***– अरुणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम 1986 द्वारा इसे पूर्ण राज्य का दर्जा मिला। इससे पहले, 1971 के 'पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम' के तहत इसे संघ शासित क्षेत्र बनाया गया था।
- ***गोवा***– गोवा, दमन व दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 के द्वारा गोवा, दमन व दीव केन्द्रशासित प्रदेश से गोवा को अलग करके पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया, परन्तु दमन और दीव केन्द्रशासित प्रदेश ही रहे।
- ***छत्तीसगढ़***– नवम्बर 1, 2000 को संविधान संशोधन अधिनियम, 2000 द्वारा मध्य प्रदेश को विभाजित करके बना।
- ***उत्तरांचल***– नवम्बर 9, 2000 को संविधान संशोधन अधिनियम, 2000 द्वारा उत्तर प्रदेश को विभाजित करके बना।
- ***झारखंड***– नवम्बर 15, 2000 को संविधान संशोधन अधिनियम, 2000 द्वारा बिहार को विभाजित करके बना।

2 जून, 2014 को आंध्र प्रदेश राज्य को विभाजित कर तेलगांना राज्य का गठन किया गया।

जम्मू-कश्मीर का पुनर्गठन

संसद की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद-370 को प्रभावी तौर से निराकृत करने और जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 जारी करने के उपरांत भूतपूर्व जम्मू-कश्मीर राज्य, 31 अक्टूबर 2019 को, नए जम्मू-कश्मीर संघ राज्य क्षेत्र तथा नए लद्दाख, संघ राज्य क्षेत्र के रूप में पुनर्गठित हो गया है।

लद्दाख, संघ राज्य क्षेत्र में कारगिल तथा लेह- दो जिले हैं और भूतपूर्व जम्मू-कश्मीर राज्य का शेष हिस्सा नए जम्मू-कश्मीर राज्य संघ क्षेत्र में शामिल किया गया है।

1947 में भूतपूर्व जम्मू-कश्मीर राज्य में निम्न 14 जिले थे– कठुआ, जम्मू, ऊधमपुर, रियासी, अनंतनाग, बारामूला, पुँछ, मीरपुर, मुजफ्फराबाद, लेह और लद्दाख, गिलगित, गिलगित वजारत, चिल्हास और ट्राइबल टेरिटरी।

2019 तक भूतपूर्व जम्मू-कश्मीर की राज्य सरकार ने इन 14 जिलों के क्षेत्रों को पुनर्गठित करके 28 जिले बना दिए थे। नए जिलों के नाम निम्न प्रकार से हैं– कुपवाड़ा, बान्दीपुर, गांदरबल, श्रीनगर, बड़गाम, पुलवामा, शोपियां, कुलगाम, राजौरी, रामबन, डोडा, किश्तवाड़, साम्बा और कारगिल।

इनमें से कारगिल जिले को लेह और लद्दाख, जिले के क्षेत्र से अलग करके बनाया गया था। राष्ट्रपति ने जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन (कठिनाइयों को हटाना) दूसरे आदेश, 2019 द्वारा नए लद्दाख, संघ राज्य क्षेत्र के लेह जिले को, कारगिल जिला बनने के बाद, 1947 के लेह और लद्दाख जिले के बाकी क्षेत्र में 1947 के गिलगित, गिलगित वजारत, चिल्हास और ट्राइबल टेरिटरी जिलों के क्षेत्रों को समावेशित करते हुए परिभाषित किया है।

दादरा-नगर हवेली और दमन-दीव का विलय

71वें गणतंत्र दिवस के अवसर पर दादरा-नगर हवेली और दमन-दीव केंद्र

शासित राज्य क्षेत्र अस्तित्व में आ गया। गौरतलब है कि केंद्र सरकार ने दादरा और नगर हवेली के साथ दमन और दीव का विलय करने का ऐलान किया था। अब दमन-दीव और दादरा-नगर हवेली को एक केंद्र शासित प्रदेश माना जाएगा तथा नवगठित केंद्र शासित प्रदेश दमन-दीव और दादर व नगर हवेली की राजधानी दमन होगी।

संसद ने 3 दिसंबर को दादरा-नगर हवेली और दमन व दीव के 2 केंद्र शासित प्रदेशों को विलय करने के लिए दादर व नगर हवेली और दमन-दीव (केंद्र शासित प्रदेशों का विलय) विधेयक, 2019 पारित किया था।

विलय के बाद अब देश में आठ केंद्र शासित राज्य होंगे। इससे पहले जम्मू-कश्मीर और लद्दाख के गठन के बाद देश में केंद्र शासित राज्यों की संख्या 9 हो गई थी। इस विलय के बाद एक संख्या घटकर अब आठ हो जाएगी।

इस नये केन्द्र शासित प्रदेश का नाम 'दादरा एवं नगर हवेली और दमन व दीव' होगा और यह बॉम्बे हाई कोर्ट के क्षेत्राधिकार में शासित होगा।

सरकार का कहना है कि, अधिकारियों एवं कर्मचारियों के सार्थक उपयोग, प्रशासनिक दक्षता बढ़ाने, प्रशासनिक व्यय कम करने, बेहतर ढंग से सेवाएँ मुहैया कराने और योजनाओं की बेहतर निगरानी सुनिश्चित करने की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए केन्द्र शासित प्रदेशों दादरा एवं नगर हवेली और दमन व दीव का विलय किया गया है, इससे कर्मचारियों का बेहतर कैडर प्रबंधन भी सुनिश्चित होगा।

1956 के बाद किए गए परिवर्तन

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् राज्य एवं संघ राज्य क्षेत्रों की सीमा तथा नाम भी बदले गये।

प्रमुख परिवर्तन

- 24 जनवरी, 1950 को संयुक्त प्रांत का नाम उत्तर प्रदेश कर दिया गया।
- 1956 को त्रावणकोर-कोचीन का नाम केरल कर दिया गया।
- 1968 में मद्रास राज्य का नाम बदलकर तमिलनाडु रखा गया। जनवरी, 1969 से यह परिवर्तन लागू हुआ।
- 1973 में मैसूर का नाम बदलकर कर्नाटक कर दिया गया।
- 1973 में ही लक्कादीव, मिनिकाय तथा अमीनदिवी का नाम लक्षद्वीप कर दिया गया।
- 1991 में केरल की राजधानी का नाम त्रिवेन्द्रम से बदलकर तिरूवनंतपुरम कर दिया गया।
- 1991 में केंद्रशासित प्रदेश दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र घोषित किया गया।
- 1996 में तमिलनाडु की राजधानी का नाम मद्रास से बदलकर चेन्नई कर दिया गया।
- 1995 में ही महाराष्ट्र की राजधानी का नाम बंबई से बदलकर मुबंई कर दिया गया।
- 2001 में पश्चिम बंगाल की राजधानी का नाम कलकत्ता से बदलकर कोलकाता कर दिया गया।
- 2006 में कर्नाटक की राजधानी बैंगलोर का नाम बंगलुरू कर दिया गया।
- जनवरी 2007 में उत्तरांचल का नाम बदलकर उत्तराखंड कर दिया गया।
- 2011 में उड़ीसा का नाम बदलकर ओडिशा कर दिया गया।
- 2014 में आंध्र प्रदेश से तेलंगाना को अलग करके उसकी राजधानी 1 अप्रैल 2015 को अमरावती बना दी गई।
- वर्ष 2019 में जम्मू-कश्मीर राज्य को दो केन्द्र शासित प्रदेशों में विभाजित कर दिया गया।
- वर्ष 2020 में दादरा-नगर हवेली तथा दमन-दीव केन्द्र शासित प्रदेशों को मिलाकर एक नया केन्द्र शासित प्रदेश बनाया गया, जिसका नाम दादर व नगर हवेली और दमन-दीव रखा गया। यह प्रावधान 26 जनवरी 2020 से लागू हो गया।

Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

नागरिकता
(Citizenship)

नागरिकता का अर्थ एवं महत्व
(Meaning & Importance of Citizenship)

नागरिकता में व्यक्ति को राज्य द्वारा सभी सिविल व राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं, जिसमें व्यक्ति द्वारा राज्य व राष्ट्र के प्रति स्थायी निष्ठा का भाव निहित रहता है। वहीं राज्य द्वारा उसे कुछ अधिकार व कर्तव्य प्रदान किए जाते हैं, जो किसी विदेशी को प्राप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार नागरिकता से व्यक्ति को दायित्व, अधिकार, कर्तव्य और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। संविधान के भाग 2 में अनुच्छेद-5-11 के तहत नागरिकता को वर्णित किया गया है।

भारतीय नागरिकों व सभी व्यक्तियों को प्राप्त मूल अधिकारों में अंतर

भारतीय नागरिक को	सभी को
अनुच्छेद 15- धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का निषेध	***अनुच्छेद-14***- विधि के समक्ष समता
अनुच्छेद 16- लोक नियोजन में अवसर की समानता	***अनुच्छेद-20***- अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण
अनुच्छेद 19- वाक्-स्वतंत्रता संबंधी अधिकारों का संरक्षण	***अनुच्छेद-21***- प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार
अनुच्छेद 29- अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण	***अनुच्छेद 21 (A)***- शिक्षा का अधिकार (6-14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों को नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा)
अनुच्छेद-30- शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन के संदर्भ में अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार	***अनुच्छेद 22***- कुछ मामलों में गिरफ्तारी व निवारक निरोध के खिलाफ संरक्षण
	अनुच्छेद 23- बलात् श्रम व मानव के दुर्व्यापार का निषेध
	अनुच्छेद 24- जोखिम पूर्ण कार्यों में बालश्रम आदि का निषेध
	अनुच्छेद 25-28- धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार।

भारतीय नागरिकों को प्राप्त संवैधानिक अधिकार
(Indian Citizens have Constitutional Rights)

राष्ट्र या देश मात्र भौगोलिक सीमा ही नहीं है अपितु इसके निर्माण में उस राज्य क्षेत्र के भीतर निवास करने वाले व्यक्तियों का समूह भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है, जो देश या राष्ट्र को अपना समझते हुए इसे अन्य से पृथक एक स्वतंत्र इकाई के रूप में स्थापित करते हैं। किसी भी संप्रभु राष्ट्र या देश में राज्य की ओर से नागरिकों को कुछ ऐसे राजनीतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं, जो अन्य लोगों को प्राप्त नहीं होते हैं। लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था नागरिकता को मूल सिद्धान्त के रूप में कानूनी मान्यता प्रदान करती है, जो इस बात को प्रमाणित करती है कि व्यक्ति को राज्य की पूर्ण राजनीतिक सदस्यता प्राप्त है तथा राज्य के प्रति उसकी स्थायी निष्ठा है। साथ ही राज्य द्वारा इस बात की स्वीकृति है कि उसे राजनीतिक प्रणाली में शामिल कर लिया गया है। नागरिकता कतिपय अधिकार, विशेषाधिकार के साथ कुछ दायित्व व कर्तव्य भी प्रदान करती है। ये अधिकार विदेशियों को प्रदान नहीं किये जाते हैं।

भारत के नागरिकों को संविधान के अधीन निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं-

- अनुच्छेद-5- संविधान के प्रारंभ में नागरिकता। (अनुच्छेद -6) पाकिस्तान से भारत में प्रव्रजन करने वाले व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकार। (अनुच्छेद-7) पाकिस्तान को पलायन करने वाले प्रवासियों को नागरिकता के अधिकार। (अनुच्छेद-8) भारत के बाहर निवास करने वाले भारतीयों के नागरिकता संबंधी अधिकार (अनुच्छेद-9) विदेशी राज्य की स्वेच्छापूर्ण नागरिकता ग्रहण करने वाले व्यक्ति की भारतीय नागरिकता से वर्जन होना। (अनुच्छेद-10) नागरिकों के अधिकारों का बना रहना (अनुच्छेद-11) संसद द्वारा नागरिकता के अधिकार का विधि द्वारा विनियमन किया जाना।
- मतदान करने के अधिकार तथा कतिपय मूल अधिकार जैसे- अनुच्छेद 15, 16 और 19 में प्रदत्त अधिकार।
- केवल नागरिक ही कुछ पदों के योग्य होंगे, जैसे- राष्ट्रपति का पद [अनुच्छेद-58(1)(क)], उपराष्ट्रपति का पद [अनुच्छेद 66(3)(क)], उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश [अनुच्छेद 124(3)], उच्च न्यायालय का न्यायाधीश [अनुच्छेद 217(2)], महान्यायवादी [अनुच्छेद 76(1)], राज्यपाल (अनुच्छेद 157), महाधिवक्ता (अनुच्छेद 165 (1))।
- लोकसभा और प्रत्येक राज्य की विधानसभा के निर्वाचन के लिए मत देने का अधिकार (अनुच्छेद 326) और संसद का सदस्य होने का अधिकार (अनुच्छेद 84) तथा राज्य विधानमंडल का सदस्य होने का अधिकार [अनुच्छेद-173(क)] केवल भारत के नागरिकों के लिए ही उपलब्ध है।

भारतीय संविधान में नागरिकता के संबंध में संविधान के भाग 2 में अनुच्छेद 5 से लेकर अनुच्छेद 11 तक उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है-

विदेशियों को अप्राप्त अधिकार

- धर्म, मूलवंष्ठा, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर विभेद (Discrimination) न किए जाने का अधिकार (अनुच्छेद 15)।
- लोक नियोजन (Public employment) के विषय में अवसर की समता का अधिकार (अनु.16)।
- अनुच्छेद 19 के तहत, 6 आधारभूत स्वतंत्रताओं का अधिकार।
- मतदान का अधिकार।
- अनुच्छेद 29 व 30 में प्रदत्त सांस्कृतिक व शैक्षणिक अधिकार।
- कतिपय पदों (यथा-राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यों के राज्यपाल, सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, भारत का महान्यायवादी, नियंत्रक व महालेखा परीक्षक इत्यादि) पर आसीन होने का अधिकार।
- केन्द्र में किसी भी सदन अथवा राज्य स्तर पर चुनाव लड़ने तथा चुने जाने का अधिकार।

अनुच्छेद 5- अनुच्छेद में संविधान लागू होने की तिथि पर नागरिकता की व्याख्या की गई है। इस अनुच्छेद में नागरिकता के किसी स्थायी नियम का निर्धारण न करके इसका अधिकार संसद को सौंप दिया गया था। संविधान के प्रारंभ होने की तिथि पर वह प्रत्येक व्यक्ति जो भारतीय राज्य क्षेत्र का अधिवासी था, जो भारत में पैदा हुआ हो या माता-पिता दोनों में से कोई एक भारत में पैदा हुआ हो अथवा संविधान के प्रारंभ से पांच वर्ष पूर्व से भारत का निवासी रहा हो, वह भारत का नागरिक माना जाएगा।

अनिवासी भारतीय

अनिवासी भारतीय भारत के ही नागरिक होते है किन्तु ये नौकरी या व्यवसाय के लिए लंबे समय तक विदेश में निवास करते है तथा उनके व्यवहार से यह प्रतीत हो कि उनकी मंशा अनिश्चित काल तक भारत से बाहर रहने की है तो उसे अनिवासी भारतीय का दर्जा दिया जाता है। भारत सरकार द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य विदेशी नियुक्तियों पर भेजे गए व्यक्तियों को भी अनिवासी भारतीय का दर्जा दिया जाता है। अनिवासी भारतीयों को दोहरी नागरिकता का उपहार देने के बाद सरकार द्वारा उन्हें मतदान का अधिकार प्रदान किया गया है। लोक प्रतिनिधित्व विधेयक में संशोधन करके 2011 में सरकार ने अनिवासी भारतीयों को मतदाता के रूप में पंजीकृत होने की सुविधा प्रदान कर दी है।

अनुच्छेद 6– संविधान के इस अनुच्छेद में पाकिस्तान से भारत को प्रव्रजन करने वाले कुछ व्यक्तियों की नागरिकता के सम्बन्ध में प्रावधान किया गया है।
इस अनुच्छेद में कहा गया है कि, कोई भी व्यक्ति भारत का नागरिक तभी समझा जाएगा, जब वह दो शर्तें पूरी करता हो–

- उसका या उसके माता–पिता अथवा उसके दादा–दादी/नाना–नानी में से किसी का जन्म 'भारत शासन अधिनियमम 1935' द्वारा परिभाषित भारत के राज्यक्षेत्र में हुआ हो।
- दूसरी शर्त, 19 जुलाई 1948 से पहले और बाद के प्रव्रजन करने वालों के लिए अलग–अलग है। इस तिथि से पहले आने वाले व्यक्तियों के लिए सिर्फ इतनी शर्त है कि वे आने के बाद से साधारणत: भारत में रह रहे हों। किन्तु इस तिथि को या इसके पश्चात् आने वाले व्यक्तियों के लिए जरूरी है कि उन्होंने सक्षम अधिकारी के पास स्वयं को भारत के नागरिक के तौर पर पंजीकृत करा लिया है। यह पंजीकरण तभी हो सकता है, जब ऐसा व्यक्ति नागरिकता के लिए आवेदन करने की तिथि के 6 महीने पहले से भारत में रह रहा था।

नोट– 19 जुलाई 1948 की तिथि से भारत से पाकिस्तान तथा पाकिस्तान से भारत आने जाने के लिए अनुमति पत्र की प्रणाली शुरू की गई थी।

अनुच्छेद 7– संविधान के इस अनुच्छेद में भारत से पाकिस्तान को प्रव्रजन करने वाले कुछ व्यक्तियों की नागरिकता के अधिकार से संबंधित उपबंध है।
अनुच्छेद 7 के अनुसार, 1 मार्च, 1947 के बाद पाकिस्तान को प्रवास करने वाला व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं माना जाएगा, किन्तु उन व्यक्तियों की दशा में अपवाद किया गया है, जो भारत में पुनर्वास के लिए परमिट के आधार पर भारत लौट आये थे, ऐसे व्यक्ति को भारत के नागरिक होने की अर्हता प्राप्त होगी, यदि वे पाकिस्तान से प्रवास करने वाले व्यक्तियों के लिए (अनुच्छेद 6 के अधीन) निर्धारित शर्तों को पूरा करते हों।
इसका अर्थ है कि, ऐसे व्यक्ति को पंजीकरण के लिए आवेदन करना होगा और ऐसा आवेदन कम से कम 6 महीने तक भारत में रहने के बाद ही किया जा सकेगा।

अनुच्छेद 8– संविधान के इस अनुच्छेद में विदेशों में रहने वाले भारतीय मूल के कुछ व्यक्तियों के लिए नागरिकता के अधिकार का उपबंध है।

निगम के संदर्भ में न्यायालय की व्याख्या

कुछ समय तक इस विषय में काफी मतभेद बना रहा कि, क्या निगम भी कानूनी व्यक्तियों के तहत नागरिकता के दायरे में आ सकते हैं? किन्तु नागरिकता अधिनियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि निगम नागरिक नहीं हैं। उच्चतम न्यायालय ने भी कहा है कि निगम अनुच्छेद 19 के अधीन अधिकारों का दावा नहीं कर सकते। वे तो केवल नागरिकों के लिए हैं।

इस अनुच्छेद में विदेशों में रहने वाले भारतीयों की नागरिकता संबंधी भावी जरूरतों का ध्यान रखा गया है। भारतीय मूल के अनेक व्यक्ति रोजगार या अन्य प्रयोजनों हेतु विदेशों में रह रहे हैं या वहां प्रवास कर गए हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए अनुच्छेद 8 में प्रावधान किया गया है कि, कोई व्यक्ति या उसके माता–पिता अथवा पितामह में से कोई भारत शासन अधिनियम, 1935 के अनुसार भारत में जन्मा था और जो भारत के बाहर किसी देश में सामान्यतया निवास कर रहा है, उसे भारत का नागरिक समझा जाएगा लेकिन उसे नागरिकता की प्राप्ति के लिए, सम्बद्ध देश में भारत के राजनयिक प्रतिनिधि द्वारा भारत के नागरिक के रूप में पंजीकृत कर लिया गया हो।

अनुच्छेद 9– संविधान के इस अनुच्छेद में यह उपबंध है कि, यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से विदेशी नागरिकता स्वीकार ले तो वह अनु 5, 6 या 8 के अनुसार भारत का नागरिक नहीं माना जाएगा। इसमें निहित है कि भारत का संविधान एकल नागरिकता को ही मान्यता प्रदान करता है, एक से अधिक देशों की नागरिकता की अनुमति नहीं देता है।

अनुच्छेद 10– इस अनुच्छेद में नागरिकता के अधिकारों के बने रहने का प्रावधान है। इस अनुच्छेद के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति जो अनुच्छेद 5 से 9 में किए गए उपबंधों में से किसी के अधीन भारत का नागरिक है या समझा जाता है, ऐसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, जो संसद द्वारा बनाई जाए, भारत का नागरिक बना रहेगा। इब्राहिम वजीर बनाम बंबई राज्य 1954 के वाद में न्यायालय द्वारा यह कहा गया कि नागरिक की नागरिकता का अधिकार, संसदीय विधान के अतिरिक्त किसी अन्य रीति से, छीना नहीं जा सकता।

अनुच्छेद 11– इस अनुच्छेद के अंतर्गत, देश की नागरिकता के संबंध में संसद को परिस्थिति के अनुकूल कानून बनाने का पूर्वाधिकार दिया गया है। संसद का यह अधिकार नागरिकता–प्राप्ति के संबंध में कानून बनाने तक सीमित नहीं है, अपितु नागरिकता के अंत तक इससे संबंध रखने वाले अन्य विषयों से भी जुड़ा है।
यह अनुच्छेद, संसद को भारत की नागरिकता की प्राप्ति, समाप्ति व उससे संबंधित सभी विषयों के संबंध में विधान बनाने की निर्बाध शक्तियां प्रदान करता है। इन्हीं शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद ने नागरिकता अधिनियम, 1955 पारित किया, जिसमें नागरिकता की प्राप्ति तथा समाप्ति की व्यवस्था की गई है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि, संविधान के प्रारंभ के बाद नागरिकता के अधिकारों से संबंधित सभी मामलों का निपटारा इसके उपबंधों के अनुसार किया जाता है।

व्यक्तियों के विभिन्न वर्ग
(Different Classes of Persons)

- ***नागरिक***– 'नागरिक' किसी देश के 'पूर्ण सदस्य' होते हैं। वे राज्य तथा संविधान के प्रति निष्ठा रखते हैं। उन्हें सभी मूल अधिकार व बहुत से कानूनी अधिकार प्राप्त होते हैं तथा उनसे राज्य द्वारा घोषित कर्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है।
- ***अन्यदेशीय व्यक्ति***– ये वे व्यक्ति हैं, जो किसी अन्य देश के नागरिक हैं। तकनीकी तौर पर इन्हें 'विदेशी' भी कहा जाता है। अन्यदेशीय व्यक्तियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– 'मित्र अन्यदेशीय' तथा 'शत्रु अन्यदेशीय'। जिन देशों के साथ हमारा युद्ध चल रहा होता है, उनके नागरिकों को 'शत्रु अन्यदेशीय' कहते हैं, जबकि शेष देशों के नागरिक 'मित्र अन्यदेशीय' कहलाते हैं।
- ***राज्यविहीन व्यक्ति***– कभी–कभी यह भी हो सकता है कि नागरिकता संबंधी दस्तावेजों के अभाव में कोई व्यक्ति राज्यविहीन घोषित कर दिया जाए।
- ***शरणार्थी***– शरणार्थी उन व्यक्तियों को कहा जाता है, जिन्होंने अपने मूल देश में नस्ल, धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता, राजनीतिक विचारधारा या सामाजिक पहचान के आधार पर उत्पीड़न सहने या उत्पीड़न के भय के कारण किसी अन्य देश में शरण ली है। उदाहरण के लिए, दलाई लामा तथा उनके समर्थक 1959 में भारत में प्रविष्ट हुए थे और उसके बाद भी बहुत से तिब्बती, रोहिंग्या मुसलमान आदि ने भारत में शरण ली है।

- भारतीय मूल के लोग, जो पंजीकरण का आवेदन करने से पहले भारत में सामान्य रूप से 7 वर्षों तक रह चुके हों।
- भारतीय मूल के लोग, जो भारत के बाहर किसी देश या स्थान के सामान्य रूप से निवासी हों।
- महिलाएँ, जिनका विवाह भारतीय नागरिक से हुआ है या हुआ था, पंजीकरण हेतु आवेदन करने से ठीक पहले 7 वर्षों से साधारणत: भारत में रह रही है।
- जो भारतीय नागरिक हैं, उनके अवयस्क बच्चे।
- पूर्ण आयु व क्षमता वाले व्यक्ति जो स्वयं या जिनके माता-पिता में से कोई भारत का नागरिक रह चुके है और अब पंजीकरण का आवेदन प्रस्तुत करने से ठीक एक वर्ष से भारत में रह रहे हैं।
- पूर्ण आयु व क्षमता वाले व्यक्ति जो 5 वर्षों से 'समुद्रपारीय भारतीय नागरिक' के रूप में पंजीकृत है और नागरिकता हेतु पंजीकरण का आवेदन देने से ठीक पहले एक वर्ष से भारत में रह रहे हैं। उसे भारत के संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी होगी।
- अनिवासी भारतीय।

भारत की नागरिकता *(Citizenship of India)*

क्या वह व्यक्ति भारत का प्रधानमंत्री बन सकता है, जिसका जन्म तो भारत में न हुआ हो, किन्तु पंजीकरण अथवा किसी अन्य रीति से उसने भारत की नागरिकता प्राप्त कर ली हो?

- 13वीं लोकसभा में निर्वाचित होने के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की अध्यक्षा सोनिया गाँधी के प्रधानमंत्री बनने की सम्भावना ने इस विवाद को जन्म दिया कि पंजीकरण (Registration) अथवा देशीयकरण (Naturalization) के द्वारा नागरिकता प्राप्त करने वाला कोई व्यक्ति 'भारत का वास्तविक रूप में उच्चतम पद' (अर्थात् प्रधानमंत्री का पद) पर आसीन हो सकता है या नहीं।
- इस सन्दर्भ में सांविधानिक स्थिति इस प्रकार है-
- अनुच्छेद 14, विधि के समक्ष समता का आश्वासन देता है। अनुच्छेद 15 तथा अनुच्छेद 16 विभेद (Discrimination) का प्रतिषेध करता है और अवसर की समता हेतु सरकार के संकल्प को प्रतिपादित करता है।
- अनुच्छेद 16, सरकारी नियोजनों (Employments) व नियुक्तियों (Appointments) के सम्बंध में अवसर की समता का आश्वासन देता है।
- जहाँ तक लोकसभा की किसी सीट पर चुनाव लड़ने का प्रश्न है, हमारा संविधान सामान्य नागरिक (Ordinary Citizen) तथा देशीयकृत नागरिक (Naturalized Citizen) में कोई भेद नहीं करता। अतएव प्रधानमंत्री बनने के लिए कोई भी लोकसभा सदस्य सांविधानिक रूप से अधिकृत है, यदि उसे लोकसभा में आवश्यक समर्थन प्राप्त है।

उपरोक्त सांविधानिक स्थिति से स्पष्ट है कि, भारतीय संविधान किसी देशीयकृत नागरिक (Naturalized Citizen) को प्रधानमंत्री बनने से रोकता नहीं है।

- अतएव सोनिया गाँधी के प्रधानमंत्री बनने का विरोध करने वालों का पक्ष तर्कसंगत एवं संवैधानिक नहीं है। परन्तु, इस तथ्य पर निश्चित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि उनके पास प्रधानमंत्री के पद पर आसीन होने की अनिवार्य दक्षता है, अथवा नहीं।

भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 (Indian Citizenship Act 1955)

संविधान द्वारा अनुच्छेद 11 के अंतर्गत प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद ने भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 को लागू किया, 1955 से 2005 के बीच संसद ने कुल 8 बार इस अधिनियम में संशोधन किए है तथा समकालीन जरूरतों के अनुसार नागरिकता के नियमों को बदला है। अधिनियम में संविधान के प्रवर्तन के दिन से भारत की नागरिकता प्राप्त करने की पाँच विधियाँ हैं–

जन्म से नागरिकता की प्राप्ति

इस प्रावधान के अनुसार, भारतीय राज्य क्षेत्र में जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति, जिसका जन्म 26 जनवरी, 1950 को या उसके बाद हुआ है, तथा उसके माता-पिता दोनों भारत के नागरिक हो अथवा उसके माता-पिता में से कोई एक भारत का नागरिक हो तथा दूसरा अवैध अप्रवासी न हो, भारतीय नागरिक माना जाएगा। परन्तु, उसके दो अपवाद हैं– विदेशी राजनयिकों के बच्चे तथा शत्रुओं के अधीन भारत के किसी भाग में जन्मे व्यक्ति को जन्म से भारत का नागरिक नहीं माना जाएगा।

उत्तराधिकार से प्राप्त नागरिकता

26 जनवरी, 1950 या उसके बाद 10 दिसंबर, 1992 से पहले भारत के बाहर जन्म लेने वाले ऐसे व्यक्ति जिसके पिता उस समय भारत के नागरिक हों, को उत्तराधिकार द्वारा भारत की नागरिकता प्राप्त होगी। दिसंबर 1992 को नागरिकता संशोधन लागू हुआ था, यदि किसी व्यक्ति का जन्म उसके बाद हुआ हो तथा उसके माता-पिता में से कोई एक उसके जन्म के समय भारत का नागरिक हो। गौरतलब है कि 3 दिसंबर 2004 को या उसके बाद भारत के बाहर जन्मा कोई भी व्यक्ति वंश के आधार पर भारत का नागरिक तभी हो सकता है, यदि उसके जन्म के एक वर्ष के भीतर भारतीय दूतावास में उसके जन्म का पंजीकरण करा दिया गया हो।

पंजीकरण द्वारा प्राप्त नागरिकता

नागरिकता अधिनियम में पंजीकरण द्वारा नागरिकता देने का उपबंध है। जो व्यक्ति अवैध अप्रवासी नहीं है, वही भारत का नागरिक बनने हेतु भारत सरकार के समक्ष आवदेन प्रस्तुत कर सकता है। नागरिकता प्राप्त करने की यह विधि निम्नलिखित श्रेणियों में से किसी भी व्यक्ति को उपलब्ध हो सकती हैं–

- भारतीय मूल का व्यक्ति, जो आवेदन देने से पूर्व सात वर्ष भारत में रहा हो।
- भारतीय मूल का व्यक्ति, जो किसी अन्य देश में रह चुका हो।
- जिसने भारतीय नागरिक से विवाह किया हो और आवेदन देने से पूर्व सात वर्ष से भारत में रह रहा हो।
- भारतीय नागरिक के नाबालिक बच्चे।
- कोई व्यक्ति, जो पूरी आयु तथा क्षमता का हो तथा उसके माता-पिता भारत के नागरिक के रूप में पंजीकृत हो।
- कोई व्यक्ति जो पूरी आयु तथा क्षमता का हो तथा वह या उसके माता-पिता स्वतंत्र भारत के नागरिक के रूप में पंजीकृत हो या वह पंजीकरण का इस प्रकार आवेदन देने के बारह महीने से साधारणत: निवास कर रहा है।
- कोई व्यक्ति समुद्र पार किसी देश के नागरिक के रूप में पांच वर्ष से पंजीकृत हो या वह पंजीकरण का इस प्रकार का आवेदन देने के बारह महीने से निवास कर रहा हो।

एकल नागरिकता *(Single Citizenship)*

यद्यपि भारतीय संविधान संघात्मक है, परंतु फिर भी यहां एकल नागरिकता का प्रावधान किया गया है। अमेरिका और स्विट्जरलैंड के परिसंघीय संविधानों के विपरीत भारत में प्रत्येक व्यक्ति को एक ही राष्ट्रीय नागरिकता प्राप्त है और राज्यों हेतु अलग से नागरिकता का प्रावधान नहीं है। भारतीय राज्य अपने नागरिकों को सिर्फ भारतीय नागरिकता धारण करने की अनुमति देता है, एक साथ एकाधिक देशों की नहीं। भारत में सिर्फ प्राकृतिक व्यक्तियों को नागरिकता दी जाती है, विधिक व्यक्तियों जैसे कंपनी निगम आदि को नहीं। इंग्लैंड जैसे एकात्मक देशों में एकल नागरिकता की धारणा प्रचलन में है, जबकि अमेरिका एवं स्विट्जरलैंड जैसे संघात्मक देशों में दोहरी नागरिकता का नियम लागू है।

इन देशों के नागरिक, देश के नागरिक भी होते हैं और अपने प्रांत के भी। दोनों नागरिकताओं के तहत उन्हें कुछ अधिकार व कर्तव्य प्राप्त होते है। नागरिकता के विषय में भारतीय संविधान एकात्मकता के पक्ष में झुका है, न कि संघात्मकता के पक्ष में।

एकल नागरिकता के अपवाद- संविधान का अनुच्छेद 15(1) विभिन्न व्यक्तियों के बीच धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी आधार पर भेदभाव करने का निषेध करता है, किन्तु इन आधारों में निवास स्थान शामिल नहीं है। इसका अर्थ है कि, यदि कोई राज्य सरकार चाहे तो अपनी शिक्षा संस्थाओं में अपने राज्य के निवासियों को विशेष सुविधाएं (जैसे दाखिले में आरक्षण या शुल्क में छूट) दे सकती है। अनुच्छेद 16(3) संसद को अधिकार देता है कि, वह किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र से संबंधित पदों पर नियुक्ति के लिए उस राज्य या संघ राज्यक्षेत्र में निवास संबंधी अर्हता लागू कर सकती है। वर्तमान में आंध्र प्रदेश को छोड़कर किसी भी राज्य में ऐसी व्यवस्था लागू नहीं है। यह व्यवस्था संविधान के '32वें संशोधन, 1973' द्वारा संविधान में अनुच्छेद 371 (घ) जोड़कर लागू की गई थी। अनुच्छेद 19(1) (घ) तथा (ड.) के तहत भारत में कहीं भी अबाध संचरण तथा निवास का अधिकार दिया गया है, किन्तु अनुच्छेद 19(5) में उसके युक्तियुक्त निर्बन्धनों के अंतर्गत बताया गया है कि साधारण जनता या अनुसूचित जनजातियों के हित में इन स्वतंत्रताओं को सीमित किया जा सकता है। अनुच्छेद 370 के तहत, जम्मू-कश्मीर राज्य को विशेष दर्जा दिया गया था। इस अनुच्छेद के तहत जारी किए गए आदेशों के अनुसार, जम्मू-कश्मीर विधानमंडल के पास यह शक्ति थी कि (क) वह परिभाषित करे कि जम्मू-कश्मीर के स्थायी निवासी कौन है तथा (ख) जम्मू-कश्मीर के स्थायी निवासियों को राज्य सरकार की नौकरियों, अचल संपत्तियों की खरीद, राज्य में निवास तथा उनके बच्चों को शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति एवं अन्य सुविधाएं प्रदान करे। वर्तमान में यह प्रस्थिति समाप्त हो चुकी है और जम्मू-कश्मीर भारत का एक केंद्रशासित प्रदेश है, जिसे वही अधिकार और दायित्व प्राप्त है जो अन्य संघ शासित प्रदेश को हैं।

देशीयकरण (Naturalization) द्वारा प्राप्त नागरिकता

देशीयकरण द्वारा नागरिकता प्राप्त करने का अर्थ, लंबे निवास के आधार पर किसी देश का नागरिक बन जाने से है। जो व्यक्ति जन्म, वंश, वैवाहिक संबंध तथा भारतीय मूल जैसे आधारों के अभाव में पहले तीनों वर्गों में शामिल नहीं हो पाते, उनके लिए देशीयकरण का विकल्प है। केन्द्र सरकार को अधिकार है कि वह किसी भी व्यक्ति जो अवैध अप्रवासी नहीं है, को देशीयकरण का प्रमाण पत्र जारी कर सकती है, यदि वह निम्नलिखित शर्तें पूरी करता है-

- उसे पूर्ण आयु व क्षमता वाला व्यक्ति होना चाहिए।
- उसे उस देश का नागरिक नहीं होना चाहिए, जहाँ देशीयकरण के द्वारा भारतीय नागरिकों को नागरिकता लेने से रोका जाता हो।
- उसने दूसरे देश की नागरिकता छोड़ दी हो।
- वह देशीयकरण (Naturalization) के आवेदन करने की तिथि के पूर्व 12 महीनों से भारत में रहा हो, अथवा सरकारी सेवा में रहा हो, अथवा, इन 12 महीनों के पूर्व के 14 वर्षों के दौरान उसने कम से कम 11 वर्षों तक भारत में निवास किया हो, अथवा सरकारी सेवा में रहा हो।
- उसे निश्चित रूप से निष्ठा की एक शपथ लेनी चाहिए।
- उसे अच्छे चरित्र वाला होना चाहिए।
- उसे संविधान द्वारा मान्य किसी भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

एक विशेष उपबन्ध के अंतर्गत, अधिनियम में यह भी प्रावधान किया गया है कि यदि कोई व्यक्ति विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, विश्वशांति अथवा मानव विकास के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य कर चुका हो तो उसे इन शर्तों को पूर्ण किए बिना भी देशीयकरण के द्वारा भारत की नागरिकता प्रदान की जा सकती है।

किसी क्षेत्र के सम्मिलित किए जाने से प्राप्त नागरिकता

यदि कोई नया क्षेत्र भारत का अंग बनता है तो एक लोकप्रिय जनमत तैयार होने पर भारत सरकार उस क्षेत्र के लोगों को भारतीय नागरिक घोषित करेगी।
अनुच्छेद 11 के अनुसार, नागरिकता के सभी अधिकारों को संसद के कानून द्वारा नियमित व नियंत्रित (Regulate) करने का प्रावधान किया गया है।

भारतीय नागरिकता अधिनियम 2005

दोहरी नागरिकता के निषेध का कारण यह है कि, नागरिकों से कुछ कर्तव्य अपेक्षित है। भारतीय मूल के लोगों को दोहरी नागरिकता देने संबंधी भारतीय नागरिकता (संशोधन) अधिनियम 2005, नागरिकता अधिनियम, 1955 को संशोधित करता है, जिसके अंतर्गत नागरिकता अधिनियम, 1955 की चौथी अनुसूची को निकाल दिया गया है।

- इसके अंतर्गत पाकिस्तान एवं बांग्लादेश को छोड़कर अन्य देशों में 26 जनवरी, 1950 के बाद जाकर बसे भारतीय मूल के सभी नागरिक को भारत नागरिकता प्राप्त करने के योग्य हैं।
- किसी अपराध में लिप्त या संदिग्ध आचरण वाले प्रवासी भारतीयों को दोहरी नागरिकता नहीं मिल सकेगी।
- दोहरी नागरिकता के आधार पर प्रवासी मतदान में भाग नहीं ले सकते है, लोकसभा/ राज्यसभा/विधानसभा/ विधान-परिषद के चुनाव में भाग नहीं ले सकते हैं और न ही कोई संवैधानिक पद जैसे राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हो सकते हैं।

भारतीय नागरिकता (संशोधन) अधिनियम 2016 [Indian Citizenship (Amendment) Act 2016]

इसके तहत भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 में निम्न संशोधन किए गए है-

- वर्तमान में भारतीय नागरिकता के लिए भारत में लगातार एक वर्ष तक रहना अनिवार्य है, लेकिन अगर केन्द्र सरकार संतुष्ट है तो विशेष परिस्थितियों में इसमें छूट दी जा सकती है। इस प्रकार की विशेष परिस्थितियों के बारे में लिखित रिकॉर्ड दर्ज करने के बाद विशेष 12 माह के लिए छूट दी जा सकती है, जो अधिकतम 30 दिन के लिए अलग-अलग अंतराल के बाद दी जा सकती है।
- भारतीय नागरिकों को ओ.सी.आई. की शर्तों तथा नाबालिग बच्चों का प्रवासी भारतीय नागरिक के तौर पर पंजीकरण की शर्तों को उदार बनाया जाएगा।
- इस विधेयक के प्रावधानों के अनुसार, अब OCI कार्डधारकों का लाभ उनकी चौथी पीढ़ी तक के बच्चों को मिलेगा अर्थात् OCI नागरिकों के बच्चों या पोता-पोतियों अथवा पर पोता-पोतियों के लिए प्रवासी भारतीय नागरिक के तौर पर पंजीकरण का अधिकार होगा। यह सुविधा अभी केवल पी. ओ. आई. कार्डधारकों को ही मिल रही है।
- धारा 7ए के तहत, पंजीकृत प्रवासी भारतीय के पति या पत्नी या भारतीय नागरिक के पति या पत्नी के लिए प्रवासी भारतीय नागरिक के तौर पर पंजीकरण का अधिकार होगा और जिनकी शादी दो वर्ष की अवधि के लिए पंजीकृत या कायम रही हो, वे तुंरत ही इस धारा के तहत आवेदन कर सकते है।
- वर्तमान में POI कार्ड धारकों को ओसीआई कार्ड धारकों की तुलना में कम लाभ प्राप्त होते है। जैसे- POI कार्डधारकों को भारत में प्रवेश हेतु 15 वर्ष का वीजा प्राप्त होता है। जबकि OCI कार्ड रखने वाले को भारत का आजीवन वीजा मिलता है। अब सभी POI कार्डों को OCI कार्ड का दर्जा प्राप्त होगा।

अनुच्छेद 11 द्वारा संसद को अधिकार दिया गया है कि वह नागरिकता से संबंधित मामलों की व्यवस्था के लिए कानून बनाए। इस अधिकार का प्रयोग करते हुए संसद ने भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 को प्रभावी बनाया तथा आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर (1986, 1992, 2003, 2005 और 2015) इस अधिनियम में संशोधन किया गया।

नागरिकता (संशोधन) अधिनियम 2019

नागरिकता (संशोधन) अधिनियम (Citizenship Amendment Act) एक ऐसा कानून है जो कि पाकिस्तान, बांग्लादेश और अफगानिस्तान से आने वाले 6 समुदायों के अवैध शरणार्थियों को भारत की नागरिकता देने की बात करता है। इन 6 समुदायों (हिन्दू, बौद्ध, सिख, ईसाई, जैन, तथा पारसी) में इन देशों से आने वाले मुसलमानों को यह नागरिकता नहीं दी जाएगी और यही भारत में इसके विरोध की जड़ है।

नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1955 (Citizenship Amendment Act, 1955)

नागरिकता अधिनियम, 1955; भारत की नागरिकता प्राप्त करने की 5 शर्तों को बताता है, जैसे–जन्म, वंशानुगत, पंजीकरण, प्राकृतिक एवं क्षेत्र समविष्ट करने के आधार पर। इस अधिनियम में 7 बार संशोधन किया जा चुका है।

नागरिकता संशोधन विधेयक, 1955 में प्राकृतिक रूप से नागरिकता हासिल करने के लिए व्यक्ति को कम से कम 11 वर्ष भारत में रहना अनिवार्य था, जो कि बाद में घटाकर 6 वर्ष कर दिया गया था लेकिन नागरिकता (संशोधन) विधेयक, 2019 में इस अवधि को घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया है।

नागरिकता (संशोधन) अधिनियम (Citizenship Amendment Act) 2019 के मुख्य विशेषताएँ

1. नागरिकता अधिनियम 1955 के तहत, किसी व्यक्ति को OCI कार्ड दिया जा सकता है, यदि वह भारतीय मूल का है (जैसे, भारत के पूर्व नागरिक या उनके वंशज या भारतीय मूल के व्यक्ति के जीवनसाथी)। अब 2019 का एक्ट OCI कार्ड को यह सुविधा देता है कि वे भारत में यात्रा करने, देश में काम करने और अध्ययन करने के अधिकारी हैं।
2. नागरिकता अधिनियम, 2016 में यह प्रावधान था कि किसी OCI कार्ड धारक का कार्ड इन 5 कारणों से रद्द किया जा सकता है धोखाधड़ी से रजिस्ट्रेशन प्राप्त करना, संविधान के प्रति अरुचि दिखाना, युद्ध के दौरान शत्रु से दोस्ती बढ़ाना, भारत की संप्रभुता, राज्य या सार्वजनिक हित की सुरक्षा से खिलवाड़ करता है, या OCI कार्ड के रजिस्ट्रेशन मिलने के 5 सालों के भीतर उसे दो साल या अधिक कारावास की सजा सुनाई गई है।

नागरिकता समाप्त होने की तीन विधियाँ

- ***परित्याग (Renunciation)***
- यह एक स्वैच्छिक कर्म है, जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त करने के पश्चात् अपनी भारतीय नागरिकता का परित्याग करता है।
- ***पर्यवसान (Termination)***
- यह कानूनी प्रक्रिया द्वारा संभव होता है, जब कोई भारतीय नागरिक स्वेच्छापूर्वक किसी दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण कर लेता है। उसकी भारतीय नागरिकता स्वत: समाप्त हो जाती है।
- ***वंचित किया जाना (Deprivation)***
- पंजीकरण अथवा देशीयकरण द्वारा भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के लिए अनुचित साधनों के प्रयोग का आरोप होने पर, यह भारत सरकार द्वारा नागरिकता की अनिवार्य रूप से की जाने वाली समाप्ति है।

नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019 इस एक्ट में परिवर्तन करता है और इसमें यह प्रावधान जोड़ा गया है कि यदि कोई OCI कार्ड धारक, भारत सरकार द्वारा बनाये गये किसी कानून का उल्लंघन करता है तो उसका OCI कार्ड रद्द किया जा सकता है।

3. नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019 कहता है कि भारत की नागरिकता प्राप्त करने पर;
   i. अवैध प्रवासियों को प्रवेश की तारीख (31 दिसंबर, 2014 से पहले) से भारत का नागरिक माना जाएगा,
   ii. उनके अवैध प्रवास के संबंध में उनके खिलाफ सभी कानूनी कार्यवाही बंद हो जाएगी।

   हालाँकि असम, मेघालय, मिजोरम, या त्रिपुरा के आदिवासी क्षेत्रों में अवैध प्रवासियों के लिए नागरिकता पर प्रावधान लागू नहीं होंगे।
4. नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2016 में यह प्रावधान था कि प्राकृतिक रूप से नागरिकता प्राप्त करने के लिए इन व्यक्तियों (अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान के हिंदुओं, सिखों, बौद्धों, जैनियों, पारसियों और ईसाइयों) को कम से कम 6 वर्ष भारत में रहना चाहिए लेकिन नये बिल में इस अवधि को घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया अर्थात वे भारत में पांच साल रहने के पश्चात् भारतीय नागरिक बन जायेंगे।

लोकसभा द्वारा पारित नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2016 और नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2019 की तुलना

नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2016 (लोकसभा द्वारा पारित)	*नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2019*
कुछ अवैध प्रवासियों के लिए नागरिकता की पात्रता: एक्ट अवैध प्रवासियों को भारतीय नागरिकता हासिल करने से प्रतिबंधित करता है। अवैध प्रवासी वे विदेशी हैं, जो भारत में पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज के बिना प्रवेश करते हैं या अनुमत समय से अधिक रहते हैं। बिल एक्ट में संशोधन करता है ताकि अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान के हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई लोगों के साथ अवैध प्रवासियों जैसा व्यवहार न किया जाए। इस लाभ को हासिल करने के लिए उन्हें केंद्र सरकार द्वारा विदेशी एक्ट, 1946 और पासपोर्ट (भारत में प्रवेश) एक्ट, 1920 से छूट दी जानी चाहिए। 1920 के एक्ट में विदेशियों के पास पासपोर्ट होने का निर्देश दिया गया है जबकि 1946 का एक्ट भारत में विदेशियों के प्रवेश और वापसी को रेगुलेट करता है। इसके अतिरिक्त बिल कहता है कि इसके लागू होने की तिथि से, ऐसे अवैध प्रवासी के खिलाफ लंबित सभी कानूनी कार्रवाईयों को बंद कर दिया जाएगा।	• बिल इन तीन देशों (अफगानिस्तान, बांग्लादेश व पाकिस्तान) के धर्मों के अवैध प्रवासियों की नागरिकता से संबंधित दो अतिरिक्त प्रावधान जोड़ता है। • **नागरिकता हासिल करने के परिणाम:** बिल कहता है कि नागरिकता हासिल करने पर: (i) इन लोगों को उस तिथि से भारत का नागरिक माना जाना चाहिए, जब उन्होंने भारत में प्रवेश किया था, और (ii) उनके खिलाफ गैर कानूनी प्रवास या नागरिकता से संबंधित कानूनी कार्रवाई को बंद कर दिया जाएगा। • **अपवाद:** इसके अतिरिक्त बिल कहता है कि, अवैध प्रवासियों के लिए नागरिकता के प्रावधान संविधान की छठी अनुसूची में शामिल असम, मेघालय, मिजोरम या त्रिपुरा के आदिवासी क्षेत्रों पर लागू नहीं होंगे। इन आदिवासी क्षेत्रों में कर्बी आंगलोंग (असम), गारो हिल्स (मेघालय), चकमा जिला (मिजोरम) और त्रिपुरा आदिवासी क्षेत्र जिला शामिल हैं। यह बंगाल ईस्टर्न फ्रंटियर रेगुलेशन, 1873 के अंतर्गत 'इनर लाइन' में आने वाले क्षेत्रों में भी लागू नहीं होगा। इनर लाइन परमिट अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और नागालैंड में भारतीयों की यात्रा को रेगुलेट करता है।

• **देशीकरण द्वारा नागरिकता:** एक्ट कुछ शर्तों को पूरा करने वाले किसी व्यक्ति को देशीयकरण द्वारा नागरिकता का आवेदन करने की अनुमति देता है। इनमें से एक शर्त यह है कि, वह व्यक्ति पिछले 12 महीने और 14 वर्षों में से कम से कम 11 वर्षों तक भारत में रहा हो या केंद्र सरकार की नौकरी में हो। • बिल अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान के हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई लोगों के लिए इस शर्त में अपवाद प्रस्तुत करता है। इस समूह के लोगों के लिए 11 वर्ष की अवधि को घटाकर छह वर्ष कर दिया जाएगा।	• इसके अतिरिक्त बिल इस समूह के लोगों के लिए देशीयकरण की अवधि को छह वर्ष से पांच वर्ष करता है।
• **ओसीआई के पंजीकरण को रद्द करने के आधार:** एक्ट कहता है कि, केंद्र सरकार पांच आधार पर ओसीआई के पंजीकरण को रद्द कर सकती है। जैसे, धोखाधड़ी से पंजीकरण कराना, संविधान के प्रति असंतोष जताना, युद्ध के दौरान शत्रु के साथ जा मिलना, भारत की संप्रभुता, राज्य की सुरक्षा या जनहित के लिए जरूरी, पंजीकरण के पांच वर्ष के दौरान दो वर्ष या उससे अधिक समय के लिए कारावास की सजा। बिल पंजीकरण को रद्द करने का एक और आधार प्रदान करता है। वह यह कि अगर ओसीआई ने देश में लागू किसी कानून का उल्लंघन किया हो। जब बिल लोकसभा में पारित हुआ, तब यह नागरिकता एक्ट के उल्लंघन या केंद्र सरकार द्वारा अधिसूचित किसी अन्य कानून के उल्लंघन तक सीमित कर दिया गया। साथ ही कार्ड होल्डर को सुनवाई का अवसर दिया गया।	• लोकसभा द्वारा पारित 2016 के बिल के समान।

राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर (NRC)

राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर या NRC (एनआरसी) से यह पता चलता है कि कौन भारतीय नागरिक है और कौन नहीं। जिस व्यक्ति के नाम एनआरसी में शामिल नहीं होते हैं, उन्हें अवैध नागरिक माना जाता है। एनआरसी वास्तव में वह प्रक्रिया है, जिससे देश में गैर-कानूनी तौर पर रह रहे विदेशी लोगों की पहचान की जाती है। पूर्वोत्तर का गेटवे कहे जाने वाले असम में NRC को सबसे पहले 1951 में नागरिकों, उनके घरों और उनकी संपत्तियों को जानने के लिए तैयार किया गया था। राज्य में NRC को अपडेट करने की मांग 1975 से ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन द्वारा उठाई गयी थी। असम समझौता (1985); बांग्लादेशी स्वतंत्रता से एक दिन पहले 24 मार्च 1971 की आधी रात को राज्य में प्रवेश करने वाले बांग्लादेशी शरणार्थियों के नाम मतदाता सूची से हटाने और वापस बांग्लादेश भेजने के लिए बनाया गया था। असम की आबादी लगभग 33 मिलियन है। यह एकमात्र राज्य है, जिसने NRC को अपडेट किया है। एनआरसी की प्रक्रिया 2013 में सुप्रीम कोर्ट के आदेश पर शुरू हुई थी।

राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर के उद्देश्य (Objectives of NRC)

असम में एनआरसी अपडेट का मूल उद्देश्य; प्रदेश में विदेशी नागरिकों और भारतीय नागरिकों की पहचान करना है। ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन जैसे संगठनों और असम के अन्य नागरिकों का दावा है कि, बांग्लादेशी प्रवासियों ने उनके अधिकारों को लूट लिया है और वे राज्य में हो रही आपराधिक गतिविधियों में शामिल हैं। इसलिए इन शरणार्थियों को अपने देश भेज दिया जाना चाहिए।

NRC के बारे में डेटा

इसमें 55000 सरकारी अधिकारी शामिल थे और पूरी प्रक्रिया में 64.4 मिलियन दस्तावेजों की जांच की गई थी।

असम का नागरिक कौन है (Who is Citizen of Assam)

25 मार्च, 1971 से पहले असम में रहने वाले लोग असम के नागरिक माने जाते हैं। इस प्रदेश में रहने वाले लोगों को सूची A में दिए गए कागजातों में से कोई एक जमा करना था। इसके अलावा दूसरी सूची B में दिए गए दस्तावेजों को अपने असम के पूर्वजों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक दस्तावेज पेश करना, जिससे यह माना जा सके कि आपके पूर्वज असम के ही थे।

NRC को कैसे अपडेट किया गया है?

यदि कोई भी असम के नागरिकों की चयनित सूची में अपना नाम देखना चाहता है, तो उसे 25 मार्च, 1971 से पहले राज्य में अपना निवास साबित करने के लिए 'लिस्ट A' में दिए गए किसी एक दस्तावेज को NRC फॉर्म के साथ जमा करना होगा।
यदि कोई दावा करता है कि, उसके पूर्वज असम के मूल निवासी हैं, इसलिए वह भी असम का निवासी है तो उसे 'लिस्ट B' में उल्लिखित किसी भी एक दस्तावेज के साथ एक NRC फॉर्म जमा करना होगा।

'सूची A' में मांगे गए मुख्य दस्तावेज इस प्रकार हैं

1. 25 मार्च 1971 तक इलेक्टोरल रोल
2. 1951 का एन.आर.सी.
3. किराया और किरायेदारी के रिकॉर्ड
4. नागरिकता प्रमाणपत्र
5. स्थायी निवास प्रमाण पत्र
6. पासपोर्ट
7. बैंक या एलआईसी दस्तावेज
8. स्थायी आवासीय प्रमाण पत्र
9. शैक्षिक प्रमाण पत्र और अदालत के आदेश रिकॉर्ड
10. शरणार्थी पंजीकरण प्रमाण पत्र

'सूची B' में शामिल मुख्य दस्तावेजों में शामिल हैं

1. भूमि दस्तावेज
2. बोर्ड या विश्वविद्यालय प्रमाण पत्र
3. बर्थ सर्टिफिकेट
4. बैंक / एलआईसी / पोस्ट ऑफिस रिकॉर्ड
5. राशन कार्ड
6. मतदाता सूची में नाम
7. कानूनी रूप से स्वीकार्य अन्य दस्तावेज
8. विवाहित महिलाओं के लिए एक सर्कल अधिकारी या ग्राम पंचायत सचिव द्वारा दिया गया प्रमाण पत्र

फाइनल एनआरसी सूची जारी (Final NRC List Released)

असम में अंतिम NRC सूची 31 अगस्त, 2019 को जारी की गई थी। इस सूची में 19,06,657 लोगों को शामिल नहीं किया गया, जबकि 3.11 करोड़ इस नागरिकता सूची में शामिल किये गये हैं। इस सूची में कुल 3.29 करोड़ लोगोंने आवेदन किया था।

क्या सूची से बहिष्करण का मतलब विदेशी घोषित होना है?

नहीं; जो लोग सूची से बाहर किए गए हैं, वे उन विदेशी ट्रिब्यूनलों पर आवेदन कर सकते हैं जो 1964 के कानून के तहत अर्ध न्यायिक निकाय हैं। ये लोग सूची जारी होने के 120 दिन के भीतर इन न्यायाधिकरणों से अपील कर सकते हैं।
यदि किसी को विदेशी ट्रिब्यूनल में विदेशी घोषित किया जाता है तो वह उच्च न्यायालयों का रुख कर सकता है। यदि किसी को अदालतों द्वारा विदेशी घोषित किया जाता है तो उसे गिरफ्तार करके नजरबंदी केंद्र में रखा जा सकता है। जुलाई 2019 तक; 1,17,164 व्यक्ति विदेशी घोषित किए गए हैं, जिनमें से 1,145 हिरासत में हैं।

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (NPR)

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (NPR); जन्म तिथि, वैवाहिक स्थिति, जन्म स्थान और राष्ट्रीयता (घोषित) आदि से संबंधित भारतीय नागरिकों का एक डेटा बेस है अर्थात NPR देश के सभी नागरिकों के जनसांख्यिकी विवरणों का डेटा है। सभी नागरिकों के लिए एनपीआर में पंजीकरण और सरकार को सही विवरण बताना अनिवार्य है। ज्ञातव्य है कि, भारत में पूर्व प्रधानमंत्री स्व. अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली सरकार के तहत कारगिल समीक्षा समिति ने गैर-नागरिकों और नागरिकों के अनिवार्य पंजीकरण की सिफारिश की थी। इन सिफारिशों को 2001 में स्वीकार किया गया था।
वर्तमान में जारी एनपीआर अपडेट की प्रक्रिया असम को छोड़कर सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में की जाएगी।

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (एनपीआर) के उद्देश्य (Objectives of National Population Register-NPR)

दरअसल, केंद्र और राज्य सरकारें कई जन कल्याणकारी योजनायें बनातीं हैं, लेकिन सरकार को कोई योजना बनाने से पहले यह जानना जरूरी होता कि जिन लोगों के लिए कोई योजना बनायी जा रही है उन लोगों की संख्या कितनी है, उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है, उनकी क्या आवश्यकताएं हैं और वे देश के किस राज्य में रहते हैं इत्यादि?
इस प्रकार, NPR का मूल उद्देश्य देश के नागरिकों का पूरा जनसांख्यिकीय डेटा एकत्र करना है। इस एनपीआर डेटा में न केवल जनसांख्यिकीय बल्कि बायोमेट्रिक डेटा भी होगा। इस सम्बन्ध में और स्पष्टता लाते हुए जनगणना आयोग ने कहा है कि, NPR का उद्देश्य देश के प्रत्येक 'सामान्य निवासी' का एक व्यापक पहचान डेटाबेस तैयार करना है।

NPR में किस तरह का डेटा शामिल किया जाएगा?

NPR में मूल रूप से संबंधित देश के प्रत्येक व्यक्ति के जनसांख्यिकीय विवरण को कवर किया जायेगा। ये डेटा होगा;

1. राष्ट्रीयता (घोषित)
2. व्यक्ति का नाम
3. जन्म तिथि
4. जन्म स्थान
5. माँ का नाम
6. पिता का नाम
7. लिंग
8. वैवाहिक स्थिति
9. पति का नाम (यदि विवाहित है)
10. स्थायी आवासीय पता
11. शैक्षिक योग्यता
12. व्यवसाय
13. वर्तमान पते पर रहने की अवधि
14. सामान्य निवास का पता
15. घर के मुखिया से सम्बन्ध

NPR की वर्तमान स्थिति क्या है? (What is the Current Status of the NPR)

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर के लिए डेटा 2010 में भारत की जनगणना 2011 के साथ एकत्र किया गया था। जनगणना के दौरान एकत्र किए गए डेटा को 2015 में पहले ही अपडेट किया जा चुका है और इसे डिजिटल भी बनाया जा चुका है। अब सरकार ने जनगणना 2021 के साथ-साथ राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर को अपडेट करने का फैसला किया है। एनपीआर के अपडेशन से सरकार को देश के लक्षित समूहों का आकलन करने में मदद मिलेगी, ताकि केंद्र पोषित योजनाओं के कार्यान्वयन से पहले उचित योजना बनाई जा सके।

PIO कार्ड

- भारत सरकार ने 'पर्सन्स ऑफ इंडियन ऑरिजिन' PIO कार्ड स्कीम को अगस्त, 2002 में संशोधित किया है, जिसका उद्देश्य अपनी जड़ों की ओर लौटने की यात्रा को अधिक सरल, आसान, लचीला और पूर्ण रूप से समस्याओं से मुक्त बनाना है। PIO स्कीम 1999 में आरंभ की गई थी।

PIO कार्ड के लिए पात्रता

- ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो कभी भी भारतीय पासपोर्ट का धारक रहा हो, या वह या उसके माता-पिता या पितामह-मातामही या प्रपितामह-प्रमातामही का जन्म 1935 के भारत सरकार अधिनियम में उल्लिखित भारत और उन अन्य क्षेत्रों में हुआ हो, जो उसके बाद भारत के अंग बने, और वह यहाँ स्थायी रूप से रहा हो।
- वह व्यक्ति, जो भारत का नागरिक या उपर्युक्त उल्लिखित भारतीय मूल के व्यक्ति का पति/पत्नी हो।
- यह योजना बहुत व्यापक है, क्योंकि यह चार पीढ़ियों से संबंध रखती है और साथ ही भारतीय नागरिक या भारतीय मूल के व्यक्ति के विदेशी जीवनसाथी का भी ध्यान रखती है।

एक PIO कार्ड धारक के लाभ

- भारत की यात्रा करने के लिए वीजा की आवश्यकता नहीं होती।
- भारत में कॉलेजों/शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश पाने के लिए या रोजगार अवसरों का लाभ उठाने के लिए अलग से क्रमशः 'छात्र वीजा' या 'रोजगार वीजा' लेने की आवश्यकता नहीं होती।
- यदि कोई PIO कार्ड धारक अपनी किसी एक भारत यात्रा के दौरान 180 दिन से अधिक नहीं ठहरता है तो उसे पंजीकरण कराने की आवश्यकता से उन्मुक्ति मिल जाती है।
- PIO कार्ड धारक को आर्थिक, वित्तीय तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में वही सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, जो अनिवासी भारतीयों (NRI) को मिलती हैं।
- परंतु PIO कार्ड धारक को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते।

PIO कार्ड की वैधता

- एक PIO कार्ड, जारी किए जाने की तिथि से पंद्रह वर्षों तक वैध माना जाएगा, बशर्ते कि आवेदक के पासपोर्ट की वैधता सुनिश्चित हो।

PIO कार्ड धारकों की तुलना में 'ओवरसीज सिटिजनशिप ऑफ इंडिया' के लाभ

- OCI प्राप्त व्यक्ति को आजीवन वीजा-मुक्त भारत यात्रा की सुविधा प्राप्त है, जबकि PIO कार्ड धारक को यह सुविधा 15 वर्षों के लिए प्राप्त होती है।

- यदि PIO कार्ड धारक अपनी किसी भी भारत यात्रा के दौरान 180 दिनों से अधिक ठहरता है तो उसे स्थानीय पुलिस अधिकारी के यहाँ अपना पंजीकरण कराने की आवश्यकता होती है, जबकि OCI प्राप्त व्यक्ति को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती, चाहे वह जितने भी दिनों के लिए भारत में ठहरें।
- वर्तमान में OCI तथा PIO कार्ड धारकों को एक ही वर्ग में शामिल कर दिया गया है, इस प्रकार अब इन्हें समान सुविधाए मिलेंगी।

संबंधित करेंट अफेयर्स

अनिवासी भारतीयों के लिए मताधिकार (Voting Rights for NRI)

हाल ही में, भारत निर्वाचन आयोग ने अनिवासी भारतीयों (Non-Resident Indians: NRI) को डाक मतपत्रों के माध्यम से विदेशों से मत डालने की अनुमति देने संबंधी प्रस्ताव को विधि और न्याय मंत्रालय के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

- निर्वाचन आयोग ने भारत सरकार को सूचित किया है कि वह असम, पश्चिम बंगाल, केरल, तमिलनाडु और पुदुचेरी में वर्ष 2021 के विधान सभा चुनावों के लिए NRI मतदाताओं हेतु **इलेक्ट्रॉनिक रूप से प्रेषित डाक मतपत्र प्रणाली (Electronically Transmitted Postal Ballot System: ETPBS)** का विस्तार करने के लिए तैयार है।
- विदेश में रहने वाले भारतीय मतदाताओं तक ETPBS का विस्तार करने के लिए सरकार को केवल **'निर्वाचनों का संचालन नियम, 1961'** में संशोधन करने की आवश्यकता है। इसके लिए संसद की अनुमति की आवश्यकता नहीं है।
- डाक **मतपत्र के माध्यम से मतदान में रूचि रखने वाले NRI को रिटर्निंग ऑफिसर को चुनाव की अधिसूचना जारी होने के पाँच दिनों के भीतर सूचित करना होगा।**
- ऐसी जानकारी प्राप्त होने पर, रिटर्निंग ऑफिसर संबंधित NRI को इलेक्ट्रॉनिक रूप से मतपत्र प्रेषित करेगा।
- NRI मतदाता उस मतपत्र के प्रिंट आउट पर अपनी पसंद के उम्मीदवार को चिह्नित करेंगे। इसके पश्चात् NRI को उस देश (जहाँ NRI निवास कर रहा है) में भारत के राजनयिक या कांसुलर प्रतिनिधि द्वारा नियुक्त एक अधिकारी के एक घोषणा-पत्र को अनुप्रमाणित (Attest) करवाना होगा, और फिर उसके साथ मतपत्र को वापस भेजना होगा।
- इस कदम के चलते, **अनिवासी भारतीय भी भारतीय लोकतंत्र में भाग ले सकते हैं** और उन्हें मूलभूत मानवाधिकार अर्थात् मतदान का अधिकार भी प्राप्त होगा।
- कोई देश विभिन्न नियमों के साथ प्रवासियों को मतदान करने की अनुमति देते हैं। उदाहरण के लिए, विदेश में रहने वाला एक ब्रिटिश नागरिक डाक द्वारा मतदान कर सकता है, या ऐसा करने के लिए एक प्रॉक्सी मतदाता (मूल मतदाता का प्रतिनिधि) नामांकित कर सकता है।
- हालांकि, इसके तहत मत की गोपनीयता से समझौता, मतपत्र को भेजे जाने से संबंधित चुनौतियाँ, मतदान में बाह्य कारकों का प्रभाव आदि जैसी चिंताएँ भी विद्यमान हैं।

डाक मतपत्र (Postal Ballot) के बारे में

- डाक मतपत्र वस्तुत: मतदान एक प्रकार का है। इसके तहत **इलेक्ट्रॉनिक रूप से प्रेषित डाक मतपत्र** को मतदाताओं को वितरित किया जाता है और डाक के माध्यम से वापस प्राप्त किया जाता है।
- ETPBS के अंतर्गत, डाक मतपत्रों को इलेक्ट्रॉनिक तरीके से प्रेषित किया जाता है और साधारण डाक के जरिए वापस प्राप्त किया जाता है। **वर्तमान में मतदान का यह विकल्प केवल सेवा मतदाताओं (Service Voters) के लिए उपलब्ध है,** जैसे- सशस्त्र बलों के सदस्य, भारत के बाहर सरकार द्वारा नियोजित व्यक्ति आदि।
- विदेश मतदाताओं तक ETPBS का विस्तार करने के लिए, सरकार को केवल निर्वाचनों का संचालन नियम, 1961 में संशोधन करने की आवश्यकता है। इसके लिए संसद की अनुमति की आवश्यकता नहीं है।

भारत में निर्वाचकों की 3 श्रेणियाँ हैं-

- ***सामान्य निर्वाचक (General Electors):*** नियमित निवासी, जिन्होंने मतदान के पूर्व 18 वर्ष की आयु को प्राप्त कर लिया है।
- ***प्रवासी निर्वाचक (Overseas Electors):*** भारतीय पासपोर्ट धारक अनिवासी भारतीय।
- ***सेवा निर्वाचक (Service Electors):*** जैसे कि सशस्त्र बलों के सदस्य, भारत से बाहर सरकार द्वारा नियोजित व्यक्ति आदि। सेवा मतदाताओं के पास डाक मतपत्र के माध्यम से या प्रॉक्सी मतदाता (Proxy Voter) के माध्यम से मतदान करने का विकल्प होता है।

अनिवासी भारतीय मतदाता/प्रवासी निर्वाचक (Overseas Eelctors) के बारे में

- अनिवासी भारतीय या प्रवासी निर्वाचक "एक ऐसा व्यक्ति है, जो भारत का नागरिक है तथा जो रोजगार, शिक्षा आदि के कारण देश छोड़कर जा चुका है, किंतु **उसने किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त नहीं की है** और अपने पासपोर्ट में उल्लिखित पते के आधार पर एक मतदाता के रूप में पंजीकृत होने के योग्य है।
- विदेश मंत्रालय के अनुमान के अनुसार, संपूर्ण विश्व में विभिन्न देशों में लगभग 3.10 करोड़ अनिवासी भारतीय निवास करते हैं।
- पिछले लोक सभा चुनाव में मतदान करने के लिए लगभग 25,000 NRIs भारत आए थे।

NRIs के लिए मतदान की वर्तमान प्रक्रिया

- **वर्ष 2011** में 'लोग प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951' (People's Representation Act, 1951) में संशोधन कर अनिवासी भारतीयों को मतदान का अधिकार प्रदान किया गया था।
- एक NRI अपने पासपोर्ट में उल्लिखित पते के अनुसार, अपने निवास स्थान के निर्वाचन क्षेत्र में मतदान कर सकता है।
- वह केवल व्यक्तिगत रूप से मतदान कर सकता है और पहचान सुनिश्चित करवाने के लिए उसे मतदान केंद्र में मूल रूप से अपना पासपोर्ट प्रस्तुत करना होगा।
- ज्ञातत्व है कि, प्रवासी भारतीयों को प्रॉक्सी वोटिंग के माध्यम से मत देने का अधिकार सौंपने के लिए लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 2017 {Representation of the People (Amendment) Bill, 2017} को पुर:स्थापित किया गया था। हालांकि, 16वीं लोक सभा के विघटन पर उक्त विधेयक निलंबित हो गया था।

मूल अधिकार
(Fundamental Rights)

मूल अधिकार का अर्थ (Meaning of Fundamental Rights)

मनुष्य एक गरिमामय प्राणी है और इस गरिमा को बनाये रखने के लिए व्यक्ति को कुछ ऐसे अधिकारों की आवश्यकता होती है, जिससे वह स्वतंत्र रूप से बिना किसी दबाव के अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके। मानव के वैयक्तिक विकास की इन आवश्यकताओं को देखते हुए ऐसे अधिकार संविधान द्वारा अपने नागरिकों को प्रदान किए जाते हैं। व्यक्ति के जीवन एवं उसके सम्पूर्ण विकास हेतु अनिवार्य इन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है, ऐसे अधिकार मौलिक अधिकार कहलाते हैं। मौलिक अधिकार अपने संदर्भ में ही मनुष्य के लिए मूलभूत है। यह व्यक्ति के पूर्ण भौतिक, मानसिक एवं नैतिक विकास हेतु अत्यावश्यक हैं। इन अधिकारों के अभाव में उसके व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध हो जाएगा, इसलिए लोकतंत्रात्मक राज्य में प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के ये मूलभूत अधिकार प्रदान किए जाते हैं।

इन अधिकारों को 'मौलिक' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इन्हें देश की सर्वोच्च विधि अर्थात् संविधान में प्रमुख स्थान दिया जाता है और साधारणत: संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया के अतिरिक्त इनमें किसी अन्य प्रकार से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। राज्य द्वारा इन अधिकारों का किसी भी रूप में, पूर्णत: अथवा आंशिक अपहरण नहीं किया जा सकता है। संसद, सरकार अथवा बहुमत दल द्वारा साधारणत: उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। इन अधिकारों के अतिक्रमण की स्थिति में पीड़ित व्यक्ति अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए न्यायालय में शरण ले सकता है। व्यक्ति के इन अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए संविधान द्वारा न्यायपालिका को सभी आवश्यक कदम उठाने की शक्ति प्रदान की गई है।

प्रत्येक लोकतंत्र राज्य की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए अपने नागरिकों को विकास के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करते हैं। प्राय: सभी लोकतंत्र इसी प्रयोजन के लिए मौलिक अधिकारों की एक सूची अपने संविधान द्वारा प्रत्याभूत करके, नागरिकों को कार्यपालिका तथा विधायिका की शक्तियों से सुरक्षा प्रदान करते हैं।

मौलिक अधिकार लोकतंत्र का आधार-स्तम्भ हैं। मौलिक अधिकार इस दृष्टिकोण से भी लोकतंत्र के लिए अनिवार्य हैं कि उनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास को सुरक्षा प्रदान की जाती है। इनके द्वारा उन आधारभूत स्वतंत्रताओं तथा स्थितियों की व्यवस्था की जाती है, जिनके बिना नागरिक द्वारा गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

मौलिक अधिकार देश की राजनीतिक प्रणाली में एक दल विशेष की तानाशाही होने से रोकने के लिए अत्यंत आवश्यक है। ये व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करते हैं। इनके द्वारा एक ओर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को कानून द्वारा निश्चित सीमाओं में रहने के लिए बाध्य किया जाता है और दूसरी तरफ नागरिकों को शासन के स्वेच्छाचारी संचालन के विरूद्ध जनमत के निर्माण हेतु उचित अवसर प्रदान किए जाते हैं। इस प्रकार मौलिक अधिकार राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच संतुलन स्थापित करते हैं। ये अधिकार मानवीय स्वतंत्रता के मापदण्ड और संरक्षक दोनों ही हैं।

राज्य की परिभाषा

- अनुच्छेद 12 के अनुसार, 'राज्य' के अन्तर्गत भारत की सरकार व संसद तथा प्रत्येक राज्य की सरकार व विधायिका और भारत के राज्यक्षेत्र में आने वाले या भारत सरकार के नियंत्रण में विद्यमान सभी स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकारी (Authorities) इन सबका समावेश है।
- स्थानीय प्राधिकारी शब्द का अर्थ उन सभी प्राकृतिक और विधिक व्यक्ति (Organisation Institution etc) से लिया जाता है, जिन्हें कोई विधि बनाने अथवा आदेश या अधिसूचना जारी करने और लागू करवाने की शक्ति प्राप्त है। जिस भी प्राधिकारी को ऐसी शक्ति प्राप्त है, वह राज्य की परिभाषा के अंतर्गत आता है। उदाहरण के लिए, नगरपालिकाएँ, नगर निगम, ग्राम पंचायतें, जिला बोर्ड इत्यादि इसके अंतर्गत शामिल हैं।
- यद्यपि अनुच्छेद 12 में 'न्यायपालिका' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि इसे 'अन्य प्राधिकरण' (Other Authorities) पद के अन्तर्गत मान लिया जाना चाहिए, क्योंकि न्यायालयों की स्थापना संविधि (Statutes) द्वारा होती है एवं वे विधि (Law) द्वारा प्रदान की गयी शक्तियों का ही प्रयोग करते हैं।

अधिकारों का घोषणापत्र (Charter of Rights)

अधिकतर लोकतांत्रिक देशों में नागरिकों के अधिकारों को संविधान में सूचीबद्ध किया जाता है। प्रजातंत्र में यह सुनिश्चित होना चाहिए कि, व्यक्तियों को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त हैं जिन्हें सरकार सदैव मान्यता देगी, संविधान द्वारा प्रदत्त और संरक्षित अधिकारों की ऐसी सूची को 'अधिकारों का घोषणापत्र' कहते हैं। अत: अधिकारों का घोषणापत्र सरकार को नागरिकों के अधिकारों के विरुद्ध काम करने से रोकता है और उसका उल्लंघन हो जाने पर उपचार सुनिश्चित करता है। 1928 में मोतीलाल नेहरू समिति ने भी अधिकारों के घोषणापत्र की माँग उठाई थी। नागरिक के अधिकारों को किसी अन्य व्यक्ति या निजी संगठन से खतरा हो सकता है ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को सरकार द्वारा सुरक्षा प्रदान किये जाने की आवश्यकता होती है। इसलिए यह जरूरी है कि, सरकार व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए प्रतिबद्ध हो। इसके अतिरिक्त सरकार के विभिन्न अंग (विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका) अपने कार्यों के संपादन में व्यक्ति के अधिकारों का हनन कर सकते हैं, जो इसको और महत्वपूर्ण बनाती है।

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार

स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने, ब्रिटिश शासन की तानाशाही प्रवृत्ति के कारण तथा राज्य की सर्वसत्तावादी प्रकृति के अंतर्गत लोगों की स्वतंत्रता पर लगे प्रतिबंध और विभिन्न अधिकारों की सुरक्षा के अभाव के कारण इन अधिकारों का महत्व समझा था और मांग की थी कि अंग्रेज शासकों को जनता के अधिकारों का आदर करना चाहिए। 1928 में ही 'मोतीलाल नेहरू समिति' ने 'अधिकारों के एक घोषणापत्र' की माँग उठाई थी। अत: यह स्वाभाविक था कि स्वतंत्रता के बाद संविधान निर्माण के दौरान संविधान में इन अधिकारों को समावेशित करने और सुरक्षित करने पर सभी की एक राय थी। इस प्रकार संविधान में उन अधिकारों को सूचीबद्ध किया गया, जिन्हें सुरक्षा देनी थी और उन्हें 'मौलिक अधिकारों' की संज्ञा दी गई।

मौलिक अधिकार हमारे अन्य अधिकारों से भिन्न हैं। जहाँ साधारण कानूनी अधिकारों को सुरक्षा देने और लागू करने के लिए साधारण कानूनों का सहारा लिया जाता है, वहीं मौलिक अधिकारों की गारंटी और उनकी सुरक्षा स्वयं संविधान करता है। सामान्य अधिकारों को संसद कानून बना कर परिवर्तित

कर सकती है, लेकिन मौलिक अधिकारों में परिवर्तन के लिए संविधान में संशोधन करना पड़ता है। इस प्रकार देखा जाए तो साधारण अधिकार जहां मात्र कार्यपालिका की शक्तियों तथा कार्यवाहियों से नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, वही मौलिक अधिकार कार्यपालिका के साथ-साथ विधायिका के विरुद्ध भी सुरक्षा प्रदान करते हैं। सरकार का कोई भी अंग मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। सरकार के कार्यों से मौलिक अधिकारों के हनन को रोकने की शक्ति और इसका उत्तरदायित्व न्यायपालिका के पास है। विधायिका या कार्यपालिका के किसी कार्य या निर्णय से यदि मौलिक अधिकारों का हनन होता है या उन पर अनुचित प्रतिबंध लगाया जाता है तो न्यायापालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है, लेकिन मौलिक अधिकार, निरंकुश या असीमित अधिकार नहीं हैं। सरकार मौलिक अधिकारों के प्रयोग पर 'औचित्यपूर्ण' प्रतिबंध या युक्तियुक्त निर्बंधन लगा सकती है।

केवल नागरिकों को प्राप्त मौलिक अधिकार

- ***अनुच्छेद 15***- धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध।
- ***अनुच्छेद 16***- लोक नियोजन **(Public Employment)** के विषय में अवसर की समता।
- ***अनुच्छेद 19***- वाक्-स्वतंत्रता आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण।
- ***अनुच्छेद 29***- अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण।
- ***अनुच्छेद 30***- शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार।

आच्छादन का सिद्धान्त

संविधान के अनुच्छेद 13(1) के अनुसार, भारत में संविधान के प्रवर्तन के पहले से क्रियान्वित सभी कानून जिस सीमा तक किसी एक या सभी मौलिक अधिकारों से असंगत (Inconsistent) हैं, उसी सीमा तक वे शून्य (Void) माने जायेंगे अर्थात् उन कानूनों के जो भाग मौलिक अधिकारों से असंगत नहीं हैं, उनको शून्य नहीं माना जाएगा। बीकाजी नारायण बनाम मध्य प्रदेश राज्य (1955) के वाद (Case) में सर्वोच्च न्यायालय ने 'आच्छादन का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया और स्पष्ट किया कि ऐसे सभी कानून पूरी तरह से समाप्त नहीं होंगे। वास्तव में ये मौलिक अधिकारों के द्वारा छायांकित (Over Shadowed) हो जाते हैं और तात्कालिक रूप से अप्रभावी हो जाते हैं। जब संविधान के लागू होने से पूर्व लागू अधिकारों व कर्तव्यों के निर्धारण का प्रश्न उठता है तो यह एक अच्छा सिद्धांत है। साथ ही साथ, यह उन व्यक्तियों के अधिकारों के निर्धारण हेतु महत्त्वपूर्ण है, जिन्हें संविधान के तहत मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। जब किसी अगले संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों द्वारा निर्मित छाया समाप्त हो जाती है, तब उस छाया से आच्छादित कानून के वे भाग पुनः जीवन्त व प्रभावी हो जाते हैं। पहले सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि 'आच्छादन का सिद्धान्त' संविधान के पूर्व कानूनों पर ही लागू किया जा सकता है, परन्तु गुजरात राज्य बनाम अम्बिका मिल (1974) के वाद (Case) में न्यायालय ने स्पष्ट किया कि यह सिद्धान्त संविधान के पश्चात् बने कानूनों पर भी लागू किया जा सकता है।

मौलिक अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Fundamental Rights)

भारतीय संविधान के मूल प्रारूप द्वारा अपने नागरिकों को आरम्भ में सात मौलिक अधिकार प्रदान किए गए थे-(1) समता का अधिकार, (2) स्वतंत्रता का अधिकार, (3) सम्पत्ति का अधिकार, (4) शोषण के विरूद्ध अधिकार, (5) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, (6) शिक्षा एवं संस्कृति का अधिकार, तथा (7) संवैधानिक उपचारों का अधिकार किंतु, बाद में 44वें संविधान संशोधन (1978) द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में से निकाल दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि इस अधिकार के कारण देश में व्याप्त जमींदारी प्रथा का उन्मूलन तथा भू-सुधार सम्बन्धी कानूनों का क्रियान्वयन कर पाना सरकार के लिए सम्भव नहीं हो पा रहा था। वर्तमान समय में सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार के रूप में है और इसे संविधान के अनुच्छेद 300(A) में स्थान दिया गया है। इस प्रकार भारतीय नागरिकों को अब निम्नलिखित छह मौलिक अधिकार ही प्राप्त हैं- 1. समता का अधिकार, 2. स्वतंत्रता का अधिकार, 3. शोषण के विरूद्ध अधिकार, 4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, 5. शिक्षा तथा संस्कृति संबंधी अधिकार, तथा; 6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

समता का अधिकार (Rights to Equality)

समता का अभिप्राय यह है कि, प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक समानता, नागरिक समानता, सामाजिक समानता और आर्थिक समानता सुलभ हो। संविधान के पाँच अनुच्छेद 14, 15, 16, 17 और 18 समानता के अधिकार की व्याख्या करते हैं, जो निम्नलिखित हैं:-

विधि के समक्ष समता (Equality Before Law)

अनुच्छेद 14 के अनुसार, "राज्य, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को, विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।"

यद्यपि "विधि के समक्ष समता" और "विधियों का समान संरक्षण" अभिव्यक्तियां समान प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में इनका अर्थ भिन्न है। विधि के समक्ष समानता एक नकारात्मक संकल्पना है, जिसका यह अभिप्राय है कि, किसी भी व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार नहीं होंगे और सभी वर्ग समान रूप से सामान्य विधि के अधीन होंगे। "विधियों का समान संरक्षण" अपेक्षाकृत अधिक सकारात्मक संकल्पना है। इसका अभिप्राय यह है कि, समान परिस्थितियों में सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा।

विधि के समान संरक्षण से अर्थ है- 'समान लोगों के साथ समान व्यवहार होगा।' दूसरे शब्दों में, विधि द्वारा अधिरोपित दायित्वों के संबंध में समान परिस्थितियों में समान व्यवहार का अधिकार है। किसी का भी पक्ष नहीं लिया जाना चाहिए, जब तक ऐसा व्यवहार करने के लिए युक्तियुक्त औचित्य न हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि, प्रत्येक व्यक्ति पर समान रूप से कर लगाया जाएगा, किंतु यह अर्थ है कि सभी व्यक्तियों पर समान मानक से कर लगाया जाएगा, उचित नहीं है। यदि वर्गीकरण के लिए युक्तियुक्त आधार है तो विधानमंडल को यह अधिकार है कि वह विभेदकारी व्यवहार करे। उदाहरण के लिए विधान मंडल (i) कुछ वर्गों की सम्पत्ति को कराधान से बिल्कुल छूट दे सकता है, जैसे- पुस्तकालय आदि, (ii) विभिन्न व्यवसाय तथा व्यापार करने वाले पर भिन्न-भिन्न विनिर्दिष्ट कर लगा सकता है, (iii) चल और अचल सम्पत्ति पर भिन्न रीति से कर लगा सकता है। इस प्रकार समान संरक्षण की प्रत्याभूति समान परिस्थितियों में समान व्यवहार की प्रत्याभूति है। विभिन्न परिस्थितियों में विभेद करने के प्रावधानों को निवारित नहीं किया गया है।

समता के अधिकार के कई ऐसे अपवाद हैं, जिन्हें संविधान द्वारा स्वीकार किया गया है, जैसे अनुच्छेद-361 में (i) विदेशी राजनयिकों, शासकों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ व उसकी एजेंसियों को, भारतीय न्यायालयों के सिविल व आपराधिक अधिकारिता से उन्मुक्ति प्राप्त है। (ii) अनुच्छेद 361(क) में प्रेस या मीडिया को विशेष अधिकार दिया गया है। इसके तहत, यदि कोई भी व्यक्ति संसद के किसी सदन या राज्य विधानमंडल के किसी सदन की कार्यवाही का सत्य प्रकाशन करता है और ऐसा करने के पीछे उसका उद्देश्य भी उचित है तो उस पर देश के किसी न्यायालय में सिविल या आपराधिक मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा। (44वें संविधान संशोधन 1978 द्वारा अंतःस्थापित)। (iii) अनुच्छेद 361 के अंतर्गत भारत के राष्ट्रपति और राज्यों के राज्यपाल अपने कार्यकाल के दौरान लिए गए कार्य संबंधी निर्णय के लिए किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी

नहीं होते तथा इस दौरान न्यायालय द्वारा आपराधिक कार्यवाही भी नहीं चलायी जा सकती। (iv) अनुच्छेद 105 के अंतर्गत संसद के सदस्यों द्वारा संसद में कही गई बातों के लिए संसद सदस्य न्यायापालिका के प्रति जबावदेह नहीं होंगे। (v) अनुच्छेद 31 के खंड (क), (ख) और (ग) के अधीन पारित विधियों को भी अनुच्छेद 14 के अपवाद की श्रेणी में रखा जाता है।

अनुच्छेद 14 का अपवर्जन या सीमाएँ

संविधान में कुछ ऐसे विशेष प्रावधान हैं, जो विशेष परिस्थितियों में अनुच्छेद 14 के प्रभाव को सीमित करते हैं-

अनुच्छेद 361 निर्धारित करता है कि, राष्ट्रपति व राज्यपालों के पदासीन रहते हुए उनके विरुद्ध आपराधिक सुनवाई नहीं हो सकती।

42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा अनुच्छेद 14 के तहत समता के अधिकार की संभावना को काफी हद तक सीमित कर दिया गया है। इस संशोधन अधिनियम के द्वारा जोड़ा गया अनुच्छेद 31(ग) यह निर्धारित करता है कि अनुच्छेद 39 के उपबन्ध (ख) व उपबन्ध (ग) में दिए गए नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि अनुच्छेद 14 से उनका विरोध है। वैसे कानून संविधान के अनुच्छेद 14 के अपवाद माने जाएँगे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तहत, विदेशी सम्प्रभु राजदूतों व राजनयिकों पर कानून संबंधी कोई भी प्रक्रिया लागू नहीं होती।

अनुच्छेद 359(1) निर्धारित करता है कि, जब आपातकाल की घोषणा लागू हो, वैसी स्थिति में राष्ट्रपति आदेश द्वारा घोषणा कर सकता है कि भाग 3 में प्रदत्त वैसे अधिकारों (अनुच्छेद 20 व 21 को छोड़कर) को क्रियान्वित करने के लिए न्यायालय में जाने का अधिकार निलंबित कर दिया गया है। अत: यदि भारत का राष्ट्रपति आपात की घोषणा लागू होने की स्थिति में ऐसा आदेश जारी करता है, तो आपात की घोषणा लागू रहने तक की अवधि तक क्रियान्वित रहेगा।

भेदभाव का निषेध

अनुच्छेद 15(1) में "राज्य, किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। (2) कोई नागरिक केवल, धर्म, मूलवंश जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर विभेद नहीं करेगा।

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या (ख) पूर्णत: राज्य-निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बन्धन या शर्त के अधीन नहीं होगा। इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को महिलाओं और बालकों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से नहीं रोकेगी। इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खंड 2 की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी।

इस अनुच्छेद या अनुच्छेद 19 के खंड (1) के उपखंड (छ) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए, विधि द्वारा, कोई विशेष उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी, जहाँ तक ऐसे विशेष उपबंध, अनुच्छेद 30 के खंड (1) में निर्दिष्ट अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं से भिन्न, शिक्षा संस्थाओं में, जिनके अंतर्गत प्राइवेट शिक्षा संस्थाएं भी हैं, चाहे वे राज्य से सहायता प्राप्त हो या नहीं, प्रवेश से संबंधित है।

स्पष्ट है कि, इस अनुच्छेद का विषय बहुत विस्तृत है। खंड 1 में शब्द 'केवल' का प्रयोग अर्थपूर्ण है। इनमें से किसी एक या अधिक आधारों पर तथा अन्य आधार या आधारों पर आधारित विभेद इस अनुच्छेद के द्वारा प्रभावित नहीं होगा और न ही निवास पर आधारित विभेद अवैध होगा।

खंड 2 में इस प्रतिषेध को विशेष रूप से लागू करने का उपबंध किया गया है। स्पष्ट है कि, प्रतिषेध राज्य एवं साधारण जनता दोनों की कार्यवाहियों पर लागू होता है।

खंड 3 तथा खंड 4 में विभेद न करने के सामान्य सिद्धांतों के अपवाद अंतर्निहित हैं। ये राज्य को क्रमश: स्त्रियों तथा बच्चों के लिए सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के कुछ वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार देते हैं। समाज के इन वर्गों के संरक्षण के लिए कतिपय कानूनों की विधिमान्यता के संबंध में उच्चतम न्यायालय की उद्घोषणाएँ इन अपवादों की जरूरत तथा औचित्य को प्रमाणित करती हैं। किंतु इन विशेष उपबंधों के बावजूद, यह निर्णय दिया गया है कि, अनुच्छेद 14 के अधीन सामान्य प्रतिषेध के मामलों में राज्य जो भी विशेष प्रावधान करे, वे मनमाने या अनुचित नहीं होने चाहिए।

अनुच्छेद 15(5), निजी सहायता विहीन शिक्षण संस्थाओं में दाखिले के संबंध में संवैधानिक प्रावधान हैं। इसके अनुसार, 6 से 14 वर्ष आयु के बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य द्वारा निर्मित की गयी विधि ऐसी नहीं होनी चाहिए, जो संविधान के अनुच्छेद 19(1)(घ) के अधीन सहायता विहीन निजी शिक्षण संस्थानों के अधिकार को कम करते हों या संविधान के अनुच्छेद 30(1) के अधीन वित्तीय सहायता प्राप्त या सहायता विहीन अल्पसंख्यक समुदाय के विद्यालयों के अधिकारों को कम करते हों।

103वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा, अनुच्छेद 15 में एक और क्लाज 15(6) जोड़ा गया है जिसके माध्यम से सरकार को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के संरक्षण के लिए प्रावधान कर सकती है तथा शिक्षण संस्थाओं इत्यादि में 10% तक आरक्षण प्रदान कर सकती है।

खंड 4, खंड 5 और खंड 6 ने जो समस्या पैदा की, वह इस बात के निर्धारण करने के संबंध में है कि कौन व्यक्ति 'सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग' और 'कौन आर्थिक रूप से पिछडे वर्ग' के हैं। इसका निर्धारण करने के लिए उचित मानदंड तैयार करने में स्वभावतया अनेक कारक अपनी भूमिका निभाएंगे। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है, 'इस बात को सुनिश्चत करने के लिए कि अमुक वर्ग पिछड़ा है या नहीं, व्यक्ति की एकमात्र कसौटी जाति नहीं हो सकती'। चित्रलेखा बनाम मैसूर राज्य के मामले में उसने निर्णय दिया कि, जाति किसी वर्ग के पिछड़ेपन को सुनिश्चित करने के लिए एक प्रासंगिक कारण है, किंतु इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो संबंधित प्राधिकारी को नागरिकों के किसी वर्ग के विशेष पिछड़ेपन को निर्धारण करने से रोकती हों, बशर्ते वह जाति के हवाले के बिना ऐसा कर सकता हो। एक और मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया की पिछड़ेपन का निर्धारण करने के लिए जाति तथा निर्धनता दोनों ही प्रासंगिक हैं, किंतु न तो केवल जाति और न ही केवल निर्धनता, निर्धारण की कसौटी होगी। सरकार संपत्ति या अन्य मापदंडों के आधार पर आर्थिक रूप से पिछड़ों के पहचान के लिए मापदंड निर्धारित कर सकती है।

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया और विधि की यथोचित प्रक्रिया

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure Established by Law)- का तात्पर्य उन प्रयोगों (Uses) एवं व्यवहारों (Practices) से है, जो संविधि (Statute) या विधि (Law) द्वारा प्रतिपादित हैं। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत, न्यायालय किसी विधि (Law) की जाँच विधायिका की सक्षमता के दृष्टिकोण से करता है तथा यह देखता है कि विधायिका ने निर्धारित प्रक्रियाओं का अनुपालन किया है अथवा नहीं। न्यायालय विधि के उद्देश्य (Motive) में नहीं जा सकता और उसे तब तक असंवैधानिक नहीं घोषित कर सकता है, जब तक उस विधि (Law) को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के बिना पारित न किया गया हो। अत: न्यायालय विधायिका के मन्तव्य व जनमत की शक्ति पर अधिक निर्भर करता है। यह सिद्धान्त किसी व्यक्ति को केवल कार्यपालिका की कार्यवाहियों से संरक्षण प्रदान करती है। 'विधि की यथोचित प्रक्रिया' (Due process of law) का तात्पर्य है कि न्यायालय को न केवल विधायिका की सक्षमता के दृष्टिकोण से ही किसी विधि (Law) की जाँच करनी चाहिए,

बल्कि विधि के आशय (Intention of law) के व्यापक दृष्टिकोण से भी करना चाहिए। इस प्रकार, यह न्यायालय को अधिक शक्ति प्रदान करता है। भारतीय संविधान विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है। किन्तु, 1978 में मेनका गाँधी के वाद (Case) में सर्वोच्च न्यायालय ने 'विधि की यथोचित प्रक्रिया' (Due process of law) पद का समावेश कर अनुच्छेद 21 की व्याख्या की। अतएव, वर्तमान समय में अनुच्छेद 21 किसी व्यक्ति को विधायिका व कार्यपालिका दोनों की कार्यवाहियों से संरक्षण देता है।

लोक नियोजन में अवसर की समानता

राज्य द्वारा केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद नहीं किया जाएगा। इस साधारण आश्वासन के उप-सिद्धांत के रूप में संविधान ने लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता की प्रत्याभूति दी है। अनुच्छेद 16 यह कहता है कि-

- राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी।
- कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, वंशक्रम, जन्मस्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में अपात्र नहीं होगा या उससे विभेद नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 16(1), (2) का विस्तार सिर्फ उन पदों तक है, जो राज्य के अधीन हैं। गैर-सरकारी संस्थाओं या निजी क्षेत्र की कंपनियों द्वारा दिए जाने वाले पदों तथा संविदा संबंधी सेवाओं के संबंध में यह अधिकार लागू नहीं होता। यहां 'अवसर की समता' का अर्थ योग्यताओं या अर्हताओं के उन्मूलन से नहीं है। राज्य को पूरा हक है कि वह उम्मीदवारों के लिए मानसिक योग्यता, शारीरिक सक्षमता, नैतिक स्तर, अनुशासन में रहने की योग्यता जैसी अर्हताएं निर्धारित करें।

बनारसी दास बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1956) मामले में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि, राज्य को इस बात के लिए मना नहीं किया जा सकता कि वह अन्य नियोजकों के समान अभ्यर्थियों में से किसी को दक्षता, अनुशासन और इस प्रकार के अन्य आधारों पर नियुक्ति या प्रोन्नति के लिए नहीं चुन सकता।

अनुच्छेद 16(3), अनुच्छेद 16(2) का एक अपवाद है। अनुच्छेद 16(2) जिन 7 आधारों पर विभेद का प्रतिषेध करता है, उनमें 'निवास स्थान' भी शामिल है, किन्तु अनुच्छेद 16(3) यह प्रावधान करता है कि, संसद विधि बनाकर लोक नियोजन के मामले में किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र में निवास संबंधी शर्त लागू कर सकती है। यह उपबंध करने का मूल कारण यह था कि, देश के विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक विकास का स्तर भिन्न-भिन्न था और कुछ विशेष राज्यों के निवासियों को विकास की मुख्यधारा में लाने के लिए ऐसे प्रावधान की जरूरत महसूस की जा रही थी। किन्तु, संविधान निर्माताओं को इस बात की चिंता भी थी कि कहीं इस प्रावधान का दुरुपयोग न होने लगे। यही कारण है कि शक्ति सिर्फ संसद को दी गई है, राज्यों के विधानमंडलों को नहीं।

अनुच्छेद 16(4), अनुच्छेद 16(1) और 16(2) का दूसरा अपवाद है। इसमें राज्य को यह शक्ति दी गई है कि वह पिछड़े वर्ग के नागरिकों के पक्ष में, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए उपबंध कर सकेगा। आरक्षण विशेष कारणों के सिवाय 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। अनुच्छेद 16(4) लागू होने के लिए दो शर्तें हैं-

- वर्ग पिछड़ा हुआ होना चाहिए।
- राज्य की राय में उस वर्ग को राज्य के अधीन पदों पर पर्याप्त प्रतिनिधित्व न मिला हो।

ये दोनों शर्तें पूरी होने पर ही आरक्षण का प्रावधान किया जा सकता है, कोई एक शर्त इसके लिए पर्याप्त नहीं है। 'राज्य की राय' का अर्थ 'मनमानी राय' से नहीं है बल्कि उसके लिए ठोस व तथ्यात्मक आधार होने जरूरी है।

अनुच्छेद 16(5) अनुच्छेद 16(1) और (2) का तीसरा अपवाद है। अनुच्छेद 16(2) में जिन सात आधारों पर भेदभाव वर्जित किया गया है, उनमें से एक 'धर्म' है। अनुच्छेद 16(5) यह प्रावधान करता है कि, राज्य किन्हीं धार्मिक या सांप्रदायिक संस्थाओं के प्रबंधन के लिए उस धर्म या संप्रदाय के अनुयायियों की ही नियुक्ति का उपबंध कर सकता है और शेष धर्मों तथा संप्रदायों के अभ्यर्थियों को ऐसे नियोजन में अवसर की समानता से वंचित कर सकता है।

103वें संविधान संशोधन द्वारा एक नया क्लॉज अनुच्छेद 16(6) जोड़ा गया, जिसमें सरकार को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए राज्य के अधीन सेवाओं में 10% तक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए उपाय कर सकती है। इस प्रकार कल्याण के उपायों का दायरा आर्थिक आधार तक विस्तारित किया गया है।

अस्पृश्यता का अंत

अनुच्छेद 17, समता के अधिकार को एक विशेष क्षेत्र में लागू करता है। इसके माध्यम से हिंदू समाज में बहुत समय से चली आ रही अस्पृश्यता की कुरीति के अंत की घोषणा की गई है। अनुच्छेद 17 में की गई घोषणा इस प्रकार है-

"अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा"।

अनुच्छेद 17 के साथ पढ़े जाने पर अनुच्छेद 35 संसद को यह शक्ति देता है कि, वह अस्पृश्यता के आचरण हेतु दंड निर्धारित करने के लिए विधि का निर्माण करे। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद ने 1955 में 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' का निर्माण किया। 1976 में इस अधिनियम का संशोधन किया गया तथा इसका नाम 'सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955' कर दिया गया। आगे चलकर, 1989 में संसद ने 'अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (उत्पीड़न निवारण) अधिनियम, 1989' भी पारित किया, जो 1955 और 1976 के कानूनों की तुलना में ज्यादा व्यापक और कठोर है। प्रचलित भाषा में इसे 'एट्रोसिटीज एक्ट' के नाम से जाना जाता है। 'अस्पृश्यता' शब्द का निश्चित अर्थ न तो संविधान में दिया गया है, न ही 1955 के अधिनियम या 1976 में हुए उसके संशोधन में। ऐसा मानकर चला गया है कि अस्पृश्यता का अर्थ सर्वविदित है।

1955 के अधिनियम में अस्पृश्यता के आचरण के आधार पर कुछ कार्यों के लिए दंड घोषित किया गया, जैसे-

- किसी व्यक्ति को किसी शिक्षा संस्था या अस्पताल जैसी सामाजिक संस्था में प्रवेश से रोकना।
- किसी व्यक्ति को किसी सार्वजनिक पूजा स्थल में प्रवेश करने या प्रार्थना करने से रोकना।
- किसी दुकान, भोजनालय या सार्वजनिक मनोरंजन के किसी स्थान पर किसी व्यक्ति को प्रवेश से रोकना।
- किसी मार्ग, जलाशय, नल या सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करने वाले किसी अन्य स्थान के प्रयोग से किसी व्यक्ति को वंचित करना।

1976 में इस अधिनियम का संशोधन करते हुए इसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया तथा निम्नलिखित आचरणों को भी इसके अंतर्गत अपराध घोषित किया गया-

- अनुसूचित जाति के किसी सदस्य का अस्पृश्यता के आधार पर अपमान करना।
- प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता का उपेदश देना।
- इतिहास, दर्शन या धर्म को आधार बनाकर या किसी अन्य आधार पर अस्पृश्यता को न्यायोचित ठहराना।

1989 के 'एट्रोसिटीज एक्ट' के तहत अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विशेष सुरक्षा दी गई है। इसमें उत्पीड़न की व्याख्या अत्यंत व्यापक रूप में की गई है। जिसमें बेगार कराना, अपमान करना, वोट डालने के लिए दबाव बनाना,

उसके शरीर के साथ दुर्व्यवहार करना इत्यादि शामिल हैं। ऐसे मामलों में 6 माह से लेकर 5 वर्ष तक की सजा का प्रावधान किया गया है और पीड़ित व्यक्ति को नुकसान के अनुपात में क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था भी की गई है। यह अधिनियम, इस विशेष प्रयोजन के लिए विशिष्ट अदालतें गठित करने की शक्ति भी प्रदान करता है। केन्द्र सरकार ने इस अधिनियम से प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1995 में नियमावली का निर्माण भी किया है।

उपाधियों का अंत

अनुच्छेद 18, राज्य को, किसी व्यक्ति को चाहे वह भारतीय नागरिक हो या विदेशी हो, उपाधियां प्रदान करने का प्रतिषेध करता है। इस अनुच्छेद के खंड 1 के अधीन राज्य, सेना या विद्या संबंधी सम्मान के सिवाय कोई अन्य उपाधि प्रदान नहीं करेगा। खंड 2 के अधीन, भारत के नागरिक को भी किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार करने का प्रतिषेध किया गया है। खंड 3 में उपबंध किया गया है कि, कोई व्यक्ति, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए, किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं कर सकता और खंड 4 के अधीन, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास का पद धारण करने वाला कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या उसके अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।

स्वंतत्रता के कुछ वर्षों के पश्चात् 1954 ई. में भारत सरकार ने 4 अलंकरण देने की व्यवस्था शुरू की जिन्हें 'भारत रत्न', 'पद्म विभूषण', 'पद्म भूषण' तथा 'पद्मश्री' कहा जाता है। ये सिर्फ सम्मान के रूप में थे और यह माना जा रहा था कि इन्हें उपाधियों की तरह नाम के साथ प्रयुक्त नहीं किया जाएगा, तब भी कुछ लोगों ने ऐसे सम्मानों का विरोध इस आधार पर किया कि इससे अनुच्छेद 18 का उल्लंघन होता है। 1977 में मोरारजी देसाई की सरकार ने इन सभी अलंकरणों को देना बंद कर दिया, फिर 1980 में इंदिरा गांधी सरकार द्वारा पुनः अंलकरण देना प्रारंभ किया गया। 1996 में उच्चतम न्यायालय ने जिन उपलब्धियों की संवैधानिक वैधता को उचित ठहराया था उनमें 'पद्म विभूषण', 'पद्म भूषण' तथा पद्मश्री थे। न्यायालय ने कहा कि यह पुरस्कार उपाधि नहीं है तथा यह समानता के सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं है। यह भी व्यवस्था की गई कि पुरस्कार पाने वालों के नाम के प्रत्यय या उपसर्ग के रूप में इनका इस्तेमाल नहीं होना चाहिए अन्यथा उन्हें पुरस्कारों को त्यागना होगा।

वर्ष 2011 के अंत में 'भारत रत्न' सम्मान देने की कसौटियां बदली गई हैं ताकि कला, साहित्य और विज्ञान के अलावा अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले व्यक्तियों को भी इस सम्मान के लिए अर्ह बनाया जा सके। अब भारत रत्न की कसौटी यह है कि किसी व्यक्ति ने 'मानवीय उद्यम के किसी क्षेत्र में सर्वोच्च स्तर का निष्पादन' किया हो। माना जाता है कि, यह परिवर्तन कुछ महान खिलाड़ियों जैसे 'ध्यानचंद' और 'सचिन तेंदुलकर' को भारत रत्न देने के लिए किया गया है।

इस अनुच्छेद के संदर्भ में कतिपय अपवाद हैं–

- यह प्रतिबंध केवल राज्य के विरूद्ध है, अन्य सार्वजनिक संस्थाएं, जैसे- विश्वविद्यालय आदि नेताओं या गुरुजनों का सम्मान करने के लिए उपाधियां या सम्मान दे सकते हैं।
- राज्य को सेना या विद्या संबंधी सम्मान देने से नहीं रोका गया है, यद्यपि उनका उपयोग उपाधि के रूप में नहीं किया जा सकता है।
- राज्य को सामाजिक सेवा के लिए कोई सम्मान या पुरस्कार देने से निवारित नहीं किया गया है। इस सम्मान का उपाधि के रूप में अर्थात् अपने नाम के साथ जोड़कर उपयोग नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार भारत रत्न या पद्म विभूषण का, प्राप्तकर्ता द्वारा उपाधि के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता और इसलिए यह संविधान में प्रतिषेध के अधीन नहीं आते।

स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Freedom)

भारतीय संविधान का उद्देश्य विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वाधीनता सुनिश्चित करना है। भारतीय संविधान में केवल समानता का ही उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि विविध स्वतंत्रताओं का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। अनुच्छेद 19 से 22 में स्वतंत्रता के अधिकार की व्यापक व्याख्या की गई है।

संविधान के अनुच्छेद 19 के द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रताएँ

भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19) लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था के संचालन का एक अनिवार्य अंग है। भारत के सभी नागरिकों को विचार करने, भाषण देने और अपने तथा अन्य व्यक्तियों के विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। प्रेस को भी विचारों के प्रचार का एक साधन होने के कारण इस अनुच्छेद में शामिल किया गया है। 44वें संशोधन द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 361(क) जोड़ दिया गया है, जिसके अंतर्गत समाचार पत्रों को संसद व विधानमंडलों की कार्यवाही प्रकाशित करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार रेडियो और दूरदर्शन पर भी लागू होता है। संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर राज्य द्वारा भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हितों में अथवा न्यायालय की अवमानना, मानहानि या अपराध उद्दीपन के आधार पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

प्रेस की स्वतंत्रता

भारत में प्रेस की स्वतंत्रता के लिए वैसे विशिष्ट प्रावधान नहीं किये गए हैं जैसे अमेरिका तथा कुछ अन्य देशों में है। भारतीय प्रेस या मीडिया को अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अंतर्गत ही 'प्रेस की स्वतंत्रता' प्राप्त है, उसे कोई विशेषाधिकार नहीं दिये गये हैं। 'सकल पेपर्स लिमिटेड बनाम भारत संघ' (1962) के मामले में स्पष्ट किया गया है कि, अनुच्छेद 19(1)(क) में प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में ही प्रेस की स्वतंत्रता निहित है और प्रेस को साधारण नागरिकों से अलग विशिष्ट अधिकार प्राप्त नहीं है।

प्रेस की स्वतंत्रता को लेकर न्यायालयों में कई मामले आते हैं, जिनके माध्यम से इस संबंध में उठने वाले संशय और संदेह प्रायः खत्म हो गये हैं। प्रेस की स्वतंत्रता से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं–

- प्रेस की स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि, प्रेस को कर संबंधी विधियों या औद्योगिक नियमों से संबंधित विधियों से छूट मिली हुई है। प्रेस पर भी वे सारे कर संबंधी व उद्योग संबंधी कानून लागू होते हैं जो अन्य व्यवसायों पर।
- दूसरे मामले में न्यायालय ने यह भी निर्धारित किया है कि, प्रेस अपने कर्मचारियों की सेवा शर्तों के निर्धारण आदि से भी मुक्त नहीं है अर्थात् यदि सरकार उद्योगों में काम करने वाले कर्मचारियों की सुरक्षा के लिए कोई कानून बनाती है तो वह प्रेस पर भी बाध्यकारी होगा।
- प्रेस की स्वतंत्रता पर एक निर्बंधन यह भी है कि, अखबार संसद की कार्यवाही का प्रकाशन करते समय संसदीय विशेषाधिकारों की मर्यादा को नहीं लाँघ सकते हैं। यदि स्पीकर के आदेश द्वारा सदन के किसी सदस्य के भाषण का कोई हिस्सा सदन की कार्यवाही से निकाल दिया गया है तो प्रेस को यह हक नहीं रह जाता है कि वह उस हिस्से को प्रकाशित करें।
- न्यायालय ने कई मामलों में स्पष्ट किया है कि प्रेस पर 'पूर्व अवरोध' (Prior Censorship) लागू करना अनुच्छेद 19(1)(क) का उल्लंघन है।
- कुछ मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी निर्धारित किया है कि, प्रेस की स्वतंत्रता में घटनाओं, विचारों तथा सूचनाओं को जानने का अधिकार भी शामिल है। यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से प्रेस को कुछ बताना चाहता है तो उसे ऐसा करने की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए।

जानने का अधिकार तथा सूचना का अधिकार

न्यायालय ने अनुच्छेद 19(1)(क) के द्वारा प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अर्थ का पर्याप्त विस्तार करते हुए निर्धारित किया है कि इस अधिकार में 'जानने का अधिकार' भी निहित है। 'इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स बनाम भारत संघ' (1985) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्धारित किया कि, लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिकों को यह अधिकार भी होता है कि वे सरकार के संचालन से संबंधित तथ्यों को जान सकें। ऐसी सूचनाएँ देने से इंकार केवल उन स्थितियों में किया जा सकता है, जिनमें देश की सुरक्षा या लोकहित के लिए कुछ सूचनाओं को गोपनीय रखना अनिवार्य है। ऐसे फैसलों से धीरे-धीरे स्थापित होता गया है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के मूल्यों के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को यह जानने का अधिकार होना चाहिए कि उसके द्वारा चुनी गई सरकार किस प्रकार अपने दायित्वों का निर्वहन कर रही है। इसके प्रभाव से दो प्रमुख अधिकार नागरिकों को प्राप्त हुए जो निम्नलिखित हैं-

सूचना का अधिकार

भारत में ब्रिटिश शासन के समय से ही कई ऐसे कानून चले आ रहे थे, जो सरकारी सूचनाओं को पारदर्शी न बनाकर गोपनीय बनाए रखने का प्रयास करते थे, ताकि सरकार पर जनता का दबाव न बढ़ सके। यह कहा जाता था कि, गोपनीयता देश की सुरक्षा के हित में है, जबकि वास्तविकता यह थी कि इसका असली उद्देश्य सरकारी कर्मचारियों को उत्तरदायित्व से बचाना था। 'ऑफिशियल्स सीक्रेट्स एक्ट 1923' ऐसा ही एक कानून था, जो अंग्रेजों के समय से चला आ रहा था।

लोकतंत्र की स्थापना के बाद यह स्वाभाविक ही था, कि जनता, सरकार से जुड़ी सूचनाओं की माँग करे। दिसंबर, 2002 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार ने 'सूचना की स्वतंत्रता अधिनियम, 2002' पारित किया। 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार बनने के बाद इस सरकार ने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन द्वारा पारित अधिनियम को निरस्त करके एक नया अधिनियम पारित किया, जिसे 'सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005' कहा जाता है। इस अधिनियम के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण प्रावधान किए गए हैं, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

- अधिनियम की धारा 4 के अनुसार, प्रत्येक सरकारी कार्यालय अपने सभी रिकॉर्ड्स को इस तरह से वर्गीकृत तथा व्यवस्थित करेगा कि मांगे जाने पर कोई भी सूचना दी जा सके। अधिनियम लागू होने के 120 दिनों के भीतर वह अपने संगठन से संबंधित प्रमुख सूचनाएं (जैसे अधिकारियों व कर्मचारियों के नाम, उनके अधिकार व उत्तरदायित्व; कागजातों के प्रकार आदि) सार्वजनिक रूप से विवरणिका या वेबसाइट आदि के माध्यम से प्रकाशित करेगा।
- प्रत्येक कार्यालय में अधिनियम लागू होने के 100 दिनों के भीतर आवश्यक संख्या में जन-सूचना अधिकारियों की नियुक्ति की जाएगी, जो मांगे जाने पर सूचना देने के लिए जिम्मेदार होंगे।
- अधिनियम की धारा 6 के अंतर्गत प्रावधान है कि, कोई भी व्यक्ति, जो कोई सूचना प्राप्त करना चाहता है, अंग्रेजी या हिंदी या क्षेत्र की अन्य राजभाषा में लिखित रूप में या इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से सूचना प्राप्त करने के लिए आवेदन कर सकता है। यह आवेदन जन सूचना अधिकारी को संप्रेषित किया जाएगा।
- यदि मांगी गई सूचना किसी व्यक्ति के प्राण व स्वतंत्रता से संबंधित है तो 48 घंटे के भीतर और यदि साधारण प्रकार की है तो 30 दिनों के भीतर दिया जाना आवश्यक होगा।
- अधिनियम की धारा 8 और 9 में वे आधार बताए गए हैं, जिनके कारण किसी विशेष सूचना को देने से मना किया जा सकता है। जैसे- जिससे भारत की प्रभुता, अखंडता, राज्य की सुरक्षा, रणनीति, वैज्ञानिक या आर्थिक हित या विदेशी संबंध पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो इत्यादि। किन्तु, नागरिकों को ऐसे निर्णय के विरूद्ध निर्दिष्ट अधिकारी के समक्ष अपील करने का अधिकार होगा।
- धारा 12-14 में केंद्रीय सूचना आयोग से संबंधित सभी उपबंध दिए गए हैं, जिनमें आयोग के सदस्यों की नियुक्ति, आयोग के अधिकारों आदि का वर्णन है। इसी प्रकार धारा 15-17 में राज्य सूचना आयोगों से जुड़े उपबंध दिए गए हैं।
- यदि बिना समुचित कारण के सूचना देने से मना किया गया है तो केन्द्रीय सूचना आयोग संबंधित अधिकारी पर 250 रुपये प्रतिदिन की दर से जुर्माना लगा सकता है।
- अधिनियम की धारा 23 में यह उपबंध है कि, इस अधिनियम के अंतर्गत दिये गये किसी भी आदेश के विरूद्ध किसी भी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा। इस धारा को न्यायालय ने असंवैधानिक घोषित करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का मूल लक्षण है जिसे किसी भी अधिनियम के माध्यम से समाप्त नहीं किया जा सकता।
- अधिनियम की धारा 24 में, कुछ ऐसे संगठनों का उल्लेख है जिनसे संबंधित सूचनाओं के लिए यह अधिनियम लागू नहीं होता। इसके अंतर्गत मुख्यत: गुप्तचर तथा सुरक्षा संगठन शामिल हैं।

इस अधिनियम के आने से भारतीय लोकतंत्र में पारदर्शिता का स्तर काफी बढ़ा है। कई सरकारी कर्मचारियों ने सरकार पर दबाव बनाया है कि, इस अधिनियम की कठोरता को कम किया जाए, जबकि 'सूचना के अधिकार' के आंदोलन से जुड़े कई व्यक्तियों को शिकायत है कि जन सूचना अधिकारी सूचनाएँ छिपाने का प्रयास ज्यादा करते हैं, या उन्हें घोषित करने का कम प्रयास करते हैं।

मतदाता को सूचना का अधिकार

'जानने के अधिकार' के आधार पर ही सर्वोच्च न्यायालय ने निर्धारित किया है कि, प्रत्येक मतदाता को अपने उम्मीदवारों के बारे में इतनी सूचनाएं प्राप्त होनी चाहिए कि, वह चुनावों में सही विकल्पों का चयन कर सके। इस मामले में हुआ यह था कि, सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्देश देकर प्रत्येक उम्मीदवार के लिए अपना नामांकन पत्र भरते समय अपनी संपत्ति, देनदारी, शिक्षा तथा आपराधिक रिकॉर्ड से जुड़ी जानकारियाँ देना अनिवार्य कर दिया था। संसद ने एक अध्यादेश के माध्यम से 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम' 1961 (RPA, 1961) की धारा 33 में, संशोधन करके धारा 33(ख) अंत:स्थापित की तथा स्पष्ट किया कि, चुनाव आयोग तथा न्यायालय के आदेशों के बावजूद ये सूचनाएं देना अनिवार्य नहीं है। इसके बाद यह मामला सर्वोच्च न्यायालय में पहुंचा। 'पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ' (2004) नामक इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि मतदाताओं को 'सूचना का अधिकार' संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) के तहत प्राप्त है। चूंकि जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1961 (RPA, 1961) की धारा 33(ख) उसका उल्लंघन करती है, अत: वह अवैध है।

इस आदेश के बाद किसी भी उम्मीदवार के लिए जरूरी है कि वह नामांकन पत्र भरते समय निम्नलिखित 5 सूचनाएँ दे-

- स्वयं अपनी, अपने पति या पत्नी की तथा अपने आश्रितों की चल व अचल संपत्ति का ब्यौरा दें।
- यदि उम्मीदवार की कोई देनदारी शेष हो, विशेषकर सरकारी देनदारी, तो उसका ब्यौरा दें।
- उम्मीदवार की शैक्षिक योग्यता।
- उम्मीदवार का आपराधिक रिकॉर्ड।
- पिछले 6 महीनों में यदि उसे किसी ऐसे मामले में आरोपी ठहराया गया हो जिसमें दो या अधिक वर्ष कारावास की सजा का प्रावधान हो।

राष्ट्रीय ध्वज फहराना- मौलिक अधिकार

22 जनवरी, 2004 को सर्वोच्च न्यायालय ने पारित किया कि, नागरिकों द्वारा अपने घरों, दफ्तरों आदि पर राष्ट्रीय ध्वज फहराना संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क) के तहत मौलिक अधिकार है। राष्ट्रीय ध्वज फहराना किसी नागरिक के राष्ट्र प्रेम एवं सद्भावना का प्रदर्शन है, इसलिए यह मौलिक अधिकार के अंतर्गत आता है। हालांकि यह अधिकार निरपेक्ष नहीं है। इस पर अनुच्छेद 19 के खंड (2) के तहत युक्तियुक्त निर्बंधन लगाये जा सकते हैं। भारतीय नागरिकों को ध्वज संहिता द्वारा शिक्षित किया जाए। राष्ट्रीय ध्वज तथा उसके ध्वजारोहण संबंधी जानकारी ध्वज संहिता में दी गई है, जैसे- ध्वज की लंबाई, चौड़ाई से डेढ़ गुना हो।

मध्य स्थित अशोक चक्र में 24 श्लाकाएं होनी चाहिए। राष्ट्र ध्वज कटा-फटा नहीं होना चाहिए तथा इसे बिना जमीन,दीवार, वृक्ष या मुंडेर से सटे सम्मानजनक स्थान पर फहराना चाहिए। राष्ट्रध्वज को सूर्योदय के बाद फहराएं तथा सूर्यास्त होने पर सम्मानपूर्वक उतार लें। राष्ट्रध्वज का मौखिक, लिखित या किसी प्रकार की गतिविधि द्वारा अपमान करना राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अपमान निवारण अधिनियम 1971 के अधीन दंडनीय अपराध है।

शांतिपूर्वक सम्मेलन की स्वतंत्रता

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार तभी न्यायसंगत सिद्ध होता है, जब जनता को स्वतंत्रतापूर्वक एकत्रित होने का अधिकार प्राप्त हो। इसलिए संविधान में अनुच्छेद 19(1) (ख) के द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के सभा या सम्मेलन आयोजित करने का अधिकार प्रत्याभूत किया गया है, परंतु इस अधिकार की कुछ परिसीमाएँ भी हैं। जैसे– प्रदर्शन व जुलूस की स्वतंत्रता, इस स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि यातायात को ठप्प कर दिया जाए अर्थात् एकत्रित होने के अधिकार पर सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा के लिए प्रतिबंध भी लगाया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार, हड़ताल करने का अधिकार मूल अधिकारों के अंतर्गत कोई अधिकार नहीं है, अतएव किसी भी व्यक्ति को हड़ताल करने से रोका जा सकता है। प्रदर्शन जब हड़ताल का रूप धारण कर लेता है तो वह विचारों को अभिव्यक्त करने का साधन मात्र न रह कर लोक व्यवस्था के समक्ष खतरा बन जाता है। अनुच्छेद 19(3) में लोक व्यवस्था तथा भारत की संप्रभुता और अंखडता के आधार पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

समुदाय या संगठन के निर्माण की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 19(1)(ग) सभी नागरिकों को संघ तथा संगठन बनाने का अधिकार, संविधान द्वारा प्रत्याभूत किया गया है, परंतु उसकी भी परिसीमाएँ अनुच्छेद 19(4) में हैं। स्वतंत्रता की आड़ में नागरिक ऐसे समुदायों का निर्माण नहीं कर सकते, जो षड्यंत्र करे अथवा शांति व्यवस्था को भंग करे या उनका उद्देश्य सुरक्षा एवं शांति को खतरा पहुँचाना या अनैतिकता को प्रोत्साहन देना हो।

सर्वत्र आने-जाने और निवास की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 19(1)(घ) भारत के प्रत्येक नागरिक को अधिकार देता है कि, वह भारत के किसी भी भाग में बिना किसी बाधा के संचरण, भ्रमण या आवागमन कर सकता है। यह अधिकार देने का उद्देश्य यही था कि विभिन्न राज्यों या क्षेत्रों के मध्य क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति न फैले और भारत के नागरिक देश के विभिन्न भागों में अबाध संचरण या भ्रमण के माध्यम से देश के सभी भागों के प्रति लगाव महसूस करें। गौरतलब है कि, अनुच्छेद 19(1)(घ) सिर्फ देश के भीतर संचरण या भ्रमण का अधिकार देता है, देश के बाहर नहीं। देश के बाहर संचरण या भ्रमण का अधिकार अनुच्छेद 21 के तहत आता है, जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कुछ क्रांतिकारी निर्णयों के अंतर्गत स्पष्ट किया है। परंतु इस अधिकार की भी परिसीमाएँ अनुच्छेद 19(5) में हैं। सार्वजनिक हित और अनुसूचित जनजातियों की रक्षा की दृष्टि से इस अधिकार पर उचित प्रतिबंध लगाया जा सकता है। पूर्व में अनुच्छेद 370 के अनुसार, कश्मीर राज्य क्षेत्र में देश के किसी भी राज्य के निवासी को स्थायी निवास करने पर प्रतिबंध लगाया गया था, जिसे अब समाप्त कर दिया गया है।

वृत्ति (व्यवसाय), उपजीविका या व्यापार की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 19 के अनुसार, भारत के सभी नागरिकों को किसी भी व्यवसाय (वृत्ति), उपजीविका अथवा व्यापार की स्वतंत्रता प्रदान की गई है, परंतु इस अधिकार की भी कुछ परिसीमाएँ हैं। राज्य, सामान्य जनता के हित में इन स्वतंत्रताओं पर अनुच्छेद 19(6) द्वारा युक्तियुक्त प्रतिबंध लगा सकता है। उदाहरण के लिए, अत्यावश्यक पदार्थों के उत्पादन व वितरण पर उचित नियंत्रण लगाए जा सकते हैं। किसी भी व्यवसाय अथवा कारोबार के लिए कुछ व्यावसायिक अथवा तकनीकी योग्यताएँ निर्धारित की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, वकील या डॉक्टर का पेशा अपनाने के लिए यह जरूरी है कि नागरिक व्यावसायिक योग्यता रखता हो।

अनुच्छेद 19 का निलंबन

जब अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की उद्घोषणा की जाती है तो अनुच्छेद 358 के अनुसार अनुच्छेद 19 स्वत: निलंबित हो जाता है। आपातकाल में संसद द्वारा पारित किसी विधि या सरकार द्वारा की गई किसी कार्यवाही को अनुच्छेद 19 के उल्लंघन के आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

अनुच्छेद 19 उन मामलों में भी लागू नहीं होता है, जिनका संबंध अनुच्छेद 31(क), 31(ख) और 31(ग) से है। अनुच्छेद 31(क) और 31(ख) संविधान के प्रथम संशोधन के माध्यम से जोड़े गए थे जबकि 31(ग) '25वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1971' के माध्यम से जोड़ा गया था।

अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण

अनुच्छेद 20, संविधान में ऐसे व्यक्तियों की सुरक्षा को भी मूल अधिकार के रूप में वर्गीकृत किया गया है, जो किसी अपराध के लिए आरोपित किए जाते हैं। इसका संबंध इस बात से है कि राज्य किसी व्यक्ति को मनमाने तरीके से दंडित न कर सके। यह संरक्षण निम्नलिखित तीन प्रकार की दोष सिद्धि के विरुद्ध उपलब्ध है–

भूतलक्षी विधायन (Retrospective Legislation or Expost Facto Law)

इसका अर्थ है, किसी कानून को पूर्ववर्ती काल से लागू तथा क्रियान्वित करना। संसद को यह शक्ति संविधान द्वारा दी गयी है। यह सिविल विधायन पर प्रयुक्त होता है, किन्तु आपराधिक विधायन को विगत या पूर्ववर्ती काल से प्रभावी नहीं बनाया जा सकता।

द्वैध दण्डादेश या दोहरा जोखिम (Double Jeopardy) "किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दंडित नहीं किया जाएगा।" यदि किसी व्यक्ति पर अभियोग चलाया गया हो किन्तु दंड न दिया गया हो तो उसे उसी मामले में, उन्हीं तथ्यों के आधार पर पुन: अभियुक्त नहीं बनाया जा सकता है और प्राधिकरण (authority) द्वारा निर्दिष्ट समय सीमा से अधिक दण्ड नहीं दिया जा सकता, परन्तु यदि किसी लोकसेवक (Civil Servant) को आपराधिक आरोपों में पदच्युत किया जाता है, तो उसकी पदच्युति (Dismissal) द्वैध दण्डादेश के अंतर्गत नहीं आती। उस पर न्यायालय में पुन: मुकदमा चलाया जा सकता है, अर्थात् उसे अभियोजित किया जा सकता है। यदि दूसरी कार्यवाही पहली कार्यवाही की ही उत्तरवर्ती कार्यवाही हो तो दोहरे दंड से सुरक्षा प्राप्त नहीं होती है।

अपने विरुद्ध साक्षी बनने का प्रतिषेध

किसी भी अभियुक्त को अपने विरुद्ध साक्षी बनने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। आपराधिक विधि का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि, किसी अभियुक्त

को तब तक निर्दोष माना जाएगा, जब तक अभियोग सिद्ध नहीं होता। अपराध को सिद्ध करना अभियोजन पक्ष का दायित्व है। इस अधिकार का उद्देश्य यह है कि, अभियोजन की प्रक्रिया में किसी व्यक्ति पर क्रूर, अमानवीय या यातनापूर्ण पूछताछ जैसी प्रक्रियाओं का प्रयोग न किया जाए।

जीवन एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता का संरक्षण (अनुच्छेद 21):

अनुच्छेद 21 के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं। कालक्रम में न्यायालय के विभिन्न निर्णयों द्वारा अनुच्छेद 21 में निहित जीवन की स्वतंत्रता के अधिकार के अर्थ का विस्तार किया गया, परिणामस्वरूप आज यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मौलिक अधिकार हो गया है। आज यह अनुच्छेद केवल जीवन व दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार के लिए ही नहीं है, बल्कि गरिमा तथा मानव-व्यक्तित्व के अन्य सभी गुणों के अधिकार के लिए भी है, जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है।

आज अनुच्छेद 21 संविधान के "भाग 3 की आधारशिला" बन गया है। कुछ निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्धारित किया है कि, स्वच्छ एवं स्वास्थ्यप्रद व्यवस्था का अधिकार जीवन के अधिकार का एक भाग है। यह अनुच्छेद व्यक्ति को विधायी तथा कार्यपालिका संबंधी दोनों प्रकार की कार्यवाहियों से संरक्षण प्रदान करता है।

44वें संविधान संशोधन (1978) द्वारा जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपातकाल की स्थिति में भी जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता।

न्यायालय की व्याख्याओं के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जीवन की सुरक्षा के अंतर्गत निम्नलिखित को शामिल किया गया है:-

- विदेश में जाने या विदेश में भ्रमण की स्वतंत्रता।
- त्वरित अन्वेषण तथा विचारण का अधिकार।
- नि:शुल्क विधिक सहायता का अधिकार।
- यातना न दिए जाने को शामिल करके मानवीय गरिमा का अधिकार।
- निरूद्ध व्यक्ति द्वारा अपने विधिक सलाहकार तथा कुटुम्ब के सदस्यों और मित्रों के साथ मुलाकात करने का अधिकार।
- पुलिस की क्रूरता के विरूद्ध अधिकार।
- लोक स्वास्थ्य को बनाए रखने तथा उसकी प्रोन्नति का अधिकार।
- दोष मुक्ति के बाद अवैध रूप से कारागार में निरूद्ध रखने पर प्रतिकार का अधिकार।
- अपील करने का कानूनी अधिकार।
- जीविकोपार्जन का अधिकार।

शिक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 21क)

- संविधान (86वां संशोधन) अधिनियम, 2002 के द्वारा अनुच्छेद 21(क) अंत:स्थापित करके एक नया मूल अधिकार बनाया गया है। इसके द्वारा राज्य को यह कर्तव्य सौंपा गया है कि, वह 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बालकों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा। इस अधिकार की अनुपूर्ति के लिए राज्य समुचित विधि बनाएगा। शिक्षा समवर्ती सूची का विषय है इसलिए राज्य और संघ दोनों ही विधि बना सकते हैं।
- सरकार 'सर्व शिक्षा अभियान' के माध्यम से तथा नि:शुल्क दोपहर का भोजन व किताबें आदि उपलब्ध कराकर ऐसे बच्चों को लक्षित कर रही है, जो विद्यालय नहीं जाते हैं।
- ऐसे विद्यार्थी जो एक ही स्थान पर लम्बे समय तक नहीं रहते, जैसे निर्माण कार्य में संलग्न मजदूरों के बच्चे, के लिए मोबाइल विद्यालय उपलब्ध कराने जैसे कदम उठाए जा रहे हैं।
- इसी 86वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 45 के स्थान पर दूसरा निदेशक तत्त्व रखा गया है। पूर्व में निदेशक तत्त्व बालकों की नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा के बारे में था। नए अनुच्छेद 45 द्वारा राज्य को यह निदेश दिया गया है कि, वह 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों की देखरेख और शिक्षा का प्रबंध करेगा।
- 86वें संशोधन से अनुच्छेद 51(क) में एक मूल कर्तव्य भी जोड़ा गया है। इसके अनुसार, प्रत्येक माता-पिता या अभिभावक का यह कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों या प्रतिपाल्य के लिए 6 से 14 वर्ष की आयु के बीच शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

देश में पहली बार नदी को विधिक व्यक्ति का दर्जा मिला

उत्तराखंड हाईकोर्ट ने गंगा व यमुना को विधिक व्यक्ति की तरह अधिकार प्रदान किया है अर्थात् इन नदियों को विधिक व्यक्ति का दर्जा प्राप्त हो गया है। अब इन दोनों नदियों को क्षति पहुंचाना किसी इंसान को नुकसान पहुंचाने जैसा माना जाएगा। विदित है कि इससे पहले न्यूजीलैंड ने 'व्हांगानूई' नदी को जीवित मानव के समान अधिकार दिये हैं।

निद्रा का अधिकार

- सर्वोच्च न्यायालय ने जीवन के अधिकार के दायरे को विस्तृत करते हुए नागरिकों को निद्रा के अधिकार को भी अनुच्छेद 21 के अंतर्गत शामिल किया है।
- निद्रा का अधिकार जीवन के अधिकार में समाहित एक अधिकार है। इस अधिकार के अंतर्गत, एक नागरिक के लिए 'चैन की नींद' को स्वस्थ जीवन के लिए अनिवार्य माना गया है।
- निद्रा का अधिकार मौलिक अधिकारों की श्रेणी में शामिल कर लिया गया है तथा प्राधिकरण को इसकी रक्षा करने का उपाय करना होगा।
- निद्रा मनुष्य के लिए आवश्यक है, जिससे वह अपने अस्तित्व एवं उत्तरजीविता के लिए आवश्यक स्वास्थ्य में संतुलन बनाए रख सकता है, इसी कारण नींद मनुष्य का बुनियादी मानव अधिकार है।
- निद्रा के अधिकार को भोजन का अधिकार, गोपनीयता का अधिकार एवं साँस लेने के अधिकार के समान मौलिक अधिकार (अनुच्छेद 21 के तहत) माना जायेगा।

दयामृत्यु

यूथेनेशिया शब्द की उत्पत्ति मूलत: ग्रीक (यूनानी) पद यूथैनटोस से हुई है। 'यूथेनेशिया' का शब्दिक अर्थ 'एक अच्छी अथवा आनंदपूर्ण मृत्यु' है। मूलत: कष्टकारी और असाध्य रोगों या शारीरिक अक्षमता से पीड़ित व्यक्तियों को कष्ट एवं पीड़ा से मुक्ति दिलाने हेतु जानबूझ कर उनके जीवन का अंत करने की प्रक्रिया को 'यूथेनेशिया' कहते हैं। उपचार रोककर मृत्यु देने को 'निष्क्रिय यूथेनेशिया' तथा प्राणघातक पदार्थों का प्रयोग कर मृत्युकारित करने को 'सक्रिय यूथेनेशिया' कहा जाता है।

स्मरणीय तथ्य

पूर्व मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा की अध्यक्षता वाली पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने गैर-सरकारी संगठन कॉमन कॉज की याचिका पर विचार करने के उपरांत दयामृत्यु जैसे गंभीर मुद्दे पर 9 मार्च, 2018 को अपना ऐतिहासिक निर्णय सुनाया।

न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के अनुसार, भारत में निष्क्रिय यूथेनेशिया न्यायोचित तथा कानूनी रूप से मान्य है, जबकि सक्रिय यूथेनेशिया की अनुमति नहीं है।

न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के प्रमुख बिन्दु

- प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के प्राकृतिक रूप से अंत होने के समय गरिमापूर्ण ढंग से मृत्यु का अधिकार है, हालांकि जीवन की प्राकृतिक अवधि में कटौती कर अप्राकृतिक मृत्यु का अधिकार किसी को भी प्राप्त नहीं है।
- चेतन मनोदशा की स्थिति वाले किसी वयस्क व्यक्ति को चिकित्सीय उपचार को लेने से मना करने या उसके उपचार के लिए प्रयुक्त हो रही जीवन रक्षक प्रणाली को हटाने का निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार है और वह प्राकृतिक रूप से मृत्यु को गले लगाने का निर्णय ले सकता है।

- ऐसे रोगी जो अपने उपचार के विषय में उचित निर्णय लेने में सक्षम नहीं है, के संबंध में जीवन रक्षक प्रणाली को उपचार से हटाने का निर्णय रोगी के सर्वोत्तम हित में निर्दिष्ट सक्षम चिकित्सीय विशेषज्ञों द्वारा लिया जाएगा।
- लिविंग विल या अग्रिम चिकित्सीय निर्देश के क्रियान्वयन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है और यह राज्य की किसी स्वीकृति या कानून पर निर्भर नहीं है। ऐसे अधिकार किसी व्यक्ति द्वारा उसे प्राप्त 'शारीरिक अखंडता और आत्म निर्णय के अधिकार' के अनुसरण एवं समर्थन में प्रयोग किए जा सकते हैं।

कुछ दशाओं में गिरफ्तारी व निरोध से संरक्षण: अनुच्छेद 22

अनुच्छेद 22, किसी व्यक्ति को गिरफ्तारी एवं निरोध से संरक्षण प्रदान करता है। हिरासत दो तरह की होती है- दंड विषयक (कठोर) और निवारक। दंड विषयक हिरासत, एक व्यक्ति को दंड देती है, जिसने अपराध स्वीकार कर लिया है और अदालत में उसे दोषी ठहराया जा चुका है। निवारक हिरासत वह है, जिसमें बिना सुनवाई के अदालत में दोषी ठहराया जाए। इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को पिछले अपराध पर दंडित न कर भविष्य में ऐसे अपराध न करने की चेतावनी देने जैसा है। इस तरह निवारक हिरासत केवल शक के आधार पर एहतियाती होती है।

अनुच्छेद 22 के दो भाग हैं- पहला भाग साधारण कानूनी मामले से संबंधित है, जबकि दूसरा भाग निवारक हिरासत के मामलों से संबंधित है।

- गिरफ्तार करने के आधार पर सूचना देने का अधिकार।
- विधि व्यवसायी से परामर्श और प्रतिरक्षा कराने का अधिकार।
- दंडाधिकारी (मजिस्ट्रेट) के सम्मुख 24 घंटे में, यात्रा के समय को निकाल कर पेश होने का अधिकार।
- दंडाधिकारी द्वारा बिना अतिरिक्त निरोध दिए 24 घंटे में रिहा करने का अधिकार।

यह सुरक्षा कवच शत्रु- अन्यदेशीय व्यक्ति या निवारक हिरासत कानून के अंतर्गत गिरफ्तार व्यक्ति के लिए उपलब्ध नहीं है।

अनुच्छेद 22 का दूसरा भाग उन व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करता है, जिन्हें निवारक निरोध विषयक कानून के अंतर्गत गिरफ्तार किया गया है। यह सुरक्षा नागरिक एवं विदेशी दोनों को उपलब्ध है। इसमें शामिल है-

- व्यक्ति की हिरासत तीन माह से ज्यादा नहीं बढ़ाई जा सकती, जब तक कि सलाहकार बोर्ड इस बारे में उचित कारण न बताए। बोर्ड में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश होंगे।
- निरोध का आधार संबंधित व्यक्ति को बताया जाना चाहिए। हालांकि सार्वजनिक हितों के विरूद्ध इसे बताना आवश्यक नहीं है।
- निरोध वाले व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह निरोध के आदेश के विरूद्ध अपना प्रतिवेदन करे।

निवारक निरोध विधियों का इतिहास

अनुच्छेद 21 में प्रदत्त अधिकार का प्रयोग करते हुए संसद ने निवारक निरोध से संबंधित कई कानून बनाए हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

निवारक निरोध अधिनियम- यह अधिनियम 1950 में पारित किया गया था। इसकी खास बात यह थी कि, इसमें सलाहकार बोर्ड को निरोध आदेश के 10 सप्ताह के भीतर सरकार को रिपोर्ट भेजने का प्रावधान था।

आंतरिक सुरक्षा अधिनियम- 1971 में कांग्रेस की सरकार ने यह अधिनियम पारित किया और इसके माध्यम से निवारक निरोध की व्यवस्था पुन: लागू कर दी। इसके प्रावधान प्राय: वही थे जो 'निवारक निरोध अधिनियम, 1950' के थे। आगे चलकर, यह अधिनियम जनता पार्टी सरकार द्वारा 1978 में निरसित किया गया।

विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम (कोफेपोसा)- यह अधिनियम संसद ने 1974 में पारित किया था। वस्तुत: यह 1971 के 'आंतरिक सुरक्षा अधिनियम' के पूरक के तौर पर बनाया गया था। जहां 'आंतरिक सुरक्षा अधिनियम' का उद्देश्य आंतरिक सुरक्षा से जुड़े प्रश्नों पर निवारक निरोध की व्यवस्था लागू करना था, वहीं 'कोफेपोसा' का उद्देश्य तस्करी तथा विदेशी मुद्रा से जुड़े अपराधों के संबंध में निवारक निरोध की व्यवस्था लागू करना था।

चोरबाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980- यह अधिनियम जनता पार्टी सरकार द्वारा पारित किया गया था। जनता पार्टी सरकार ने मीसा अधिनियम को तो निरस्त कर दिया था, किन्तु कुछ समय बाद उसे लगने लगा कि निवारक निरोध की व्यवस्था बनाए रखना आवश्यक है। इसलिए, इस सरकार ने 'चोरबाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम' का निर्माण किया, जो निवारक निरोध की व्यवस्था करता था, किंतु इस कानून के प्रावधान अन्य कानूनों की तुलना में लचीले थे। इसमें निरोध के 5 दिनों के भीतर निरूद्ध व्यक्ति को निरोध के आधार बताए जाने थे जिसे अपवादिक परिस्थितियों में 14 दिनों तक बढ़ाया जा सकता था। सलाहकार बोर्ड के पास निरोध की तिथि के तीन सप्ताह के भीतर मामला भेजा जाना था और बोर्ड को निरोध की तिथि से सात सप्ताह के भीतर रिपोर्ट देनी थी। इस रिपोर्ट के सकारात्मक होने पर भी निरोध की अधिकतम अवधि 6 महीने ही हो सकती थी। इतना ही नहीं, इसमें पीड़ित व्यक्तियों को अधिकार दिया गया था कि वे अनुच्छेद 32 या अनुच्छेद 226 के अंतर्गत, न्यायालय में निरोध आदेश की वैधता को चुनौती दे सकते हैं। यह प्रावधान पहले के कानूनों में नहीं था।

राष्ट्रीय सुरक्षा कानून, 1980- इंदिरा गांधी की सरकार 1980 में पुन: बनी। जनता पार्टी की सरकार 1978 में 'आंतरिक सुरक्षा अधिनियम' को निरस्त कर चुकी थी। इंदिरा गांधी की सरकार, ने 1980 में सत्ता संभालने के तुंरत बाद 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' ('रासुका' नाम से प्रसिद्ध) या 'राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम' पारित कराया, जो एक अर्थ में 'आंतरिक सुरक्षा अधिनियम' का ही नया रूप था।

आतंकवादी एवं विध्वसंक गतिविधियां (निवारक) अधिनियम, 1987- 'टाडा' (TADA) के नाम से प्रसिद्ध यह अधिनियम पहला ऐसा प्रयास था, जिसमें केंद्र सरकार ने 'आंतकवादी गतिविधियों' को परिभाषित किया था और उनसे निपटने के लिए विशेष प्रावधान किए थे। 1980 के दशक में पंजाब में आतंकवाद के बढ़ने के कारण इस अधिनियम की जरूरत महसूस की गई थी। 'टाडा' (TADA) पहली बार 1985 में लागू हुआ था। इसमें प्रावधान था कि दो वर्षों की अवधि पूरी होने पर यह स्वत: समाप्त हो जाएगा। इसलिए, सरकार के लिए जरूरी था कि यदि वह इसे बनाए रखना चाहती है तो हर दो वर्ष में इसे संसद से पुन: पारित कराए। 1987 में इसे कुछ संशोधनों के साथ पुन: पारित करके लागू किया गया। 1989, 1991 और 1993 में इसे यथावत रूप से पुन: लागू किया गया किंतु 1995 में इसे समाप्त हो जाने दिया गया, क्योंकि मानवाधिकार कार्यकताओं तथा विपक्षी दलों द्वारा इसकी व्यापक आलोचना की जा रही थी।

आतंकवाद निवारक अधिनियम, 2002- 1995 में नरसिंह राव की कांग्रेस सरकार ने टाडा को समाप्त हो जाने दिया था और उसके बाद से आतंकवाद से लड़ने के लिए कोई विशेष कानून अस्तित्व में नहीं था। 1999 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार बनी जो आतंकवाद के विरूद्ध कठोर कार्यवाही करने के पक्ष में थी। 11 सितंबर, 2001 को अमेरिका में हुई आतंकवादी घटना, जिसमें वर्ल्ड ट्रेड सेंटर को ध्वस्त कर दिया था, को देखते हुए सरकार ने तय किया कि आतंकवादी घटनाओं से निपटने के लिए विशेष कानून बनाया जाना चाहिए। इस दिशा में पहला कदम 2001 में उठाया गया जब 'पोटा' अर्थात् 'आतंकवाद निवारक अध्यादेश, 2001' जारी किया गया। 2002 में इसी अध्यादेश को संसद द्वारा पारित कराया गया और तब से 'पोटा' में रूपांतरित हो गया।

गैर कानूनी गतिविधियाँ (निवारण) संशोधन अधिनियम, 2008- पोटा को समाप्त कर देने के बाद संप्रग सरकार के पास कोई ऐसा कानून नहीं था, जिसके तहत वह आतंकवादी गतिविधियों से प्रभावी तौर पर निपट पाती। इसलिए उसने कोई नया कानून बनाकर आलोचनाएं झेलने की बजाय एक पुराने कानून में ही संशोधन करके काम चलाने का निर्णय किया।

निवारक निरोध

- यदि किसी व्यक्ति पर कुछ ऐसे कार्य किए जाने का संदेह अथवा युक्तियुक्त संभाव्यता (Probability) हो, जिससे समाज को क्षति पहुँच सकती है और समाज की सुरक्षा खतरे में पड़ती हो, तो उस व्यक्ति को निवारक निरोध के तहत निरुद्ध (Detained) किया जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए अनुच्छेद 22 का प्रावधान लागू नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के संरक्षण के लिए अनुच्छेद 22 में कुछ प्रावधान हैं। वे हैं–
- संदेह के आधार पर निरुद्ध व्यक्ति को अधिकतम 3 महीनों तक निरुद्ध रखा जा सकता है।
- निरुद्ध व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारण से यथा शीघ्र अवगत करना चाहिए।
- निरुद्ध व्यक्ति को अपने वाद (Case) को विधि के प्राधिकार के समक्ष रखने का अवसर यथा शीघ्र मिलना चाहिए।
- यदि सरकार गिरफ्तार व्यक्ति को तीन महीनों से अधिक समय तक निरुद्ध रखना चाहती है, तो उस निरोध का सत्यापन एक 'परामर्शदाता निकाय (Advisory Body)' द्वारा किया जाना चाहिए, जो पूर्णत: न्यायिक निकाय है।
- (Conservation of Foreign Exchange and Prevention of Smuggling Activities Act- COFEPOSA), (Terrorist and Disruptive Activities Act- TADA), जो मई, 1995 में समाप्त हो गया और (National Security Act- NSA) आदि के संदर्भ में निवारक निरोध की अवधि 6 महीने या इससे अधिक हो सकती है।
- निवारण के आधार पर किसी व्यक्ति को जिस अधिकतम समय सीमा तक निरुद्ध किया जा सकता है, उसके निर्धारण की शक्ति संसद को प्राप्त है।
- संसद ने 1950 में पहला निवारक निरोध अधिनियम पारित किया था।

आपात उद्घोषणा और अनुच्छेद 21

आपातकाल की स्थिति में अनुच्छेद 21 की स्थिति को लेकर काफी विवाद होता रहा है। ध्यातव्य है कि संविधान में राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि यदि अनुच्छेद 352 के तहत देश में आपात की घोषणा की गई है तो वह अनुच्छेद 359 के अंतर्गत विशेष आदेश निकालकर संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों में से जिन्हें उचित समझे, न्यायालय से प्रवर्तित कराए जाने का अधिकार निलंबित कर सकता है। अत: अनुच्छेद 21 का निलबंन अनुच्छेद 359 में दी गई शक्ति के आधार पर किया जा सकता है। 1962 के भारत चीन युद्ध के दौरान पहली बार तथा 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध में दूसरी बार अनुच्छेद 21 को निलंबित किया गया था। तीसरी बार यह तब हुआ जब 1975 में 'आंतरिक अशांति' के आधार पर आपात की उद्घोषणा होने के बाद राष्ट्रपति ने इस आशय की घोषणा की।

आपातकाल की समाप्ति के बाद 1977 के चुनाव में जनता पार्टी की सरकार बनी, जिसने चुनावी घोषणाओं में वायदा किया था कि वह दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार की सुरक्षा के लिए ठोस कदम उठाएगी। जनता पार्टी की सरकार के प्रयासों से संसद ने '44वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1978' पारित किया जिसमें अनुच्छेद 359 का संशोधन करके यह व्यवस्था कर दी गई कि अनुच्छेद 20 और 21 द्वारा दिए गए अधिकारों को राष्ट्रपति के आदेश द्वारा भी निलंबित नहीं किया जा सकेगा।

शिक्षा का अधिकार

अनुच्छेद 21(क) में राज्य को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह 6 से 14 वर्ष तक की उम्र के बच्चों को अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा उपलब्ध कराएगा। 86वें संविधान संशोधन द्वारा यह मूल अधिकार प्रदान किया गया, पहले यह राज्य के नीति निदेशक तत्वों में अनुच्छेद 45 के अंतर्गत समाहित था। यह अधिकार देश के भावी पीढ़ी के सर्वांगीण विकास का अवसर उपलब्ध कराता है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार
(Right Against Exploitation)

न्याय का एक आवश्यक पहलू यह भी है कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण करना, समाप्त किया जाए। भारतीय संविधान द्वारा न्याय के इस आदर्श की पुष्टि के लिए 'शोषण' को अपराध घोषित किया गया है।

- अनुच्छेद-23 के द्वारा मानव दुर्व्यापार तथा किसी भी व्यक्ति से बेगार या जबरदस्ती काम लेना गैर-कानूनी घोषित किया गया है। इस अनुच्छेद में प्रयुक्त मानव दुर्व्यापार शब्द का अभिप्राय पुरूष, महिला एवं बच्चों की वस्तु के समान खरीद-बिक्री, है। बेगार का अभिप्राय बिना पारिश्रमिक के काम कराना होता है। यह अनुच्छेद, अमेरिकी संविधान के तेरहवें संशोधन की तरह है, जिसमें दासता का अंत किया गया है। भारत में भी सदियों से किसी न किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान थी, जिसके अनुसार हरिजनों, खेतिहर श्रमिकों तथा स्त्रियों पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। अत: संविधान में मानवीय शोषण के इन सभी रूपों को कानून के अनुसार दण्डनीय घोषित कर दिया गया है। इस अधिकार का एक महत्त्वपूर्ण अपवाद भी है कि, राज्य सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है, लेकिन ऐसा करते समय राज्य नागरिकों के बीच धर्म, मूलवंश, जाति, वर्ण या सामाजिक स्तर के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।
- अनुच्छेद-24 के अनुसार, 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानों या अन्य किसी जोखिम भरे काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। लेकिन यह अनुच्छेद किसी नुकसान न पहुंचाने वाले अथवा निर्दोष कार्यों में नियोजन का प्रतिषेध नहीं करता है। इस निषेध का उद्देश्य मानव अधिकारों संबंधी अवधारणाओं के द्वारा एक वास्तविक सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना है।

बाल श्रम से संबंधित घटनाक्रम

बाल श्रम (निषेध एवं विनियमन) संशोधन अधिनियम, 2016 द्वारा श्रम (निषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 को संशोधित कर दिया गया है। इसने मूल अधिनियम का नया नामकरण कर बाल एवं किशोर श्रम (निषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 किया गया।

- संशोधन अधिनियम 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को सभी व्यवसायों एवं प्रक्रियाओं में रोजगार निषिद्ध करता है। पहले यह निषेध 18 व्यवसायों एवं 65 प्रक्रियाओं पर लागू था।
- संशोधन अधिनियम किशोरों (14 से 18 वर्ष की आयु) की कतिपय खतरनाक व्यवसायों एवं प्रक्रियाओं में रोजगार का निषेध करता है।
- संशोधन अधिनियम ने उल्लंघन करने वालों के लिए कड़े दंड का भी प्रावधान किया है- 6 माह से 2 वर्ष तक की कैद अथवा 20000 रुपये से 50000 रुपये तक जुर्माना अपराध दोहराए जाने पर कैद की अवधि 1 से 3 वर्ष की होगी।
- बाल अधिकारों के संरक्षण के उद्देश्य से 23 फरवरी, 2007 को देश में केन्द्रीय स्तर पर एक राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग का गठन किया गया था।

धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
(Right to Religious Freedom)

भारत के संविधान की उद्देशिका समस्त नागरिकों को विचार, अभिव्यक्ति, आस्था, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करती है।

संविधान के अनुसार, भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, जिसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारत के लोगों का कोई धर्म नहीं है या भारत के लोग धर्म के प्रति उदासीन है, बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि भारत में संघ सरकार या राज्य सरकारों का कोई धर्म नहीं है और भारत में सभी लोगों को संविधान द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई है। धार्मिक स्वतंत्रता के संबंध में अनुच्छेद 25 से 28 तक प्रावधान किया गया है।

अंत:करण की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 25 के अनुसार, सभी व्यक्तियों को अन्त:करण की स्वतंत्रता का और धर्म को बिना किसी बाधा के मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार है। लेकिन इस स्वतंत्रता तथा अधिकार पर लोक व्यवस्था, सदाचार एवं स्वास्थ्य के आधार पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है, परन्तु इसमें किसी व्यक्ति को अपने धर्म में धर्मांतरित करने का अधिकार सम्मिलित नहीं है। यह अधिकार सभी व्यक्तियों, नागरिकों एवं गैर-नागरिकों सबके लिए उपलब्ध है। यह राज्य को इस बात की अनुमति देता है कि धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन करे तथा सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोला जाए।
उदाहरण- कृपाण धारण करना और लेकर चलना सिख धर्म का अंग है।

धार्मिक मामलों को प्रबंध करने की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 26 के अनुसार, प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को धार्मिक संस्थाओं तथा दान से पोषित सार्वजनिक सेवा संस्थाओं की स्थापना तथा उनके संचालन का अधिकार, धर्म संबंधी निजी मामलों के प्रबंधन का अधिकार, चल और अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार और उक्त सम्पत्ति का विधि के अनुसार संचालन करने का अधिकार प्रदान किया गया है।
अनुच्छेद 26 के अधीन अधिकार भी लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन हैं, लेकिन वे अन्य मूल अधिकारों के अधीन नहीं है। अनुच्छेद 25 के अधीन किए गए प्रावधानों के अनुसार, न्यायालयों ने धर्म के जरूरी तथा गैर-जरूरी पक्षों के बीच विभेद किया है। न्यायालयों के अनुसार धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति को विधि द्वारा विनियमित किया जा सकता है किंतु प्रशासन के अधिकार को पूरी तरह से छीना नहीं जा सकता।

धर्म की अभिवृद्धि के लिए कर न देने की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 27 में उल्लेख किया गया है कि, किसी भी व्यक्ति को किसी भी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि या पोषण में किए गए खर्च के लिए कोई कर अदा करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि करों का इस्तेमाल सभी धर्मों की अभिवृद्धि के लिए किया जाता है तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह पंथनिरपेक्षता की अवधारणा के अनुरूप है और इसका अर्थ है, सर्वधर्म समभाव। संविधान किसी विशेष धर्म पर किए जाने वाले व्यय को कर से मुक्त करता है, लेकिन यदि राज्य किसी धार्मिक सम्प्रदाय के लिए कोई कार्य करता है, तो ऐसे कार्य के लिए राज्य उस धार्मिक सम्प्रदाय के लोगों से शुल्क वसूल करता है। कर और शुल्क में अंतर होता है। राज्य बिना किसी सेवा के कर वसूलता है, जबकि सेवा करने के बदले शुल्क वसूलता है।

राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का निषेध

अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि, राजकीय निधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाएगी। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि संविधान ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की है। लोक व्यवस्था तथा सदाचार के लिए राज्य उपरोक्त स्वतंत्रताओं पर आवश्यक प्रतिबंध लगा सकता है। उदाहरण के लिए, धार्मिक स्वतंत्रता की आड़ में कोई बाल-वध या कन्या-वध जैसे जघन्य अपराध नहीं कर सकता। कमिश्नर, हिंदू रिलीजिअस एंडोमेंट्स बनाम लक्ष्मीन्द्र के विवाद में न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि धार्मिक स्वतंत्रता के प्रावधान-भारत के नागरिकों के लिए ही नहीं अपितु सभी व्यक्तियों के लिए हैं, जिनमें विदेशी भी शामिल हैं। यद्यपि धर्म के विषयों को संविधान में जगह देने पर यह धर्म निरपेक्षता के मूल्यों का विरोधाभासी प्रतीत होता है, परंतु संविधान द्वारा धर्म को एक वैयक्तिक विषय के रूप में देखा गया है और इसे लोगों के व्यक्तिगत अधिकारों के रूप में परिभाषित किया गया है। साथ ही सभी धर्मों के प्रति समान दृष्टिकोण रखने एवं राज्य द्वारा किसी धर्म के प्रति विभेदकारी व्यवहार को प्रतिबंधित करते हुये यह अपनी धर्मनिरपेक्ष प्रकृति बनाए हुये है।

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (Culture and Education Related Rights)

भाषा, लिपि और संस्कृति को बनाए रखने का अधिकार

अनुच्छेद 29, भारत में कहीं भी निवास करने वाले नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति हैं, उसे बनाए रखने के अधिकार की गारंटी देता है। किसी भी नागरिक को राज्य द्वारा चलाई जाने वाली अथवा उससे सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षा में केवल धर्म, मूलवंश, जाति या भाषा के कारण प्रवेश देने से इंकार नहीं किया जाएगा।
अनुच्छेद 29, धार्मिक अल्पसंख्यकों एवं भाषायी अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करता है। हालांकि उच्चतम न्यायालय ने कहा कि, इस अनुच्छेद की व्यवस्था अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक दोनों के लिए है। उच्चतम न्यायालय ने यह व्यवस्था भी दी है कि भाषा की रक्षा में भाषा के संरक्षण हेतु आंदोलन करने का अधिकार भी सम्मिलित है। भाषा के संरक्षण हेतु राजनीतिक भाषण या वादे जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 का उल्लंघन नहीं करते हैं।

शिक्षण संस्थाएँ कायम करने का अधिकार

अनुच्छेद 30 सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी पसंद की शिक्षण संस्थाएं कायम करने और उनका प्रबंध करने का अधिकार देता है। राज्य आर्थिक सहायता देने में ऐसी संस्थाओं के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।
44वें संविधान संशोधन द्वारा, सम्पत्ति के मूल अधिकार को समाप्त करने का जो कार्य किया गया है उसके संबंध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इससे अल्पसंख्यकों के अपनी रूचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा इन शिक्षण संस्थाओं के प्रशासन के अधिकार पर कोई आघात नहीं पहुँचेगा। सेंट स्टीफेंस कॉलेज बनाम दिल्ली विश्वविद्यालय, (1992) के विवाद में न्यायालय ने यह निर्णय दिया की पंथनिरपेक्षता या अल्पसंख्यकों के नाम पर अल्संख्यकों को अधिक अधिकार नहीं दिये जा सकते क्योंकि राष्ट्र की एकता और सद्भावना के लिए बहुसंख्यकों का विश्वास भी समान रूप से आवश्यक है। अत: अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थान अपने समुदाय के विद्यार्थियों के लिए अधिकतम 50 प्रतिशत तक स्थान आरक्षित कर सकते हैं।
संविधान में अल्पसंख्यकों को दी गई विशिष्टता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अल्पसंख्यक राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में घुल-मिल न सकें। इसका अभिप्राय यह है कि, देश की प्रगति के साथ-साथ बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों को एक-दूसरे से अलग करने वाले अवरोध धीरे-धीरे कम होते जाएं और भारत का परम्परावादी एवं नियमनिष्ठ समाज एक समन्वित, गतिशील समाज बनकर राष्ट्रीय आदर्शों और आकांक्षाओं के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहे।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार (Right to Constitutional Remedies)

भारतीय संविधान न केवल अधिकारों की एक व्यापक सूची प्रस्तुत करता है, बल्कि उन अधिकारों की रक्षा की भी व्यवस्था करता है। अधिकारों की रक्षा का उत्तरदायित्व उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को सौंपा गया है।

अनुच्छेद 32, सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा मौलिक अधिकारों के क्रियान्वयन की संस्थागत रूप-रेखा प्रदान करता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इस अनुच्छेद को 'मौलिक अधिकारों का आधारतत्व' (Fundamental of Fundamental Rights) तथा 'संविधान की हृदय व आत्मा' (The Heart & Soul of the Constitution) कहा है। यह अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के मूल अधिकारों का सजग प्रहरी बना देता है।

अनुच्छेद 32 के तहत, मौलिक अधिकारों के क्रियान्वयन हेतु सर्वोच्च न्यायालय को विविध प्रकार के रिट (Writ) जारी करने का अधिकार है। रिट (Writ) जारी करने की यह संकल्पना ब्रिटिश संविधान से ली गई है।

विशेषाधिकार रिटें

अनुच्छेद 32 के अंतर्गत पाँच प्रकार की रिटों (Writ) का प्रावधान किया गया है, जो इस प्रकार हैं–

बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)

इसका शाब्दिक अर्थ है, सशरीर उपस्थित होना, अर्थात् न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना। अर्थात् न्यायालय बन्दी व्यक्ति को सशरीर उपस्थित करने का आदेश देता है, जिससे उसे बन्दी बनाए जाने के कारणों की जांच की जा सके। राज्य व व्यक्तियों दोनों की मनमानी कार्यवाहियों के विरुद्ध किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के संरक्षण हेतु इस प्रकार का रिट (Writ) जारी किया जाता है। पीड़ित व्यक्ति ऐसी कार्यवाहियों के विरुद्ध मुआवजे तक की माँग कर सकता है।

जनहित याचिका (Public Interest Litigation)

- जनहित याचिका (PIL) उन सर्वाधिक शक्तिशाली अस्त्रों में से एक है, जिसे भारत में विधायिका व कार्यपालिका के कानूनी दायित्वों को लागू करने के लिए न्यायपालिका ने प्राप्त किया है।
- इसका उद्देश्य है- न्याय देना तथा लोगों के हित के संवर्द्धन में सहायता करना। इसकी व्याख्या एक ऐसी याचिका के रूप में की जा सकती है, जिसका संबंध अधिकांश लोगों के हित-संरक्षण से है।
- इसका प्रयोग सामान्यत: समाज के हितों (Group Intrest) की रक्षा हेतु, न कि व्यक्तिगत हितों की रक्षा हेतु किया जाता है, जनहित की रक्षा हेतु मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है।
- जनहित याचिका स्वीकार करने का अधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को है।
- अपने अनेक आदेशों के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय ने जनहित याचिका से संबंधित नियमों को विकसित किया है।
- सार्वजनिक हित के लिए जागरूक कोई भी व्यक्ति या संस्था जनहित याचिका दायर कर सकती है। एक पोस्टकार्ड भी रिट याचिका (Writ Petition) के रूप में माना जा सकता है।
- न्यायालय द्वारा दी गयी राहत प्राय: राज्य को निर्देश या आदेश के रूप में होती है, जिसमें प्रभावित पक्षों को मुआवजा भी शामिल है।
- जनहित याचिका ने चार प्रमुख उद्देश्यों को पूरा किया है–
  - इसने लोगों को अनेक अधिकारों तथा उन्हें क्रियान्वित कराने के लिए न्यायपालिका के रूप में संस्थागत व्यवस्था के प्रति अत्यंत जागरूक बना दिया है। यह कहा जाता है, कि जनहित याचिका ने न्यायपालिका का लोकतन्त्रीकरण कर दिया है।
  - जनहित याचिका द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 32 व अनुच्छेद 226 की उदार व्याख्या करते हुए मौलिक अधिकारों के क्षेत्र को अत्यंत व्यापक बना दिया है।
  - इसने कार्यपालिका तथा विधायिका को लोगों के प्रति अपने सांविधानिक दायित्वों के निर्वाह के लिए बाध्य किया है।
  - इसने लोगों को भ्रष्टाचार मुक्त प्रशासन तथा रहने योग्य पर्यावरण प्रदान करने का एक प्रयास किया है।
- जनहित याचिका की आलोचना में यह कहा जाता है कि इसने न्यायालय के सामान्य न्यायिक कार्यकलापों में बाधा डालनी शुरू कर दी है। साथ ही साथ, इससे कुछ चीजों को मात्र विलंब करने के उद्देश्य से दायर की गयी झूठी याचिकाओं को बढ़ावा मिला है।
- जनहित याचिका को नियमित करने के लिए उसमें विधायिका संबंधी कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसके स्थान पर, जनहित याचिका के संबंध में न्यायपालिका को स्वयं अपनी आचार संहिता (Code of Conduct) विकसित करनी चाहिए।
  - जनहित याचिकाओं के अध्ययन के लिए न्यायपालिका छानबीन करने वाली एक समिति (Screening Committee) गठित कर सकती है, जो समय बचाने के लिए अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर सकता है।
  - नकली जनहित याचिका दायर करने के लिए न्यायपालिका जुर्माना भी ले सकती है।
  - न्यायालय जनहित याचिका को अधिक प्रभावी ढंग से निपटाने में अर्थात् 'न्यायालय का मित्र' (Friend of the Court) का उदार रीति से प्रयोग कर सकता है।
  - सामान्य नियम के तौर पर याचिकाकर्ता से याचिका में लगाए गए आरोपों के लिए साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए कहा जा सकता है।

परमादेश (Mandamus)

यह रिट भी एक आदेश के रूप में होती है, जिसका प्रयोग किसी लोक प्राधिकारी को आदेश देने के लिए किया जाता है ताकि वह अपने सार्वजनिक कर्तव्य को पूरा करे, जिसे पूरा करने से उसने इंकार किया है। यह रिट न्यायालय के विवेकाधीन है। यदि न्यायालय को प्रतीत होता है कि प्रार्थी द्वारा की गई शिकायत का समाधान किसी वैकल्पिक उपचार के माध्यम से हो सकता है तो वह उसे ही वरीयता प्रदान करेगा। किन्तु, यदि शिकायत मूल अधिकारों के उल्लंघन से जुड़ी है तो सामान्यत: वैकल्पिक उपायों की जगह परमादेश रिट ही जारी की जाती है। परमादेश रिट जारी किये जाने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है, जैसे-

- प्रार्थी को सिद्ध करना होगा कि उसका कोई कानूनी अधिकार है, जिससे उसे वंचित किया जा रहा है।
- उसे यह भी सिद्ध करना होगा कि वह जिस व्यक्ति के विरूद्ध परमादेश रिट जारी करने का निवेदन कर रहा है, उसका कोई लोक कर्तव्य है जो संविधान या किसी अधिनियम या किसी अधीनस्थ विधान द्वारा उस पर आरोपित है।
- प्रार्थी को प्रमाणित करना होगा कि उसने अपने कानूनी अधिकार की उपलब्धि के लिए उक्त प्राधिकारी से निवेदन किया था, किन्तु प्राधिकारी ने बिना किसी उचित आधार के काम करने से इंकार कर दिया है या इंकार तो नहीं किया है किन्तु काम भी नहीं किया है।

परमादेश रिट प्रत्येक मामले में जारी नहीं की जाती है। निम्नलिखित मामलों में इसका प्रयोग नहीं होता है-

- सामान्यत: किसी निजी व्यक्ति या निजी कंपनी के खिलाफ इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।
- यदि किसी प्राधिकारी को कोई कार्य करने या न करने की विवेकाधीन शक्ति दी गई हो अर्थात् वह कार्य करना, उसके लिए बाध्यकारी न हो तो न्यायालय उसे विवेकाधीन शक्ति का प्रयोग करने के लिए परमादेश रिट के माध्यम से आदेश नहीं दे सकता है।
- दो व्यक्तियों के बीच यदि कोई समझौता या संविदात्मक संबंध हो, और उनमें से कोई व्यक्ति उस संविदा पर आधारित दायित्वों का निर्वहन नहीं कर रहा हो, तो उसके विरुद्ध परमादेश रिट जारी नहीं की जा सकती।
- राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के विरुद्ध परमादेश रिट जारी करके

उसे कर्तव्य के पालन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

- उच्च न्यायालय या न्यायाधीश के विरुद्ध भी सामान्य स्थितियों में यह रिट जारी नहीं की जा सकती। इसका अपवाद सिर्फ यह है कि यदि कोई न्यायाधीश किसी प्रशासनिक कार्य को संभाल रहा हो तो उन प्रशासनिक कार्यों से संबंधित किसी मामले में यह रिट जारी की जा सकती है।

प्रतिषेध (Prohibition)

इसका शाब्दिक अर्थ है- रोकना, यदि अधीनस्थ न्यायालय या अर्द्धन्यायिक निकाय (Quasi-Judicial Body) अपने न्यायिक प्राधिकार (Authority) का अतिक्रमण करते हैं तो न्यायालय उन्हें ऐसा रिट (Writ) जारी कर सकते हैं।

'परमादेश' और 'प्रतिषेध' में दो महत्वपूर्ण अंतर है। प्रथम, परमादेश रिट सामान्यत: कुछ करने का आदेश देती है जबकि प्रतिषेध रिट कुछ करने से रोकती हैं। दूसरे, प्रतिषेध रिट सिर्फ न्यायिक प्राधिकारियों और अर्ध-न्यायिक प्राधिकरणों के विरुद्ध जारी की जा सकती है, जबकि परमादेश रिट न्यायिक और प्रशासनिक दोनों तरह के प्राधिकारियों के विरुद्ध जारी की जा सकती है।

उत्प्रेषण (Certiorari)

उत्प्रेषण रिट भी न्यायपालिका से संबंधित है। यह किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा किसी अधीनस्थ न्यायालय या न्यायिक निकाय को तब संबोधित की जाती है, जब इस बात का संशय होता है कि न्यायालय ने अपनी अधिकारिता से बाहर जाकर निर्णय दिया है या निर्णय में प्राकृतिक/नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन किया है।

प्रतिषेध और उत्प्रेषण में मूल अंतर सिर्फ यह है कि यदि, अधीनस्थ न्यायालय या न्यायिक निकाय अपनी अधिकारिता का उल्लंघन कर रहा है तो उसे ऐसा करने से रोकने के लिए प्रतिषेध रिट जारी की जाती है किन्तु यदि अधीनस्थ न्यायालय अधिकारिता का उल्लंघन करके कोई निर्णय दे चुका है तो उस निर्णय और तत्संबंधी कार्यवाहियों को रद्द करने के लिए उत्प्रेषण रिट जारी की जाती है। दूसरे शब्दों में, प्रतिषेध रिट किसी न्यायिक कार्यवाही के शुरूआती चरण में दी जाती है, जबकि उत्प्रेषण रिट न्यायिक कार्यवाही हो जाने के बाद।

उत्प्रेषण की रिट तीन आधारों पर जारी की जा सकती है:-

1. ***अधिकारिता का अभाव***- इसका अर्थ है कि न्यायालय ने अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर निकलकर निर्णय दिया है।
2. ***निर्णय में विधि संबंधी भूल होना***- उत्प्रेषण रिट का दूसरा कारण यह हो सकता है कि अधीनस्थ न्यायालय ने किसी मामले में निर्णय देते समय कोई 'विधि संबंधी भूल' कर दी हो।
3. ***प्राकृतिक न्याय या नैसर्गिक न्याय सिद्धांतों का उल्लंघन***- यदि किसी वरिष्ठ न्यायालय को इस बात का समाधान हो जाए कि अधीनस्थ न्यायालय के किसी निर्णय के द्वारा प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन हुआ है तो वह उस निर्णय के विरूद्ध उत्प्रेषण रिट जारी कर सकता है। प्राकृतिक न्याय का मूल अर्थ प्रमुखत: दो सिद्धांतों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है-
   - न्यायालय की निष्पक्षता।
   - दोनों पक्षों को सुनवाई का अधिकार।

अधिकार पृच्छा (Quo Warranto)

अधिकार पृच्छा 'Quo Warranto' का हिन्दी अनुवाद है, जिसका अर्थ है- 'आपका प्राधिकार क्या है?' न्यायालय इस रिट का प्रयोग एक कार्यवाही के रूप में करता है। यह रिट उस व्यक्ति के विरूद्ध जारी की जाती है जिसके संबंध में यह शिकायत की गई है कि उसने अवैध रूप से किसी सार्वजनिक पद को धारण किया हुआ है। इस रिट के माध्यम से न्यायालय उससे पूछता है कि उसने किस प्राधिकार से उक्त पद धारण किया हुआ है? यदि वह पर्याप्त कारण नहीं बता पाता है तो न्यायालय अधिकार-पृच्छा रिट जारी करके उसे उस पद से हटा देता है और पद को रिक्त घोषित कर देता है।

अधिकार पृच्छा रिट तभी जारी हो सकती है, जब निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी हों-

- जिस पद पर किसी व्यक्ति के अवैध अधिकार की शिकायत की गई है, वह सार्वजनिक पद होना चाहिए।
- जिस पद पर प्रश्न उठाया गया है, वह स्वतंत्र प्रकृति का पद होना चाहिए अर्थात् किसी के प्रसादपर्यंत नहीं होना चाहिए।
- जो व्यक्ति ऐसे पद पर आसीन है, उस पर उसकी नियुक्ति में संविधान या किसी अधिनियम इत्यादि का उल्लंघन हुआ हो।

उपरोक्त तीनों शर्तें पूरी होने पर ही अधिकार पृच्छा रिट जारी की जा सकती है। गौरतलब है कि इस रिट का निवेदन करने की शर्त यह नहीं है कि शिकायतकर्ता के किसी मूल अधिकार का उल्लंघन हुआ हो अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि प्रार्थी स्वयं उस पद का दावेदार हो या उस पद में उसका कोई व्यक्तिगत हित निहित हो। कोई भी व्यक्ति सार्वजनिक हित में यह याचिका दायर कर सकता है। इस दृष्टि से अधिकार पृच्छा की कार्यवाही इस नियम का अपवाद है कि पीड़ित व्यक्ति ही किसी रिट के लिए न्यायालय से निवेदन कर सकता है।

संवैधानिक उपचारों का महत्व

संवैधानिक उपचार, भारतीय संविधान द्वारा अपने नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार हैं, जिनके द्वारा वह अपने मूल अधिकारों की सुरक्षा न्यायालय द्वारा सुनिश्चित करा सकता है। इन उपचारों के कारण ही मूल अधिकारों का संरक्षण संभव है, नहीं तो वह प्रलेख मात्र रह जायेंगे और कार्यपालिका द्वारा इसके अतिक्रमण की दशा में सुरक्षा नहीं प्राप्त हो सकेगी।

अनुच्छेद 32 और 226 में अन्तर

अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों को रिट जारी करने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु इस मामले में उच्च न्यायालय की शक्ति उच्चतम न्यायालय की अपेक्षा विस्तृत है, क्योंकि उच्च न्यायालय को मूल अधिकारों के प्रवर्तित कराने के अतिरिक्त अन्य प्रयोजनों के लिए भी रिट जारी करने की शक्ति प्राप्त है।

अनुच्छेद 32 के अपवाद

अनुच्छेद 33 संसद के मूल अधिकारों, सशस्त्र बलों या लोक व्यवस्था बनाये रखने का भार साधन करने वाले बलों, आसूचना, कार्मिक आदि पर लागू होने में उपान्तरण करने की शक्ति प्रदान करता है। अनुच्छेद 34 संसद की विधि द्वारा सेना विधि के अधीन किये गये कार्यों का विधिमान्य बनाने की शक्ति प्रदान करता है।

सशस्त्र बल एवं मूल अधिकार (Armed Forces & Fundamental Rights)

संसद को सशस्त्र बलों या पुलिस बलों को या आसूचना संगठनों को लागू होने में मूल अधिकारों को उपांतरित करने की शक्ति है ताकि उनके कर्तव्यों का उचित पालन और उनमें अनुशासन बना रहे (अनुच्छेद 33)। इस शक्ति के प्रयोग में संसद ने सेना अधिनियम 1950, वायुसेना अधिनियम, 1950 और नौसेना अधिनियम, 1957 पारित किए हैं। इनसे केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति दी गई है कि वह प्रतिरक्षा कर्मियों के मूल अधिकार पर निर्बंधन लगाने के लिए नियम बना सकती है। भारत की सुरक्षा के लिए यह अनुशासन अत्यंत आवश्यक है। नियमों के अधीन परिपत्र जारी करके भारत सरकार ने यह आदेश किया है कि, रक्षा बलों के किसी सदस्य को कार्यालय के समय में प्रार्थना करने के लिए कोई रियायत नहीं दी जा सकती। यह दुख की बात है कि अखिल भारतीय मुस्लिम फोरम नामक एक रूढ़िवादी संगठन ने इस परिपत्र पर अनेक आधारों पर आक्षेप किया है और संसद के मुस्लिम सदस्यों ने उसे अभिव्यक्ति दी है। भारत के

संविधान के अनुच्छेद 33 के अभिव्यक्त उपबंधों को देखते हुए, ये कोई भी आधार मान्य नहीं है। इससे यह तर्क समाप्त हो जाता है कि ब्रिटिश शासन में मुसलमानों पर ऐसा निर्बंधन नहीं लगाया गया था।

मार्शल लॉ एवं मूल अधिकार (Martial Law & Fundamental Rights)

अनुच्छेद 34 मूल अधिकारों पर तब प्रतिबंध लगाता है, जब भारत में कहीं भी मार्शल लॉ लागू हो। यह संसद को इस बात की शक्ति देता है कि, किसी भी सरकारी कर्मचारी को या अन्य व्यक्ति को उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य की व्यवस्था को बरकरार रखे या पुनर्निर्मित करे। संसद किसी मार्शल लॉ से अधिशासित होने वाले क्षेत्र में जारी दंड या अन्य आदेश को वैधता प्रदान कर सकती है। संसद द्वारा बनाए गए क्षतिपूर्ति अधिनियम को किसी न्यायालय में केवल इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह किसी मूल अधिकार का उल्लंघन है।

मार्शल लॉ के सिद्धांत को अंग्रेजी कानून से लिया गया है। हालांकि 'मार्शल लॉ' की संविधान में व्याख्या नहीं की गई पर इसका शब्दिक अर्थ है- सैन्य शासन। यह ऐसी स्थिति का परिचायक है, जहां सेना द्वारा सामान्य प्रशासन को अपने नियम कानूनों के तहत संचालित किया जाता है। इस तरह वहां साधारण कानून निलंबित हो जाता है और सरकारी कार्यों को सैन्य अधिकरणों के अधीन किया जाता है।

यह सैन्य कानून से अलग है, जो कि सशस्त्र बलों पर लागू होता है। मार्शल लॉ घोषित होने पर संविधान में कोई विशेष प्राधिकरण की व्यवस्था नहीं है, हालांकि इसे अनुच्छेद 34 के तहत भारत में कहीं भी लागू किया जा सकता है। इसका न्यायोचित उद्देश्य यही है कि समाज में व्यवस्था बनाये रखी जा सके। मार्शल लॉ के क्रियान्वयन के समय सैन्य प्रशासन को जरूरी कदम उठाने के लिए असाधारण अधिकार मिल जाते हैं। वे अधिकारों पर प्रतिबंध यहां तक कि किसी मामले में नागरिकों को मृत्युदंड तक लागू कर सकते हैं। उच्चतम न्यायालय ने घोषणा की कि मार्शल लॉ प्रतिक्रियावादी परिणाम के तहत बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट को निलंबित नहीं कर सकता।

मूल अधिकार और संविधान के अन्य उपबंधों द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों के बीच अंतर

भारतीय संविधान के भाग 3 में सम्मिलित मूल अधिकारों और अन्य भाग में अंतर्विष्ट मर्यादाओं से उत्पन्न होने वाले ऐसे अधिकार (न्याय निर्णय क्षेत्र से बाहर के अधिकारों को छोड़कर उदाहरणार्थ 'राज्य के नीति-निदेशक तत्व' जो भाग-4 में हैं) जो समान रूप से न्यायालय द्वारा प्रवृत्त कराए जा सकते हैं के बीच अंतर है। इन दोनों वर्गों के अधिकार समान रूप से न्यायाधीन हैं परन्तु मूल अधिकारों की दशा में उच्चतम न्यायालय में सीधे आवेदन करके अनुच्छेद 32 के अधीन उपचार पाने का अधिकार भाग-3 में मूल अधिकार के रूप में सम्मिलित किया गया है। यदि अधिकार संविधान के किसी अन्य उपबंध से प्राप्त होता है, उदाहरण के लिए अनुच्छेद 265 या अनुच्छेद 301 के द्वारा, तो व्यथित व्यक्ति सामान्य वाद लाकर या उच्च न्यायालय में अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन देकर अनुतोष प्राप्त कर सकेगा, किंतु अनुच्छेद 32 के अधीन सीधे सर्वोच्च न्यायालय में आवेदन नहीं कर सकेगा, जब तक कि ऐसे अधिकार के अतिक्रमण के कारण मूल अधिकार का उल्लघंन न होता हो।

कुछ संविधानों में मूल अधिकार को संवैधानिक संशोधन द्वारा भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता। संविधान के अन्य उपबंधों की तुलना में उन्हें उच्चतर स्थान प्रदान किया जाता है, किंतु भारत के संविधान में यह सिद्धांत स्वीकार नहीं किया गया है। संविधान के संशोधनों से और न्यायिक विनिश्चयों से यह निर्वचन स्पष्ट होता है।

सामान्यत: संविधान के किसी भाग को सामान्य विधान द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता, जब तक कि स्वयं संविधान में इसके लिए प्रावधान न हों। वस्तुत: संविधान के सभी भाग, मूल अधिकार सहित, अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन अधिनियम पारित करके संशोधित किए जा सकते हैं, किंतु इनके लक्षणों में संशोधन नहीं हो सकता।

मूल अधिकारों के अतिरिक्त अन्य संवैधानिक अधिकार

- ***अनुच्छेद 300(क)***- संपत्ति का अधिकार (Right to Property)- विधि के प्राधिकार (Authority of Law) से ही किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं।
- ***अनुच्छेद 301***- व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता (Freedom of trade, Commerce & Gatherings) इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा।
- ***अनुच्छेद 326***- वयस्क मताधिकार (Adult Suffrage) लोकसभा तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभाओं के लिए निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होंगे।

शत्रु देश के नागरिकों के अतिरिक्त भारत भूमि पर विद्यमान किसी भी व्यक्ति को उपलब्ध मौलिक अधिकार

- ***अनुच्छेद 14***- विधि के समक्ष समता व विधि का समान संरक्षण।
- ***अनुच्छेद 20***- अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण।
- ***अनुच्छेद 21***- जीवन एवं दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण।
- ***अनुच्छेद 23***- मानव के दुर्व्यापार एवं बलात् श्रम का प्रतिषेध।
- ***अनुच्छेद 25***- धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार।
- ***अनुच्छेद 27***- किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय (Payment) के बारे में स्वतंत्रता।

अनुच्छेद 13, में भारत के सभी विधानों (Legislations) के न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review) का प्रावधान है। 'न्यायिक पुनर्विलोकन' उच्च न्यायालय (अनुच्छेद 226) व सर्वोच्च न्यायालय (अनुच्छेद 32) को प्राप्त वह शक्ति है, जिसका प्रयोग करके वे किसी भी कानून को असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं। [यदि वह कानून संविधान के भाग 3 के किसी भी प्रावधान से जिस सीमा तक असंगत (Incosistent) हो]। न्यायिक पुनर्विलोकन की अवधारणा अमेरिका के संविधान से ली गई है। अनुच्छेद 13(2) में कहा गया है कि, राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छिनती है या न्यून करती है और इस खण्ड के उल्लंघन में बनाई गई प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

मूल अधिकारों में संशोधन से संबंधित शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (1952) से लेकर सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1965) तक अनेक वादो (Cases) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 368 के तहत, संविधान संशोधन की शक्ति का प्रयोग करके संसद संविधान के भाग-3 का भी संशोधन कर सकती है। परन्तु गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पिछले निर्णय को निरस्त कर दिया और स्पष्ट किया कि संविधान द्वारा भाग-3 में समाविष्ट मौलिक अधिकारों को 'पारलौकिक स्थान' (Transcendental Position) दिया गया है और संसद सहित कोई भी प्राधिकरण अनुच्छेद 368 के तहत संशोधन की शक्ति के द्वारा मौलिक अधिकारों को संशोधित करने में समर्थ नहीं है।

24वें संविधान संशोधन अधिनियम 1971 के द्वारा संसद ने संविधान के भाग-3 के संशोधन की शक्ति प्राप्त करने के लिए इसके अनुकूल अनुच्छेद 13 व अनुच्छेद 368 को संशोधित कर दिया। इस संशोधन को केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (1973) के अति महत्त्वपूर्ण वाद (Case) में सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने इस वाद में यह निर्णय दिया कि "अनुच्छेद

368 के तहत संशोधन की अपनी शक्ति का प्रयोग करके संसद मौलिक अधिकारों सहित संविधान के किसी भी प्रावधान का संशोधन कर सकती है, यदि इस संशोधन से संविधान के मूलभूत ढाँचे को कोई क्षति नहीं पहुँचती है।"

अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 226 का संबंध

अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 226 दोनों ही राज्य की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाते हैं। जहां अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण द्वारा राज्य को विधि के अधीन बनाता हैं। वहीं इन विधियों से परे जाने पर अनुच्छेद 226 के माध्यम से व्यक्ति न्यायपालिका का संरक्षण ले सकता है, जो राज्य के ऐसे कृत्यों जो अनुच्छेद 14 की विधियों से बाह्य हैं, को रोक कर व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करता है।

पृथक्करण का सिद्धान्त

इस सिद्धांत के अनुसार, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13(1) व 13(2) के अनुसार, कानून का कोई भी भाग, जो संविधान के भाग 3 से असंगत हो, वह असंगत होने की मात्रा तक शून्य माना जाएगा। पृथक्करण का सिद्धान्त निर्धारित करता है कि, यदि कानून के वैध भागों को उसके शून्य (Void) भागों से अलग किया जा सकता है तथा यदि वैसे वैध भागों को स्वतंत्र संविधि (statute) के रूप में निर्मित माना जा सकता है तो ये भाग वैध बने रहेगें।

'पृथक्करण के सिद्धांत' से संबंधित नियमों का सर्वोच्च न्यायालय इस प्रकार से संक्षेपीकरण करता है–

- 'वैध भाग पृथक किए जाने योग्य हैं, या नहीं' – यह निर्धारित करने के लिए विधायिका का आशय (विधायिका ने अच्छी तरह यह समझ कर कानून को क्रियान्वित किया है, कि शेष विधि अवैध है) एक कारक है।
- यदि वैध व अवैध भाग अत्यंत अविभाज्य रूप से मिश्रित हों, तो पूरा कानून शून्य घोषित हो जाता है।
- यदि वैध व अवैध भागों से किसी एक विधि का एक अंश ही निर्मित होता हो, तो पूरा कानून ही अवैध घोषित हो जाता है।
- अवैध भाग को छोड़ देने के बाद जो शेष रहता है, यदि वह अत्यंत छोटा हो और उसका कोई अन्य तात्पर्य प्रकट न होता हो, तो पूरा कानून ही अवैध हो जाता है।

मौलिक अधिकारों का निलंबन व निर्बंधन (Abolition & Restrictions of Fundamental Right)

मूल अधिकारों के निलंबन का अर्थ है- विशेष स्थितियों में मूल अधिकारों को नागरिकों से वापस ले लेने की राज्य की शक्ति। निलंबन प्राय: अस्थायी होता है तथा स्थितियाँ सामान्य होने पर नागरिकों को पुन: अपने अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार, मूल अधिकारों पर निर्बंधन लगाने का अर्थ है- राज्य के पास विशेष स्थितियों में मूल अधिकारों को सीमित करने की शक्ति।

मूल अधिकारों में ही स्पष्ट किए गए युक्तियुक्त निर्बंधन

संविधान में कुछ मूल अधिकारों के साथ साफ तौर पर बताया गया है कि उन पर क्या-क्या सीमाएँ लागू होती हैं? ऐसी सीमाओं को संविधान में युक्तियुक्त निर्बंधन कहा गया है। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 19(1) में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सहित 6 अधिकार दिए गए हैं, जबकि 19(2) से 19(6) तक बताया गया है कि इन अधिकारों पर कौन से युक्तियुक्त निर्बंधन लागू होते हैं? इसी प्रकार अनुच्छेद 25 में भी युक्तियुक्त निर्बंधनों की व्यवस्था की गई है।

अनुच्छेद 31 (क) (ख) तथा (ग) में निर्दिष्ट सीमाएँ

मूल संविधान में अनुच्छेद 31(क) (ख) तथा (ग) विद्यमान नहीं थे। पहले संविधान संशोधन से अनुच्छेद 31(क) तथा 31(ख) को और 25वें संशोधन से अनुच्छेद 31(ग) को संविधान में शामिल किया गया था। ये तीनों संशोधन भूमि सुधारों तथा नीति निर्देशक तत्वों के पक्ष में मूल अधिकारों को सीमित करने के उद्देश्य से किए गए थे। अनुच्छेद 31(क) और 31(ग) अनुच्छेद 14 तथा 19 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को सीमित करते हैं, जबकि अनुच्छेद 31(ख) सभी मूल अधिकारों को सीमित करता है।

प्रतिरक्षा सेना, पुलिस आदि संगठनों के सदस्यों के संबंध में- अनुच्छेद 33 संसद को यह शक्ति देता है कि, वह प्रतिरक्षा सेना, सुरक्षा बलों, पुलिस, आसूचना तथा दूरसंचार आदि क्षेत्रों में कार्यरत लोगों के मूल अधिकारों को विधि बनाकर उस सीमा तक निर्बंधित या समाप्त कर सकती है, जिस सीमा तक ऐसा करने से उनमें अुनशासन बना रहे और वे अपने कर्तव्यों का समुचित निर्वहन कर सकें।

सेना विधि के आधार पर अनुच्छेद 34 संसद को शक्ति प्रदान करता है यदि भारत के किसी क्षेत्र में सेना विधि (Martial Law) लागू हो तो संसद विधि द्वारा मूल अधिकारों पर पूर्णत: या अंशत: निर्बंधन आरोपित कर सकती है। वस्तुत: सेना विधि के प्रवर्तन के साथ ही मूल अधिकार निलंबित हो जाते हैं तथा नागरिक न्यायालयों के स्थान पर सैन्य न्यायालय काम करने लगते हैं। संसद चाहे तो 'क्षतिपूर्ति अधिनियम' पारित करके सेना विधि द्वारा दिए गए दंडों से नागरिकों को मुक्त कर सकती है। गौरतलब है कि सेना विधि अनुच्छेद 352 (1) के अधीन की गई आपात उद्घोषणा से भिन्न होती है।

भारतीय संविधान में कुछ विशेष परिस्थितियों में मौलिक अधिकारों के स्वत: निलंबित हो जाने का प्रावधान है। यथा– अनुच्छेद 352 के तहत राष्ट्रीय आपात के दौरान (अर्थात् युद्ध या बाह्य आक्रमण की स्थिति में) मूल अधिकार स्वत: निरस्त हो जाते हैं। अनुच्छेद 359 के तहत, संविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि राष्ट्रीय आपात लागू होने पर वह एक पृथक उद्घोषणा जारी करके सभी या कोई भी मौलिक अधिकार निलम्बित कर सकता है।

44वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, राष्ट्रीय आपात के दौरान भी अनुच्छेद 20 (अपराधों के आरोप के संबंध में सुरक्षा का अधिकार) तथा अनुच्छेद 21 (जीवन व दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार) के निलम्बन का निषेध करता है और यह प्रावधान करता है कि इन मूल अधिकारों का निलम्बन किसी भी परिस्थिति में संभव नहीं है।

कुछ मूल अधिकारों का प्रभाव (Effect of Some Fundamental Rights)

अनुच्छेद 35 केवल संसद को कुछ विशेष मूल अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए कानून बनाने की शक्ति प्रदान करता है। यह अधिकार राज्य विधानमंडल को नहीं प्राप्त है।

यह व्यवस्था सुनिश्चित है कि भारत में मूल अधिकारों एवं दंड व उनके प्रकार में एकता है।

मूल अधिकारों की आलोचना (Criticism of Fundamental Rights)

संविधान के भाग 3 में वर्णित मूल अधिकारों की व्यापक एवं मिश्रित आलोचनाएं भी हुई हैं। आलोचकों के तर्क इस प्रकार हैं-

एक तरफ तो संविधान मूल अधिकार प्रदान करता है और दूसरी तरफ उन्हें छीन भी लेता है, जसपतराय कपूर इस संबंध में कहते हैं कि, मूल अधिकारों के भाग को इस तरह कहा जाना चाहिए 'मूल अधिकारों की सीमाएं' या 'मूल अधिकार एवं उसमें निहित सीमाएं'।

इसमें महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था नहीं है, जैसे- सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, काम का अधिकार, रोजगार का अधिकार, विश्राम एवं सुविधा का अधिकार आदि। ये अधिकार उन्नत लोकतांत्रिक देशों के नागरिकों को प्राप्त हैं।

मौलिक अधिकारों की आलोचना का एक आधार यह भी है कि इन अधिकारों पर अत्यधिक प्रतिबंध लगाये गये हैं। अनुच्छेद 20 व 21 में वर्णित जीवन व

वैयक्तिक स्वतंत्रताओं को छोड़कर अन्य मौलिक अधिकारों को राष्ट्रीय संकट के दौरान स्थगित किया जा सकता है। निवारक निरोध कानून इस अधिकार पर सबसे बड़ा प्रतिबंध है, जो शांतिकाल में भी नागरिकों की स्वतंत्रता पर एक तानाशाही राज्य की स्थापना कर सकता है।

इसकी व्याख्या अस्पष्ट, अनिश्चित एवं धुंधली है। कई अभिव्यक्तियाँ एवं शब्द, जैसे- 'लोक व्यवस्था', 'अल्पसंख्यक', 'उचित प्रतिबंध', 'सार्वजनिक हित' आदि सही व्याख्यायित नहीं हैं।

ये उल्लंघनीय और अपरिवर्तनीय नहीं हैं। जैसे कि संसद इनमें कटौती कर सकती है या समाप्त कर सकती है। न्यायपालिका को इन अधिकारों की रक्षा एवं विधानमंडल व कार्यपालिका द्वारा इस पर हस्तक्षेप के विरूद्ध जिम्मेदार बनाया गया है लेकिन न्यायिक प्रक्रिया आम आदमी के लिए काफी खर्चीली है। इसलिए आलोचक कहते हैं कि भारतीय समाज में अधिकार सुविधा मूलत: धनाढ्य लोगों के लिए ही है।

संबंधित करेंट अफेयर्स

धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार का संरक्षण विधेयक, 2021 - कर्नाटक

23 दिसंबर, 2021 को "कर्नाटक धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार का संरक्षण विधेयक, 2021" विधानसभा में पारित किया गया था। इस बिल को धर्मांतरण विरोधी बिल (Anti-Conversion Bill) के नाम से जाना जाता है।

कानून और संसदीय कार्य मंत्री, जे.सी. मधुस्वामी के अनुसार, 2016 में कांग्रेस सरकार की सलाह के तहत कर्नाटक के विधि आयोग द्वारा बिल की शुरुआत की गई थी। विधि आयोग द्वारा समाज कल्याण विभाग के तत्वावधान में यह मसौदा बिल तैयार किया गया था।

यह विधेयक धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार के संरक्षण के साथ-साथ बल, गलत बयानी, जबरदस्ती, अनुचित प्रभाव, प्रलोभन या किसी कपटपूर्ण तरीके से एक धर्म से दूसरे धर्म में अवैध धर्मांतरण पर रोक लगाने का प्रावधान करता है। इसमें तीन से पांच साल की कैद और 25,000 रुपये जुर्माने का प्रावधान है। नाबालिगों, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के संबंध में प्रावधानों के उल्लंघन के लिए, अपराधियों को तीन से 10 साल की कैद और 50,000 रुपये के जुर्माने का प्रावधान है।

इस बिल के अनुसार, अभियुक्तों (Accused) को उन लोगों को मुआवजे के रूप में पांच लाख रुपये तक का भुगतान करना पड़ेगा, जिनका धर्म परिवर्तन कराया गया था। सामूहिक धर्मांतरण के मामलों में एक लाख रुपये तक के जुर्माने के साथ-साथ 3-10 साल की जेल की सजा का प्रावधान है।

यह फैमिली कोर्ट को भी इस तरह के विवाह को अमान्य और शून्य घोषित करने का निर्देश देता है।

इस बिल में प्रावधान है कि, जो व्यक्ति किसी अन्य धर्म में परिवर्तित होना चाहता है, उसे जिला मजिस्ट्रेट या अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट को कम से कम 30 दिन पहले एक निर्धारित प्रारूप में एक घोषणा देनी होगी, जिसे विशेष रूप से जिला मजिस्ट्रेट द्वारा अधिकृत किया जाएगा।

भूल जाने के अधिकार (Right to be Forgotten)

हाल ही में, आशुतोष कौशिक नाम के एक व्यक्ति ने 'भूल जाने के अधिकार' के तहत दिल्ली हाईकोर्ट से केंद्र और गूगल को निर्देश देने का अनुरोध किया है। आशुतोष के अनुरोध में कहा गया है कि उनके कुछ वीडियो, फोटो और लेख ऑनलाइन प्लेटफॉर्म से हटाए जाएं क्योंकि इसका उनके जीवन पर एक नकारात्मक प्रभाव है।

अदालत ने इस याचिका पर सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, गूगल एलएलसी, प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया निगरानी केंद्र को नोटिस जारी किया है। इन सभी संस्थाओं के जवाब आ जाने के बाद कोर्ट इस मामले की सुनवाई दिसंबर में करेगा। गौरतलब है कि आशुतोष कौशिक ने साल 2007 में एमटीवी हीरो होंडा रोडीज 5.0 और 2008 में बिग बॉस का दूसरा सीजन जीता था।

अगर किसी व्यक्ति की कोई व्यक्तिगत जानकारी सार्वजनिक रूप से इंटरनेट, सर्च डेटाबेस, वेबसाइट या किसी अन्य सार्वजनिक प्लेटफॉर्म पर उपलब्ध हो और इस जानकारी को वह व्यक्ति इन सब जगहों से हटाना चाहता हो तो जिस अधिकार से वह व्यक्ति इन जानकारियों को हटवाना चाहता है, उसे ही 'भूल जाने के अधिकार' कहते हैं। यानी 'भूल जाने के अधिकार' व्यक्ति को सार्वजनिक रूप से उपलब्ध अपनी व्यक्तिगत जानकारी को उस स्थिति में हटाने का अधिकार प्रदान करती है, जब यह जानकारी प्रासंगिक नहीं रह जाती। मौजूदा समय में भारत में कोई ऐसा कानून नहीं है, जो भूल जाने के अधिकार को मान्यता प्रदान करता हो। हालांकि पर्सनल डेटा प्रोटेक्शन बिल, 2019 में इस अधिकार का प्रावधान किया गया है। इस बिल की धारा-20 में कहा गया है कि किसी व्यक्ति को कुछ शर्तों के तहत अपने व्यक्तिगत डेटा को हटवाने या रोकने का अधिकार है।

इसके अलावा, पुट्टास्वामी निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने माना था कि निजता का अधिकार एक मौलिक अधिकार है। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि "किसी व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत डेटा पर नियंत्रण रखने और स्वयं के जीवन को नियंत्रित करने में सक्षम होने का अधिकार के तहत ही उस व्यक्ति का इंटरनेट पर अपने अस्तित्व को नियंत्रित करने का अधिकार भी शामिल है"। हालांकि इस मामले पर पूरी छवि तभी स्पष्ट होगी जब अदालत अपना फैसला सुनाएगी।

राज्य के नीति निदेशक तत्व
(Directive Principles of State Policy)

परिचय (Introduction)

नीति निदेशक तत्वों का वर्णन संविधान के चौथे भाग में किया गया है। ये तत्व शासन व्यवस्था के मूल आधार हैं और हमारे संविधान के आदर्शों और आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये सिद्धांत देश के प्रशासकों के लिए एक आचार संहिता है। निदेशक सिद्धांत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को दिए गए ऐसे निर्देश हैं, जिनके अनुसार उन्हें अपने अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार करना होता है कि इन सिद्धांतों का पूरा और उचित रूप से पालन हो। इन आधारभूत सिद्धांतों का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। सामूहिक रूप से ये सिद्धांत भारत में आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र की रचना करते हैं।

संविधान निर्माताओं को पता था कि, स्वतंत्र भारत को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा, जिसमें सभी नागरिकों के साथ समानतापूर्ण व्यवहार और सबका कल्याण करना सबसे बड़ी चुनौती थी। उनकी यह भी सोच थी कि, इन समस्याओं को हल करने के लिए कुछ नीतिगत निर्देश जरूरी हैं, लेकिन इसके साथ ही वे इन नीतियों को भावी सरकारों के लिए बाध्यकारी भी नहीं बनाना चाहते थे। क्योंकि इनका कार्यान्वयन उस समय की वित्तीय स्थिति पर भी निर्भर करता है। इसीलिए संविधान में कुछ निदेशक तत्वों का समावेश तो किया गया, लेकिन उन्हें न्यायालय के माध्यम से लागू करवाने की व्यवस्था नहीं की गई। इस प्रकार नीति निदेशक तत्वों के बारे में यह स्पष्ट है कि, यदि सरकार किसी निर्देश को लागू नहीं करती है, तो हम न्यायालय में जाकर यह माँग नहीं कर सकते हैं कि उसे लागू कराने के लिए न्यायालय सरकार को आदेश दे। संविधान निर्माताओं का मानना था कि, इन निदेशक तत्वों के पीछे जो नैतिक शक्ति है वह सरकार को बाध्य करेगी कि सरकार नीति निदेशक तत्वों को गंभीरता से ले। इसके अलावा वे ऐसा भी समझते थे कि जनता उन्हें लागू करने की जिम्मेदारी भावी सरकारों पर डालेगी। अत: संविधान में ऐसी नीतियों की एक निदेशक सूची रखी गई है। निर्देशों की इसी सूची को राज्य के नीति निदेशक तत्व कहते हैं।

नीति निदेशक तत्व के लक्षण (Characteristics of Directive Principles)

नीति निदेशक तत्वों की सूची में तीन प्रमुख बातें हैं, जो उनको नीति-निदेशक तत्व के रूप में स्थापित करती है। यह तत्व वे लक्ष्य और उद्देश्य हैं, जो एक समाज के रूप में हमें स्वीकार करने चाहिए। यह ऐसे आवश्यक अधिकार हैं, जो नागरिकों को मौलिक अधिकारों के अलावा मिलने चाहिए और यह वे नीतियाँ हैं, जिन्हें सरकार को स्वीकार करना चाहिए। नीति निदेशक तत्वों को देखने से संविधान निर्माताओं की 'भारत की कल्पना' और उनकी दूर दृष्टि का प्रमाण मिलता है।

सर आइवर जेनिंग्स के अनुसार, अधिकांश उपबंधों में "फेबियन समाजवाद" का दर्शन है जिसमें से समाजवाद निकाल दिया गया है, क्योंकि उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों के राष्ट्रीयकरण का अभाव है। इसके अंतर्गत, समाजवादी उद्देश्यों, जैसे- समानता आदि को क्रांतिकारी नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक तरीकों से अर्जित करने का प्रयास किया जाता है। यह स्पष्ट है कि, हमारे संविधान के मूल ढाँचे में कोई विशिष्ट "वाद" नहीं था। इसमें व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए अनियंत्रित निजीकरण और व्यक्तिगत हितों की प्राथमिकता को सामाजिक नियंत्रण और कल्याणकारी उपायों द्वारा मिटाने का यथासंभव प्रयत्न किया गया था। इसलिए पंडित नेहरू ने हमारी योजना का उद्देश्य "समाज का समाजवादी ढाँचा" घोषित किया था, "समाजवाद" नहीं।

नीति निदेशक तत्वों का अवलोकन (Overview of Directive Principles)

राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतों में कुछ सिद्धांतों, यथा- समाजवाद, गाँधीवाद तथा उदार बौद्धिक सिद्धांत के सार को देखा जा सकता है, जो स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान स्वतंत्रता सेनानियों द्वारा सृजित भविष्य के भारत की संकल्पना को साकार करने तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास, समरसता को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है। इनका भारतीय संविधान में अनुच्छेद 36 से लेकर 51 तक के सोलह अनुच्छेदों में नीति निदेशक सिद्धांतों के रूप में वर्णन है, जो निम्नलिखित हैं-

अनुच्छेद 36 से 37

अनुच्छेद 36 में 'राज्य' शब्द को परिभाषित किया गया है। अनुच्छेद 37 यह घोषणा करता है कि, निदेशक तत्व "देश के शासन के मूलाधिकार हैं और निश्चय ही विधि बनाने में इन सिद्धांतों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।" ये सिद्धांत किसी न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं होंगे। अभिप्राय यह है कि, न्यायपालिका राज्य को निदेशक तत्वों के अंतर्गत किसी कर्तव्य को निभाने के लिए विवश नहीं कर सकती।

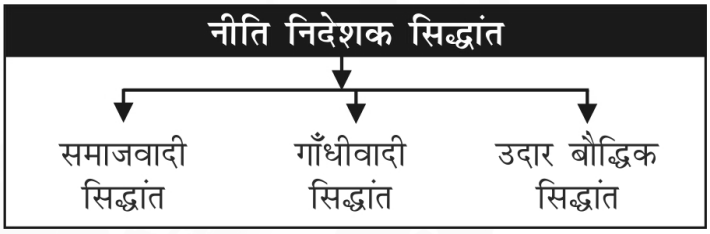

समाजवादी सिद्धांत के अनुरूप निदेशक सिद्धांत

ये सिद्धांत समाजवाद के आलोक में हैं। ये लोकतांत्रिक समाजवादी राज्य का खाका खींचते हैं, जिनका लक्ष्य सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्रदान कराना है। ये लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये राज्य को निर्देश देते हैं कि-

अनुच्छेद 38

राज्य, लोक कल्याण की सुरक्षा और अभिवृद्धि के लिए सामाजिक, आर्थिक और न्याय व्यवस्था का निर्माण करेगा तथा 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 के द्वारा इसमें प्रावधान किया है कि, नागरिकों में व्याप्त आय, प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता को राज्य समाप्त करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 39

राज्य, अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से

क) सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,
ख) समुदाय की भौतिक संसाधनों का स्वामित्व तथा नियंत्रण इस प्रकार विभाजित हो, जिसमें सामूहिक हित सर्वोत्तम रूप से साधन हो,
ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संक्रेंद्रण न हो,

घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन हो,
ङ) पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े, जो उनकी आयु तथा शक्ति के अनुकूल न हों ताकि बच्चों तथा युवाओं को शोषण से बचाया जाए, तथा
च) बालकों को स्वतंत्र तथा गरिमामय वातावरण में स्वास्थ्य विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जाए और बालकों व अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए। (42वें संशोधन अधिनियम, 1976 से जोड़ा गया।)

अनुच्छेद 39 (क)

राज्य, यह सुनिश्चित करेगा कि, विधिक व्यवस्था इस तरह से काम करे कि न्याय, समानता के आधार पर सुलभ हो। इस उद्देश्य के लिए राज्य उपर्युक्त विधान या योजना द्वारा या किसी अन्य रीति से नि:शुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा, ताकि कोई नागरिक आर्थिक या अन्य किसी निर्योग्यता के कारण न्याय प्राप्त करने से वंचित न रह जाए। उपयुक्त विधान द्वारा या किसी अन्य रीति से नि:शुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।

अनुच्छेद 41

राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर, काम पाने, शिक्षा पाने के, बुढ़ापा, बीमारी और नि:शक्तता तथा अन्य कई अर्ह अभाव की दशाओं में लोक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का प्रभावी उपबंध करेगा।

अनुच्छेद 42

राज्य काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबंध करेगा।

अनुच्छेद 43

राज्य, जनता के लिए काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर, अवकाश तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसर प्रदान करने का प्रयास करेगा। विशिष्टतया ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक या सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 43(क)

राज्य उपयुक्त विधान अथवा किसी अन्य रीति से किसी उद्योग में लगे हुए उपक्रमों, संस्थाओं या अन्य संगठनों के प्रबंध में कर्मकारों की भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाएगा।

अनुच्छेद 47

राज्य, अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करना तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करने को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में मानेगा और राज्य, मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औषधियों के औषधीय प्रयोजनों से भिन्न उपयोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।

गाँधीवादी सिद्धांत के अनुरूप निदेशक तत्व

ये सिद्धांत गाँधीवादी विचारधारा पर आधारित हैं। ये राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गाँधीजी द्वारा पुनर्स्थापित योजनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। गाँधीजी के सपनों को साकार करने के लिए उनके कुछ विचारों को नीति निदेशक तत्वों में शामिल किया गया है। ये राज्य से अपेक्षा करते हैं कि–

अनुच्छेद 40

राज्य, ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक है।

अनुच्छेद 43

राज्य, कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए विशेष ध्यान देगा।

अनुच्छेद 43 (ख)

सहकारी समितियों के स्वैच्छिक गठन, स्वायत्त संचालन, लोकतांत्रिक नियंत्रण तथा व्यावसायिक प्रबंधन को बढ़ावा देना।

अनुच्छेद 46

राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के, विशेषकर अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी संरक्षण करेगा।

अनुच्छेद 47

राज्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार तथा मादक द्रव्यों और हानिकारक औषधियों पर निषेध करेगा।

अनुच्छेद 48

गायों, बछड़ों, दूध देने वाले तथा वाहक पशुओं की रक्षा तथा नस्लों के परिरक्षण और सुधार के लिए और उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए उचित कदम उठाएगा।

उदार बौद्धिक सिद्धांत के अनुरूप निदेशक तत्व

इस श्रेणी में उन सिद्धांतों को शामिल किया गया है, जो उदारवादिता की विचारधारा से संबंधित हैं। ये राज्य को निर्देश देते हैं कि–

अनुच्छेद 44

राज्य, भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 44
उच्चतम न्यायालय ने शाहबानो केस, 1985, सरला मुदगल केस 1995 तथा जान वलामटोम बनाम भारत संघ केस 2003 में समान सिविल संहिता लागू करने के निर्देश दिए।

अनुच्छेद 45

86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 45 को संशोधित किया गया है। राज्य, छ: वर्ष से कम आयु के बालकों के लिए प्रारंभिक बालावस्था की देख-रेख एवं शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 48

राज्य, कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 48 (क)

राज्य, देश के पर्यावरण के संरक्षण तथा उसमें सुधार करने का और वन एवं वन्य जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 49

राष्ट्रीय महत्व वाले घोषित किए गए कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरूचि वाले प्रत्येक संस्मारक या स्थान या वस्तु का यथास्थिति, लुंठन (Spoilation), विरूपण, विनाश, अपसारण, व्ययन या निर्यात से संरक्षण करना राज्य की बाध्यता होगी।

अनुच्छेद 50

राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए राज्य कदम उठाएगा।

अनुच्छेद 51

राज्य (i) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का, (ii)राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत और सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने का, (iii) संगठित लोगों के एक-दूसरे से व्यवहारों में अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधि-बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का, तथा (iv) अंतर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाने के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।

संविधान के अन्य भागों में विद्यमान निदेशक

संविधान के भाग 4 में, अनुच्छेद 335, 350, 351 सम्मिलित नहीं हैं, किंतु न्यायालयों द्वारा इन्हें भी नीति निदेशक सिद्धांतों की श्रेणी में संयोजित किया गया है।

अनुच्छेद 350- इसमें प्रत्येक राज्य तथा उनके अंतर्गत आने वाले प्रत्येक क्षेत्रीय प्राधिकरण को निर्देश है कि वे भाषायी अल्पसंख्यक क्षेत्रों के बच्चों को प्राथमिक स्तर पर उनकी मातृभाषा में शिक्षा के लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध कराएँ।

अनुच्छेद 351- यह केन्द्र को हिन्दी भाषा के प्रसार को प्रोत्साहित करने का निर्देश देता है, ताकि यह भारत की साझा संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कार्य कर सके।

अनुच्छेद 335- इसके अनुसार, संघ या किसी राज्य के क्रियाकलाप से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों का, प्रशासन में दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जाएगा।

नीति निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन (Implementation of Directive Principles)

नीति निदेशक तत्व न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं। यदि तत्कालीन सरकार इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करती है तो कोई न्यायालय उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है। फिर भी नीति निदेशक तत्वों के लिए अनुच्छेद 37 में यह घोषित किया गया है कि वे "देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा"।

डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में यह कहा था, "यदि कोई सरकार इनकी अवहेलना करेगी तो उसे निर्वाचन के समय मतदाताओं को उत्तर देना होगा।" विपक्ष के हाथों में भी यह एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में है, जिससे वे सरकार की आलोचना इस आधार पर कर सकें कि सरकार द्वारा किया गया कार्य या विधायी कार्य नीति निदेशक तत्वों के विरोध में है। इस प्रकार इन तत्वों के पीछे राजनीतिक शक्ति काम करती है। निर्देशों के प्रवर्तन के लिए इससे भी अधिक प्रभावी उपाय अनुच्छेद 355 में दिखाई पड़ता है, जिसमें यह विधान किया गया है कि "संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह ... प्रत्येक राज्य की सरकार को इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे।"

यह निर्विवाद है कि, निर्देशों को न्यायालय द्वारा प्रवर्तित भले ही नहीं कराया जा सकता हो पर अनुच्छेद 37 में, स्पष्ट रूप से इसे राज्य के कर्तव्य के रूप में निश्चित किया गया है और इनके क्रियान्वयन के संदर्भ में संघ को यह सुनिश्चित करना है कि, प्रत्येक राज्य जहाँ तक हो सके इन निर्देशों को क्रियान्वित करने के लिए कदम उठाए। अतएव संघ इस बात के लिए सक्षम है कि, वह विशिष्ट राज्यों को यह निर्देश दे कि वे "बालकों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबंध करे" (अनुच्छेद 45), या "गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं के वध का प्रतिषेध करे" (अनुच्छेद 48), या "मादक पेयों के उपभोग का प्रतिषेध करे" (अनुच्छेद 47) आदि। संघ द्वारा भेजे गए निर्देशों को अनुपालन न करने पर या अवज्ञा करने वाले राज्य के विरुद्ध अनुच्छेद 356 लागू किया जा सकता है। यदि निदेशक तत्वों के पीछे यह अधिशक्तियाँ न काम करें, तो भाग-4 के निर्देश कागज पर छपे हुए अक्षर ही बने रहेंगे।

नीति निदेशक तत्वों के पीछे काम करने वाली राजनीतिक व संवैधानिक अधिशक्तियों के प्रभाव में राज्य द्वारा अनेक तत्वों को लागू करने का प्रयास किया गया है, जैसे- जमींदारी उन्मूलन अधिनियम, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, न्यूनतम मजदूरी निर्धारण, कारखाना अधिनियम, लघु उद्योगों को प्रोत्साहन, अनुसूचित जातियों व जनजातियों हेतु आरक्षण आदि नीति निदेशक तत्वों को सरकार द्वारा क्रियान्वित किया गया है और आज भी विभिन्न मुद्दों पर सरकार द्वारा लगातार इन तत्वों को क्रियान्वित करने के संदर्भ में विधियाँ बनायी जा रही हैं। इसके साथ-साथ अनेक योजनाओं के माध्यम से विभिन्न सरकारों द्वारा इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास अनवरत रूप से जारी है।

नीति निदेशक तत्वों का महत्व (Significance of Directive Principles)

एक राज्य का ध्येय, सिर्फ प्रशासन व राज करना होता है, किन्तु कल्याणकारी राज्य का कार्य केवल प्रशासन ही नहीं अपितु नागरिकों का कल्याण करना भी होता है। इस प्रकार नीति निदेशक तत्वों के अन्तर्गत उद्देशिका का विस्तार करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि भारतीय राज्य व्यवस्था का ध्येय ऐसा कल्याणकारी राज्य है, जिसका लक्ष्य है कि वह अपने नागरिकों को सामाजिक और आर्थिक न्याय तथा व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करे। यह सभी भावी सरकारों के लिए एक निर्देश प्रलेख के रूप में है, चाहे वे सरकारें किसी भी दल की क्यों न हों। यह सभी तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और जो सरकार जनता के मत पर टिकी हुई है, वह राज्यव्यवस्था को आकार देने में इनकी उपेक्षा नहीं कर सकती। इन तत्वों के महत्व को निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है-

- ***जन-शिक्षण की दृष्टि से महत्व***- ये सिद्धांत राज्य के उद्देश्यों या लक्ष्यों के बारे में जानकारी देते हैं। इन सिद्धांतों के अध्ययन से पता चलता है कि, राज्य एक लोक कल्याणकारी प्रशासनिक ढाँचे की स्थापना के लिए कृतसंकल्पित है।
- ***सिद्धांतों के पीछे जनमत की शक्ति***- यद्यपि इन सिद्धांतों को न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, लेकिन इसके पीछे जनमत की सत्ता होती है, जो प्रजातंत्र का सबसे बड़ा न्यायालय है। अत: जनता के प्रति उत्तरदायी कोई भी सरकार इनकी अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकती। इन निदेशक तत्वों का महत्व इस बात में है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व निर्धारित करते हैं।
- ***राजनीतिक स्थिरता की दृष्टि से महत्व***- लोकतंत्र में सरकारें बदलती रहती हैं। कभी एक दल की सरकार है तो कभी दूसरे दल की। सभी दलों की नीतियाँ अलग-अलग होती हैं। कुछ दल क्रांतिकारी विचारधारा के होते हैं तो कुछ रूढ़िवादी होते हैं। परंतु सरकार चाहे जिस दल की भी हो उसे इन सिद्धांतों के अनुसार ही अपनी नीतियाँ ढालनी पड़ेंगी। इस प्रकार नीति निदेशक सिद्धांतों से प्रशासन में स्थिरता आती है।
- ***न्यायालयों के लिए मार्गदर्शक का कार्य***- भारतीय न्यायालयों ने कई बार

मौलिक अधिकारों से संबंधित विवादों पर निर्णय देते समय नीति निदेशक तत्त्वों से मार्गदर्शन लिया है। बम्बई राज्य बनाम एफ. एम. बालसराय वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 47 के आधार पर निर्णय दिया कि शासन ने मादक द्रव्य निषेध अधिनियम पास करके उचित प्रतिबंध ही लगाया था। पुन: न्यायालय ने बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह के विवाद में अनुच्छेद 39 के आधार पर यह निर्णय दिया था कि, जमींदारी के अंत का उद्देश्य वास्तविक में जनहित ही था। इसी प्रकार विजय वस्त्र उद्योग बनाम अजमेर राज्य वाद में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 43 के आधार पर न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम को उचित ठहराया था।

- ***शासन के मूल्यांकन का आधार***– नीति–निदेशक सिद्धांतों द्वारा जनता को शासन की सफलता व असफलता की जाँच करने का मापदण्ड भी प्रदान किया जाता है। निदेशक तत्व जनता को विभिन्न दलों की तुलनात्मक जाँच करने योग्य बना देते हैं।

नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन के उदाहरण (Examples of Implementation of Directive Principles)

- पहला संविधान संशोधन अधिनियम भूमि सुधारों के क्रियान्वयन के लिए था।
- चौथे, सत्रहवें, पच्चीसवें, 42वें तथा 44वें संविधान संशोधन अधिनियमों में इसी का अनुगमन किया गया।
- 73वें संविधान संशोधन अधिनियम (1992) अनुच्छेद 40 (ग्राम पंचायत) के क्रियान्वयन की दिशा में एक कदम था।
- ताजमहल जैसे ऐतिहासिक स्मारकों के संरक्षण का कार्य भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) को दिया गया है, जो अनुच्छेद 49 के प्रावधान का अनुपालन है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) ने 1992 के उत्तरार्ध में पुरी मन्दिर का क्षय से संरक्षित करने का कार्य हाथ में लिया।
- अनेक योजनाएँ जैसे- Integrated Child Development Services, Mid-day Meal Scheme तथा मादक पेयों के प्रतिषेध हेतु कुछ राज्यों की नीति (यथा–1993 में आन्ध्र प्रदेश) अनुच्छेद 47 का ही अनुसरण हैं।
- हरित क्रांति तथा जैव प्रौद्योगिकी में शोध का एक लक्ष्य कृषि व पशुपालन का आधुनिकीकरण भी है, जो कि अनुच्छेद 48 का अनुसरण है।
- पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986, वन्य जीव अधिनियम, 1992, राष्ट्रीय वन नीति, 1980 आदि कुछ ऐसे कदम हैं, जो अनुच्छेद 48(क) के क्रियान्वयन की दिशा में लिए गए हैं।
- जिला स्तर पर कुछ न्यायिक शक्तियों से कार्यपालिका के कार्य को पृथक करने के लिए आपराधिक प्रक्रिया संहिता (Criminal Procedure Code) में किया गया संशोधन अनुच्छेद 50 का अनुसरण है।
- अंतर्राष्ट्रीय शांति को सुनिश्चित करने के लिए भारत ने अनेक प्रयास किए हैं। यथा–संयुक्त राष्ट्र की शांति स्थापना की कार्रवाइयों में भाग लेना (सोमालिया, सियरा लियोन आदि), गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रारंभ व नेतृत्व करना इत्यादि, अनुच्छेद 51 का अनुसरण है।
- 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई ताकि देश का विकास नियोजित तरीके से हो सके। अनुवर्ती पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य, सामाजिक–आर्थिक न्याय प्राप्ति तथा आय, प्रतिष्ठा और अवसर की असमानताओं को कम करना है। इसी प्रकार योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग की स्थापना सहभागी लोकतंत्र और नियोजन के लोकतंत्रीकरण का ही एक प्रयास है।
- लगभग सभी राज्यों में भू–सुधार कानून पारित किए गए हैं ताकि ग्रामीण स्तर पर कृषि समुदाय की स्थिति में सुधार हो सके, जैसे–जमींदार, जागीरदार आदि को समाप्त किया गया।
- न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (1948), बाल श्रम (प्रतिषेध और विनियमन) अधिनियम (1986), बंधित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम (1976), कारखाना अधिनियम (1948), खान अधिनियम (1952), औद्योगिक विवाद अधिनियम (1947)।
- प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम (1961) और समान पारिश्रमिक अधिनियम (1976) को महिला कर्मचारियों के हितों की रक्षा के लिए बनाया गया।
- सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कुछ कदम उठाये गए हैं, जो प्रमुख हैं– जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण (1956), 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण (1969), सामान्य बीमा का राष्ट्रीयकरण (1971), शाही खर्च की समाप्ति (1971) आदि।
- खादी एवं ग्राम उद्योग बोर्ड, खादी एवं ग्राम उद्योग आयोग, लघु उद्योग बोर्ड, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, हैंडलूम बोर्ड, हथकरघा बोर्ड, सिल्क बोर्ड आदि की ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योग विकास के लिए स्थापना की गई।
- वन्यजीव (सरंक्षण) अधिनियम, 1972 एवं वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 को वन्य जीवों एवं वनों के लिए सुरक्षा कवच के रूप में प्रभावी बनाया गया। जल एवं वायु अधिनियमों के अंतर्गत, केन्द्र एवं राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड स्थापित किए गये, जो पर्यावरण की सुरक्षा एवं सुधार में कार्यरत हैं। राष्ट्रीय वन नीति का उद्देश्य वनों की सुरक्षा, संरक्षण और विकास करना है।
- त्रि–स्तरीय राज व्यवस्था (ग्राम, ताल्लुक एवं जिला स्तर) को चालू किया गया, ताकि गांधी जी का सपना 'हर गांव गणतंत्र हो', साकार हो सके। 73वें संशोधन अधिनियम (1992) को इन पंचायती राज संस्थानों को संवैधानिक दर्जा देने के लिए प्रभावी बनाया गया।
- शैक्षणिक संस्थानों, सरकारी नौकरियों एवं प्रतिनिधि निकायों में अनुसूचित जाति, जनजाति एवं कमजोर वर्गों के लिए सीटों को सुरक्षित किया गया। अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 को सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1976 नया नाम दिया गया और अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 को अनुसूचित जाति एवं जनजाति की सुरक्षा में प्रभावी बनाया गया, ताकि उन्हें शोषण से मुक्ति और सामाजिक न्याय मिल सके। 65वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1990 के तहत अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई ताकि उनके हितों की रक्षा हो सके। 89वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा इस संयुक्त आयोग को दो पृथक निकायों अर्थात् राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग और राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग में बाँट दिया गया, ताकि बेहतर तरीके से संरक्षण किया जा सके।
- आपराधिक प्रक्रिया संहिता (1973) राज्य की लोक सेवा में कार्यकारिणी को विधिक सेवा से विभक्त करती है। इस विभाजन से पूर्व जिला प्राधिकारी जैसे–कलेक्टर, उप खंड अधिकारी, तहसीलदार आदि विधिक शक्तियों का इस्तेमाल करते थे। परंपरागत न्यायिक शक्तियों को इन कार्यकारियों से अलग कर जिला न्यायिक मजिस्ट्रेटों के हाथों में सौंप दिया गया है, जो राज्य उच्च न्यायालय के नियंत्रण में काम करते हैं।
- कुछ राज्यों में 60 वर्ष से अधिक आयु वाले लोगों के लिए तात्कालिक वृद्धावस्था पेंशन शुरू की गयी है।

मौलिक अधिकारों एवं नीति निदेशक सिद्धांतों के मध्य संबंध

सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक वादों (Cases) में एक समन्वय के सिद्धान्त (Doctrine of Harmonization) का सूत्रपात किया है।

इसे स्पष्ट करते हुए उसने आगे कहा है कि, मौलिक अधिकार व नीति निदेशक सिद्धान्त दोनों वस्तुत: एक दूसरे के पूरक हैं और साथ मिलकर ही एक समग्र नीति का स्वरूप ग्रहण करते हैं।

उसने यह भी निर्देश दिया है कि, जहाँ दोनों का समन्वय संभव न हो, वहाँ मौलिक अधिकार, नीति-निदेशक सिद्धान्तों के ऊपर अधिक प्रभावशाली होंगे।

वर्तमान स्थिति यह है कि, केवल अनुच्छेद 39(क) तथा 39(ख) को ही अनुच्छेद 14 व अनुच्छेद 19 के ऊपर प्राथमिकता (Precedence) दी जा सकती है, न कि सभी नीति निदेशक सिद्धान्तों को।

मूल अधिकारों एवं नीति-निदेशक तत्वों में संबंध (Relation between Fundamental Rights & Directive Princi

स्वतंत्रता के बाद, भारत में समाजवादी लक्ष्यों को पूरा करने हेतु भूमि सुधारों के संदर्भ में कई कानून अनुच्छेद 39(b) और (c) के अन्तर्गत बनाए गए। इन कानूनों से प्रभावित लोगों ने अपने मूल अधिकारों के संरक्षण हेतु न्यायालयों का सहारा लिया। न्यायालयों ने भूमि सुरक्षा कानूनों को मूल अधिकार का हनन मानते हुए निरस्त कर दिया। प्रतिक्रियास्वरूप संसद ने पहले और चौथे संविधान संशोधन (1951 तथा 1952) के द्वारा इन भूमि सुधार कानूनों को 9वीं अनुसूची में डाला। संविधान में नवीं अनुसूची, प्रथम संविधान संशोधन द्वारा जोड़ी गई थी। प्रभावित पक्ष ने पुन: उन कानूनों को 9वीं अनुसूची में डालने की चुनौती दी, कि यह अनुच्छेद 13(2) जो नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा सुनिश्चित करता है का उल्लंघन है। यह संसद और राज्य विधानमंडल द्वारा ऐसे किसी भी कानून के निर्माण को प्रतिबंधित करता है, जिससे नागरिकों के मूल अधिकारों का अपहरण या उन्हें कम किया जाए। उनका दूसरा तर्क था कि, संविधान में कोई संशोधन एक कानून की हैसियत रखता है, जैसा अनुच्छेद 13(2) में कहा गया है। 1952 में शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ तथा 1955 में सज्जन सिंह बनाम राजस्थान के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त दोनों तर्कों को अस्वीकृत करते हुए कहा कि संसद को संविधान के किसी भी भाग (मूल अधिकार सहित) में संशोधन का अधिकार है।

1967 में गोलकनाथ बनाम पंजाब वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले फैसले को पलट दिया। उसका कहना था कि, अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन की प्रक्रिया दी गई है, इससे संसद को संशोधन का अधिकार नहीं मिलता है अपितु संशोधन का अधिकार उसे अनुच्छेद 245, 246, 248 के प्रावधानों द्वारा मिलता है, जो विधायी अधिकार है। इसलिए संविधान में किसी संशोधन को कानून माना जाना चाहिए, जैसा अनुच्छेद 13(2) में कहा गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने इस निर्णय में कहा कि संविधान की कुछ विशेषताएँ (मूल अधिकार भी) उसका आधार है तथा उनमें संशोधन के लिए सामान्य प्रक्रिया से कुछ अधिक की आवश्यकता है।

जुलाई 1971 और जून 1972 के बीच 24वें संशोधन सहित कई अन्य संशोधनों द्वारा संसद को संविधान के भाग-3 सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन का अधिकार प्राप्त हुआ। संसद में दोनों सदनों द्वारा पारित किसी संविधान संशोधन को मंजूरी देना राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी किया गया। सम्पत्ति के अधिकार पर कई प्रतिबंध आरोपित किए गए। अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 19 को नीति निदेशक तत्वों के अनुच्छेद-39 (इ) और (ब) का अधीनस्थ बनाया गया। राजाओं के प्रिवीपर्स समाप्त किया गया तथा भूमि सुधार से संबंधित कई कानूनों को 9वीं अनुसूची में डाला गया।

केशवानन्द भारती वाद में इन सभी संशोधनों को सर्वोच्च न्यायालय में 13 जजों की बेंच के समक्ष चुनौती दी गई। इस निर्णय में न्यायालय द्वारा संविधान के मूल ढाँचे की अवधारणा दी गई। इस केस में दिए गए निर्णय के अनुसार, 24वें संविधान संशोधन को सही ठहराया गया और यह कहा गया कि, संसद को संविधान के किसी भी भाग में संशोधन का अधिकार है।

न्यायालय की व्याख्याओं में संसद की संविधान संशोधन की शक्ति पर कुछ बंधन भी आरोपित किए गये। संसद, अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत प्रदान की गयी संविधान संशोधन की शक्ति के द्वारा संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन नहीं कर सकती है।

इसी दौरान, 39वें संविधान संशोधन पारित कर संसद ने राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और लोकसभा अध्यक्ष के चुनाव से सम्बन्धित विवादों की सुनवाई पर सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार समाप्त कर दिया और यह कार्य संसद सदस्यों के एक समूह को सौंप दिया और कहा गया कि उपर्युक्त पदों पर आसीन किसी व्यक्ति के चुनाव को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। साथ ही जनप्रतिनिधित्व कानून 1951 और 1974 में संशोधन किए गए और उन्हें Election Laws Amendment Act, 1975 के साथ 9वीं अनुसूची में डाल दिया गया।

न्यायालय ने 39वें संविधान संशोधन को उचित ठहराया लेकिन चुना, क्योंकि यह न्यायिक पुनर्विलोकन को प्रभावित करता है जो कि संविधान की आधारभूत संरचना का भाग है। जजों ने संसद के विधि निर्माण और संविधान संशोधन के अधिकार को स्वीकार किया, लेकिन संविधान के मूल ढाँचे से संबंधित विचार को पुन:स्थापित किया।

1975 में कांग्रेस पार्टी ने सरदार स्वर्ण सिंह की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इसे पिछले वर्षों के अनुभवों के आधार पर संविधान में संशोधन के प्रश्न का अध्ययन करने का कार्य सौंपा गया। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर संविधान में 42वां संशोधन किया गया। इसके अन्तर्गत प्रस्तावना सहित बहुत सारे संवैधानिक प्रावधानों में संशोधन किए गए।

42वें संविधान संशोधन को, 1980 के मिनर्वा मिल्स वाद में चुनौती दी गई। तर्क दिया गया कि संविधान संशोधन को न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखने का प्रयास संविधान के मूल ढाँचे की अवधारणा के विपरीत है। यह भी कहा गया है कि, अनुच्छेद 31(c) संवैधानिक रूप से सही नहीं है, क्योंकि यह संविधान की प्रस्तावना तथा मूल अधिकार का उल्लंघन करता है। अनुच्छेद-31(c) में संशोधन के द्वारा यह प्रावधान किया गया कि, नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के उद्देश्य से बनाए गए किसी भी कानून को चुनौती नहीं दी जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त दोनों तर्कों को सही ठहराया और संविधान संशोधन के न्यायिक पुनर्विलोकन के पक्ष में निर्णय दिया। न्यायालय ने अनुच्छेद 31(c) में संशोधन को असंवैधानिक बताया, क्योंकि यह मूल अधिकार तथा नीति निदेशक तत्वों के बीच के संतुलन को नष्ट करता है, जो संविधान के मूल ढाँचे का एक भाग है। 1981 में वामन राव बनाम भारत संघ वाद में भी सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि, केशवानन्द भारती केस के बाद हुए सभी संविधान संशोधन न्यायिक पुनर्विलोकन के अंतर्गत है। केशवानंद भारती वाद के बाद 9वीं अनुसूची में डाले गए सभी कानून भी न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए खुले हैं। यह इस आधार पर कि ये संसद की संविधान संशोधन की शक्ति के बाहर हैं तथा संविधान के मूल ढाँचे को नुकसान पहुँचाती हैं। इस प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की व्याख्या करने के अपने अधिकार तथा संसद के इसमें संशोधन के अधिकार में एक संतुलन की स्थापना की है।

समान नागरिक संहिता (Uniform Civil Code)

समान नागरिक संहिता का प्रावधान भारतीय संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 44 में किया गया है, जिसमें उल्लेख किया गया है कि, भारत के संपूर्ण राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता बनाने का प्रयास करना चाहिए। देश में सभी के लिए एक समान कानून की माँग सबसे पहले 1840 में उठाई गई थी। 1937 से अब तक मुस्लिम पर्सनल लॉ में कोई सुधार नहीं हुआ है। 1985 में चर्चित शाहबानो मामले का फैसला सुनाने के बाद समान संहिता का प्रश्न राष्ट्रीय स्तर पर उभरा। इसके बाद 1995 में सरला मुद्गल मामला तथा 2003 में जॉन वेल्लामाट्टन मामले में भी समान नागरिक संहिता की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

समान नागरिक संहिता में देश के प्रत्येक नागरिक के लिए एक समान कानून होता है, चाहे वो किसी भी धर्म या जाति का क्यों न हो। इसमें शादी, तलाक तथा जमीन जायदाद का बँटवारा आदि में सभी धर्मों के लिए एक ही कानून लागू होता है। इसका उद्देश्य आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना करना तथा सभी धर्मों में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करते हुए समानता लाने का प्रयास करना है।

तीन तलाक मामला

सुप्रीम कोर्ट ने देश के सर्वाधिक जटिल मुद्दों में से एक तीन तलाक पर अपना निर्णय सुनाया, जिसमें सुप्रीम कोर्ट ने एक बार में तीन तलाक दिये जाने को अवैध करार दे दिया है और कहा है कि इससे मुस्लिम महिलाओं के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है।

ध्यातव्य है कि, तीन तलाक प्रथा से पीड़ित मुस्लिम महिलाओं द्वारा दायर की गई कई याचिकाओं पर अलग-अलग विचार करने की बजाय अदालत ने मुस्लिम समुदाय में तीन तलाक चलन की कानूनी वैधता पर 2017 में अपना फैसला सुनाया। इस फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने तीन तलाक पर छह महीने के लिए रोक लगा दी है तथा सरकार को तीन तलाक पर कानून बनाने को कहा है, जिसमें मुस्लिम संगठनों तथा शरिया कानून संबंधी चिंताओं का ध्यान रखे जाने का निर्देश दिया गया है।

इस निर्णय के बाद मुस्लिम पुरुष अपनी पत्नी को 6 माह तक एक बार में तीन तलाक नहीं कह सकेंगे। अब तीन तलाक पर कानून बनाने की राह आसान होगी, जिससे मुस्लिम महिलाओं को मुस्लिम समाज में न केवल समानता का अधिकार मिलना सुनिश्चित होगा, बल्कि धर्म और परंपरा के नाम पर वर्षों से चले आ रहे शोषण से भी उन्हें मुक्ति मिलेगी।

इस फैसले से तीन तलाक के अन्य स्वरूपों की वैधता पर कोई प्रभाव नहीं होगा। अभी भी एक-एक महीने के अंतराल पर तीन महीने में तलाक दिया जा सकता है।

तीन तलाक पर कानून

सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के आलोक में केंद्र सरकार द्वारा तीन बार अध्यादेश लाकर इस मामले को हल करने का प्रयास किया गया। मुस्लिम महिला (विवाह अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 2019 को लोकसभा और राज्यसभा ने पास कर दिया। राष्ट्रपति की मंजूरी मिलने के साथ ही इस अधिनियम के अनुसार अब एक साथ तीन तलाक (तलाक-उल-बिह्त) देना कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया तथा ऐसे मामलों को गैर-जमानती अपराध घोषित किया गया है। इसके मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं-

लिखित या इलेक्ट्रॉनिक रूप में तीन तलाक की सभी घोषणाएँ शून्य होगी।

तीन तलाक के मामलों में अधिकतम 3 साल तक की सजा व जुर्माना या दोनों का प्रावधान किया गया है।

यह गैर-जमानती अपराध होगा। मजिस्ट्रेट, पत्नी की सुनवाई के बाद आरोपी को जमानत दे सकता है।

पत्नी निर्वाह भत्ते की हकदार होगी जो मजिस्ट्रेट द्वारा तय किया जाएगा।

आपसी सुलह करने या उस महिला के अनुरोध पर मजिस्ट्रेट द्वारा दण्ड को कम किया जा सकता है।

इस प्रकार, इस कानून द्वारा मुस्लिम महिलाओं के अधिकार सुनिश्चित करने तथा उसे न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था देने और सदियों से चली आ रही इस अमानवीय, विभेदकारी व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास किया गया है।

मौलिक अधिकारों' और 'नीति निदेशक' तत्व में अंतर (Difference between Directive Principles & Fundamental Rights)

इन दोनों में मुख्य अंतर निम्नलिखित हैं-

- मौलिक अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू किए जा सकते हैं, वहीं नीति निदेशक तत्व न्यायालय द्वारा लागू नहीं किए जा सकते अर्थात मौलिक अधिकार वाद-योग्य हैं तथा नीति निदेशक तत्व वाद-योग्य नहीं हैं।
- मौलिक अधिकार नकारात्मक हैं जबकि नीति निदेशक सिद्धांत सकारात्मक हैं। मौलिक अधिकारों की प्रकृति इस रूप में नकारात्मक है कि ये राज्य के किन्हीं कार्यों पर प्रतिबंध लगाते हैं। इसके विपरीत नीति निदेशक तत्व राज्य को किन्हीं निश्चित कार्यों को करने का आदेश देते हैं।
- मौलिक अधिकारों के अंतर्गत, कानून के समक्ष समता, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार तथा किसी भी धर्म को मानने की स्वतंत्रता आदि 'राजनीतिक लोकतंत्र' की स्थापना का आधार बनते हैं। परंतु निदेशक सिद्धांतों ने आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में लोकतंत्र की स्थापना पर बल दिया है। इन सिद्धांतों के अनुसार, राज्य भौतिक साधनों को सीमित लोगों के हाथों में केंद्रित न होने देना तथा उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक हितों के उपयोग के लिए, अपनी वचनबद्धता प्रदर्शित करेगा।
- मौलिक अधिकारों का कानूनी महत्व है, जबकि निदेशक सिद्धांत 'नैतिक आदेश' मात्र हैं। जी.एन. जोशी के अनुसार, "राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत मानवीय आदर्शवाद के ढेर हैं, जिन्हें ऐसे व्यक्तियों ने संग्रहित किया है, जो दीर्घकालिक स्वतंत्रता संग्राम की समाप्ति के पश्चात स्वप्निल भावातिरेक की स्थिति में थे।"
- मौलिक अधिकारों को (अनुच्छेद 20 तथा 21 में वर्णित अधिकारों को छोड़कर) अनुच्छेद 352 के अंतर्गत घोषित आपातकालीन स्थिति के प्रवर्तन काल में स्थगित किया जा सकता है, जबकि निदेशक तत्वों का जब तक क्रियान्वयन नहीं होता, तब तक वे स्थायी रूप से स्थगन की अवस्था में ही बने रहते हैं।
- मौलिक अधिकार सार्वभौम नहीं हैं, उन पर कुछ प्रतिबंध हैं, जबकि नीति निदेशक सिद्धांतों पर कोई प्रतिबंध नहीं है।

मूल कर्तव्य
(Fundamental Duties)

परिचय

व्यक्ति को समाज में रहने के लिए कुछ अधिकारों की आवश्यकता होती है, तो समाज के प्रति उसके कुछ कर्तव्य या दायित्व भी निश्चित हो जाते हैं, जिससे समाज एवं व्यक्ति के बीच समरसता बनी रहे। इस प्रकार अधिकार एवं कर्तव्य परस्पर संबंधित हैं। अधिकारों का अभिप्राय है कि मनुष्य को कुछ स्वतंत्रताएँ प्राप्त होनी चाहिए, जबकि कर्तव्यों का अर्थ है कि समाज का व्यक्ति के ऊपर कुछ ऋण हैं जिसका निर्वहन उसको अपने कर्तव्यों के माध्यम से करना चाहिए। भारत के संविधान में कर्तव्यों को समाविष्ट करने के लिए केंद्र सरकार द्वारा सरदार स्वर्ण सिंह की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया और इस समिति के सुझावों के आधार पर दिसम्बर, 1976 में 42वां संशोधन अधिनियम पारित कर संविधान में क्रमशः मूल अधिकारों (भाग 3) तथा निदेशक तत्वों (भाग 4) के बाद 'मूल कर्तव्य' शीर्षक से एक नया भाग 4(क) जोड़ कर 10 मूल कर्तव्यों को शामिल किया गया।

संविधान में उल्लिखित मूल कर्तव्य (Fundamental Duties Mentioned in the Constitution)

मूल कर्तव्यों की सूची

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह-

क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे।

ग) भारत की प्रभुत्ता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा के लिए तत्पर रहे।

ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है।

च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझें और उनका परिरक्षण करें।

छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव भी हैं, रक्षा करे और उनका संवर्धन करें तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखे।

ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण 'मानववाद' और 'ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना' का विकास करें।

झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहें।

ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों से सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करें, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नवीन ऊँचाइयों को छू सके।

ट) 86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 द्वारा अनुच्छेद 51क में ग्यारहवें मौलिक कर्तव्य 51क(ट) को जोड़ा गया है। इसके अनुसार, जो माता-पिता या संरक्षक हों वह, छः से चौदह वर्ष के बीच की आयु के यथास्थिति, अपने बच्चों अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्रदान करेगा।

मूल कर्तव्यों की संवैधानिक स्थिति (Constitutional Status of Fundamental Duties)

मौलिक कर्तव्यों को न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित कराने का संविधान में कोई उपबंध नहीं है। यह मात्र बोध है, जिनका पालन व्यक्ति द्वारा करने की अपेक्षा की जाती है। उनका पालन न करने अथवा उल्लंघन किए जाने पर संविधान द्वारा किसी दण्ड व्यवस्था का प्रावधान नहीं किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने मूल कर्तव्यों को नागरिकों पर आबद्धकर बताया है। पर्यावरण के संरक्षण से संबंधित अनुच्छेद 51(क)(छ) के संदर्भ में न्यायालयों द्वारा कई आदेश जारी किए गए हैं। पर्यावरण सुरक्षा के लिए खनन के काम को रोक देने के मौखिक आदेश एवं कुछ विवादग्रस्त क्षेत्रों को आरक्षित वन घोषित करने के संबंध में भी उच्चतम न्यायालय द्वारा आदेश दिए गए हैं।

संविधान में इन कर्तव्यों के सीधे प्रवर्तन या उनके उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था का उपबंध न होने पर भी यह प्रत्याशा की जा सकती है कि यदि न्यायालय यह पाता है कि इन कर्तव्यों में से किसी को प्रभावी बनाने हेतु कोई विधि बनाई गई है तो वह ऐसी विधि को अनुच्छेद 14 या 19 के संबंध में युक्तियुक्त मानेगा और वह विधि असंवैधानिक होने से बच जाएगी।

उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय से कि मूल कर्तव्य नागरिकों पर आबद्धकर हैं, से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य को इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का अधिकतम प्रयास करना चाहिए, जैसे-वन संरक्षण, वन्य जीव और पर्यावरण की रक्षा। इन संदर्भों में न्यायालय उपयुक्त निर्देश दे सकता है।

मूल कर्तव्यों की आलोचना (Criticism of Fundamental Duties)

संविधान के भाग 4(क) में उल्लिखित मूल कर्तव्यों की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है-

- कर्तव्यों की सूची पूर्ण नहीं है, क्योंकि इनमें कुछ अन्य कर्तव्य जैसे-मतदान, कर अदायगी, परिवार नियोजन आदि समाहित नहीं हैं। असल में कर अदायगी के कर्तव्य को स्वर्ण सिंह समिति की संस्तुति मिली थी।
- कुछ कर्तव्य अस्पष्ट, बहुअर्थी एवं आम व्यक्ति के लिए समझने में कठिन हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न शब्दों की भिन्न व्याख्या हो सकती है 'उच्च आदर्श', 'सामाजिक संस्कृति', 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' आदि।
- अपनी गैर-न्यायोचित छवि के चलते उन्हें आलोचकों द्वारा नैतिक आदेश करार दिया गया। प्रसंगवश स्वर्ण सिंह समिति ने मूल कर्तव्यों को न निभाने पर अर्थदंड व सजा की सिफारिश की थी।
- संविधान में इन्हें शामिल करने को आलोचकों द्वारा अतिरेक करार दिया गया। ऐसा इसलिए क्योंकि संविधान में शामिल मूल कर्तव्यों को उन सभी को मानना है, जो संविधान से संबद्ध न भी हों।
- आलोचकों ने कहा है कि संविधान के भाग 4 में इनको शामिल करना, मूल कर्तव्यों के मूल्य व महत्व को कम करती है। इन्हें भाग तीन के बाद जोड़ा जाना चाहिए था, ताकि वे मूल अधिकारों के बराबर रहते।

मूल कर्तव्यों का महत्व (Importance of Fundamental Duties)

आलोचनाओं एवं विरोधों के बावजूद मूल कर्तव्यों की विशेषताओं को निम्नलिखित दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है-

- नागरिक को मूल कर्तव्य तब सचेतक के रूप में सेवा करते हैं, जब वे अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं। नागरिकों को अपने देश, अपने समाज और अपने साथी नागरिकों के प्रति अपने कर्तव्यों के संबंध में भी जानकारी रखनी चाहिए।

- मूल कर्तव्य राष्ट्र विरोधी एवं समाज विरोधी गतिविधियों- जैसे राष्ट्रध्वज को जलाने, सार्वजनिक संपत्ति को नष्ट करने के खिलाफ चेतावनी के रूप में कार्य करते हैं।
- मूल कर्तव्य नागरिकों के लिए प्रेरणा स्रोत हैं और उनमें अनुशासन और प्रतिबद्धता को बढ़ाते हैं। वे इस सोच को उत्पन्न करते हैं कि, नागरिक केवल मूकदर्शक नहीं है बल्कि राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति में सक्रिय भागीदार हैं।
- मूल कर्तव्य, अदालतों को किसी विधि की संवैधानिक वैधता एवं उनके परीक्षण के संबंध में सहायता करते हैं। 1992 में उच्चतम न्यायालय ने व्यवस्था दी कि किसी कानून की संवैधानिकता की दृष्टि से व्याख्या में यदि अदालत को पता लगे कि मूल कर्तव्यों के संबंध में विधि के प्रश्न उठ रहे हैं तो अनुच्छेद 14 या अनुच्छेद 19 (6 स्वतंत्रताओं) के संदर्भ में इन्हें तर्कसंगत माना जा सकता है और इस प्रकार ऐसी विधि को असंवैधानिकता से बचाया जा सकता है।
- मूल कर्तव्य विधि द्वारा लागू किए जाते हैं। इनमें से किसी के भी पूर्ण न होने पर या असफल रहने पर संसद उनमें उचित अर्थदंड या सजा का प्रावधान कर सकती है।

तत्कालीन विधि मंत्री एच.आर.गोखले ने संविधान लागू होने के 26 वर्षों बाद मूल कर्तव्यों को शामिल करने के निम्नलिखित कारण बताए- 'भारत की स्वतंत्रता के बाद विशेषत: जून 1975 को आपातकाल की पूर्व संध्या पर लोगों के एक वर्ग ने स्थापित विधिक व्यवस्था का सम्मान करने की अपनी मूल प्रतिबद्धता के प्रति कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। मूल कर्तव्य संबंधी पाठ के प्रावधानों का उन आंदोलनकारी लोगों पर जिन्होंने विगत में राष्ट्र विरोधी आंदोलन और असंवैधानिक विद्रोह किए हों, पर संयमी प्रभाव होगा।'

तत्कालीन, प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने संविधान में मूल कर्तव्यों को जोड़ने को उचित ठहराते हुए यह तर्क दिया कि इससे लोकतंत्र को मजबूती मिलेगी। उन्होंने कहा- 'मूल कर्तव्यों का नैतिक मूल्य अधिकारों को कोमल करना नहीं होना चाहिए लेकिन लोकतांत्रिक संतुलन बनाते हुए लोगों को अपने अधिकारों के समान कर्तव्यों के प्रति भी सजग रहना चाहिए।' मोरारजी देसाई के नेतृत्व में नई जनता सरकार ने आपातकाल के बाद इन मूल कर्तव्यों को समाप्त नहीं किया। उल्लेखनीय है कि, नई सरकार 43वें संशोधन अधिनियम (1977) एवं 44वें संशोधन अधिनियम (1978) के द्वारा 42वें संविधान संशोधन अधिनियम (1976) में अनेक परिवर्तन किए। यह परिलक्षित करता है कि संविधान में मूल कर्तव्यों को जोड़ा जाना आवश्यक था। यह ज्यादा और स्पष्ट हो गया, जब वर्ष 2002 में 86वें संशोधन अधिनियम के द्वारा एक और मूल कर्तव्य को जोड़ा गया।

मूल कर्तव्यों से संगत कानूनी प्रावधान (Legal Provisions Relating to Fundamental Duties)

मूल कर्तव्यों से संबंधित कुछ प्रमुख कानूनी प्रावधान निम्नलिखित हैं:-

- राष्ट्र गौरव अपमान निवारण अधिनियम (1971), भारत के संविधान, राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रीय गान के अनादर का निवारण करता है।
- बहुत से आपराधिक कानून, लोगों के मध्य भाषा, मूल वंश, जन्म स्थान, धर्म आदि के आधार पर विभेद फैलाने वाले को दंड देने की व्यवस्था करते हैं।
- सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम (1955), जाति एवं धर्म से संबंधित अपराधों पर दंड की व्यवस्था करता है।
- भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) घोषणा करती है कि राष्ट्रीय अखण्डता के लिए पूर्वाग्रह से ग्रस्त अभ्यारोपण और अभिकथन दंडात्मक अपराध होगा।
- विधि विरूद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1976 किसी सांप्रदायिक संगठन को गैर-कानूनी घोषित करने की व्यवस्था करता है।
- लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (1951) भ्रष्टाचार में संलिप्त, धर्म के आधार पर मत मांगने, लोगों में धर्म, जाति, भाषा के आधार पर विभेद बढ़ाने वाले संसद सदस्यों एवं राज्य विधानमंडल सदस्यों को अयोग्य घोषित करने की व्यवस्था करता है।
- वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972 दुर्लभ और लुप्तप्राय प्रजातियों के व्यापार पर प्रतिबंध लगाता है।
- वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 वनों की अनियंत्रित कटाई एवं वन भूमि के गैर-वन उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल पर रोक लगाता है।

मौलिक कर्तव्य पर सर्वोच्च न्यायालय की अधिसूचना

मई, 1998 में भारत के मुख्य न्यायाधीश रंगनाथ मिश्रा ने यह अधिसूचना जारी कि यह राज्य का कर्तव्य है कि मौलिक कर्तव्य के विषय में जनता को शिक्षित करे ताकि अधिकार तथा कर्तव्य के मध्य संतुलन उत्पन्न हो। इस अधिसूचना के प्रत्युत्तर में भारत सरकार ने एक समिति गठित की, जिसके कार्य थे-

प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय के स्तर पर मौलिक कर्तव्य की शिक्षा हेतु विषय-वस्तु विकसित करना।

पाठ्यक्रम तथा सह-पाठ्यक्रम क्रियाकलापों के भाग के रूप में गतिविधियों का निर्धारण करना।

सेवा पूर्ण तथा सेवा काल में विभिन्न स्तरों पर शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु कार्यक्रम विकसित करना।

वयस्क शिक्षा/अनौपचारिक शिक्षा/मीडिया (प्रिंट तथा इलेक्ट्रॉनिक) के माध्यम से नागरिकों के प्रशिक्षण हेतु पृथक विषयवस्तु का विकास करना।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा पहले से क्रियान्वित कार्यक्रमों को राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा में शामिल करना तथा अतिरिक्त सुझावों को प्राप्त करना।

सिनेमा हॉल में फिल्म की शुरूआत में राष्ट्रीय गान का प्रसारण

नवंबर, 2016 में सुप्रीम कोर्ट ने मूल कर्तव्य के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय दिया। इसके अनुसार-

- सिनेमा हॉल में फिल्म की शुरूआत में राष्ट्रीय गान का प्रसारण और वहाँ उपस्थित सभी लोगों द्वारा इसके सम्मान में खड़ा होना अनिवार्य है।
- राष्ट्रगान के समय पर्दे पर राष्ट्रीय ध्वज का होना अनिवार्य है।

विदित है कि संविधान सभा द्वारा 24 जनवरी, 1950 को राष्ट्रीय गान को अपनाया गया तथा भारतीय संविधान में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से मूल कर्तव्यों में अनुच्छेद 51क (क) के अंतर्गत राष्ट्रीय ध्वज व राष्ट्रीय गान के आदर से संबंधित प्रावधान किए गए हैं।

- लेकिन जनवरी, 2018 में अपने ही आदेश को पलटते हुए सुप्रीम कोर्ट ने सिनेमा घरों में फिल्म दिखाये जाने से पहले राष्ट्रगान बजाने की अनिवार्यता को खत्म कर दिया है। अब यह वैकल्पिक है।

कर्नाटक में अंधविश्वास निरोधक विधेयक 2017

कर्नाटक के कनारा जिले में कुक्के सुब्रमण्यम मंदिर में मूर्ति स्थापना आयोजन पर लोगों द्वारा छोड़े हुए जूठन पर दलित समुदाय के लोग लेट कर लुढ़कते है, इसे येदे स्नान कहते हैं। मान्यता है कि ऐसा करने से लोगों की सभी परेशानी एवं समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। वर्ष 2012 में कर्नाटक हाईकोर्ट ने इसमें बदलाव लाते हुए 'येदे स्नान' की अनुमति दी थी। येदे स्नान में भक्तों को जूठन के बजाय प्रसाद पर यह क्रिया करनी होती है। परन्तु यह अभी भी पुराने स्वरूप में जारी है।

इस परम्परा का निर्मूलन जरूरी है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51(क), (ज) के अनुसार यह प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह वैज्ञानिक और मानवतावाद की भावना को बढ़ावा दे, इसी के मद्देनजर कर्नाटक विधानसभा ने राज्य में प्रचलित अंधविश्वास एवं कुरीतियों के खिलाफ "अमानवीय कुप्रथाओं तथा काला जादू की रोकथाम के लिए विधेयक" पारित कर यह कदम उठाया है। यह परंपरा गरिमामय जीवन के खिलाफ होने के साथ-साथ लोगों को मूल कर्तव्यों के पालन से विमुख भी करती है साथ ही यह परंपरा छुआ-छूत को भी बढ़ावा देती है।

संघीय कार्यपालिका
(The Union Executive)

परिचय

देश की शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने तथा संघ के विभिन्न कार्यों को संपादित करने के लिए भारतीय संविधान ने एक सशक्त कार्यपालिका की स्थापना का प्रावधान किया है, जिसका वर्णन संविधान के भाग V के अध्याय-1 (अनुच्छेद 52 से 78 के मध्य) में किया गया है। भारत की संघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद से मिलकर बनती है। संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती हैं इसका औपचारिक प्रधान राष्ट्रपति होता है, जिसके नाम से संघ के समस्त कार्य संचालित किये जाते हैं। संघीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान प्रधानमंत्री होता है, जो अपने सहयोगी मंत्रियों के साथ मिलकर शासन सत्ता का संचालन करता है। राष्ट्रपति के लिए इस मंत्रिपरिषद की सलाह बाध्यकारी है अर्थात् राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार ही कार्य करता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों तक होता है, जिनके बारे में संसद कानून बना सकती है। भारत की राजनैतिक कार्यपालिका संसद (विधायिका) के सदस्यों से मिलकर बनती है अर्थात मंत्री पद वही धारण कर सकता है, जो संसद का सदस्य हो या मंत्री पद धारण करने के 6 माह के अंदर संसद का सदस्य बन जाए। मंत्रिपरिषद संसद के लोक सदन अर्थात लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। जब तक मंत्रिपरिषद को लोक सभा में बहुमत प्राप्त होता है, तब तक ये अपने पद पर बने रह सकते हैं। इस प्रकार यह संसद पर आश्रित होती है तथा बहुमत होने के कारण यह सदन पर नियंत्रण भी करती है। इस प्रकार देखा जाए तो भारत की कार्यपालिका संसदीय कार्यपालिका का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

कार्यपालिका से अभिप्राय

सरकार का वह अंग जो नियमों-कानूनों को लागू करता है और प्रशासन का कार्य करता है, कार्यपालिका कहलाता है। कार्यपालिका प्राय: नीति-निर्माण में भी भाग लेती है तथा उन नीतियों को लागू भी करती है। कार्यपालिका ही नीतियों को लागू करने के लिए आवश्यक नियमों के निर्माण व क्रियान्वयन का कार्य भी करती है। कार्यपालिका का औपचारिक नाम अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न होता है। कार्यपालिका के अंतर्गत, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या मंत्री ही नहीं होते, बल्कि इसके अंदर पूरा प्रशासनिक ढांचा (सिविल सेवा के सदस्य) भी शामिल हैं। सरकार के प्रधान और उनके मंत्रियों को राजनीतिक कार्यपालिका कहा जाता है और वे सरकार की सभी नीतियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जो व्यक्ति दिन-प्रतिदिन के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होते हैं, उन्हें स्थायी कार्यपालिका कहते हैं। सभी देशों में कार्यपालिका एक समान नहीं होती जैसे अमेरिका के राष्ट्रपति की शक्तियाँ और कार्य, भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों से बहुत अलग हैं। भारत और फ्रांस दोनों ही देशों में प्रधानमंत्री हैं, पर उनकी भूमिकाएं अलग-अलग हैं।

अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था है और कार्यकारी शक्तियाँ राष्ट्रपति के पास होती है। इंग्लैण्ड में संसदीय लोकतंत्र और संवैधानिक राजतंत्र है, जिसमें किंग्स चार्ल्स राज्य के प्रधान और प्रधानमंत्री सरकार का प्रधान हैं। फ्रांस में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री अर्द्ध-अध्यक्षात्मक व्यवस्था के हिस्से हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है पर उन्हें पद से हटा नहीं सकता क्योंकि वे संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जापान की संसदीय व्यवस्था में राजा देश का और प्रधानमंत्री सरकार का प्रधान होता है, जबकि इटली की संसदीय व्यवस्था में राष्ट्रपति देश का और प्रधानमंत्री सरकार का प्रधान होता है। रूस में एक अर्द्ध-अध्यक्षात्मक व्यवस्था है, जिसमें राष्ट्रपति देश का प्रधान और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रधानमंत्री सरकार का प्रधान होता है। जर्मनी में संसदीय व्यवस्था है, जिसमें राष्ट्रपति देश का तथा सरकार का नाममात्र का और चांसलर, सरकार का वास्तविक प्रधान होता है।

अध्यक्षात्मक व्यवस्था में, राष्ट्रपति राज्य और सरकार दोनों का ही प्रधान होता है। इस व्यवस्था में सिद्धांत और व्यवहार दोनों में राष्ट्रपति का पद बहुत शक्तिशाली होता है। ऐसी व्यवस्था अमेरिका, ब्राजील और लैटिन अमेरिका के अनेक देशों में पायी जाती है। संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री सरकार का प्रधान होता है। अधिकतर संसदीय व्यवस्थाओं में एक राष्ट्रपति या राजा होता है, जो देश का औपचारिक या नाम मात्र का प्रधान होता है।

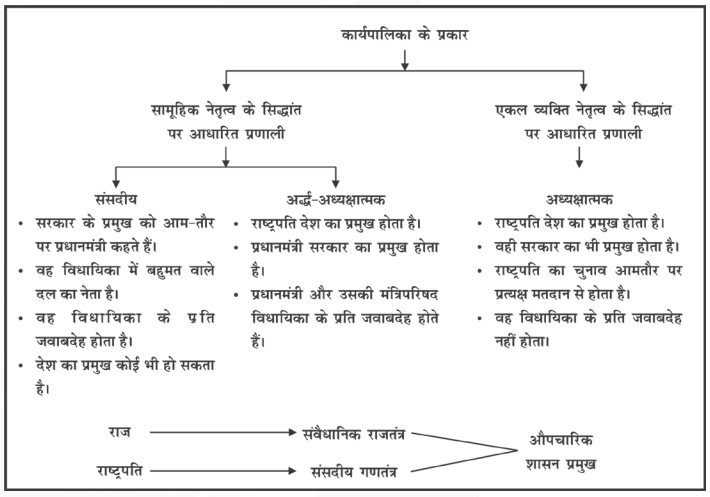

इस व्यवस्था में राष्ट्रपति या राजा की भूमिका मुख्यत: नाममात्र की होती है और प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमण्डल के पास वास्तविक शक्ति होती है। भारत, जर्मनी, इटली, जापान, इंग्लैंड और पुर्तगाल आदि देशों में यह व्यवस्था है। अर्द्ध-अध्यक्षात्मक व्यवस्था में, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों होते हैं, लेकिन संसदीय व्यवस्था के विपरीत इसमें राष्ट्रपति को दैनिक कार्यों के संपादन में महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इस व्यवस्था में, कभी-कभी राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों ही एक ही दल के हो सकते हैं, लेकिन जब कभी वे दो अलग-अलग दलों के होते हैं तो उनमें आपस में विरोध हो सकता है। फ्रांस, रूस और श्रीलंका में ऐसी ही व्यवस्था है।

भारत में संसदीय कार्यपालिका

भारत को 1919 और 1935 के अधिनियमों के अंतर्गत, संसदीय व्यवस्था के संचालन का कुछ अनुभव हो चुका था। इस अनुभव ने संविधान निर्माताओं में इस दृष्टि का संचार किया कि, संसदीय व्यवस्था के अंतर्गत कार्यपालिका को जन-प्रतिनिधियों के द्वारा प्रभावपूर्ण तरीके से नियंत्रित किया जा सकता है। भारतीय संविधान के निर्माता एक ऐसी सरकार सुनिश्चित करना चाहते थे, जो जनता की अपेक्षाओं के प्रति संवेदनशील और उत्तरदायी हो। संसदीय कार्यपालिका का दूसरा विकल्प अध्यक्षात्मक कार्यपालिका है, जिसमें मुख्य कार्यकारी के रूप में राष्ट्रपति पर बहुत बल दिया जाता है और उसे सभी शक्तियों का स्रोत माना जाता है। अत: अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में शक्ति संकेन्द्रण

होने के कारण लोकतंत्र को तानाशाही में परिवर्तित होने का खतरा बना रहता है। संविधान निर्माता एक ऐसी सरकार चाहते थे, जिसमें एक शक्तिशाली कार्यपालिका तो हो, लेकिन साथ-साथ उसमें शक्ति संकेन्द्रण पर पर्याप्त अंकुश लगें हों। संसदीय व्यवस्था में ऐसी अनेक प्रक्रियाएँ हैं जो यह सुनिश्चित करती हैं कि कार्यपालिका, विधायिका या जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होगी और उनसे नियंत्रित भी, इसलिए संविधान में राष्ट्रीय और प्रांतीय दोनों ही स्तरों पर संसदीय कार्यपालिका की व्यवस्था को स्वीकार किया गया है।

इस व्यवस्था के अंतर्गत, राष्ट्रपति, भारत राज्य का औपचारिक प्रधान होता है तथा प्रधानमंत्री वास्तविक प्रधान होता है, जो अपने मंत्रिपरिषद के साथ राष्ट्रीय स्तर पर सरकार का संचालन करता हैं। राज्यों के स्तर पर राज्यपाल, मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद मिलकर कार्यपालिका बनाते हैं।

भारत के संविधान में **औपचारिक** रूप से संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति को दी गई हैं, लेकिन वास्तव में प्रधानमंत्री के नेतृत्व में बनी मंत्रिपरिषद के माध्यम से राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग करता है।

***नोट*- डॉ. भीम राव अंबेडकर के अनुसार**- 'जहाँ अध्यक्षात्मक प्रणाली में दैनिक जिम्मेदारियाँ नहीं होती, केवल सामयिक जिम्मेदारी होती है, वहीं संसदीय सरकार में दैनिक व सामयिक दोनों जिम्मेदारियाँ होती हैं।'

राष्ट्रपति

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-52** में, भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को 'राष्ट्रपति' कहा गया है। हमारे संविधान में राष्ट्रपति के पद को सर्वाधिक सम्मान, गरिमा एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है। ये राष्ट्र के अध्यक्ष होते हैं, संघ की सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्ति इन्हीं में निहित होती हैं, और भारत सरकार के समस्त कार्य-कलाप राष्ट्रपति के नाम से ही संचालित किए जाते हैं। भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण ब्रिटेन के सम्राट/साम्राज्ञी की भांति भारत का राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान होता है और मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यकारी की भूमिका में होती है। ब्रिटेन की साम्राज्ञी/ सम्राट और भारत के राष्ट्रपति दोनों के पद में मूलभूत अंतर है, क्योंकि ब्रिटेन की साम्राज्ञी/किंग्स का पद वंशानुगत है, जबकि भारत का राष्ट्रपति एक निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचित किया जाता है। राष्ट्रपति अपने अधिकारों का प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ सरकारी अधिकारियों के माध्यम से करता है।

राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएँ

संविधान के **अनुच्छेद-58** के अनुसार, कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए योग्य तब होगा, जब वह .

- भारत का नागरिक हो।
- पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
- लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।
- घोषित दिवालिया या विकृतचित्त न हो।

राष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु नामांकन के लिए उम्मीदवार को कम से कम 50 प्रस्तावक और 50 अनुमोदक होने चाहिए तथा हर उम्मीदवार को भारतीय रिजर्व बैंक में जमानत राशि के रूप में 15000 रुपये जमा करने होंगे। कुल डाले गये मतों का 1/6 भाग प्राप्त नहीं करने पर यह जमानत राशि जब्त कर ली जाएगी।

शर्तें

भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन या उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण नहीं करता हो। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के पद पर या संघ अथवा किसी राज्य के मंत्रिपरिषद का सदस्य हो, तो यह नहीं माना जाएगा कि वह लाभ के पद पर है।

राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का या किसी राज्य विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा और यदि संसद के किसी सदन का या किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का कोई सदस्य राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होता है तो यह माना जाएगा कि उसने अपने पदग्रहण की तारीख से वह पद रिक्त कर दिया है। राष्ट्रपति लाभ का कोई अन्य पद ग्रहण नहीं करेगा।

राष्ट्रपति को सरकारी आवास दिया जाएगा, जिसका कोई किराया नहीं होगा एवं राष्ट्रपति को वो सभी उपलब्धियाँ, भत्ते एवं विशेषाधिकार प्राप्त होंगे, जो संसद द्वारा निर्धारित किया जाएगा। किंतु संसद राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ और वेतन व भत्ते उनके कार्यकाल की अवधि में कम नहीं कर सकती।

भारत के राष्ट्रपति

राष्ट्रपति	*कार्यकाल की अवधि (कब से)*	*कार्य की अवधि (कब तक)*
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	जनवरी 26, 1950	मई 13, 1962
डॉ. एस. राधाकृष्णन	मई 13, 1962	मई 13, 1967
डॉ. जाकिर हुसैन	मई 13, 1967	मई 03, 1969 (मृत्यु)
वी. वी. गिरि	मई 03, 1969	जुलाई 20, 1969 (कार्यवाहक)
न्यायमूर्त्ति एम. हिदायतुल्ला	जुलाई 20, 1969	अगस्त 24, 1969 (कार्यवाहक)
वी. वी. गिरि	अगस्त 24, 1969	अगस्त 24, 1974
फखरुद्दीन अली अहमद	अगस्त 24, 1974	फरवरी 11, 1977 (मृत्यु)
बी. डी. जत्ती	फरवरी 11, 1977	जुलाई 25, 1977 (कार्यवाहक)
नीलम संजीव रेड्डी	जुलाई 25, 1977	जुलाई 25, 1982
ज्ञानी जैल सिंह	जुलाई 25, 1982	जुलाई 25, 1987
आर. वेंकटरमण	जुलाई 25, 1987	जुलाई 25, 1992
डॉ. शंकर दयाल शर्मा	जुलाई 25, 1992	जुलाई 25, 1997
के. आर. नारायणन	जुलाई 25, 1997	जुलाई 25, 2002
ए. पी. जे. अब्दुल कलाम	जुलाई 25, 2002	जुलाई 25, 2007
प्रतिभा देवी सिंह पाटिल	जुलाई 25, 2007	जुलाई 25, 2012
प्रणब मुखर्जी	जुलाई 25, 2012	जुलाई 25, 2017
रामनाथ कोविंद	जुलाई 25, 2017	जुलाई 25, 2022
द्रौपदी मुर्मू	जुलाई 25, से अब तक	

निर्वाचन प्रक्रिया

राष्ट्रपति का निर्वाचन, निर्वाचक मंडल के सदस्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा करते हैं। इस निर्वाचक मण्डल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य तथा पुडुचेरी तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होते हैं। राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल में संसद के मनोनीत सदस्य, राज्य विधानसभाओं के मनोनीत सदस्य शमिल नहीं होते हैं तथा राज्य विधानपरिषदों के सदस्य भी शामिल नहीं किये जाते। राष्ट्रपति के निर्वाचन पद्धति से संबंधित **अनुच्छेद-55** के अनुसार, राष्ट्रपति के निर्वाचन में दो सिद्धांतों को अपनाया जाता है-

क्या आप जानते हैं?

70वें संविधान संशोधन द्वारा- 'राष्ट्रपति निर्वाचक मण्डल में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधानसभा के सदस्यों एवं केन्द्र-शासित राज्य पुडुचेरी के विधान सभा के सदस्यों को शामिल किया गया।'

- ***समरूपता का सिद्धांत–*** इस सिद्धांत के अनुसार, सभी राज्यों की विधानसभाओं के प्रतिनिधित्व का मान निकालने के लिए एक ही प्रक्रिया अपनायी जाती है तथा सभी राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मत मूल्यों का योग संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों के मत मूल्य के योग के समतुल्य अर्थात समान होता है। राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मत मूल्य तथा संसद के निर्वाचित सदस्यों के मत मूल्य को निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित प्रक्रिया अपनायी जाती है।
  - विधानसभा के सदस्यों के मत मूल्य का निर्धारण प्रत्येक राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों के मतों की संख्या निकालने के लिए उस राज्य की कुल जनसंख्या को राज्य विधानसभा की कुल निर्वाचित सदस्य संख्या से विभाजित करके भागफल को 1000 से विभाजित किया जाता है। यदि उक्त विभाजन के परिणामस्वरूप शेष 500 से अधिक आये, तो प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक जोड़ दिया जाता है। राज्य विधानसभा के सदस्यों का मूल्य निम्न प्रकार निकाला जाता है-

$$\text{राज्य की विधानसभा के एक सदस्य का मत मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या} \times 1000}$$

  - संसद सदस्य के मत मूल्य निर्धारित करने के लिए राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मत मूल्य को जोड़कर उसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के योग का भाग दिया जाता है। संसद सदस्य का मत मूल्य निम्न प्रकार निकाला जाता है-

$$\text{संसद सदस्य का मत मूल्य} = \frac{\text{सभी राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मत मूल्यों का योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों का योग}}$$

मूल रूप से प्रावधान है कि, जनसंख्या का निर्धारण अंतिम पूर्ववर्ती जनगणना के प्रकाशित आंकड़ों के आधार पर किया जाएगा। हालांकि 42 वें संविधान संशोधन अधिनियम-1976 द्वारा अंतिम पूर्ववर्ती जनगणना का आशय 1971 की जनगणना से कर दिया गया। वर्ष 2000 में संघीय कैबिनेट ने 84वाँ संविधान संशोधन अधिनियम-2001 के अंतर्गत इसकी सीमावधि में वृद्धि करते हुए यह प्रतिबंध तब तक के लिए बढ़ा दिया, जब तक 2026 के पश्चात के जनगणना संबंधी आंकड़े प्रकाशित नहीं किए जाते हैं।

- ***एकल संक्रमणीय सिद्धांत–*** इस सिद्धांत का तात्पर्य है कि, यदि निर्वाचन में एक से अधिक उम्मीदवार हों, तो मतदाताओं द्वारा मतदान वरीयता क्रम से दिया जाए। इसका आशय यह है कि मतदाता, मतदान पत्र में उम्मीदवारों के नाम या चुनाव चिन्ह के समक्ष अपना **वरीयता क्रम लिखेगा।** अनुच्छेद-55 के अनुसार निर्वाचन गुप्त मतदान (Secret Ballot) से होगा।

मतगणना

राष्ट्रपति के चुनाव के पश्चात उसी व्यक्ति को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जो आधे से अधिक मत प्राप्त करता है। यदि मतगणना के प्रथम दौर में किसी उम्मीदवार को नियत किये गये **कोटा** अर्थात आधे से अधिक के बराबर मत मूल्य प्राप्त होता है, तो उसे निर्वाचित घोषित किया जाता है। यदि किसी उम्मीदवार को नियत कोटे के बराबर मत मूल्य नहीं प्राप्त होता है, तो मतगणना का दूसरा दौर प्रारंभ होता है। दूसरे दौर की मतगणना में जिस उम्मीदवार को प्रथम वरीयता का सबसे कम मत मिलता है, उसको गणना से बाहर करके उसकी द्वितीय वरीयता के मत मूल्य को अन्य उम्मीदवारों को स्थानांतरित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय दौर की गणना में भी किसी उम्मीदवार को नियत किए गए कोटे के बराबर मत मूल्य नहीं प्राप्त होता, तो तीसरे दौर की गणना होती है। तीसरे दौर की गणना में उस उम्मीदवार को गणना से बाहर कर दिया जाता है, जो दूसरे दौर की गणना के पश्चात सबसे कम मत मूल्य प्राप्त करता है, और इस उम्मीदवार के तृतीय वरीयता मत मूल्य को शेष उम्मीदवारों के पक्ष में हस्तांतरित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक अपनायी जाती है, जब तक किसी उम्मीदवार को नियत किए गए कोटे के बराबर मत मूल्य प्राप्त नहीं हो जाता।

राष्ट्रपति का शपथ

राष्ट्रपति को पद एवं गोपनीयता की शपथ सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा दिलाई जाती है। राष्ट्रपति के निर्वाचन की वैधता की चुनौती से संबंधित याचिका वही दायर कर सकता है, जो उम्मीदवार अथवा निर्वाचक हो।
संविधान के अनुच्छेद-71 में उपबंध है कि राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न सभी शंकाओं और विवादों की जांच तथा निपटारा उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका निर्णय अंतिम होगा।

राष्ट्रपति के वेतन और भत्ते

संविधान के अनुसार, राष्ट्रपति को नि:शुल्क शासकीय आवास (राष्ट्रपति भवन) उपलब्ध होगा और उसे संसद द्वारा समय-समय पर निश्चित किए जाने वाले वेतन, भत्ते एवं विशेषाधिकार प्राप्त होंगे। उसे पदावधि की समाप्ति के पश्चात उसे पेंशन दिए जाने संबंधी व्यवस्था भी की गई है। संविधान के अनुच्छेद-59 के अनुसार, राष्ट्रपति की उपलब्धियां और भत्ते उसके कार्यकाल में घटाए नहीं जा सकते। वर्तमान में राष्ट्रपति को **5 लाख रुपये** मासिक वेतन के रूप में मिलता है जो कि आयकर से मुक्त होता है। राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं, जिस पर सदन में कोई परिचर्चा नहीं हो सकती है।

राष्ट्रपति की पदावधि एवं हटाये जाने की स्थिति

संविधान के अनुच्छेद 56 के अनुसार, राष्ट्रपति की पदावधि पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष की होती है। पाँच वर्ष से पहले राष्ट्रपति की पदावधि दो प्रकार से समाप्त हो सकती है-

1. उप-राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा।
2. **अनुच्छेद-61** के अंतर्गत महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा संविधान के उल्लघंन के आरोप में हटाए जाने पर।

महाभियोग की प्रक्रिया

महाभियोग एक अर्द्ध न्यायिक प्रक्रिया है जो संसद में चलाई जाती है। संसद का कोई भी सदन राष्ट्रपति पर संविधान के उल्लंघन का आरोप लगाएगा। दूसरा सदन उन आरोपों की जांच करेगा या करवाएगा। किंतु ऐसा आरोप तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक कि-

- राष्ट्रपति को, चौदह दिन पूर्व लिखित सूचना देकर, तथा सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम एक-चौथाई सदस्यों ने हस्ताक्षर करके प्रस्थापना अंतर्विष्ट करने वाला संकल्प प्रस्तावित नहीं किया हो,
- सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई-बहुमत द्वारा ऐसा संकल्प पारित नहीं किया गया हो।

राष्ट्रपति को ऐसे अन्वेषण में उपस्थित होने और अपना प्रतिनिधित्व कराने का अधिकार होगा। यदि ऐसे अन्वेषण के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाया गया आरोप सिद्ध हो जाता है तथा आरोप का अन्वेषण करने या कराने वाले सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाता है। तब संकल्प पारित किये जाने की तिथि से ही राष्ट्रपति पदच्युत समझा जाएगा।
राष्ट्रपति को **अनुच्छेद-56** और **61** के उपबंधों के अनुसार, महाभियोग के अलावा किसी और ढंग से नहीं हटाया जा सकता।
राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करेगा, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण नहीं कर लेता।

पुनर्निर्वाचन के लिए पात्रता

कोई व्यक्ति, जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण करता है अथवा कर चुका है, इस संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए उस पद हेतु पुनर्निर्वाचन का पात्र होगा।

पदावधि पूर्ण होने तथा आकस्मिक रिक्ति को भरने हेतु निर्वाचन

राष्ट्रपति की आकस्मिक पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्ति को भरने हेतु निर्वाचन रिक्ति होने की तिथि के पश्चात् यथाशीघ्र और प्रत्येक दशा में छः माह के भीतर करा लिया जाएगा और निर्वाचित होने वाला व्यक्ति **अनुच्छेद- 56** के उपबंधों के अधीन अपने पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष की सम्पूर्ण अवधि तक पद पर बने रहने का अधिकारी होगा।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ

भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति को निम्नलिखित शक्तियाँ प्रदान की गई है-

1. कार्यपालिका शक्तियाँ
2. विधायी शक्तियाँ
3. वित्तीय शक्तियाँ
4. राजनयिक शक्तियाँ
5. सैन्य शक्तियाँ
6. न्यायिक शक्तियाँ
7. आपातकालीन शक्तियाँ

कार्यपालिका शक्तियाँ

भारत सरकार की कार्यपालिका संबंधी सभी कार्यवाहियाँ औपचारिक रूप से राष्ट्रपति के नाम से ही संपादित होती हैं। अपने नाम पर जारी किए जाने वाले आदेश तथा अन्य कार्यवाहियों के संबंध में वह उन नियमों को बना सकता है, जिनसे यह स्पष्ट हो कि उन आदेशों या अन्य कार्यवाहियों को किस रूप में वैध माना जाए।
अर्थात् किन-किन आदेशों की वैधता हेतु उसके हस्ताक्षर अनिवार्य हैं व किन-किन आदेशों या कार्यवाहियों की वैधता के लिए उसकी मुहर ही पर्याप्त है।
वह प्रधानमंत्री को नियुक्त करता है तथा प्रधानमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करता है। मंत्री **राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त** पद धारण करते हैं। संघीय सरकार के अधिक सुविधाजनक संव्यवहार (Transaction of Business) के लिए तथा उन संव्यवहारों का मंत्रियों के बीच बंटवारे के लिए वह नियम बना सकता है।
वह भारत के महान्यायवादी (Attorney General of India) की नियुक्ति करता है तथा उसका वेतन निर्धारित करता है। महान्यायवादी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण करता है। राष्ट्रपति भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India), मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व अन्य सदस्यों आदि की नियुक्ति करता है। **अनुच्छेद-78** के अंतर्गत, संघ के क्रिया-कलाप तथा कानून बनाने के प्रस्तावों के बारे में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री से कोई भी सूचना मांग सकता है।
यदि किसी मुद्दे पर किसी मंत्री द्वारा कोई निर्णय ले लिया गया हो और मंत्रिपरिषद द्वारा उस मुद्दे पर विचार न किया गया हो, तो राष्ट्रपति प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद के विचार के लिए उस मुद्दे को सौंपने को कह सकता है।
वह अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्ग की दशा के निरीक्षण के लिए आयोग का गठन कर सकता है।
केन्द्र-राज्य सहयोग तथा राज्यों के पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने के लिए वह 'अन्तर्राज्यीय परिषद्' (Inter-State Council) का गठन कर सकता है। वह उपराज्यपाल (Lt. Governor), आयुक्त अथवा प्रशासक (Administrator) के माध्यम से केन्द्रशासित प्रदेशों पर सीधा शासन करता है।

विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)

राष्ट्रपति को भारतीय संसद का अभिन्न अंग माना गया है। इस रूप में उसे निम्नलिखित शक्तियाँ प्राप्त हैं-
वह संसद के दोनों सदनों का आह्वान या सत्रावसान कर सकता है तथा लोकसभा भंग कर सकता है। हालांकि उसे लोकसभा के विघटन के लिए प्रधानमंत्री से सलाह (परामर्श) लेना होता है। वह संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है, जिसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। प्रत्येक आम चुनाव के संपन्न होने पर प्रथम सत्र के आरंभ में तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ में वह संसद के दोनों सदनों को संबोधित करता है, जिसमें वहाँ सरकार की नीतियों तथा भावी कार्यक्रमों को बताता है।
राष्ट्रपति संसद में लंबित (Pending) विधेयकों के संबंध में अथवा अन्य किसी विषय के संबंध में संसद के दोनों सदनों को संदेश भेज सकता है। साथ ही लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों का पद एक साथ रिक्त हो जाने पर वह लोकसभा की बैठकों की अध्यक्षता करने के लिए लोकसभा के किसी भी सदस्य को नियुक्त कर सकता है। भारत का राष्ट्रपति साहित्य, विज्ञान, कला तथा समाजसेवा के क्षेत्रों में विशेष ज्ञान या व्यवहारिक अनुभव रखने वाले व्यक्तियों में से राज्यसभा के लिए 12 सदस्यों को मनोनीत करता है। राष्ट्रपति लोकसभा में एंग्लो-इंडियन समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व न होने की स्थिति में आंग्ल-भारतीय समुदाय में से लोकसभा के लिए 2 सदस्यों को मनोनीत करता था। इस प्रावधान को 104वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिया गया है, जो 25 जनवरी 2020 से लागू हो गया। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की सलाह पर संसद के सदस्यों की योग्यताओं से संबंधित प्रश्नों पर निर्णय लेता है।
कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को संसद में लाने से पहले राष्ट्रपति की अनुशंसा या अनुमति की आवश्यकता पड़ती है, जैसे- भारत की संचित निधि में से व्यय से संबन्धित विधेयक अथवा राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन या नये राज्यों के निर्माण से संबंधित विधेयक।
संसद द्वारा पारित कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात ही कानून बनता है। संसद द्वारा किसी विधेयक के पारित कर दिए जाने के बाद, जब उस विधेयक को राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है, तो वह अनुच्छेद-111 के अंतर्गत विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है या अपनी सहमति को सुरक्षित रख सकता है या संसद के पास पुनर्विचार के लिए विधेयक को वापस कर सकता

है (यदि वह कोई धन विधेयक या संविधान संशोधन विधेयक न हो। यदि संसद कुछ संशोधन कर अथवा बिना किसी संशोधन के उस विधेयक को दूसरी बार पारित कर राष्ट्रपति के पास भेज देती है, तो राष्ट्रपति को उस विधेयक पर अनुमति देना बाध्यकारी है।

विधेयक, जिन पर राष्ट्रपति की पूर्व अनुशंसा आवश्यक है
कुछ विधेयक ऐसे होते हैं, जिन्हें केवल राष्ट्रपति की अनुशंसा पर ही संसद में लाया जा सकता है। यथा–
अनुच्छेद-3 के अंतर्गत किसी राज्य की सीमाओं अथवा नाम को परिवर्तित करने हेतु विधेयक।
धन विधेयक, जिसका विस्तृत विवरण अनुच्छेद-110 में है।
वित्त विधेयक (प्रथम श्रेणी), जिनका संबंध यद्यपि अनुच्छेद-110 से हो, परन्तु उसमें अन्य प्रावधान भी हों।
जो यद्यपि साधारण विधेयक हैं, परन्तु जिनमें भारत की संचित निधि से धनाहरण किया जाना है।
अनुच्छेद-31(।) से संबंधित।
कर-आरोपण (Taxation) की वस्तुओं से संबंधित कोई भी विधेयक, जिसमें राज्यों की रुचि है, अथवा कृषि आय इत्यादि को पुनः परिभाषित करने के लिए लाया गया विधेयक।
राज्य विधेयक, जो व्यापार, वाणिज्य आदि की स्वतंत्रता को बाधित करते हों [अनुच्छेद-19(1)(छ) के विरुद्ध है]। जिन विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्व अनुशंसा आवश्यक है, उनकी संवैधानिकता पर न्यायालय में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, भले ही पारित किए जाने के बाद उन पर राष्ट्रपति की अनुशंसा मिले या न मिले।

राष्ट्रपति की वीटो शक्तियाँ

संसद द्वारा पारित विधेयकों के संबंध में राष्ट्रपति के पास वीटो की शक्ति होती है। भारत के राष्ट्रपति की वीटो शक्ति अत्यंतिक निलम्बनकारी वीटो तथा पॉकेट वीटो का सामूहिक रूप है।

- ***आत्यंतिक वीटो***- जब राष्ट्रपति किसी विधेयक को अनुमति प्रदान नहीं करता तो वह विधेयक समाप्त हो जाएगा। भारत के संविधान में पूर्ण मंत्रिमंडलीय दायित्व होते हुए भी इस उपबंध को समाविष्ट किया गया है। राष्ट्रपति सामान्यतया इस शक्ति का प्रयोग गैर-सरकारी विधेयकों को अनुमति न प्रदान करके कर सकता है। सरकारी विधेयकों के संदर्भ में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिसमें विधेयक के पारित हो जाने के पश्चात् और राष्ट्रपति की अनुमति मिलने के पहले मंत्रिमण्डल पदत्याग कर देता है और दूसरा मंत्रिमण्डल, जिसका संसद में बहुमत है, राष्ट्रपति को उस विधेयक के विरुद्ध वीटो के प्रयोग की सलाह देता है। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रपति के लिए वीटो का प्रयोग संवैधानिक होगा। राष्ट्रपति की अत्यंतिक वीटो शक्ति मंत्रिमण्डल के इच्छाधीन होती है।
- ***निलम्बनकारी वीटो***- जब राष्ट्रपति किसी विधेयक को अनुमति देने से स्पष्ट रूप से इंकार करने के स्थान पर विधेयक या उसके किसी भाग को पुनर्विचार के लिए वापस कर देता है तो यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति ने निलंबनकारी वीटो का प्रयोग किया है। पुनर्विचार के लिए वापस किया गया विधेयक यदि पुनः सामान्य बहुमत से पारित कर दिया जाता है, तो उस स्थिति में राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है। भारत में राष्ट्रपति द्वारा विधेयक लौटाए जाने का प्रभाव निलम्बन मात्र होता है।
- ***जेबी (पॉकेट) वीटो***- संविधान में इसके लिए कोई समय-सीमा निश्चित नहीं की गयी है। समय-सीमा के अभाव में, भारत का राष्ट्रपति जेबी वीटो की शक्ति का प्रयोग करता है। इसे पॉकेट वीटो भी कहा जाता है। जब राष्ट्रपति अनुमति के लिए प्रस्तुत विधेयक पर न तो अनुमति देता है, न ही इंकार करता है अथवा न ही उसे पुनर्विचार के लिए वापस भेजता है, विशेषकर तब जब वह पाता है कि मंत्रिमण्डल का पतन शीघ्र होने वाला है, तो यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति ने जेबी वीटो का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप इस वीटो का प्रयोग राष्ट्रपति (ज्ञानी जैल सिंह) ने 1986 में संसद द्वारा पारित **भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक** के संदर्भ में किया था।

क्या आप जानते हैं?
संविधान में वीटो शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि इसका प्रयोग व्यवहारिक रूप में किया जाता है।

अध्यादेश जारी करने की शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद-123 द्वारा प्राप्त शक्ति के माध्यम से जब संसद के दोनों सदनों का सत्र नहीं चल रहा हो और ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हो, जिनमें तुरन्त कार्यवाही करना आवश्यक हो, तब राष्ट्रपति अध्यादेशों (Ordinances) को जारी कर सकता है। अगर एक सदन सत्र में नहीं है तब भी अध्यादेश जारी किया जा सकता है, क्योंकि विधेयक पारित करने के लिए एक सदन की उपस्थिति पर्याप्त नहीं होती। संसद की पुनः बैठक होने पर इन अध्यादेशों को संसद की सहमति 6 सप्ताह के अंदर मिलनी आवश्यक है। वह अध्यादेशों को किसी भी समय वापस ले सकता है। संसद की सहमति न मिलने की स्थिति में ये अध्यादेश अधिकतम 6 सप्ताह तक प्रभावी रह सकते हैं और उसके बाद यह अध्यादेश स्वतः समाप्त हो जाता है। समीकरण है कि राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश का वही प्रभाव होता है, जो संसद के द्वारा पारित अधिनियम (एक्ट) का होता है।

अन्य विधायी शक्तियाँ

वह नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग तथा अन्य ऐसी संस्थाओं की रिपोर्टों को संसद के सम्मुख रखवाता है। राष्ट्रपति अंडमान व निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, दादर एवं नगर हवेली तथा दमन व दीव में शांति, विकास व सुशासन के लिए विनियम बना सकता है। पुदुचेरी के लिए भी वह नियम बना सकता है किन्तु केवल तब जब वहां की विधानसभा निलंबित हो या विघटित अवस्था में हो।

वित्तीय शक्तियाँ

सभी धन विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से ही लोकसभा में लाए जाते हैं। **अनुच्छेद-112** के तहत वह संसद के सम्मुख वार्षिक वित्तीय विवरण (Annual Financial Statement) अर्थात् संघीय बजट पेश कराता है। उसकी अनुशंसा के बिना अनुदान के लिए कोई मांग नहीं की जा सकती है। जिन व्ययों का पहले से कोई अनुमान नहीं था, ऐसे व्ययों के वहन के लिए वह भारत की आकस्मिक निधि से व्यय हेतु धन आहरण कर सकता है। राष्ट्रपति केन्द्र व राज्यों के बीच करों के वितरण के संबंध में अनुशंसा देने के लिए प्रत्येक 5 वर्ष के लिए वित्त आयोग का गठन करता है।

राजनयिक शक्तियाँ

भारत के सभी अंतर्राष्ट्रीय संधियों व समझौतों का परक्रामण (Negotiation) या समापन राष्ट्रपति की ओर से होता है। यह संसद की स्वीकृति मिलने पर निर्भर है। वह राजदूतों व उच्चायुक्तों जैसे राजनयिकों को दूसरे देशों में भेजता है व दूसरे देशों के राजनयिकों को स्वीकार करता है।

सैन्य शक्तियाँ

राष्ट्रपति भारत की सशस्त्र सेनाओं का सर्वोच्च कमांडर होता है। वह थलसेना,

नौसेना व वायुसेना के प्रमुखों की नियुक्ति करता है। संसद की स्वीकृति मिलने के आधार पर वह युद्ध तथा युद्धविराम की घोषणा तथा रक्षा बलों की तैनाती करने का अधिकार रखता है।

न्यायिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति की समस्त न्यायिक शक्तियाँ, कार्यपालिका शक्तियाँ ही हैं। केवल उनके न्यायिक प्रकृति का होने के कारण यहाँ न्यायिक शक्तियों के रूप में उनको उद्धृत किया जा रहा है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-124-127, 217, 224, 224ए के अंतर्गत, राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। अनुच्छेद-143 के अंतर्गत कानून या तथ्य अथवा सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय से सलाह माँग सकता है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय की सलाह मानने को राष्ट्रपति बाध्य नहीं है।

क्षमादान शक्तियाँ

अनुच्छेद-72 के अंतर्गत, राष्ट्रपति की क्षमादान शक्तियों का उल्लेख है। वह विशेष परिस्थितियों में किसी व्यक्ति के अपराध पर मिले दण्ड को क्षमा कर सकता है या अस्थायी रूप से निलम्बित कर सकता है या विशेष आधारों पर कम दंड दे सकता है या दण्ड की प्रकृति में परिवर्तन किए बिना उसकी मात्रा कम कर सकता है या उसके बदले में दूसरा कम कठोर दण्ड दे सकता है।

राष्ट्रपति की यह शक्ति उन सभी मामलों में है, जिनमें दण्ड कोर्टमार्शल के तहत मिला हो या वैसे कानूनों के विरुद्ध अपराध हेतु दंड मिला हो, जिनका सम्बन्ध संघ की कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्र में आने वाले मसले से हो, जो मृत्युदंड तक विस्तृत है। केवल राष्ट्रपति ही वह अधिकृत व्यक्ति है, जो मंत्रिपरिषद की सलाह पर मृत्युदंड के सम्बन्ध में क्षमादान दे सकता है।

अनुच्छेद-72 (शब्दावलियाँ)
• ***क्षमा (Pardon)***– अपराधी को पूर्ण रूप से क्षमादान।
• ***प्रविलम्बन (Reprieve)***– दण्डादेश का अस्थायी निलम्बन।
• ***विराम (Respite)***– विशेष कारणों से न्यून दण्डादेश प्रदान करना।
• ***परिहार (Remission)***– दण्डादेश (Sentence) की प्रकृति में परिवर्तन किए बिना उसकी मात्रा कम करना।
• ***लघुकरण (Commutation)***- दंड के स्वरूप (प्रकृति) को बदलकर कम करना।

क्षमादान का न्यायिक पुनर्विलोकन

सुप्रीम कोर्ट ने इपुरू बनाम आन्ध्र प्रदेश (2006) राज्य मामले में यह निर्णय दिया कि राष्ट्रपति और राज्यपाल के क्षमादान की शक्ति का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

अनुच्छेद-72 और **अनुच्छेद-161** के अधीन राष्ट्रपति या राज्यपाल के क्षमादान आदेश का पुनर्विलोकन निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है यदि:–

- आदेश पारित करने में अपनी बुद्धि नहीं लगाई गई है,
- आदेश सद्भावपूर्वक नहीं दिया गया है,
- आदेश बाहरी और पूर्णतया असंगत बातों पर आधारित है,
- सुसंगत सामग्री पर विचार नहीं किया गया है,
- आदेश मनमाना है।

राज्यों के संबंध में शक्तियाँ

राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। राज्यों को कई विषयों पर अधिनियम बनाने के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है, जैसे- राज्य द्वारा संपत्ति प्राप्त करने हेतु अधिनियम, किसी राज्य के अंदर या दूसरे राज्यों के साथ व्यापार आदि पर प्रतिबंध लगाने वाले विधेयकों को राज्य की विधानसभा में प्रस्तुति से पूर्व।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रपति को शांतिकाल में विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त हैं। शांतिकाल में यह अपेक्षा की गई है कि वह संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करेगा क्योंकि हमारे देश में संसदात्मक प्रणाली अपनाई गयी है। वस्तुत: उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद करेगी, जो संसद के प्रति उत्तरदायी होगी।

राष्ट्रपति की आपालकालीन शक्तियाँ

संविधान के भाग-18 (अनुच्छेद-352 से 360) में आपातकाल के समय देश की एकता, अखंडता एवं सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए संविधान द्वारा राष्ट्रपति को कई अधिकार दिए गये हैं, जिससे कि वह देश में स्थायित्व बनाए रख सके। संविधान में तीन प्रकार के आपातकालों का वर्णन किया गया है।

राष्ट्रीय आपात

अनुच्छेद-352 के अंतर्गत, राष्ट्रीय आपात की घोषणा युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के स्थिति में भारत की सुरक्षा पर खतरे के आधार पर की जाती है। राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा के लिए मंत्रिमण्डल की लिखित सहमति आवश्यक है तथा आपात की उद्घोषणा का एक माह के भीतर संसद द्वारा अनुमोदन किया जाना चाहिए। आपात की उद्घोषणा के बाद वह 6 महने तक लागू रहता है। इसे 6-6 माह पर पुन: अनुमोदन करके बढ़ाया जा सकता है।

राष्ट्रीय आपात के दौरान राष्ट्रपति को निम्नलिखित असाधारण शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं–

- वह राज्य की कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग के तरीकों के संबंध में राज्य को निर्देश दे सकता है एवं केन्द्र व राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों के वितरण के स्वरूप को परिवर्तित कर सकता है।
- वह लोकसभा के सामान्य कार्यकाल को एक बार में एक साल के लिए बढ़ा सकता है।
- वह नागरिकों के निम्नलिखित मौलिक अधिकारों को छोड़कर शेष मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सकता है।
- अपराधों के लिए दोषसिद्धि के सम्बन्ध में संरक्षण का अधिकार (अनुच्छेद-20)
- जीवन तथा दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-21)

अनुच्छेद-19 का निलम्बन **केवल राष्ट्रीय आपात** की स्थिति में ही संभव है, न कि राज्य आपात (अनुच्छेद-356) की स्थिति में। राष्ट्रीय आपात की स्थिति में संसद राज्य-सूची के विषयों के संबंध में भी कानून बना सकती है। ऐसे कानून, आपात समाप्त हो जाने के बाद अधिकतम 6 महीनों तक ही लागू रह सकते हैं।

राज्यीय आपात या राष्ट्रपति शासन

'राष्ट्रपति शासन' को 'सांविधानिक आपात' या 'राज्यीय आपात' भी कहते हैं। **अनुच्छेद-356** के अंतर्गत, राज्य के संवैधानिक तंत्र की विफलता या केन्द्र के निर्देशों के पालन या उसे प्रभावी बनाने में असफल होने की दशा में, राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद-356 की शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्यीय आपात की घोषणा की जाती है। 'राष्ट्रपति शासन' तब लगाया जा सकता है, जब राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर अथवा किसी अन्य प्रकार से राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि राज्य का प्रशासन संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चल रहा है। राष्ट्रपति शासन की अधिकतम अवधि 3 वर्ष से अधिक नहीं होगी।

जब किसी राज्य में 'राष्ट्रपति शासन' लागू हो जाता है, तो राष्ट्रपति राज्य-सरकार के संपूर्ण या कोई भी कार्यकलाप को और राज्य के राज्यपाल या किसी निकाय या प्राधिकरण की संपूर्ण अथवा किसी भी शक्ति को अपने हाथ में ले सकता है। वह इसकी घोषणा कर सकता है कि राज्य विधायिका की समस्त शक्तियाँ संसद के अधिकार में संचालित की जायेंगी।

यदि लोकसभा का सत्र न चल रहा हो एवं राज्य की संचित निधि से होने वाले व्यय की संसद द्वारा मंजूरी लंबित हो, तो राष्ट्रपति स्वयं ऐसे व्यय को आधिकारिक अनुमति दे सकता है। जब संसद के दोनों सदनों का सत्र न चल रहा हो, तो राज्य के प्रशासन के लिए वह अध्यादेश (Ordinance) की आधिकारिक घोषणा कर सकता है। सामान्यत: राज्यीय आपात में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त सलाहकारों अथवा राज्य के मुख्य सचिव (Chief Secretary) की सहायता से राज्यपाल राष्ट्रपति की ओर से प्रशासन चलाता है।

वित्तीय आपात

अनुच्छेद-360 के अंतर्गत राष्ट्रपति 'वित्तीय आपात' की घोषणा कर सकता है, यदि उसे विश्वास हो जाये कि भारत या उसके किसी क्षेत्र की वित्तीय स्थिरता या साख (Credit) को खतरा है। जब वित्तीय आपात की घोषणा की जाती है, तब राष्ट्रपति वित्तीय क्रियाकलापों व तौर-तरीकों के औचित्य का निरीक्षण करने के लिए राज्यों को निर्देश दे सकता है। अभी तक वित्तीय आपात की उद्घोषणा कभी नहीं की गई है।

राज्य के तहत काम करने वाले सभी अथवा किसी विशेष वर्ग के व्यक्तियों के वेतन व भत्तों में कटौती करने के लिए वह निर्देश जारी कर सकता है। राष्ट्रपति यह सुनिश्चित कर सकता है कि राज्य विधायिका द्वारा पारित सभी धन-विधेयक तथा अन्य वित्त-विधेयक उसके विचार हेतु सुरक्षित रहें।

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय सहित, संघीय मामलों के संबंध में सेवारत सभी वर्गों के अथवा किसी विशेष वर्ग के व्यक्तियों के वेतन व भत्तों में कटौती के लिए वह निर्देश जारी कर सकता है।

राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की आलोचना

भारतीय संविधान के आपातकालीन उपबंध संविधान निर्माण के समय और उसके बाद कटु आलोचना के विषय रहे हैं। यह भी कहा गया था कि, 'संविधान के संकटकालीन प्रावधान राष्ट्रपति के हाथों में भरी हुई पिस्तौल के समान हैं और उनसे मौलिक अधिकारों का हनन बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। राष्ट्रपति की इन शक्तियों की निम्नलिखित तर्कों से आलोचना की जाती है:-

- राष्ट्रपति न तो जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है और न ही संसद के प्रति उत्तरदायी है। उसे इतनी अधिक शक्तियाँ प्रदान करना उचित नहीं है।
- राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई संकटकालीन घोषणा पर दो माह तक कोई प्रतिबंध नहीं है। यह शक्तियाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करती हैं। इससे मौलिक अधिकारों को सरलतापूर्वक तो स्थगित किया ही जा सकता है, साथ ही राष्ट्रपति संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी स्थगित कर सकता है।
- एकमात्र राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति का निर्णय करने का अधिकार देना अलोकतांत्रिक होगा। वह इसका दुरूपयोग कर सकता है।
- संकटकाल की घोषणा द्वारा संघात्मक व्यवस्था में राज्यों की सरकारों को भंग कर देना उचित नहीं है, क्योंकि इन अधिकारों से संकटकाल में राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता समाप्त हो जाएगी।

आपातकालीन शक्तियों का महत्व

आलोचकों ने भारतीय संघ व्यवस्था के व्यावहारिक पहलू को नजर अंदाज कर दिया है। इन शक्तियों का मूल्यांकन करते समय हमें निम्नलिखित बातों को भी ध्यान में रखना चाहिए-

मूल संविधान में 'आंतरिक अशांति' शब्द का वर्णन था। 44वें संविधान संशोधन, 1978 द्वारा इसे हटाकर इसके स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द को शामिल किया गया।

- संकटकाल में राष्ट्र की एकता, अखंडता एवं सुरक्षा को बनाए रखने के लिए केन्द्र के पास ऐसी शक्तियों का होना आवश्यक है।
- राष्ट्रपति, तानाशाह, अधिनायक नहीं बन सकता, क्योंकि 44वें संविधान संशोधन के अनुसार, राष्ट्रपति तब-तक आपात स्थिति की घोषणा नहीं कर सकता, जब तक कि इसके संबंध में मंत्रिमण्डल की ओर से लिखित सलाह उसे न मिले।
- आंतरिक संकट, आर्थिक एवं वित्तीय संकट एवं बाह्य चुनौतियों का सामना करने के लिए ये शक्तियां आवश्यक है।
- अनुच्छेद-356 के प्रयोग से राज्य में स्थायी सरकार का निर्माण संभव हो पाता है।
- व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य की सुरक्षा में समन्वय आवश्यक है।

सरकारिया आयोग के सुझाव

अनुच्छेद-356 का बहुत कम अवसरों पर तथा अतिआवश्यक मामलों में अंतिम उपाय के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए।

राज्यपाल का प्रतिवेदन वास्तविक तथ्यों सहित संसद के दोनों सदनों में रखा जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकारों पर रोक लगाने के लिए सशक्त विपक्षी दल, जागरूक प्रेस, जनमत आदि भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

राष्ट्रपति को केवल नाममात्र की कार्यपालिका का प्रधान बनाया गया है। प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद ही वास्तविक कार्यपालिका है। अनुच्छेद-74 के अनुसार, प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद की सहायता व सलाह पर ही राष्ट्रपति को अपनी शक्तियों व कार्यों का प्रयोग करना होता है। 1976 के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम ने प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद की सलाह को राष्ट्रपति पर बाध्यकारी बनाया है **(अनुच्छेद-78)**। 1978 के 44वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत राष्ट्रपति को अधिकृत किया गया है कि वह ऐसी सलाहों पर सामान्य रूप से या अन्य प्रकार से (अर्थात् विधेयक पारित करने की प्रक्रिया द्वारा) पुनर्विचार करने के लिए मंत्रिपरिषद को कह सकते हैं। ऐसे पुनर्विचार के बाद उन्हें मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार काम करना होगा। राष्ट्रपति को कोई सांविधानिक विवेक शक्ति (Constitutional Discretion) नहीं, अपितु केवल कुछ **परिस्थितिमूलक विवेक शक्तियाँ** (Situational Discretion) प्राप्त हैं। इन परिस्थितियों में अपनी शक्तियों के प्रयोग के संदर्भ में राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह से आबद्ध नहीं होता, अपितु **स्वविवेक** से निर्णय लेता है। निम्नलिखित परिस्थितियों में राष्ट्रपति अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता है-

- प्रधानमंत्री की नियुक्ति, जब किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न प्राप्त हो सका हो।
- मंत्रिपरिषद की बर्खास्तगी, यदि वह लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध न कर सकता हो।
- लोकसभा को भंग किया जाना, यदि मंत्रिपरिषद ने अपना बहुमत खो दिया हो।

राष्ट्रपति को 'भारत के प्रथम नागरिक' की संज्ञा दी जाती है। राष्ट्रपति को संसद के किसी सदन की अथवा राज्य विधायिकाओं की सदस्यता नहीं प्राप्त होती है, परन्तु लोकसभा व राज्यसभा के साथ-साथ राष्ट्रपति भी संसद का अंग होता है। राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति दोनों की अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश तथा उसके भी उपलब्ध न होने पर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बाद उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश राष्ट्रपति के कार्यों का निर्वाह करता है।

क्या आप जानते हैं?

- भारत के इतिहास में केवल एक बार सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्त्ति एम. हिदायतुल्ला ने 26 जुलाई, 1969 से 24 अगस्त, 1969 तक राष्ट्रपति के उत्तरदायित्वों का निर्वाह किया। न्यायमूर्ति एम. हिदायतुल्ला ही एक मात्र व्यक्ति हैं, जिन्होंने कुल दो बार दो भिन्न रूपों में राष्ट्रपति के कार्य का निर्वहन किया। 1969 में पहली बार सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर रहते हुए तथा अक्टूबर-1982 में दूसरी बार भारत के उपराष्ट्रपति के पद पर रहते हुये राष्ट्रपति के कार्यों का निर्वहन किया।
- राष्ट्रपति के निर्वाचन के इतिहास में वी.वी. गिरि ही एकमात्र व्यक्ति हैं, जो 1969 में स्वतंत्र प्रत्याशी के रूप में राष्ट्रपति पद के निर्वाचन में विजयी रहे। जुलाई-1977 में नीलम संजीव रेड्डी निर्विरोध राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।
- संविधान के उल्लंघन के लिए किसी भी राष्ट्रपति के विरुद्ध अभी तक महाभियोग नहीं चलाया गया है।

राष्ट्रपति को 'भारत के प्रथम नागरिक' की संज्ञा दी जाती है। राष्ट्रपति को संसद के किसी सदन की अथवा राज्य विधायिकाओं की सदस्यता नहीं प्राप्त होती है, परन्तु लोकसभा व राज्यसभा के साथ-साथ राष्ट्रपति भी संसद का अंग होता है। राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति दोनों की अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश तथा उसके भी उपलब्ध न होने पर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बाद उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश राष्ट्रपति के कार्यों का निर्वाह करता है।

उपराष्ट्रपति

भारत के राष्ट्रपति के बाद सर्वोच्च स्थान उपराष्ट्रपति को प्रदान किया गया है। संविधान के **अनुच्छेद-63** के अनुसार, भारत की संघीय कार्यपालिका में उपराष्ट्रपति पद की व्यवस्था की गई है। **अनुच्छेद-64** के अनुसार उपराष्ट्रपति को राज्यसभा के पदेन सभापति के रूप में मान्यता प्रदान की गई है जो अमेरिकी प्रथा का अनुसरण करता है।

अनुच्छेद-65 में कहा गया है कि, उपराष्ट्रपति निम्न परिस्थितियों में राष्ट्रपति के पद पर कार्य कर सकता है- राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, महाभियोग अथवा अन्य किसी प्रकार से पदच्युत होने तथा रोग या अनुपस्थिति के कारण कार्यभार संचालन में असमर्थ होने पर।

जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करेगा, तब वह राज्यसभा के सभापति के पद के कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा। जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में उसके कार्यों का निर्वहन करेगा, तब उसे राष्ट्रपति की सम्पूर्ण शक्तियाँ और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी। संविधान की द्वितीय अनुसूची के अनुसार, जब कभी उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति का पद ग्रहण करता है तो उसे राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते तथा विशेषाधिकार सभी प्राप्त होते हैं। उपराष्ट्रपति केवल छः महीने तक ही राष्ट्रपति का पद संभाल सकता है।

निर्वाचन प्रक्रियाँ

अनुच्छेद- 66 के अनुसार, उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचकमंडल के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है। उपराष्ट्रपति का चुनाव भी अप्रत्यक्ष प्रणाली के आधार पर किया जाता है। ग्यारहवें संविधान संशोधन (1961) के अनुसार, उपराष्ट्रपति के चुनाव के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक अब आवश्यक नहीं है। उपराष्ट्रपति के चुनाव संबंधी विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सुलझाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उपराष्ट्रपति के चुनाव के नामांकन के लिये उम्मीदवार के कम से कम 20 प्रस्तावक तथा 20 अनुमोदक होने चाहिये। प्रत्येक उम्मीदवार को भारतीय रिजर्व बैंक में 15,000 रूपये जमानत राशि के रूप में जमा करना आवश्यक होता है।

योग्यताएँ

अनुच्छेद- 66 के द्वारा उपराष्ट्रपति के रूप में किसी व्यक्ति के निर्वाचन के लिए पात्रता की शर्तें निम्न हैं-

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह पैंतीस वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
- पह राज्यसभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो।
- वह केन्द्र सरकार या राज्य सरकार या किसी स्थानीय प्राधिकरण अथवा अन्य किसी सार्वजनिक प्राधिकरण के अंतर्गत किसी लाभ के पद पर न हो।

पदावधि एवं हटाये जाने की स्थिति

उपराष्ट्रपति पद की पदावधि पाँच वर्ष की होती है। उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकता है। वह राज्यसभा के ऐसे संकल्प द्वारा हटाया जा सकता है, जिसे राज्यसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित किया गया हो और जिसे लोकसभा की सहमति प्राप्त हो। उसे हटाये जाने के लिए महाभियोग की आवश्यकता नहीं है, लेकिन उपराष्ट्रपति को 14 दिन पूर्व नोटिस देना आवश्यक है। जब उपराष्ट्रपति कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है, तब उसे महाभियोग लगाकर उसी विधि द्वारा हटाया जाएगा जिस विधि से संविधान में राष्ट्रपति को हटाये जाने की व्यवस्था है।

वेतन और भत्ते

उपराष्ट्रपति को निःशुल्क शासकीय निवास उपलब्ध होता है। उपराष्ट्रपति को वेतन एवं समस्त भत्ते भारत के संचित निधि से दिए जाते हैं। वर्तमान में उपराष्ट्रपति को 4 लाख रुपये प्रतिमाह वेतन के रूप में मिलता है। हालांकि उपराष्ट्रपति को वेतन 'उपराष्ट्रपति के रूप में नहीं बल्कि राज्यसभा के सभापति के रूप में मिलता है।

शपथ

उप-राष्ट्रपति अपने पद की शपथ राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष लेता है।

कार्य एवं राज्यसभा के सभापति के रूप में शक्तियाँ

उपराष्ट्रपति राज्यसभा के सभापति के रूप में कार्य करता है। राज्यसभा के सभापति का कार्य लोकसभा के अध्यक्ष से मिलता-जुलता है। वह सदन के विधेयकों पर बोलने के लिए सदस्यों को बुलाता है और बहस समाप्त होने पर मतदान कराता है। इसके पश्चात मतदान के परिणाम की घोषणा करता है कि विधेयक पारित हुआ या नहीं। विधेयक पर मतों की स्थिति समान हो जाने पर वह अपना 'निर्णायक मत' देता है। वह यह भी निर्णय देता है कि कौन-से प्रश्न सदन में पूछने योग्य हैं और कौन से नहीं। जब विधेयक राज्यसभा द्वारा पारित कर दिए जाते हैं तो विधेयकों पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक हैं। वह सदन के सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करता है।

सामाजिक समारोहों का प्रतिनिधित्व

सामाजिक समारोहों पर उपराष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। वह समय-समय पर होने वाले शैक्षणिक और सामाजिक उत्सवों में उपस्थित होता है।

कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में

अनुच्छेद -65(1) के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, पद से हटाये जाने या अन्य कारण से राष्ट्रपति पद रिक्त होता है तो जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर पद ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक उप-राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा।

जब राष्ट्रपति अनुपस्थिति, बीमारी या किसी अन्य कारण से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ होता है, तब उप-राष्ट्रपति उसके कृत्यों का निर्वहन करता है।

आलोचना

आलोचक, उप-राष्ट्रपति की क्षमता के अनुरूप संविधान में कोई विशेष कार्य अधिकार नहीं मिलने के कारण इसे गैर आवश्यक महामहिम अथवा हिज सुपरफ्लुअस हाइनेस (His Superfluous highness) भी कहते हैं।

क्या आप जानते हैं?

भारत के उपराष्ट्रपति, पद्म पुरस्कार, भारत रत्न एवं अन्य उच्चतम पुरस्कारों के लिए गठित जूरी (श्रनतल) के अध्यक्ष होते हैं।

राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति में तुलना

राष्ट्रपति	उपराष्ट्रपति
	निर्वाचन
राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल के द्वारा होता है, जो संसद के दोनों सदनों के और राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनता है।	निर्वाचक मंडल संसद के दोनों सदनों तक ही सीमित है। राज्य विधानसभाओं के सदस्य इसमें भाग नहीं लेते।
निर्वाचन गुप्त मतदान द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा।	निर्वाचन गुप्त मतदान द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमण ीय मत द्वारा होगा।
	अर्हताएँ
क. भारत का नागरिक हो।	क. भारत का नागरिक हो।
ख. 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।	ख. 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
ग. लोकसभा के लिए निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो।	ग. राज्यसभा के लिए निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो
	पदावधि
पद ग्रहण करने की तारीख से 5 वर्ष।	पद ग्रहण करने की तारीख से 5 वर्ष।
	पद त्याग
उपराष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकता है।	राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकता है।
	हटाया जाना
महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।	महाभियोग नहीं होता किंतु राज्यसभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा, जिससे लोकसभा सहमत हो, हटाया जा सकता है।
	पुनर्निर्वाचन
चाहे जितनी बार निर्वाचित हो सकता है।	चाहे जितनी बार निर्वाचित हो सकता है।
	कृत्य
संविधान के अधीन अनेक कृत्य हैं, जिनमें नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षण (CAG), राज्यपाल, प्रधानमंत्री, मुख्य निर्वाचन आयुक्त इत्यादि की नियुक्ति करना आदि।	केवल एक ही कृत्य है, राज्य सभा के सभापति का कृत्य करना। जब राष्ट्रपति का पद रिक्त हो, तब वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करता है।

प्रधानमंत्री (Prime Minister *)*

भारतीय संसदीय व्यवस्था को ब्रिटिश मॉडल से अपनाया गया है, जिसमें प्रधानमंत्री तथा उसके मंत्रिपरिषद को वास्तविक कार्यपालिका माना जाता है। इस व्यवस्था में प्रधानमंत्री को अपने मंत्रिपरिषद के चयन का अधिकार प्रदान किया गया है। प्रधानमंत्री तथा उसकी मंत्रिपरिषद संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उपर्युक्त व्यवस्था में मंत्रिपरिषद महत्वपूर्ण है, लेकिन उसमें भी सबसे महत्वपूर्ण हैं- प्रधानमंत्री। इस व्यवस्था में प्रधानमंत्री को 'समान व्यक्तियों में प्रथम' कहा गया है।

यह भी जानें

डॉ. अंबेडकर के अनुसार, 'यदि हमारे संविधान में किसी शासन अधिकारी की तुलना अमेरिका के राष्ट्रपति से की जा सकती है, तो वह है 'प्रधानमंत्री' न कि राष्ट्रपति और 'वास्तव में प्रधानमंत्री संपूर्ण तंत्र की धुरी है।'

प्रधानमंत्री, राज्य रूपी जहाज का चालक है और समकक्षों में प्रथम है। संसदीय लोकतांत्रिक देशों में दो प्रकार की कार्यपालिका पाई जाती है- संवैधानिक कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका।

भारत में राष्ट्राध्यक्ष (राष्ट्रपति) प्रतिष्ठित व सम्मानित व्यक्ति है, जबकि शासनाध्यक्ष (प्रधानमंत्री) कुशल व वास्तविक अध्यक्ष है। संसदात्मक लोकतंत्र में वस्तुत: प्रधानमंत्री की स्थिति सर्वोच्च अधिकारी की होती है। प्रधानमंत्री, राष्ट्र का लोकप्रिय नेता है तथा वह मंत्रिपरिषद रूपी नाव का चालक होता है। भारत के प्रधानमंत्री के संबंध में उक्त कथन सत्य है। संविधान के अनुच्छेद-74 के अनुसार, 'एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा, वह मंत्रिपरिषद की सहायता से राष्ट्रपति को उसके कार्यों में सहायता तथा सलाह प्रदान करेगा। संविधान में प्रधानमंत्री के निर्वाचन और नियुक्ति के लिये कोई विशेष प्रक्रिया नहीं दी गयी है।

प्रधानमंत्री की नियुक्ति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 75 में कहा गया है कि राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की नियुक्ति करेगा। आम चुनाव के बाद राष्ट्रपति लोकसभा के बहुमत प्राप्त दल के नेता को सरकार बनाने के लिए निमंत्रण देता है और उसे प्रधानमंत्री नियुक्त करता है। यदि लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं है, तो राष्ट्रपति अपने विवेक से प्रधानमंत्री को नियुक्त कर सकता है, राष्ट्रपति अपने स्वविवेक का इस्तेमाल करके ऐसे व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा, जो कि लोकसभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त करने की क्षमता रखता हो। विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति स्वविवेक का प्रयोग करके उचित प्रधानमंत्री चुन सकता है, जैसे-

- यदि लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो।
- यदि बहुमत दल का कोई सर्वमान्य नेता न हो, या नेता के पद के कई दावेदार हों।
- राष्ट्रीय संकट के दौरान लोकसभा को भंग करके कुछ समय के लिए कार्यवाहक सरकार के नेता को मनोनीत कर सकता है।

प्रधानमंत्री की स्थिति का आकलन बहुत हद तक उसके चुने जाने वाले तरीकों से लगाया जा सकता है, जैसे-

- यदि प्रधानमंत्री का चयन उसके स्वयं के व्यक्तित्व तथा दल में उसकी सुदृढ़, स्वतंत्र स्थिति के कारण हुआ है, तो प्रधानमंत्री की स्थिति निश्चय ही मजबूत होती है।
- यदि प्रधानमंत्री के चयन में दलीय नेताओं, मुख्यमंत्रियों आदि का हाथ है, तो निश्चय ही प्रधानमंत्री की स्थिति काफी कमजोर होती है।

प्रधानमंत्री के कार्य

इस संदर्भ में निम्नलिखित प्रावधान किया गया है-

प्रधानमंत्री के कार्य- प्रधानमंत्री के कार्यों का संविधान में स्पष्ट व सीधा उल्लेख नहीं है। परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रधानमंत्री के द्वारा निम्नलिखित कार्य संपादित किए जाते हैं।

- प्रधानमंत्री, शासन का नीति निर्माता होता है।
- वह, मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है।
- वह, मंत्रिमण्डल और राष्ट्रपति के मध्य कड़ी का कार्य करता है।
- वह, मंत्रियों में विभागों का बंटवारा करता है।
- वह, विभागों में फेरबदल करता है।
- प्रधानमंत्री की मृत्यु/त्यागपत्र के बाद पूरा मंत्रिपरिषद विघटित हो जाता है।
- प्रधानमंत्री की स्थिति, 'समकक्षों में प्रथम' की होती है।

प्रधानमंत्री की शक्तियाँ (Power of Prime Minister)

- ***मंत्रिमण्डल का निर्माता, संचालनकर्ता एवं विघटनकर्ता***- भारतीय संविधान के अनुच्छेद-75, (1) के अनुसार, मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। ये नियुक्तियाँ प्रधानमंत्री की सलाह से ही राष्ट्रपति करता है, परन्तु मंत्रिमण्डल के निर्माण में राष्ट्रपति की केवल औपचारिक भूमिका होती है, क्योंकि मंत्रियों का चयन प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री से यह नहीं कह सकता है कि, अमुक व्यक्ति को मंत्रिपरिषद में नहीं लिया जाएगा। यद्यपि प्रधानमंत्री स्वेच्छा से राष्ट्रपति की राय को स्वीकार कर सकता है। कोई मंत्री उस समय तक ही अपने पद पर रह सकता है, जब तक कि उसे प्रधानमंत्री का विश्वास प्राप्त है। वह किसी भी मंत्री को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है। यदि कोई मंत्री उसके आदेश का पालन करने से इंकार कर दे, तो प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति से अनुरोध कर संबंधित मंत्री को बर्खास्त करवा सकता है। किसी भी परिस्थिति में यदि प्रधानमंत्री इस्तीफा देता है, तो संपूर्ण मंत्रिपरिषद स्वत: विघटित हो जाती है।

प्रधानमंत्री अपने सभी मंत्रियों के विभागों का बंटवारा भी करता है। पूर्व में प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद की सदस्य संख्या निर्धारित करता था, परन्तु अब यह संख्या निश्चित कर दी गई है, जो कि लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के **15 प्रतिशत** से अधिक नहीं होना चाहिए **(91वां संविधान संशोधन अधिनियम, 2003)**। प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा बैठकों में विचार किए जाने वाले विषयों के कार्यक्रम तय करता है। यद्यपि निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं, परन्तु यहाँ उसकी स्थिति प्रभावपूर्ण व निर्णायक होती है। इस प्रकार प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का निर्माण करने व संचालन करने व समाप्त करने का कार्य करता है।

- ***नीतियों का निर्माता***- प्रधानमंत्री, शासन का वास्तविक प्रधान होता है। अत: वह सभी नीतियों का निर्माता होता है। उसकी आंतरिक और विदेश नीति के निर्माण में प्रभावशाली भूमिका होती है। प्रधानमंत्री द्वारा दिया गया वक्तव्य, नीतिगत वक्तव्य होता है।
- ***प्रधानमंत्री सरकार की कार्यकुशलता के लिए उत्तरदायी हैं***- प्रधानमंत्री यह देखता है, कि उसकी सरकार की देश में साख बनी रहे। इसके लिए वह मंत्रिमण्डल में आवश्यक परिवर्तन भी कर सकता है। यदि वह ऐसा अनुभव करे, कि कोई मंत्री सरकार की कार्यकुशलता या प्रतिष्ठा के लिए हानिकारक है, तो वह उस मंत्री को पद से हटा सकता है।

मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष

वह मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष सर्वसम्मति से चुना जाता है। वही मंत्रिपरिषद की बैठकों की तिथि निश्चित करता है, उसमें पेश किए जाने वाले प्रारूप तैयार करता है तथा बैठकों की अध्यक्षता करता है। सभी मंत्रिगण अपने विभागों की कार्य कुशलता के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रधानमंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वह उन्हें शासन कार्य में परामर्श, प्रोत्साहन व चेतावनी देता है। दो मंत्रियों या विभागों में मतभेद होने पर अपना निर्णय उन पर लागू करता है। सत्ता में वह समन्वयकर्ता की भूमिका निभाता है।

लोकसभा के नेता के रूप में

प्रधानमंत्री, सदन में बहुमत दल का नेता होता है। लोकसभा के नेता के रूप में उसके तीन प्रमुख कार्य होते हैं-

- वह सदन के अध्यक्ष से संपर्क बनाए रखता है एवं वह सदन की बैठक बुलाता है तथा संपन्न करने की अवधि प्रस्तावित करता है।
- प्रधानमंत्री, सरकार के मुख्य प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है। वह सदन में सरकार की नीति को स्पष्ट करता है और सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर भी देता है।
- प्रधानमंत्री विपक्षी दल से संपर्क बनाए रखता है तथा सदन के नेता के रूप में सदन की समस्त कार्यवाही पर नियंत्रण रखता है एवं सरकारी नीतियों का स्पष्टीकरण करता है।

मंत्रिपरिषद और राष्ट्रपति के मध्य की कड़ी के रूप में

संविधान के द्वारा, प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद और राष्ट्रपति के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी की भूमिका प्रदान की गई है। अनुच्छेद-78 के अनुसार, मंत्रिपरिषद के निर्णयों से प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति को अवगत कराता है। वह, राष्ट्रपति द्वारा मांगी गई प्रशासन से संबंधित जानकारी भी प्रदान करता है। किसी एक मंत्री द्वारा लिए गए निर्णय को राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के माध्यम से मंत्रिपरिषद के सामने प्रस्तुत करवाता है।

प्रधानमंत्री और राज्यों का प्रशासन

प्रधानमंत्री प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों के प्रशासन में समुचित रूप से हस्तक्षेप करता है, जैसे राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति में अपनी राय देना। केन्द्रीय-सरकार द्वारा राज्यों के प्रशासन को दिशा-निर्देश देने का अधिकार भी उसे प्राप्त है। राज्यों की वित्तीय स्थिति कमजोर होने की दशा में उनकी केन्द्र पर निर्भरता बढ़ जाती है, प्रधानमंत्री विभिन्न प्रकार के अनुदान और वित्तीय सहायता प्रदान करता है जिसके द्वारा राज्यों का प्रशासन वास्तविक रूप से प्रधानमंत्री के हाथों में आ जाता है।

प्रधानमंत्री और आर्थिक नियोजन

देश के सर्वांगीण विकास के लिए नेहरू के काल से ही आर्थिक नियोजन अपनाया गया है। भारत में आर्थिक नियोजन के लिए 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' (वर्ष 1952) का गठन किया गया है। इसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। इस प्रकार, राज्यों को प्रदान की जाने वाली आर्थिक सहायता प्रधानमंत्री के निर्देशन द्वारा तय की जाती हैं।

> ***नोट***- 12वीं पचंवर्षीय योजना 31 मार्च, 2017 को खत्म हो गई है। इसके स्थान पर नीति आयोग द्वारा लाई गई नई व्यवस्था में तीन साल का एक नया **'एक्शन प्लान'** बना जो 7 वर्षीय **'स्ट्रैटिजी पेपर'** और **'15 वर्षीय विजन डॉक्युमेंट'** का हिस्सा है।

आम चुनाव व प्रधानमंत्री

आम चुनाव में प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व और कार्यशैली का प्रभाव शुरू से ही देखने को मिलता है तथा मतदाता भी संभावित प्रधानमंत्री को मद्देनजर रखते हुए ही किसी दल को अपना समर्थन प्रदान करते हैं। जैसे- जवाहर लाल नेहरू, इंदिरा

गाँधी, राजीव गाँधी, अटल बिहारी वाजपेयी, नरेंद्र मोदी इन सबकी आम चुनावों में निर्णायक भूमिका देखने को मिली है। अत: इनके नाम से ही वोट मांगे जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश का प्रतिनिधित्व

विदेशों में प्रधानमंत्री के वक्तव्य को देश की नीति समझा जाता है, वह समय-समय पर देश के हितों के लिए विदेशों की यात्रा करता है और भारत सरकार के दृष्टिकोण को दूसरे देशों के सामने प्रस्तुत करता है। वह समय-समय पर होने वाले अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व भी करता है।

प्रधानमंत्री एवं गठबंधन सरकार

वास्तविक रूप से मिली-जुली सरकार का दौर वर्ष 1977 से माना जाना चाहिए। जब मोरारजी देसाई के नेतृत्व में सरकार बनी। परंतु वर्ष 1989 से भारत में वास्तविक गठबंधन सरकारों का युग प्रारंभ हुआ।

वर्ष 1989 तक कांग्रेस की सरकार रही, लेकिन वर्ष 1989 के चुनाव में कांग्रेस हार गई। यद्यपि सबसे बड़ी पार्टी के रूप में लोकसभा में उभरी, लेकिन उसने सरकार बनाने से मना कर दिया। उस समय से केन्द्र में राजनैतिक अस्थिरता का दौर प्रारंभ हो गया। भारतीय जनता पार्टी और वामपंथी दलों ने राष्ट्रीय मोर्चा के नेता विश्वनाथ प्रताप सिंह को सरकार बनाने में मदद की और विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रधानमंत्री बने। इस बीच भारतीय जनता पार्टी के नेता लाल कृष्ण आडवाणी अयोध्या में बाबरी मस्जिद, राम मंदिर के मुद्दे को लेकर रथयात्रा कर रहे थे। इससे समाज में शांति भंग होने की आशंका थी, लेकिन केन्द्र-सरकार उनके खिलाफ कार्यवाही करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रही थी। सरकार उनकी पार्टी के समर्थन पर टिकी थी। बिहार से जब आडवाणी आ रहे थे, तो बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव ने उन्हें गिरफ्तार करवा लिया। इस पर भाजपा ने समर्थन वापस लेकर विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार को गिरा दिया। गठबंधन सरकार में प्रधानमंत्री कितना कमजोर हो सकता है। वह विकास के कार्यों को भूलकर सरकार बचाने के चक्कर में कितना असहाय और अपंग हो सकता है, इसका मूर्त उदाहरण- वी.पी.सिंह की सरकार थी।

वर्ष 1991 में, फिर लोकसभा का चुनाव हुआ, जिसमें पी.वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व में कांग्रेस की अल्पमत की सरकार बनी। भारतीय इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ, कि सरकार बचाने के लिए सासंदों को घूस देने के आरोप में स्वयं प्रधानमंत्री को न्यायालय के कटघरे में खड़ा होना पड़ा और यह पहली अल्पमत की सरकार थी, जिसने अपना कार्यकाल पूरा किया।

वर्ष 1996 के लोकसभा चुनाव में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। भाजपा नेता अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बनाए गए। यह सरकार मात्र 13 (तेरह) दिन चली। इसके उपरान्त कांग्रेस के बाहरी समर्थन से देवगौड़ा और फिर आई. के. गुजराल प्रधानमंत्री बने। वर्ष 1998 में मध्यावधि चुनाव हुए। वर्ष 1998 से वर्ष 2004 तक अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने रहे, लेकिन उनकी सरकार भी गठबंधन के सहयोगियों से प्रभावित रही।

22 मई, 2004 से 2014 तक मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री रहे, इनकी भी गठबंधन की सरकार थी। मनमोहन सिंह के पहले कार्यकाल में अमेरिका के साथ परमाणु समझौता के मुद्दे पर बाहरी समर्थन दे रही वामपंथी पार्टियों ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी, कि लगा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय सरकार और अंतर्राष्ट्रीय प्लेटफार्म पर प्रधानमंत्री की विश्वसनीयता ही समाप्त हो जाएगी। किसी तरह सरकार तो बची, लेकिन भारतीय इतिहास में पहली बार संसद में नोट लहराकर संसद की मर्यादा को ठेस पहुंचाई गयी।

2014 और 2019 में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार बनी, परंतु इसमें सबसे बड़े घटक दल भाजपा को अकेले दम पर बहुमत प्राप्त हुआ। वर्तमान में भी केंद्र में पूर्ण बहुमत की सरकार है।

गठबंधन सरकार में प्रधानमंत्री अत्यधिक कमजोर दिखाई पड़ता है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव, सहयोगी दलों के शीर्ष नेतृत्व का दबाव, क्षेत्रीय दलों की संकीर्ण राजनैतिक सोच एवं स्वार्थ, मीडिया की तीक्ष्ण नजर और प्रधानमंत्री का तुलनात्मक कमजोर व्यक्तित्व आदि कारकों ने मिलकर गठबंधन सरकार एवं गठबंधन सरकार के प्रधानमंत्री को कमजोर किया है।

प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति में संबंध

संविधान की दृष्टि से राष्ट्रपति, राज्य का प्रमुख है परन्तु वास्तविक कार्यपालिकीय शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित होती है। राष्ट्रपति को सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होती है, जिसका नेतृत्व प्रधानमंत्री करता है। राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के संबंधों की चर्चा इस प्रकार की जा सकती है-

- राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसकी सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। राष्ट्रपति लोकसभा में बहुमत दल के नेता को मंत्रिपरिषद बनाने के लिए निमंत्रण देता है, परन्तु वास्तव में जिस व्यक्ति को लोकसभा का विश्वास व समर्थन प्राप्त है, उसे प्रधानमंत्री बनाया जाता है। लोकसभा में दलीय स्थिति स्पष्ट न होने पर ही राष्ट्रपति स्वविवेक से कार्य कर सकता है। अब जहां तक त्रिशंकु संसद का प्रश्न है, तो राष्ट्रपति को चाहिए, कि उस नेता को सरकार बनाने का आमंत्रण दे जो उनकी राय में सर्वाधिक विश्वसनीय बहुमत जुटा सके। कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रधानमंत्री का चयन, राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है।
- प्रधानमंत्री को बर्खास्त करने के संबंध में भी राष्ट्रपति की शक्तियाँ बहुत सीमित हैं। यदि राष्ट्रपति ऐसे किसी प्रधानमंत्री को बर्खास्त करे दे, जिसे लोकसभा का समर्थन प्राप्त है, तो उनके लिए अन्य किसी व्यक्ति को प्रधानमंत्री बनाना असंभव होगा। यह बिन्दु उल्लेखनीय है, कि संविधान के अनुसार, प्रधानमंत्री और केन्द्रीय मंत्रिमण्डल का होना अपरिहार्य है।
- **राष्ट्रपति क्या सदैव प्रधानमंत्री की ही सलाह से कार्य करता है?** इसमें कोई संदेह नहीं है, कि भारत के सभी राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करते आये हैं। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने 28 नवंबर-1960 को 'इंडियन लॉ इंस्टीट्यूट' में भाषण देते हुए कहा था, कि 'संविधान में ऐसी कोई सुनिश्चित व्यवस्था नहीं है, जिसके अनुसार राष्ट्रपति अपनी मंत्रिपरिषद के परामर्श के अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य हों।' राजेन्द्र प्रसाद के इस कथन से राष्ट्रपति की भूमिका पर विवाद खड़ा हो गया था।

42वें संविधान संशोधन के पश्चात् राष्ट्रपति संवैधानिक दृष्टि से मंत्रिपरिषद के निर्णयों के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हो गया। परंतु 44वें संविधान संशोधन के बाद राष्ट्रपति अपने कृत्यों का निर्वहन मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार करेगा। लेकिन राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर पुनर्विचार करने के लिए कह सकता है। वह अपेक्षा कर सकेगा कि राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा।

- प्रधानमंत्री का यह अधिकार है, कि वह राष्ट्रपति को सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियों के संबंध में सलाह दे। राज्यपाल, अटार्नी जनरल, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक एवं विभिन्न आयोगों के सदस्यों तथा उच्चतम व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह से ही करते हैं।
- सत्तारूढ़ दल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति के चुनाव में निर्णायक भूमिका निभाता है।
- वह राष्ट्रपति को आपातकालीन प्रावधानों के प्रयोग की सलाह देता है इसलिए राष्ट्रीय आपातकाल में प्रधानमंत्री की शक्तियों में वृद्धि हो जाती है। **अनुच्छेद-352 से 360** तक में, जो राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं, उनका वास्तविक प्रयोग प्रधानमंत्री ही करता है। उदाहरण के लिए वर्ष 1962 में चीन के आक्रमण के समय पंडित जवाहर लाल नेहरू की

भूमिका तथा वर्ष 1965 में पाकिस्तान के आक्रमण के समय लाल बहादुर शास्त्री जी की भूमिका थी।

पिछले अनुभवों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि दोनों के संबंध (राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री) अपनी-अपनी क्षमताओं और राजनैतिक प्रभाव पर निर्भर करते हैं।

उप-प्रधानमंत्री

कई बार उप-प्रधानमंत्री भी मंत्रिपरिषद में सम्मिलित होता है। (यथा-नेहरू की सरकार में सरदार पटेल, इंदिरा गाँधी की सरकार में मोरारजी देसाई, मोरारजी देसाई की सरकार में चरण सिंह, चरण सिंह की सरकार में जगजीवन राम, वी. पी. सिंह की सरकार में देवी लाल तथा अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार में लालकृष्ण आडवाणी)। उप-प्रधानमंत्री की नियुक्ति अधिकतर राजनीतिक कारणों से होती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मंत्रियों की एक अन्य श्रेणी भी होती है, जिसे **संसदीय सचिव** (Parliamentary Secretary) कहते हैं। वे मंत्रिपरिषद की अंतिम श्रेणी के सदस्य होते हैं। उनके नियंत्रण में कोई भी विभाग नहीं होता है। उन्हें वरिष्ठ मंत्रियों से संबद्ध कर दिया जाता है और वे उनके संसदीय कर्तव्यों के निर्वाह में सहायता करते हैं।

मंत्रिपरिषद (Council of Ministers)

भारतीय संसदीय व्यवस्था में, राष्ट्रपति नाम मात्र का अथवा औपचारिक कार्यपालिका का प्रमुख है तथा प्रधानमंत्री तथा उसकी मंत्रिपरिषद इन शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करती है, जो कि लोक सदन के बहुमत पर आश्रित होती है। इसलिए इस पद्धति की सरकार को उत्तरदायी सरकार भी कहते हैं।

संविधान में मंत्रिपरिषद शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु मंत्रिमण्डल शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-75(1) के अनुसार, राष्ट्रपति को सलाह अथवा परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। औपचारिक रूप से समस्त कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित होने के बावजूद वास्तविक रूप से शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद द्वारा होता है। मंत्रिपरिषद में तीन प्रकार के मंत्री होते हैं:-

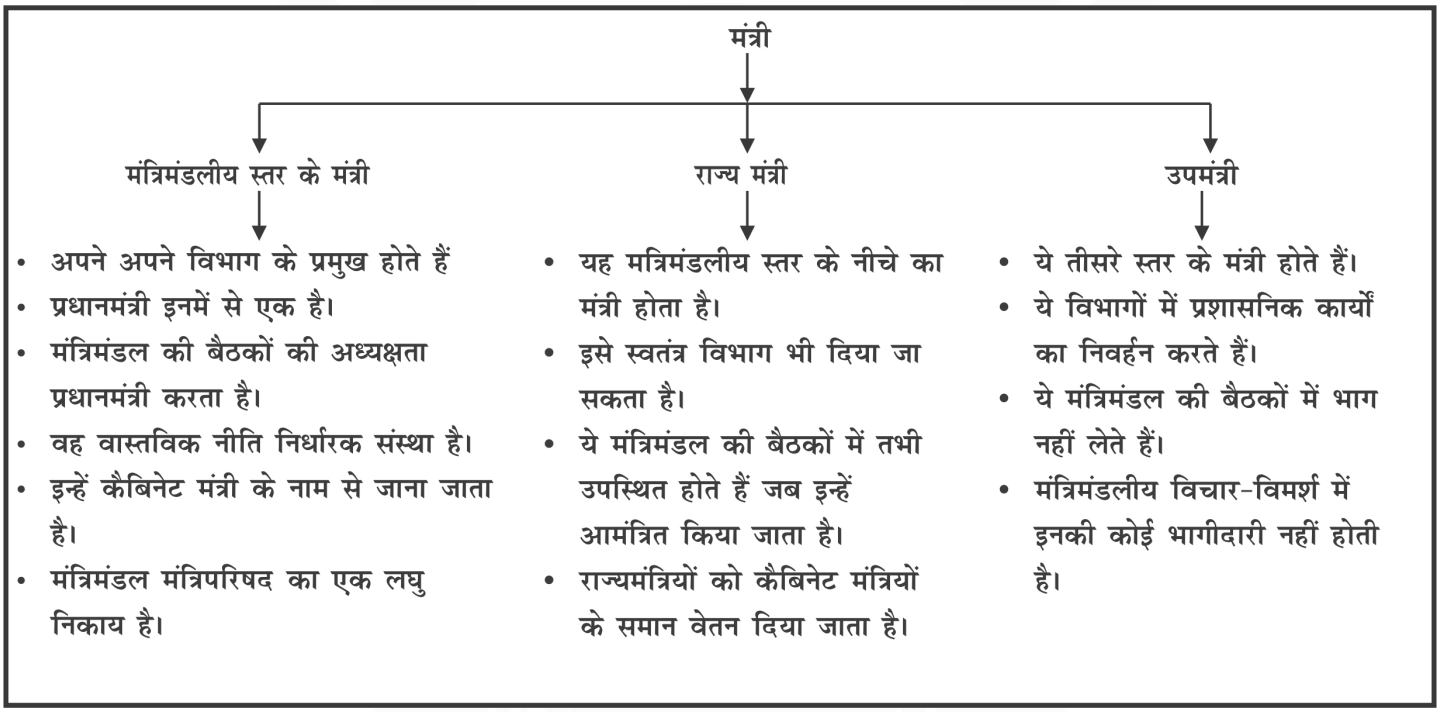

मंत्रियों की नियुक्ति

भारतीय संविधान **के अनुच्छेद-75(1)** के अनुसार 'प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर करेगा।' इस प्रकार मंत्रिपरिषद का गठन प्रधानमंत्री के शपथ ग्रहण करने के बाद किया जाता है-

- प्रधानमंत्री पद पर राष्ट्रपति उस व्यक्ति को नियुक्त करता है, जिसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास मत प्राप्त होता है अथवा लोकसभा में निर्वाचित बहुमत दल का नेता होता है।
- अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से करता है।
- प्रधानमंत्री ही मंत्रियों के विभागों का वितरण करता है।
- मंत्री किसी भी सदन (राज्यसभा अथवा लोकसभा) के सदस्यों में से चुना जा सकता है।
- किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्री या प्रधानमंत्री नियुक्त किया जा सकता है, जो किसी भी सदन का सदस्य नहीं है। लेकिन वह तभी मंत्री बना रह सकता है, जब वह छः माह के भीतर किसी भी सदन (लोकसभा या राज्यसभा) का निर्वाचन द्वारा या मनोनयन द्वारा सदस्य बन जाये।
- मंत्री दोनों सदनों लोकसभा तथा राज्यसभा में बोल सकता है तथा कार्यवाही में भी भाग ले सकता है, परन्तु वह केवल उसी सदन में मत दे सकता है, जिसका वह सदस्य है।

मंत्रियों का उत्तरदायित्व

संविधान के अनुच्छेद-75(3) के अनुसार, मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी, अर्थात यदि लोक सभा में कोई प्रस्ताव गिर जाता है, तो सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद भंग हो जाती है। आशय यह है कि किसी प्रस्ताव के गिर जाने की स्थिति में उस प्रस्ताव से संबद्ध मंत्रालय के ही मंत्री को नहीं, सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ता है।

प्रधानमंत्री ऐसे मंत्री को जो सरकार की नीतियों के प्रतिकूल आचरण करता हो, पद से हटाए जाने के विषय को राष्ट्रपति को अग्रसरित करने का अधिकार

रखता है, क्योंकि तकनीकी दृष्टि से मंत्री व्यक्तिगत तौर पर राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। इस प्रावधान का अर्थ है कि, जो सरकार लोकसभा में विश्वास खो देती है, उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। इस सिद्धांत के अनुसार, मंत्रिपरिषद संसद की एक कार्यकारी समिति है और वह संसद के प्रतिनिधि के रूप में सामूहिक रूप से शासन करती है। सामूहिक उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल की एकजुटता के सिद्धांत पर आधारित है। इसकी भावना यह है कि, यदि किसी एक मंत्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाए तो संपूर्ण मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ता है। इसका अर्थ यह भी है कि यदि कोई मंत्री मंत्रिमण्डल की नीति या निर्णय से सहमत नहीं हो तो उसे उस निर्णय को या तो स्वीकार कर लेना चाहिए या मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे देना चाहिए। जिस नीति के बारे में सामूहिक उत्तरदायित्व हो, उसे मानना या उसे लागू करना सभी मंत्रियों के लिए जरूरी है।

सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव

प्रधानमंत्री अथवा मंत्रिपरिषद या केवल एक मंत्री के विरुद्ध उन्हें पद से हटाने के लिए लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव पारित किया जा सकता है।

अविश्वास प्रस्ताव प्राय: विरोधी दल के संसद सदस्यों द्वारा लाया जाता है। इस प्रस्ताव को स्पीकर को दिया जाता है। यदि यह प्रस्ताव कम से कम 50 सदस्यों द्वारा समर्थित है, तो सदन में चर्चा एवं मतदान के लिए स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रस्ताव पर आगामी दस दिनो में चर्चा हो जाती है तथा नियत तिथि पर मतदान कराया जाता है। यदि प्रस्ताव पारित हो जाता है तो सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है।

विश्वास मत

- सरकार द्वारा स्वयं लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए विश्वास मत प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है। इसका विकास परंपरागत रूप से हुआ है। भारत में सर्वप्रथम चौधरी चरणसिंह से (1979) विश्वास मत प्राप्त करने के लिए कहा गया था, लेकिन उन्होंने त्यागपत्र दे दिया था। उसके बाद 1989 से प्राय: सभी प्रधानमंत्री विश्वास मत प्राप्त करते रहे हैं।
- सभी मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यंत पद धारण करते हैं अर्थात् प्रत्येक मंत्री का राष्ट्रपति के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि, लोकसभा में मंत्री को विश्वास प्राप्त होते हुए भी उसे राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर पद से हटा सकता है अथवा पद त्याग करने को कह सकता है। यह अधिकार वास्तव में प्रधानमंत्री को ही प्राप्त होता है कि वह किसे मंत्री रखे या किसे मंत्री पद से मुक्त करे। राष्ट्रपति मात्र संवैधानिक औपचारिकताएँ पूरी करता है।
- प्रधानमंत्री के त्यागपत्र देने पर या उसकी मृत्यु हो जाने पर संपूर्ण मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है या वह स्वत: ही निष्प्रभावी हो जाती है।
- कोई भी मंत्री अपने विभाग से संबंधित मामलों के महत्वपूर्ण पत्र एवं सूचनाएं प्रधानमंत्री के माध्यम से राष्ट्रपति तक पहुँचा सकता है।
- प्रधानमंत्री का यह कर्तव्य है कि, वह संघ के कार्यकलाप संबंधी मंत्रिपरिषद के सभी निश्चियों को राष्ट्रपति को सूचित करें।
- राष्ट्रपति द्वारा प्रशासन एवं विधान संबंधी सूचनाएँ मांगे जाने पर प्रधानमंत्री को सूचनाएँ देनी पड़ती हैं।
- राष्ट्रपति द्वारा किसी विषय पर जिस पर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया है। लेकिन मंत्रिपरिषद ने विचार नहीं किया है, प्रधानमंत्री से मंत्रिपरिषद के विचारार्थ रखने के लिए कहने पर यह रखा जाता है।

मंत्रिमण्डल (Cabinet ***)***

मंत्रिमण्डल हमारी राजनीतिक-प्रशासनिक प्रणाली में निर्णय लेने वाला सर्वोच्च प्राधिकरण (Authority) है। यह केन्द्र- सरकार का प्रमुख घटक एवं सर्वोच्च कार्यपालिका प्राधिकरण है। मंत्रिमण्डल केन्द्रीय प्रशासन का प्रमुख समन्वयकर्ता (Co-ordinator) होने के साथ ही राष्ट्रपति का परामर्शदाता निकाय (Advisory Body) है, जिसका परामर्श राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी होता है।

मंत्रिमण्डल प्रमुख संकट प्रबन्धक की तरह कार्य करते हुए सभी आपात स्थितियों से निपटता है। साथ ही सभी महत्त्वपूर्ण विधायी और वित्तीय मुद्दों का व्यवस्थापन करने के साथ सभी विदेशी मामलों तथा विदेश नीतियों का निपटारा करता है और संवैधानिक प्राधिकारियों तथा वरिष्ठ प्रशासकों जैसी उच्चस्तरीय नियुक्तियों पर नियंत्रण का कार्य करता है।

मंत्रिमण्डल के कार्य

भारत में मंत्रिमण्डल के प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैं–

- ***राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण–*** मंत्रिमंडल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण करना है। मंत्रिमण्डल के द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि, आंतरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों द्वारा वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ संबंधों के विषय में किस प्रकार की नीति अपनाई जाएगी। मंत्रिमण्डल के द्वारा नीति निर्धारित करने के बाद संबद्ध विभागों के द्वारा इस नीति के आधार पर विभिन्न विधेयक संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। कानून निर्माण का कार्य मंत्रिमण्डल की इच्छा पर ही निर्भर करता है। मंत्रिमण्डल युद्ध और शांति दोनों ही स्थितियों में निर्णय लेता है। राष्ट्रपति के अभिभाषणों को भी मंत्रिमण्डल ही तैयार करता है।
- ***विधि-निर्माण में संसद का नेतृत्व करना–*** मंत्रिमण्डल संसद का नेतृत्व करता है। दोनों सदनों के अध्यक्ष मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही सदन की कार्य-सूची तय करते हैं और यह निश्चय करते हैं कि प्रत्येक विषय को कितना समय प्रदान किया जाएगा। संसद में अधिकांश विधेयक मंत्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किए जाते हैं। व्यवहारत: राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है। अध्यादेश जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है, लेकिन व्यवहार में इसका प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है। मंत्रिमण्डल के सदस्य विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं, वे अपने विभागों का संचालन और उनके कार्यों की देखभाल करते हैं।
- ***लोकसभा के विघटन की शक्ति–*** संवैधानिक तौर पर लोकसभा को भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति को है, परंतु राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिमण्डल की सलाह पर ही करता है। इस प्रकार मंत्रिमण्डल के पास ऐसी शक्ति है, जिससे लोकसभा पर अंकुश रखा जा सकता है, क्योंकि आमतौर पर लोकसभा के सदस्य यह नहीं चाहेंगे कि सदन अपनी अवधि से पहले ही भंग हो जाए।
- ***वित्तीय कार्य–*** देश की आर्थिक नीति-निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भी मंत्रिमण्डल का ही होता है। **बजट** का निर्माण, नये **कर** लगाना तथा पुराने करों की **दरों** में हेरफेर करना, आदि मंत्रिमण्डल के प्रमुख कार्यों में सम्मिलित हैं। मंत्रिमण्डल की सहमति के पश्चात ही वित्त मंत्री लोकसभा में बजट प्रस्तुत करता है। अन्य वित्त विधेयकों को भी मंत्रिमण्डल ही लोकसभा में प्रस्तुत करता है।
- ***वैदेशिक संबंधों पर नियंत्रण–*** वैदेशिक मामलों में मंत्रिमण्डल का पूर्ण नियंत्रण होता है। विदेशी राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के साथ सभी वार्ताओं का संचालन प्रधानमंत्री या विदेश मंत्री या प्रधानमंत्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है।
- ***नियुक्ति संबंधी कार्य–*** संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन पदाधिकारियों को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गई है, व्यवहारिक रूप में इनकी नियुक्ति मंत्रिमण्डल के द्वारा ही की जाती है। मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही संसद के दोनों सदनों के मनोनीत सदस्य नियुक्त किए जाते हैं। राज्यों के

राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, महाधिवक्ता, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक और सेना के प्रमुखों की नियुक्ति मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

मंत्रिपरिषद् बनाम मंत्रिमण्डल

मंत्रिपरिषद

संसदीय लोकतंत्र में सत्ताधारी दल के द्वारा सरकार निर्माण में मंत्रियों के एक वृहत् निकाय, जिसमें 60 से 70 मंत्री होते हैं, को मंत्रिपरिषद कहा जाता है। इसमें मंत्रिमण्डल स्तर के मंत्री, राज्य मंत्री तथा उपमंत्री अर्थात तीनों प्रकार के मंत्री शामिल हैं। प्राय: यह सरकार के क्रियाकलापों को पूरा करने के लिए एक निकाय के रूप में बैठक नहीं करते है। इसका कोई सामूहिक कृत्य (Collective Function) नहीं है। परंतु इसे सैद्धांतिक रूप से समस्त शक्तियाँ प्राप्त हैं। इसके कृत्यों का निर्धारण मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है और यह मंत्रिमण्डल द्वारा लिए गए निर्णयों का क्रियान्वयन करती है। मंत्रिपरिषद संविधान के अनुच्छेद-74 व अनुच्छेद-75 में विस्तार से वर्णित संवैधानिक निकाय (Constitutional Body) है। यद्यपि इसके आकार व वर्गीकरण का संविधान में उल्लेख नहीं था और यह समय की माँग तथा परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुरूप प्रधानमंत्री द्वारा निर्धारित होती थी, परंतु 91वें संविधान संशोधन द्वारा इसका आकार लोक सभा के कुल सदस्य संख्या के 15% तक सीमित कर दिया गया है। इसका त्रिस्तरीय निकाय के रूप में वर्गीकरण संसदीय प्रकार की सरकार की परंपराओं पर आधारित है, जैसा कि ब्रिटेन में विकसित हुआ है। यह संसद के निम्न सदन (लोकसभा) के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं।

मंत्रिमण्डल

मंत्रिमण्डल, मंत्रिपरिषद के अंतर्गत एक लघु निकाय है, जिसमें 15 से 20 मंत्री होते हैं। इसमें केवल केन्द्रीय मंत्रिमण्डल स्तर के मंत्री ही शामिल होते हैं। यह एक निकाय के रूप में सरकार के क्रियाकलापों को पूरा करने के लिए जल्दी-जल्दी और प्राय: सप्ताह में एक बार बैठक करती है। अत: इसके सामूहिक कृत्य हैं। व्यवहार में यह मंत्रिपरिषद की शक्तियों का प्रयोग करती है और इसलिए यह मंत्रिपरिषद की ओर से कार्य करती है। यह नीतिगत निर्णय लेकर मंत्रिपरिषद को निर्देश देती है, जो निर्णय सभी मंत्रियों पर बाध्यकारी होते हैं। यह अपने निर्णयों के लिए मंत्रिपरिषद द्वारा क्रियान्वयन की निगरानी करती है।

1978 में 44वें संशोधन अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद-352 में 'मंत्रिमण्डल (Cabinet)' शब्द सम्मिलित किया गया। अत: संविधान के मूल पाठ में इसे स्थान नहीं दिया गया था। अभी भी अनुच्छेद-352 मंत्रिमण्डल को केवल परिभाषित करता है- 'परिषद् अनुच्छेद-75 द्वारा नियुक्त प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल स्तर के अन्य मंत्रियों से मिलकर बनती है। इस प्रकार अनुच्छेद-352(3) में इसकी शक्तियों व कृत्यों का उल्लेख नहीं है। दूसरे शब्दों में, हमारी राजनीतिक- प्रशासनिक प्रणाली में इसकी भूमिका संसदीय प्रकार की सरकार की परंपराओं पर आधारित है, जैसा कि ब्रिटेन में विकसित हुआ है। यह संसद के निम्न सदन (लोकसभा) के प्रति मंत्रिपरिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व को क्रियान्वित करता है।

मंत्रिमण्डलीय समितियाँ

मंत्रिमण्डल विविध समितियों के माध्यम से कार्य करता है, जिसका अस्तित्व संविधानेत्तर (Extra-constitutional) है। मंत्रिमण्डलीय समितियों के दो प्रकार हैं- स्थायी (Standing) तथा तदर्थ (Adhoc)। इसमें पहले की प्रकृति स्थायी है, जबकि दूसरे की अल्पकालिक।

तदर्थ समितियों का गठन समय-समय पर विशेष समस्याओं से निपटने के लिए किया जाता है। जब उनका कार्य पूरा हो जाता है तो उन्हें समाप्त कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, 1962 में चीनी आक्रमण के बाद आपात समिति (Emergency Committee) गठित की गयी थी। यह मंत्रिमण्डल के अत्यधिक कार्यभार को कम करने के लिए संगठनात्मक उपकरण (Organizational Device) है।

मंत्रिमण्डलीय समितियाँ नीतिगत विषयों का गहराई से परीक्षण करती हैं तथा प्रभावशाली समन्वय को बढ़ावा देती हैं। ये कार्य विभाजन के सिद्धान्त व प्रभावशाली प्रत्यायोजन (Delegation) पर आधारित हैं।

यह भी जानें

काम चलाऊ सरकार- किसी समय यदि सरकार संसद का विश्वास (लोक सभा का) खो देती है या उसके पास बहुमत नहीं रह जाता अथवा लोकसभा की अवधि समाप्त होने के बाद नयी सरकार के गठन के बीच में राष्ट्रपति द्वारा तत्कालीन सरकार को ही कार्यकारी सरकार के रूप में काम करने दिया जाता है तो इस कार्यकारी सरकार को ही काम चलाऊ सरकार कहते हैं।

भारत का महान्यायवादी

परिचय

महान्यायवादी (Attorney General) भारत सरकार का प्रथम विधि अधिकारी होता है। इस पद की आवश्यकता को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने इसके लिए संविधान में पृथक प्रावधान कर रखा है।

संवैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान के भाग-V के अध्याय-1 (अनुच्छेद-76) में भारत के महान्यायवादी का वर्णन है। सरकार के मुख्य कानून अधिकारी के रूप में वह भारत सरकार से संबंधित वादों एवं मामलों को लेकर सर्वोच्च न्यायालय में भारत सरकार की ओर से पेश होता है। राष्ट्रपति के आदेश पर वह भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करता है। वह सरकार से संबंधित किसी मामले में सुनवाई के लिए उच्च न्यायालय भी जाता है।

नियुक्ति

भारतीय संविधान में अनुच्छेद-76 नियुक्ति के प्रावधानों के अधीन, राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की योग्यता रखने वाले किसी व्यक्ति को भारत का महान्यायवादी नियुक्त करेगा। वह भारत सरकार का **प्रथम विधि अधिकारी** (First Legal Officer) होगा।

कार्यकाल

भारतीय संविधान में महान्यायवादी को लेकर कोई निश्चित कार्यकाल का वर्णन नहीं किया गया है। फिर भी यह परंपरा है कि सरकार परिवर्तित होने पर महान्यायवादी त्यागपत्र दे देता है तथा नयी सरकार अपनी रुचि के अनुसार किसी व्यक्ति को महान्यायवादी नियुक्त करती है।

महान्यायवादी के कार्य, शक्तियाँ एवं अधिकार

महान्यायवादी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत अपने पद पर बना रहता है। इससे तात्पर्य है कि, महान्यायवादी (Attorney General of India) को राष्ट्रपति द्वारा कभी भी, किसी भी समय हटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त महान्यायवादी राष्ट्रपति को कभी भी अपना त्यागपत्र देकर अथवा सौंपकर पदमुक्त हो सकता है।

महान्यायवादी विधि संबंधी किसी भी विषय पर भारत सरकार को परामर्श देता है। वह संविधान या राष्ट्रपति द्वारा प्रदान किए गए किसी भी विधि संबंधी कार्य को संपन्न करता है।

भारतीय क्षेत्र के सभी न्यायालयों में महान्यायवादी को सुनवाई का अधिकार है और जिन वादों (Cases) में भारत सरकार को परामर्श देने के लिए उसे बुलाया जाता है, उनमें वह भारत सरकार के विरुद्ध न तो कोई परामर्श देगा और न ही कोई विवरण देगा। इसके अतिरिक्त वह भारत सरकार की अनुमति के बिना आपराधिक मामलों के किसी भी अभियुक्त का बचाव नहीं करेगा। वह किसी कंपनी के निदेशक के रूप में नियुक्त नहीं हो सकता है।

महान्यायवादी, न्यायालय के समक्ष केन्द्र व राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है।

परन्तु उसे निजी तौर पर (कानून संबंधी) पेश होने का अधिकार है, बशर्ते कि किसी वाद (Case) का एक पक्ष स्वयं राज्य न हो। यद्यपि उसे **वेतन भुगतान नहीं** किया जाता, किंतु वह राष्ट्रपति द्वारा अवधारित (Determined) पारिश्रमिक (Retainer) प्राप्त करता है। वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता, परन्तु उसे लोकसभा व राज्यसभा, दोनों ही सदनों की संसदीय गतिविधियों व बैठकों में भाग लेने तथा बोलने का अधिकार प्राप्त है। परंतु वोट देने का अधिकार नहीं है। उसे संसद सदस्य की तरह सभी विशेषाधिकार (**Privileges**) व उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्राप्त होंगे। महान्यायवादी का पारिश्रमिक सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश के वेतन के समान होता है।

महान्यायवादी (Attorney General of India) केन्द्रीय कैबिनेट का सदस्य नहीं होता है। सरकार में विधिक मामलों को देखने के लिए एक पृथक मंत्री होता है। महान्यायवादी की सहायता के लिए दो महासॉलिसिटर जनरल (Solicitor General) व चार सहायक महासॉलिसिटर जनरल (Assistant Solicitor General) होते हैं। ये भी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं और ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करते हैं, जो राष्ट्रपति निर्धारित करता है।

भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक

संसदीय लोकतंत्र के अंतर्गत, कार्यपालिका के वित्तीय आदान-प्रदान के औचित्य निर्धारण के लिये स्वतंत्र लेखा परीक्षा की व्यवस्था की अपरिहार्यता को देखते हुये नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक पद की व्यवस्था की गयी है, जिसके द्वारा देश की समस्त वित्तीय प्रणाली का नियंत्रण किया जाता है।

यह भारत के लेखा एंव लेखापरीक्षण विभाग का अध्यक्ष है। यह भारतीय वित्त का संरक्षक एवं रखवाला है, जो संघ एवं राज्यों के सम्पूर्ण वित्त पर नियंत्रण रखता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इसे संविधान के तहत सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी कहा है।

भारतीय संविधान के भाग-V में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का पद **भारत शासन अधिनियम-1935** के अधीन महालेखा परीक्षक के पद के अनुरूप सृजित किया गया है। अनुच्छेद-148 के प्रावधानों के अधीन भारत के नियंत्रक- महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा 6 वर्ष के कार्यकाल के लिये की जाती है, परंतु इसको पदच्युत करने के लिये संसद के दोनों सदनों के समावेदन (Motions) की आवश्यकता होती है अर्थात इसे उसी रीति से और उन्हीं आधारों पर हटाया जा सकता है, जिस रीति और जिन आधारों पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जाता है। इस रूप में यह पद उस नियम का अपवाद दिखाई देता है, जिसमें संघ के सभी लोक सेवक राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं। अपने पद त्याग के पश्चात भारत का नियंत्रक-महालेखा परीक्षक भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई अन्य पद धारण नहीं कर सकता।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की सेवा शर्तें

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक अधिनियम, 1971 को 1976 में संशोधित करके नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के लिए निम्नलिखित सेवा शर्तों का उपबंध किया गया है–

- नियंत्रक-महालेखा परीक्षक अपने पद पर 6 वर्ष या 65 वर्ष तक की आयु तक ही कार्य कर सकता है।
- वह राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षरित लेख द्वारा किसी भी समय त्यागपत्र दे सकता है।
- अनुच्छेद-148(1) के द्वारा संसद के दोनों सदनों के समावेदन द्वारा उसे हटाया जा सकता है।
- वह उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश के समान वेतन का अधिकारी होगा।
- उसकी सेवा शर्तें अन्य विषय उन्हीं नियमों पर निर्धारित होंगी, जो भारत सरकार के सचिव स्तर के भारतीय प्रशासानिक सेवा के सदस्यों हेतु लागू हैं।
- नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यालय के प्रशासनिक व्यय आदि भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की स्वतंत्रता

संवैधानिक प्रावधान

इसके अंतर्गत निम्न प्रावधान हैं-

- इसे कार्यकाल की सुरक्षा मुहैया कराई गई है। इसे केवल राष्ट्रपति द्वारा संविधान में उल्लिखित कार्यवाही के माध्यम से हटाया जा सकता है। इस तरह यह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद पर नहीं रहता, यद्यपि इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही होती है।
- यह अपना पद छोड़ने के बाद किसी अन्य पद, चाहे वह भारत सरकार का हो या राज्य सरकार का, ग्रहण नहीं कर सकता।
- इसका वेतन एवं अन्य सेवा शर्तें संसद द्वारा निर्धारित होती हैं। वेतन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर होता है।
- इसके वेतन में और अनुपस्थिति, छुट्टी, पेंशन या निवृत्ति की आयु के संबंध में उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।
- भारतीय लेखा और लेखा परीक्षण विभाग में कार्यरत लोगों में कार्यरत लोगों की सेवा एवं नियंत्रण 'महालेखा परीक्षक (CAG) की प्रशासनिक शक्तियों का निर्धारण, राष्ट्रपति द्वारा CAG के परामर्श (सलाह) पर, संसद द्वारा निर्मित विधि के अनुसार किया जाएगा।
- नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यालय के प्रशासनिक व्यय, जिसके अंतर्गत उस कार्यालय में सेवा करने वाले व्यक्तियों को या उनके संबंध में संदेय सभी वेतन-भत्ते और पेंशन हैं, भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।
- कोई भी मंत्री संसद के दोनों सदनों में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है और कोई भी मंत्री उसके द्वारा किए गए किसी भी कार्य की जिम्मेदारी नहीं ले सकता है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद-149 से 151 के अंतर्गत, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों और शक्तियों का उल्लेख किया गया है।

भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यों और शक्तियों के प्रयोग में स्वतंत्रता के उद्देश्य से एक अधिनियम पारित किया गया, जिसे 1976 में संशोधित करके नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों के परिप्रेक्ष्य में कुछ उपबंध निश्चित किए गए, जो इस प्रकार हैं–

- भारत के प्रत्येक राज्य तथा विधानसभा या प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र की संचित निधि से सभी प्रकार के व्यय की संपरीक्षा और उन पर यह प्रतिवेदन देता है कि, क्या ऐसा व्यय विधि के अनुसार है।
- संघ और राज्यों की आकस्मिकता निधि और लोक लेखाओं से हुए सभी व्ययों की संपरीक्षा और उनका प्रतिवेदन।
- संघ या राज्य के विभाग द्वारा किए गए सभी व्यापार तथा विनिर्माण के हानि और लाभ लेखाओं की संपरीक्षा और उन पर प्रतिवेदन।
- संघ और प्रत्येक राज्य की आय और व्यय की संपरीक्षा, जिससे कि यह समाधान हो जाए कि राजस्व के निर्धारण, संग्रहण और उचित आवंटन के लिए पर्याप्त परीक्षण करने के उपरांत नियम और प्रक्रियाएं बनाई गई हैं।
- संघ और राज्य के राजस्वों द्वारा पर्याप्त रूप से वित्त पोषित सभी निकायों

और प्राधिकारियों की, सरकारी कम्पनियों की, अन्य निगमों या निकायों की, जब ऐसे निगमों या निकायों से संबंधित विधि द्वारा इस प्रकार अपेक्षित हो, प्राप्ति और व्यय की संपरीक्षा और उस पर प्रतिवेदन।

इसके अतिरिक्त नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का एक और महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व यह है कि, वह सरकारी लेखा खाताओं में अतिव्यय होने की स्थिति में मितव्ययता की दृष्टि से लोक-लेखा समिति को इससे अवगत कराये। अनुच्छेद-151 के अनुसार, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक संघीय खातों संबंधी प्रतिवेदनों को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करता है और राज्यों के लेखाओं संबंधी प्रतिवेदनों को राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। राष्ट्रपति और राज्यपाल उनको क्रमशः संसद और राज्यों के विधानमंडल के समक्ष रखवाते हैं।

भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को राष्ट्रीय वित्त का संरक्षक कहा जाता है। यद्यपि इसके नाम से नियंत्रण और लेखा परीक्षण दोनों ही कार्य स्पष्ट होते हैं, परंतु वास्तव में भारत में नियंत्रक- महालेखा परीक्षक भारत की संचित निधि से धन के निर्गमन (निष्कासन) पर कोई नियंत्रण नहीं रख सकता है। वह केवल व्यय हो जाने के बाद ही उस **व्यय के औचित्य के निर्धारण** का अधिकार रखता है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक वस्तुतः लोकवित्त के संदर्भ में किये गये व्ययों का लेखांकन करता है और इसका परीक्षण कर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति व राज्यपाल के माध्यम से संसद व विधानमंडलों के समक्ष रखवाता है, जिससे सदन लोकवित्त सम्बन्धी अनियमिताओं पर चर्चा कर सके।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की भूमिकाएँ

वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में, भारत के संविधान एवं संसदीय विधि के अनुरक्षण के प्रति महालेखा परीक्षक उत्तरदायी होता है। कार्यकारी (अर्थात् मंत्रिपरिषद) के वित्तीय प्रशासन का संसद के प्रति उत्तरदायित्व कैग (CAG) की लेखा परीक्षा रिपोर्टों के माध्यम से सुनिश्चित किया जाता है। महालेखा परीक्षक संसद का एजेंट होता है और उसी के माध्यम से खर्चों का लेखा परीक्षण किया जाता है। इस तरह वह केवल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (CAG) को खर्चों की लेखा परीक्षा में प्राप्तियों, भंडारों तथा स्टॉक के लेखा परीक्षण की तुलना में कहीं अधिक स्वतंत्रता होती है, जबकि खर्च के संबंध में वह लेखा परीक्षा के विषय क्षेत्र को निश्चित करता है तथा स्वयं अपने लेखा परीक्षा संहिताओं तथा नियमावलियों की रचना करता है। उसे अन्य लेखा परीक्षाओं को पूरा करने के लिए नियमावलियों के संबंध में कार्यकारी सरकार से स्वीकृति लेनी पड़ती है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की सीमाएँ

गुप्त सेवा व्यय कैग की लेखा परीक्षक की भूमिका पर सीमाएं निर्धारित करता है। इस संबंध में कैग कार्यकारी एजेंसियों द्वारा किए गए व्यय के ब्यौरे नहीं माँग सकता, परन्तु सक्षम प्रशासनिक प्राधिकारी से प्रमाण-पत्र को स्वीकार करना होगा कि व्यय इस प्राधिकार के अंतर्गत किया गया है।

भारत के संविधान में कैग की परिकल्पना नियंत्रक सहित महालेखा परीक्षक के रूप में की गई है। यद्यपि व्यवहार में कैग केवल महालेखा परीक्षक की भूमिका का निर्वाह कर रहा है। दूसरे शब्दों में, कैग का भारत की संचित निधि से धन की निकासी पर कोई नियंत्रण नहीं है और अनेक विभाग कैग के प्राधिकार के बिना चेक जारी कर धन की निकासी कर सकते हैं, कैग की भूमिका व्यय होने के बाद केवल लेखा परीक्षक की है। इस संबंध में भारत के कैग की भूमिका ब्रिटेन के कैग, जिसके पास नियंत्रक सहित महालेखा परीक्षक की शक्तियाँ होती हैं, से बिल्कुल भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में, कार्यकारिणी लोक राजकोष से केवल कैग की स्वीकृति से धन निकाल सकती है।

सरकारी कम्पनियों की लेखा परीक्षा में भी सी.ए.जी. की भूमिका सीमित है। उनकी लेखा परीक्षा निजी अंकेक्षकों द्वारा की जाती है, जो कि सी.ए.जी. की सलाह पर सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। सी.ए.जी. इनकी पूरक लेखा परीक्षा अथवा जाँच लेखा परीक्षा कर सकती है।

यह भी जानें

लेखा परीक्षक व लेखांकन- नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक लेखा परीक्षा के अंतर्गत यह देखता है कि, सरकारी धन का व्यय संसद द्वारा पारित कानूनों के अनुसार हुआ है या नहीं, जबकि लेखांकन के अंतर्गत वह इस बात की जाँच करता है कि संचित निधि से निकाला गया धन संसद द्वारा निर्धारित नियमों के अधीन है या नहीं।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक तथा निगम

भारतीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत, सार्वजनिक निगमों की लेखा परीक्षा में कैग की भूमिका सीमित है। मोटे तौर पर सार्वजनिक निगमों के साथ इसके संबंध को निम्नलिखित तीन कोटियों के अंतर्गत देखा जा सकता है-

- कुछ निगमों की लेखा परीक्षा पूरी तरह एवं प्रत्यक्ष तौर पर सी.ए.जी द्वारा की जाती है। उदाहरणतः दामोदर घाटी निगम, तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग, एयर इंडिया, इंडियन एयरलांइस कॉर्पोरेशन एवं अन्य।
- कुछ अन्य निगमों की लेखा परीक्षा निजी पेशेवर अंकेक्षकों (लेखा परिक्षकों) के द्वारा की जाती है, जो सी.ए.जी. की सलाह पर केन्द्र-सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। यदि आवश्यक हो तो सी.ए.जी. पूरक लेखा परीक्षा कर सकती है।

उदाहरण- केन्द्रीय भंडारण निगम, औद्योगिक वित्त निगम एवं अन्य।

- कुछ अन्य निगमों की पूरी तरह निजी लेखा परीक्षा की जाती है। दूसरे शब्दों में, लेखा परीक्षा निजी पेशेवर अंकेक्षकों के द्वारा की जाती है तथा इसमें सी.ए.जी. की कोई भूमिका नहीं होती है। वे अपना वार्षिक प्रतिवेदन तथा लेखा सीधे संसद को प्रस्तुत करती हैं।

उदाहरण- जीवन बीमा निगम, भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय स्टेट बैंक, भारतीय खाद्य निगम इत्यादि।

भारतीय नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की ब्रिटिश समकक्ष पदधारी से तुलना

- भारतीय नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, केन्द्र-सरकार, राज्य-सरकार एवं संघ-शासित क्षेत्र (केवल दिल्ली एवं पुडुचेरी) के संचित निधि, आकस्मिक निधि के सभी संबंधी लेखाओं की लेखा परीक्षा करता है, जबकि ब्रिटेन की प्रणाली में लेखा विभिन्न विभागों द्वारा तैयार किये जाते हैं नियंत्रक महालेखा परीक्षक द्वारा नहीं।
- नियंत्रक के कृत्यों का प्रयोग करते हुए इंग्लैण्ड का नियंत्रक महालेखा परीक्षक लोकधन की प्राप्ति और उसके निर्गमन का भी नियंत्रण करता है तथा उसका यह कर्तव्य है कि वह यह भी देखे की समस्त लोक राजस्व बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के खजाने के खाते में जमा किया जाए और उसमें कुछ भी विधिक प्राधिकार के बिना खर्च नहीं किया जाए, जबकि भारत में कैग भारत की संचित निधि से धन के निर्गमन पर कोई नियंत्रण नहीं कर सकता है, बहुत से विभागों को यह अधिकार है कि CAG के विनिर्दिष्ट प्राधिकार के बिना चेक द्वारा धन निकाल सकते हैं।

नियंत्रक-महालेखा परीक्षकः तटस्थता के उपाय

उसे उसके पद से केवल उसी रीति से और उन्हीं आधारों पर हटाया जा सकता है, जिस रीति से व जिन आधारों पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है।

वह जनता के बटुए (Public Purse) का संरक्षक है, जो केन्द्र व राज्य सहित देश के सम्पूर्ण वित्तीय तंत्र का नियंत्रण करता है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इसे संविधान के अंतर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद कहा है।
प्रत्येक व्यक्ति, जो भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक नियुक्त किया जाता है, अपना पदभार ग्रहण करने से पहले, राष्ट्रपति या उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति के समक्ष, तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारूप के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।
नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का वेतन और सेवा की अन्य शर्तें ऐसी होंगी, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे और जब तक वे इस प्रकार निर्धारित नहीं की जाती हैं, तब तक ऐसी होंगी, जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट है।
वित्तीय आपात की स्थिति को छोड़कर उसकी नियुक्ति के पश्चात उसके वेतन व अन्य सुविधाओं में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता ।
नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, अपने पद से मुक्त हो जाने के बाद भारत सरकार के या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी और पद का पात्र नहीं होगा।
भारतीय लेखापरीक्षा व लेखाविभाग (Indian Audit & Accounts Department) में सेवा करने वाले व्यक्तियों की सेवा की शर्तें और नियंत्रक-महालेखा परीक्षक की प्रशासनिक शक्तियाँ ऐसी होंगी, जो नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक से परामर्श करने के पश्चात राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा विहित की जाएँ।
नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को केवल दुराचरण तथा अयोग्यता सिद्ध होने के आधार पर 'संसद के दोनों सदनों' के प्रस्ताव पर, इनको पद से हटाया जा सकता है।
उसका वेतन तथा भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं तथा संसद में उस पर मतदान नहीं किया जा सकता।

शुंगलू कमेटी और कैग

भारत में हुए कॉमनवेल्थ खेल अनियमितताओं की जांच के लिए बनी उच्चस्तरीय शुंगलू कमेटी/समिति, जिसके अध्यक्ष भूतपूर्व नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक वी. के शुंगलू ने पाया कि, स्वयं नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की कार्य प्रणाली में कई दोष हैं। इस दोष के उन्होंने कुछ कारण बताये-

- इस पद का धारक संभावित कारणों से अपनी कार्य प्रणाली में उतनी पारदर्शिता नहीं रख पा रहा जो इसे रखना चाहिए।
- चूँकि अंकेक्षण और लेखा से संबंधित समस्त शक्तियाँ एक व्यक्ति में केंद्रित है, अत: उसके तानाशाह होने की संभावना बनती है।
- खेल से संबंधित लेखा के सिद्धांतों की अवहेलना हुई और महालेखा परीक्षक ने या तो ऐसा स्वयं किया या उनकी कार्य परिधि किसी के द्वारा अधिक्रमित थी।

ऐसी बहुत सारे बिन्दुओं की जाँच करने के उपरांत 2011 को शुंगलू कमेटी/समिति ने तत्कालीन प्रधानमंत्री को छ: पन्नों के एक प्रतिवेदन के साथ एक चिट्ठी लिखी। इस प्रतिवेदन में उन्होंने 'कैग' के अलावा कई सरकारी विभागों में हुई और हो रही अनियमितताओं के संबंध में कुछ सुझाव दिये।

कैग से संबंधित निम्न सुझाव हैं-

- 'कैग' के लेखा की जाँच एवं अंकेक्षण लोक-लेखा समिति द्वारा नियुक्त एक पेशेवर अंकेक्षक द्वारा करायी जाए और इस रिपोर्ट को विचार विमर्श हेतु संबंधित संसदीय कमेटी को सौंपा जाए।
- एकतंत्रीय व्यवस्था से उत्पन्न निरंकुशता की संभावना को दूर करने के लिए नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के पद को तीन सदस्यीय बनाना, जिससे अधिक पारदर्शिता आ सके, जिसमें एक व्यक्ति पूर्ण पेशेवर चार्टर्ड अकाउटेंट या उसके समकक्ष हो।
- पूर्ण पेशेवर चार्टर्ड अकाउटेंट को तीन सदस्यीय व्यवस्था में रखने का अर्थ भारतीय अंकेक्षण और लेखा सेवा के विशेषज्ञों को इस व्यवस्था से बाहर रखने का नहीं है, जिन्हें इस विषय का पर्याप्त अनुभव हो।

आलोचना

भारतीय प्रशासन पर अपनी दो रिपोर्टों में पॉल एच. एप्पलवाई ने सी. ए. जी. की भूमिका की कड़ी आलोचना करते हुए इसके कार्य के महत्व पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। उसने राय दी कि सी.ए.जी. को लेखा परीक्षा के दायित्व से मुक्त कर देना चाहिए। भारतीय लेखा परीक्षा को लेकर उनकी आलोचना के निम्नलिखित बिंदु हैं-

- भारत में सी.ए.जी. का कार्य वास्तव में औपनिवेशिक शासन की एक विरासत के रूप में है।
- संसद की लेखा परीक्षा को संसदीय दायित्व के महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर देखा जाता है। इसलिए संसद कैग के कार्यों को परिभाषित करने में विफल रही है, जैसा कि संविधान में उससे अपेक्षा की गई है।
- CAG के पास खातों की जाँच अथवा ऑडिट करने की शक्तियाँ सीमित है। इसका अर्थ है कि, CAG के पास संचित निधि के पैसे पर नियंत्रण का कोई अधिकार नहीं है।

संघीय विधायिका
(Federal Legislature)

परिचय (Introduction)

भारत की सर्वोच्च विधायिका का नाम 'संसद (Parliament)' है। संसद का यह वर्तमान स्वरूप सैकड़ों वर्षों के विकास का परिणाम है। भारत की सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है, किन्तु लोकतन्त्र का प्रयोग नवीन है। ऐसे नवजात लोकतंत्र के लिए भारत को ऐसी शासन प्रणाली की आवश्यकता थी, जिसमें सरकार के विभिन्न अंगों में संघर्ष कम हो तथा सहयोग एवं समन्वय अधिक बना रहे। भारत को ब्रिटिश शासन के माध्यम से संसदीय शासन प्रणाली का व्यवहारिक अनुभव भी प्राप्त था। भारतीय शासन अधिनियम-1935 के द्वारा पहली बार भारत में लोकप्रिय राज्य सरकारों का गठन हुआ तथा उनका निर्माण संसदीय आधार पर किया गया। यह सत्य है कि, इस शासन में मुठ्ठी भर लोगों की भागीदारी थी। 'बहुमत जनता' की भागीदारी नहीं थी। परंतु इसने भारतीय राजनीतिज्ञों तथा जनता को इस प्रणाली का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कराया।

भारत में संसदीय शासन प्रणाली, क्यों?

संसदीय शासन प्रणाली, दिन प्रतिदिन के उत्तरदायित्व के सिद्धांत पर कार्य करती है। अत: भारतीय संविधान के नीति-निर्माताओं ने स्थायित्व के बजाए, उत्तरदायित्व को प्राथमिकता प्रदान की। भारत का समाज विविधतापूर्ण और बहुलवादी है। अत: यह कहने में हमें थोड़ा भी अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए कि संसदीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार के विविधतापूर्ण एवं बहुलवादी समाज का प्रतिनिधित्व ज्यादा बेहतर ढंग से सम्भव है।

संसदीय लोकतंत्र प्रणाली के साधारणतया तीन आधारभूत तत्व हैं-

1. जनता का प्रतिनिधित्व।
2. उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार।
3. मंत्रिपरिषद का लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होना।

इस सन्दर्भ में दूसरा प्रमुख कारण यह है कि, व्यवहारिक रूप में अध्यक्षीय शासन प्रणाली में चुनाव की प्रक्रिया अत्यधिक जटिल होती है। परिणामस्वरूप भारत में संसदीय प्रणाली को वरीयता प्रदान की गई।

अध्यक्षीय बनाम संसदीय शासन

1960 के दशक में, भारत में कुछ लोगों ने अध्यक्षात्मक प्रणाली लागू करने की माँग उठायी। पूर्व लोकसभा स्पीकर तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के.एस. हेगड़े ने अखिल भारतीय अधिवक्ताओं के सम्मेलन में अध्यक्षीय शासन प्रणाली का समर्थन किया। वर्ष-1964 में आर. वेंकट रमन ने भारत में अध्यक्षीय शासन प्रणाली का समर्थन किया। प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ नानी पालकीवाला ने अध्यक्षीय शासन प्रणाली का समर्थन करते हुए कहा कि इससे निम्नलिखित लाभ होंगे-

- अध्यक्षीय शासन में विशेषज्ञों को शामिल किया जा सकेगा।
- दल-बदल और सरकार के अस्थायित्व की समस्या समाप्त हो जाएगी।

वर्ष-1989 के पश्चात, बढ़ते गठबंधन सरकारों के युग में अध्यक्षीय शासन का समर्थन किया गया। पूर्व उप-राष्ट्रपति भैरो सिंह शेखावत ने कहा कि, भारत में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक निर्धारित समय पर होने चाहिए। इस वक्तव्य के संदर्भ में आलोचकों ने कहा कि, यह मूलत: अध्यक्षीय शासन प्रणाली का ही समर्थन है, क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली में सरकार का कार्यकाल निर्धारित नहीं होता, तो चुनाव की तिथि का पूर्व निर्धारण कैसे हो सकता है।

संसदीय सरकार के समर्थकों ने उपर्युक्त मान्यता को अस्वीकृत कर दिया। इनके अनुसार, भारत, जैसे देश के लिए संसदीय शासन प्रणाली, सबसे बेहतर विकल्प है। यद्यपि वर्तमान समय में यह विवाद का मुद्दा नहीं है, कि भारत में कौन सी शासन प्रणाली हो। इसके निम्नलिखित दो कारण हैं-

1. नरसिंह राव वाद में न्यायपालिका ने स्पष्ट कहा कि संसदीय शासन संविधान का आधारभूत ढ़ाँचा है।
2. संविधान के कार्यकरण की समीक्षा पर स्थापित **'वेंकट चेलैया आयोग'** ने यह स्पष्ट कहा कि, संसदीय शासन प्रणाली के अंतर्गत संविधान के कार्यकरण पर पुनर्निरीक्षण होगा।

आयोग ने यह अवश्य माना कि, भारतीय संसदीय शासन प्रणाली में कुछ सुधार की आवश्यकता है, जो निम्नलिखित हैं-

- गठबंधन सरकार या त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में लोकसभा के द्वारा अपने नेता का चुनाव होना चाहिए तथा बाद में राष्ट्रपति उसे प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त करेगा।
- सकारात्मक अविश्वास प्रस्ताव का उपयोग।
- अविश्वास प्रस्ताव लाने के लिए सदन के 50 सदस्यों को पहले नोटिस देना होगा।
- केंद्र और राज्य सरकारों में मंत्रियों की संख्या निचले सदन की कुल सदस्य संख्या के 15% से अधिक नहीं हो सकती।

अन्य सुधारात्मक कदम

- आचार संहिता को विधि का दर्जा दिया जाए।
- राजनीतिक दल और उम्मीदवारों को अपने चुनाव खर्च का ब्यौरा देना होगा।
- दल-बदल कानून को ज्यादा सख्त बनाया जाए।
- दल-बदल की अयोग्यता के निर्धारण का कार्य स्पीकर के बजाय, चुनाव आयोग को सौंपा जाना चाहिए।
- दल-बदलने वाले व्यक्तियों को मंत्री का पद नहीं मिलना चाहिए।
- एक प्रत्याशी एक से अधिक स्थानों से चुनाव न लड़ सके।
- भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति एक संवैधानिक निकाय के द्वारा होनी चाहिए, जिसमें प्रधानमंत्री, लोकसभा एवं राज्यसभा में विपक्ष के नेता, लोकसभा स्पीकर और राज्यसभा के उपसभापति सम्मिलित होंगे।

भारतीय प्ररिपेक्ष्य में विधायिका का मूल कार्य

आधुनिक समय में संसद का कार्य केवल कानून बनाने तक ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु यह संस्था विविध प्रकार के कृत्यों एवं दायित्वों का निर्वहन कर रही है। संसद के कुछ मूलभूत कार्य एवं उत्तरदायित्व निम्नलिखित हैं-

- ***राजनीतिक एवं वित्तीय नियंत्रण***- केंद्र में सरकार तभी तक सत्तासीन रहती है, जब तक कि उसे संसद के निचले सदन अर्थात लोकसभा का विश्वास एवं बहुमत प्राप्त होता है। सदन के बहुमत का समर्थन खो देने पर सरकार अपदस्थ हो जाती है। संविधान के अनुसार, अनुमानित प्राप्तियों एवं व्यय का वार्षिक विवरण सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है। संसद की अनुमति के बिना सरकार न तो कोई नया कर लगा सकती है और न ही राजकोष से एक भी पैसा व्यय कर सकती है।
- ***प्रशासनिक उत्तरदायित्व***- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में नियम एवं नीतियाँ बनाने का कार्य संसद द्वारा तथा उन्हें क्रियान्वित करने का

कार्य प्रशासन द्वारा किया जाता है। संसद किसी भी सार्वजनिक नीति की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के सम्बन्ध में सरकार से प्रश्न पूछ सकती है जिसका स्पष्टीकरण सरकार द्वारा दिया जाना आवश्यक है।

- ***जानकारी प्राप्त करने का अधिकार***- जानकारी प्राप्त करना संसद की संभवत: सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति है। संसद के सदस्य प्रश्न पूछकर, मौखिक अथवा लिखित रूप में या किसी भी सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्न पर चर्चा करके जानकारी प्राप्त करते हैं। संसद द्वारा जानकारी प्राप्त करने का अधिकार व्यापक है, परंतु इस पर यह अंकुश भी है कि यदि किसी जानकारी को उद्घटित करने से राष्ट्रीय हित अथवा राज्य की सुरक्षा खतरे में आती हो तो उसे देने पर जोर नहीं दिया जा सकता। वस्तुत: यह सरकार का कर्तव्य है कि वह समय-समय पर पूर्ण, वास्तविक एवं स्पष्ट जानकारी संसद को उपलब्ध कराए।
- ***प्रतिनिधित्व करना, शिकायतें व्यक्त करना, शिक्षित करना तथा मंत्रणा करना***- संसद जनता की सर्वोत्कृष्ट संस्था है। यह वह सर्वोच्च मंच है, जहाँ जनता अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से अपनी आशाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, शिकायतें, परेशानियाँ, कठिनाइयाँ, भावनाएँ, चिंताएँ और निराशाएँ अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार संसद जनता की परिवर्तनशील भावनाओं एवं आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती है।
- ***कानून बनाना, सामाजिक परियोजना, विकास एवं विधिकरण***- भारतीय संविधान के अनुसार, संसद राष्ट्रीय स्तर पर सर्वोच्च विधायी निकाय है। संसद संविधान की सातवीं अनुसूची में वर्णित संघ-सूची एवं समवर्ती-सूची में उल्लिखित विषयों तथा अवशिष्ट विषयों से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण कर सकती है।

किसी भी नीति अथवा कानून का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष उससे प्राप्त होने वाले सामाजिक परिणाम होते हैं। भारत जैसे परिवर्तनशील समाज में सामाजिक परिवर्तनों हेतु आधार एवं माध्यम की व्यवस्था मात्र संसद ही कर सकती है। वस्तुत: संसद सामाजिक सुधार लाने में सबसे आगे रही है। संविधान के प्रारम्भ में संसद द्वारा समाज सुधार सम्बन्धी अनेक कानून बनाए गए। ऐसे कानूनों के अंतर्गत, समाज के दमित, उत्पीड़ित एवं उपेक्षित वर्गों के लिए आरक्षण, सामाजिक सुरक्षा, निर्योग्यताओं के निवारण, न्यूनतम पारिश्रमिक, वृद्धावस्था पेंशन, आवास, आदि के रूप में गारण्टी एवं लाभों के विशेष उपबंध किए गये हैं।

- ***संविधान में संशोधन करना***- अनुच्छेद-368 के अंतर्गत, संविधान में संशोधन करने का अधिकार संसद को प्रदान किया गया है। यह संसद की अनन्य शक्ति है, क्योंकि संविधान संशोधन सम्बन्धी कोई भी प्रक्रिया केवल संसद में ही शुरू हो सकती है।
- ***संघर्षों का समाधान एवं राष्ट्रीय एकता सुनिश्चित करना***- राष्ट्रीय राजनीति में टकरावों के समाधान के सशक्त माध्यम और प्रमुख मध्यस्थ शक्ति के रूप में संसद का उद्भव भारतीय राजनीतिक जीवन का सर्वमान्य तथ्य है। वाद-विवाद और चर्चाओं से समाज के भीतर तनाव और असंतोष प्रकाश में आ जाते हैं। संसद, शक्ति संघर्ष के लिए, राजनीतिक गतिविधि को स्पष्ट करने के लिए या परस्पर विरोधी भूमिकाएँ अदा करने के लिए वैध रूप से मैदान बन जाता है और संसदीय नियम तथा प्रक्रियाओं के कारण अंत में समझौता करना संभव हो पाता है।
- ***राजनीतिक प्रतिभा को संरक्षित करना***- संसद प्रतिभा के राष्ट्रीय रक्षित भंडार के रूप में कार्य करती है। जहाँ से राजनीतिक नेता उभरते हैं। संसद एक ऐसा मंच है जहाँ मंत्रीगण कार्य क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और प्रशिक्षण पाते हैं। दोनों सदनों में और उनकी समितियों में सदस्यों के कार्य निष्पादन को देखकर प्रधानमंत्री को अधिकतम योग्यता रखने वालों का चयन करने में सहायता मिलती है।
- ***मंत्रिमंडल की रचना***- संसद का पहला कृत्य मंत्रिमण्डल की रचना और उन्हें उत्तरदायी ठहराना है। मंत्रिमण्डल का उत्तरदायित्व निर्वाचित सदन के प्रति है, किन्तु मंत्रिमण्डल के सदस्य अन्य सदन से हो सकते हैं और साधारणतया कुछ सदस्य अन्य सदन से लिए भी जाते हैं।

संसद की संरचना

भारतीय संविधान के पांचवें भाग के दूसरे अध्याय में अनुच्छेद-79 के अंतर्गत 'संसद' (Parliament) शीर्षक में संघीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था की गई है, जिसमें दो सदन हैं- लोकसभा व राज्यसभा। इसमें उच्च सदन, राज्यसभा जो राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है तथा निम्न सदन लोकसभा, जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है, साथ ही राष्ट्रपति को भी संसद का अभिन्न अंग माना गया है। यद्यपि राष्ट्रपति, संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं हो सकता, फिर भी वह उसका अभिन्न अंग है, क्योंकि वही सत्र को आमंत्रित व स्थगित करता है, संसद में उद्घाटन भाषण देता है, वहाँ अपना संदेश भेजता है तथा संसद में पारित विधेयकों पर हस्ताक्षर कर उन्हें वैधानिकता प्रदान करता है, यद्यपि भारत का राष्ट्रपति, संसद का अंग होता है। तथापि वह दोनों में से किसी भी सदन में न तो बैठता है, न ही उसकी चर्चाओं में भाग लेता है। ये संसद से संबंधित कुछ ऐसे संवैधानिक कृत्य है, जिनका राष्ट्रपति निर्वहन करना होता है।

लोकसभा (House of the people)

लोकसभा संसद का दूसरा सदन है। लोकसभा के सदस्यों को जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से चुना जाता है, जो भारत का नागरिक हो तथा 18 वर्ष से अधिक आयु का हो, वह लोकसभा के लिए निर्वाचनों में मतदान करने का हकदार होगा। संविधान में उपबंध है कि, लोकसभा के 530 सदस्य राज्यों के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रीति से चुने जाएंगे। 20 से अनधिक सदस्य संघ-राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेंगे, जिनका निर्वाचन ऐसी रीति से होगा, जिसे संसद विधि द्वारा उपबंधित करे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति, एंग्लो-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए दो सदस्य मनोनीत कर सकते हैं। इस प्रकार सदन की अधिकतम सदस्य संख्या-552 है (परंतु 25 जनवरी, 2020 से सदनों में एंग्लो-इंडियन को मनोनीत करने संबंधी प्रावधान को 104वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से समाप्त कर दिया गया है)। ऐसी संविधान में परिकल्पना की गई है कि, निर्वाचित किए जाने वाले सदस्यों की कुल संख्या को राज्यों के बीच ऐसी रीति से विभाजित किया जाता है, जिससे कि प्रत्येक राज्य के लिए आवंटित स्थानों की संख्या और राज्य की जनसंख्या के बीच यथासंभव ऐसा अनुपात रहे, जो सब राज्यों के लिए समान हो। इस प्रायोजन के लिए जनसंख्या का आशय है, वह जनसंख्या, जो वर्ष-1971 की जनगणना द्वारा सुनिश्चित की गई है। वर्ष-2000 तक लोकसभा में स्थानों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होगा। परंतु **84वें संविधान संशोधन** के तहत यह व्यवस्था दी गयी है कि, जनसंख्या के आधार पर लोकसभा सीटों का आवंटन वर्ष-2026 के बाद होगा तथा राज्य विधानसभाएँ अपने निर्वाचन क्षेत्रों को वर्ष-2001 की जनगणना के आधार पर समायोजन कर सकते हैं। अनुच्छेद-330 लोकसभा में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए जनसंख्या अनुपात के आधार पर स्थान आरक्षित हैं। वर्ष-2001 की जनगणना के आधार पर अनुसूचित जातियों के लिए 79 सीटें एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए 41 सीटें आरक्षित की गयी थी। हालांकि वर्तमान में SC के लिए 84 तथा ST के लिए 47 सीटें आरक्षित है।

प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र

लोकसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है। इसका अर्थ है कि, मतदाता प्रत्यक्ष रूप से चुनाव में भाग लेते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाता स्वयं मतदान में भाग नहीं

लेता। राज्यसभा के सदस्य राज्य की विधानसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होते हैं। विधानसभा के सदस्य मतदाता द्वारा निर्वाचित होते हैं। इस प्रकार राज्यसभा का निर्वाचन अप्रत्यक्ष होता है। जिसमें मतदाता अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है। लोकसभा के निर्वाचन के प्रयोजन के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। निर्वाचन क्षेत्रों का आवंटन इस प्रकार होता है कि, स्थानों की संख्या और राज्य की जनसंख्या का अनुपात राज्यों में यथासंभव एक ही हो। राज्य के भीतर प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार बाँटे जाते हैं कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या और उसे आवंटित स्थानों का अनुपात पूरे राज्य में यथासंभव एक ही हो। (अनुच्छेद-81) संविधान में यह सुनिश्चित करने के लिए उपबंध है कि प्रतिनिधित्व में एकरूपता हो। यह एकरूपता दो प्रकार से हो-

1. विभिन्न राज्यों के बीच।
2. एक ही राज्य में विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के बीच।

राज्यों को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित करने के प्रयोजन के लिए जनसंख्या ठीक पूर्ववर्ती जनगणना से ली जाती है। भारत में जनगणना हर 10 वर्ष पर होती है। अंतिम जनगणना सन् 2011 में हुई थी।

परिसीमन आयोग

परिसीमन आयोग का अर्थ-

परिसीमन का अर्थ उस कार्य या प्रक्रिया से है, जिसके अंतर्गत एक वैधानिक निकाय द्वारा किसी देश या क्षेत्र में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों की सीमाओं का निर्धारण किया जाता है। जम्मू-कश्मीर को केंद्रशासित क्षेत्र घोषित किये जाने के बाद राज्य की विधानसभा सीटों के पुनर्निधारण के लिए परिसीमन आयोग का गठन केंद्र सरकार (गृह मंत्रालय) द्वारा किया जाएगा। 31वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत यह प्रावधान किया गया है कि जिन राज्यों और संघ-शासित प्रदेशों की जनसंख्या 60 लाख से कम है, वहाँ परिसीमन संबंधी प्रावधान लागू नहीं होंगे।

परिसीमन आयोग क्या है?

यह आयोग एक शक्तिशाली निकाय है, जिसके आदेशों में कानून के समान शक्ति निहित है। इसके आदेशों को न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकती।

इस आयोग में भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त और उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के दो न्यायाधीश शामिल होते हैं। इसके आदेश राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट किये जाने की तिथि से लागू हो जाते हैं।

इसके आदेशों की प्रतियाँ लोकसभा और संबंधित राज्य विधानसभा के समक्ष रखी जाती है, हालांकि उनके द्वारा इसमें कोई संशोधन नहीं किया जा सकता है।

संवैधाानिक प्रावधान

अनुच्छेद-81 के खंड (2) के तहत यह प्रावधान है कि लोकसभा में प्रत्येक राज्य के लिए सीटों का आवंटन इस प्रकार से किया जाएगा कि सीटों की संख्या एवं राज्य की जनसंख्या का अनुपात सभी राज्यों के लिए एक समान हो।

उपखंड (3) के तहत अनुच्छेद-81 के प्रयोजनों हेतु ''जनसंख्या'' पद को परिभाषित किया है। इसके अनुसार जनसंख्या का अर्थ है 'पिछली जनगणना (जिसके संगत आँकड़े प्रकाशित हो चुके हो) में नियत की गई जनसंख्या।

अनुच्छेद-82 प्रत्येक जनगणना के पश्चात राज्यों के लिए लोकसभा में सीटों के पुनः समायोजन तथा सभी राज्यों के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन का प्रावधान करता है।

लोकसभा क्षेत्रों का जनसंख्या के आधार पर समायोजन, परिसीमन आयोग के द्वारा किया जाता है, प्रत्येक जनगणना के बाद लोकसभा की सीटों का पुनर्निर्धारण किया जाता है। (अनुच्छेद-82) इस हेतु संसद ने परिसीमन आयोग अधिनियम का निर्माण किया और वर्तमान समय में निम्नलिखित परिसीमन आयोग स्थापित किए जा चुके हैं-

(a) वर्ष-1952 (b) वर्ष-1963
(c) वर्ष-1973 (d) वर्ष-2002

वर्ष-2002 में लोकसभा सीटों को समायोजित करने के लिए 'कुलदीप सिंह आयोग' की स्थापना हुई, जिन्होंने लोकसभा में सीटों की संख्या नहीं बढ़ाई। लेकिन विभिन्न लोकसभा के सीटों के आकार में समायोजन किया गया। इस समायोजन का लाभ अनुसूचित जातियों और जनजातियों को प्राप्त हुआ, क्योंकि उनके लिए आरक्षित सीटों की संख्या लोकसभा में बढ़ गयी। वर्ष-2001 की जनगणना के आधार पर अनुसूचित जनजातियों के लिए 41 तथा अनुसूचित जातियों के लिए 79 सीटें आरक्षित की गयी हैं। हालांकि 15वीं लोक सभा में अनुसूचित जाति के लिए 84 तथा अनुसूचित जनजाति के लिए 47 सीट आरक्षित हैं।

84वें संविधान संशोधन के द्वारा वर्ष-2026 तक लोकसभा सीटों की संख्या यथावत् रखने का प्रावधान किया गया।

87वें संविधान संशोधन अधिनियम (2003) के द्वारा यह भी प्रावधान किया गया, कि राज्यों के भीतर लोकसभा क्षेत्रों की पुनर्संरचना वर्ष-2001 की जनगणना के आधार पर होगी।

लोकसभा की सदस्यता हेतु योग्यताएँ (संवैधानिक प्रावधान)

लोकसभा के सदस्य के लिए यह आवश्यक है, कि वह भारत का नागरिक हो तथा वह न्यूनतम 25 वर्ष की आयु पूरा कर चुका हो। वह संसद के कानून द्वारा सभी निर्धारित योग्यताओं को धारण करता हो। कोई व्यक्ति एक ही समय में संसद के दोनों सदनों का या संसद के किसी सदन और राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नहीं हो सकता। यह भी आवश्यक है कि, वह भारत-सरकार या किसी राज्य-सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण न किया हो, लेकिन मंत्री पद या संसद के कानून द्वारा निर्दिष्ट कई अन्य पद इस वर्ग में नहीं आते हैं। वह किसी सक्षम न्यायालय द्वारा पागल, विदेशी, दिवालिया या अनागरिक घोषित न किया गया हो। वह संसद के कानूनों द्वारा निर्धारित किन्हीं अन्य अयोग्यताओं को भी न रखता हो। यदि किसी संसद सदस्य की योग्यता के बारे में कोई शिकायत हो, तो राष्ट्रपति के पास भेजी जा सकती है, जो निर्वाचन आयोग की रिपोर्ट लेकर उचित कार्यवाही करेगा।

यदि कोई सदस्य सदन के अध्यक्ष को उचित कारण बताए बिना लगातार 60 दिनों तक सदन से अनुपस्थित रहता है, तो उसे अयोग्य ठहराकर उसके स्थान को रिक्त घोषित करने का प्रावधान है।

लाभ का पद

लाभ का पद ऐसा पद है, जिससे कुछ लाभ या धन की प्राप्ति होती है। किसी भी सरकार के अधीन ऐसा पद धारण करना, जिसके साथ कोई वेतन, उपलब्धि या अप्रतिकरात्मक भत्ता जुड़ा हुआ है, लाभ का पद धारण करना कहलाता है। संदाय की प्रकृति बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, उसे क्या नाम दिया गया है यह महत्त्वहीन है। यदि मानदेय या मानधन नाम दे दिया जाता है और पदधारी को कुछ धन की प्राप्ति होती है, तो मानदेय नामकरण से कोई अंतर नहीं पड़ेगा। सुसंगत बात तो यह है कि क्या उस पद से कोई लाभ हो सकता है या धन की प्राप्ति होती है या हो सकती है। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वास्तव में कुछ धन मिला या नहीं या कोई लाभ उठाया या नहीं।

जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के अनुसार निर्योग्यताएँ

अनुच्छेद-327 के अंतर्गत निर्वाचन के लिए वर्ष-1951 के जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में अयोग्यताओं की कुछ शर्तों का उल्लेख किया गया है। (यह राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के लिए भी है) जो इस प्रकार हैं-

- कोई सदस्य किसी न्यायालय या चुनाव अधिकरण द्वारा निर्वाचन अनियमितताओं या चुनाव में भ्रष्टाचार का दोषी सिद्ध न किया गया हो।
- उसे किसी न्यायालय द्वारा दो वर्ष से अधिक की कैद की सजा न दी गई हो।
- उसने कानूनी प्रक्रिया के अनुसार निर्धारित समय के भीतर अपना चुनाव खर्च का विवरण जमा न किया हो।
- वह सरकारी सेवा में भ्रष्टाचार व अविश्वसनीयता के कारण पदमुक्त न किया गया हो।

जनप्रतिनिधित्व अधिनियम-1951 की धारा-29 (ए)

सर्वोच्च न्यायालय ने दोषी ठहराए गए व्यक्तियों को राजनीतिक दल बनाने या दलों के पदाधिकारी बनने से वंचित करने के संदर्भ में चुनाव आयोग की शक्तियों की समीक्षा करने का निर्णय लिया है।

धारा-29 (ए) से संबंधित महत्त्वपूर्ण तथ्य

जनप्रतिनिधित्व अधिनियम-1951 की धारा-29(A) के तहत, भारत में राजनीतिक दलों के पंजीकरण और मान्यता के संबंध में विभिन्न प्रावधान किये गये हैं।

जनप्रतिनिधित्व अधिनियम-1988 द्वारा इस धारा को अंत: स्थापित किये जाने से पूर्व, यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से चुनाव चिह्न (आरक्षण और आवंटन) आदेश, 1968 के प्रावधानों के आधार पर निर्वाचन आयोग द्वारा संचालित होती थी।

चुनाव चिह्न (आरक्षण एवं आवंटन)आदेश के अनुसार, पंजीकरण के लिए आवेदन करने के लिए किसी संगठन द्वारा पंजीकृत होने के लिए वैध मतों का 1 प्रतिशत प्राप्त करना आवश्यक था।

गोस्वामी समिति (1990) द्वारा इस धारा से संबंधित विभिन्न मुद्दों पर प्रकाश डाला गया।

वर्तमान व्यवस्था के अनुसार, किसी संगठन को एक राजनीतिक दल के रूप में पंजीकृत होने के लिए केवल संविधान (विशेष रूप में प्रस्तावना)के अनुरूप होना चाहिए। इस प्रकार चुनाव चिह्न (आरक्षण एवं आवंटन)आदेश के आधार पर राजनीतिक दलों के पंजीकरण के संबंध में चुनाव आयोग की शक्तियों को वापस ले लिया गया है।

अन्य प्रावधान

1951 के अधिनियम की धारा 8ए, 9ए, 10 और 11 के आधार पर निर्धारित किया गया है कि आपराधिक कानूनों के तहत दोषी ठहराए गए उम्मीदवारों को तत्काल प्रभाव से चुनाव लड़ने से आयोग्य घोषित कर दिया जायेगा।

दल परिवर्तन के आधार पर निर्योग्यता-

52वें संविधान संशोधन (1985) द्वारा यह उपबंध किया गया है कि, यदि कोई व्यक्ति 10वीं अनुसूची के अधीन निरर्हित हो जाता है तो वह संसद का सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा।

यदि वह जिस राजनीतिक दल के टिकट पर निर्वाचित हुआ था, उसने सदस्यता स्वेच्छा से छोड़ दी हो।

यदि वह अपने राजनीतिक दल के द्वारा दिए गए निर्देश के विरूद्ध ऐसे दल की अनुमति प्राप्त किए बिना, मतदान करता है या मतदान करने से अलग रहता है और ऐसे मतदान या मतदान करने से अलग रहने को उसे दल ने मतदान या मतदान करने से विरत रहने की तारीख से 15 दिन के भीतर माफ नहीं किया हो।

यदि कोई नामनिर्दिष्ट (मनोनीत) सदस्य अपने स्थान ग्रहण की तारीख से छ: माह की समाप्ति के पश्चात् किसी राजनीतिक दल का सदस्य बन जाता हो।

कोई सदस्य जो निर्दलीय सदस्य के रूप में निर्वाचित हुआ है, किसी भी राजनीतिक दल की सदस्यता स्वीकार करने पर निरर्हित हो जाएगा।

दल परिवर्तन के अपवाद

91वें संविधान संशोधन के पहले विभाजन भी अपवाद था अर्थात विभाजन के कारण दल बदलने पर निरर्हता नहीं होती थी। विभाजन तब हुआ माना जाता था, जब किसी दल के कम से कम एक तिहाई सदस्य एक नया समूह या दल बना लेते थे। इसे 91वें संविधान संशोधन द्वारा निरसित कर दिया गया।

यदि सदस्य का मूल राजनीतिक दल किसी अन्य दल में विलीन हो जाता है और इस विलय के परिणामस्वरूप राजनेता दल बदल लेता है या विलय को स्वीकार नहीं करके पृथक् समूह के रूप में काम करने का निश्चय करता है तो वहाँ निरर्हता नहीं होगा। मूल राजनीतिक दल का विलय हुआ तभी समझा जाएगा जब संबंधित विधानदल के दो तिहाई से अधिक सदस्य विलय के लिए सहमत हो गए हों।

10वीं अनुसूची के अधीन निरर्हता का प्रश्न

यदि यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई सदस्य 10वीं अनुसूची के अधीन दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हित हो गया है? तो यह प्रश्न सदन के सभापति या अध्यक्ष द्वारा विनिश्चय किया जाएगा।

10वीं अनुसूची के पैरा 7 की विधिमान्यता

10वीं अनुसूची के पैरा 7 में कहा गया है कि, किसी न्यायालय को इस अनुसूची के अधीन किसी सदस्य की निरर्हता से संबंधित किसी विषय के बारे में कोई अधिकारिता नहीं होगी। किहोतो होलोहन बनाम जाचिल्हू वाद (1992)में उच्चतम न्यायालय ने यह मत अभिव्यक्त किया कि दल परिवर्तन रोकने वाली विधि को लागू करने और निर्वाचन करने में अध्यक्ष एक अधिकरण के रूप में कार्य करता है और उसके विनिश्चय का न्यायिक पुनर्विलोकन हो सकता है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 10वीं अनुसूची का पैरा 7 अवैध है। ऐसा होने का आधार यह है कि, उक्त पैरा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की न्यायिक पुनर्विलोकन की अधिकारिता छीनता है। अतएव 10वीं अनुसूची के अधीन निरर्हता के प्रश्न का विनिश्चय अध्यक्षता करने वाला अधिकारी करेगा। किन्तु विनिश्चय का न्यायिक पुनर्विलोकन हो सकता है।

राष्ट्रपति द्वारा निरर्हता का विनिश्चिय

अध्यक्षता करने वाला अधिकारी 10वीं अनुसूची के अधीन यह विनिश्चय करता है कि, कोई सदस्य 10वीं अनुसूची में उल्लिखित आधारों पर निरर्हित हो गया है या नहीं। किन्तु अन्य निरर्हताओं के बारे में यह प्रश्न राष्ट्रपति को निर्दिष्ट किया जाएगा। अनुच्छेद-103(2) में यह अधिकथित है कि, इस प्रश्न पर राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय लेगा और ऐसी राय के अनुसार कार्य करेगा।

स्थानों का रिक्त होना एवं सदस्यों की निरर्हताएँ

संसद का सदस्य निम्नलिखित दशाओं में अपना स्थान रिक्त करेगा-

दोहरी सदस्यता

- यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो वह एक या दूसरे सदन के स्थान को रिक्त करने के लिए संसद की विधि द्वारा विहित रीति से अपना स्थान रिक्त करेगा।
- इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति संसद या राज्य विधानमण्डल के किसी सदन के लिए निर्वाचित हो जाता है तो उसे राज्य विधानमण्डल के स्थान के लिए पद त्याग करना होगा। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों में विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर संसद में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा।
- ***निरर्हता***- यदि कोई व्यक्ति अनुच्छेद-102 में विनिर्दिष्ट निरर्हता से ग्रस्त हो जाता है तो उसका स्थान रिक्त हो जाएगा।
- ***पदत्याग***- कोई सदस्य, यथास्थिति, राज्यसभा के सभापति या लोकसभा के अध्यक्ष को सम्बोधित त्यागपत्र द्वारा अपना स्थान त्याग सकता है और ऐसा करने पर उसका स्थान रिक्त हो जाएगा।
- ***अनुमति के बिना अनुपस्थिति***- यदि कोई सदस्य सदन की अनुमति के बिना 60 दिन की अवधि से अधिक समय के लिए सदन के सभी अधिवेशनों से अनुपस्थित रहता है तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर सकता है।

सचेतक (Whip)

सचेतक क्या है?

प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का अपना सचेतक होता है, जिसे पार्टी द्वारा सहायक सदन नेता के रूप में नियुक्त किया जाता है।

अपनी पार्टी के सदस्यों की अधिक संख्या में उपस्थिति सुनिश्चित करना एवं किसी विशेष मुद्दे के पक्ष या विपक्ष में उनका समर्थन प्राप्त करना, उसका उत्तरदायित्व होता है।

सचेतक संसद में उनके व्यवहार का विनियमन एवं निगरानी करता है।

वह पार्टी के नेता का निर्णय सदस्यों को एवं पार्टी के सदस्यों की राय पार्टी के नेता तक पहुँचाता है।

सदस्यों से सचेतक द्वारा दिये गये निर्देशों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है। इसके अनुपालन में विफल रहने पर पार्टी की सदस्यता हेतु अयोग्यता या दल-बदल विरोधी कानून के अंतर्गत पार्टी से निष्कासन जैसी अनुशासनात्मक कार्रवाहियाँ की जा सकती हैं।

भारत में सचेतक के पद का उल्लेख न तो संविधान में, न ही सदन के नियमों में और न ही संसदीय कानून में किया गया है।

यह संसदीय सरकार के कन्वेंशन पर आधारित है। भारत में सचेतक की अवधारणा औपनिवेशिक ब्रिटिश शासन से ली गई थी।

संविधान के अनुच्छेद-77(3) के तहत, भारत सरकार (कार्य आवंटन) नियम, 1961 के अंतर्गत संसदीय मामलों के मंत्रालय को सौंपे गए कार्यों में से एक कार्य अखिल भारतीय सचेतक सम्मेलन का आयोजन करना है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-77 का खण्ड (3)(भारत सरकार कार्य आचरण) प्रावधान करता है कि 'राष्ट्रपति भारत सरकार के कार्यों को अधिक सुगमतापूर्वक किये जाने के लिए और मंत्रियों में इन कार्यों के आवंटन के लिए नियम बनाएगा।'

सचेतक का महत्त्व

ऐसा संभव है कि, संसद के सभी सदस्यों के दृष्टिकोण भिन्न हों, चाहे उनकी संबद्धता किसी भी पार्टी से हो (यहाँ तक कि ये दृष्टिकोण संबंधित पार्टी के नेतृत्व के दृष्टिकोण से भी भिन्न हो सकते हैं)। ऐसे मामले में, वह मतदान के समय पार्टी के दृष्टिकोण का उल्लंघन कर सकता/सकती है।

राज्यसभा

राज्यसभा, भारतीय संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है, यह राज्यों, जो कि भारत संघ की इकाइयाँ हैं, का प्रतिनिधित्व करती है। अमेरिकी सीनेट की तरह ही यह एक स्थायी सदन है। यह न तो कभी भंग होती है, और न ही कभी इसकी नए सिरे से रचना होती है। संविधान के अनुच्छेद-80 के अनुसार, इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या-250 हो सकती है, जिनमें 238 निर्वाचित होते हैं और 12 राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। मनोनीत सदस्य ऐसे सदस्य होंगे, जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला तथा समाज सेवा का विशेष या व्यवहारिक अनुभव प्राप्त हो। 238 निर्वाचित सदस्य राज्यों तथा केंद्र-शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि होते हैं। राज्यसभा में राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों की विधानसभाओं के लिए आवंटित स्थान को संविधान की चौथी अनुसूची में अंतर्विष्ट किया गया है।

निर्वाचन

राज्यसभा अप्रत्यक्ष रीति से लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, क्योंकि राज्यसभा के सदस्य राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा आनुपातिक पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा चुने जाते हैं। संघ के विभिन्न राज्यों को राज्यसभा में समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। भारत में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या ज्यादातर उसकी जनसंख्या पर निर्भर करती है। उत्तर प्रदेश से राज्यसभा में 31 सदस्य हैं, जबकि मणिपुर, मिजोरम, सिक्किम, त्रिपुरा आदि छोटे राज्यों का केवल एक-एक सदस्य हैं। अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूह, चंडीगढ, दादरा और नगर हवेली, दमन तथा दीव और लक्षद्वीप जैसे कुछ संघ-राज्य क्षेत्रों की जनसंख्या इतनी कम है, कि राज्यसभा में उनका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता।

संसद के सदनों से निरर्हित (Disqualified) होने के कारण

अनुच्छेद-102 के अनुसार, कोई व्यक्ति संसद के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा यदि वह निम्नलिखित अपेक्षाएं पूरी नहीं करता है–

- यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है। (ऐसे पद जिनको संसद द्वारा लाभ के पद से हटा दिया गया है, को धारित करने वाला व्यक्ति अयोग्य नहीं होगा)।
- यदि वह विकृतचित्त है और सक्षम न्यायालय द्वारा ऐसी घोषणा कर दी गयी है।
- यदि वह अनुमोदित दिवालिया है।
- यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति अनुरक्ति को अभिस्वीकार किए हुए है।
- यदि वह संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित कर दिया जाता है।

अनुच्छेद-102(2) के अनुसार, कोई व्यक्ति संसद के किसी सदन का सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा, यदि वह दसवीं अनुसूची के अधीन इस प्रकार निरर्हित हो जाता है। 10वीं अनुसूची में दल-बदल के आधार पर निरर्हता का उल्लेख किया गया है।

यदि संसद के किसी सदन के सदस्य के निरर्हता से ग्रस्त होने का प्रश्न हो तो राष्ट्रपति को यह विनिश्चिय करने के लिए निर्देशित किया जाएगा। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की सलाह के अनुसार कार्य करेगा और उसका विनिश्चय (निर्णय) अंतिम होगा (अनुच्छेद-103)।

अनुच्छेद-104 के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति जो संसद के किसी सदन में अनुच्छेद-99 की अपेक्षाओं का पालन करने से पहले या यह जानते हुए कि अर्हित नहीं है या उसकी सदस्यता से निरर्हत कर दिया गया है, उसमें बैठता है या मत देता है वो वह प्रतिदिन के लिए 500 रुपए के जुर्माने का भागी होगा।

लोकसभा और विधानसभा के लिए अनुपातिक प्रतिनिधित्व क्यों नहीं अपनाया गया?

लोकसभा के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति को नहीं अपनाने के कारणों को संविधान सभा में इस प्रकार स्पष्ट किया गया था-

- आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लिए व्यापक साक्षरता होनी चाहिए। हम यह मानकर चलते हैं कि, प्रत्येक मतदाता कम से कम इतना साक्षर होगा कि वह अंकों को पहचानता होगा और मत पत्र पर उन्हें लिख सकेगा, इस देश में साक्षरता की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह उपधारणा करना उचित नहीं होगा।
- संविधान में अधिकथित संसदीय शासन प्रणाली के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व उपयुक्त नहीं है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक दुष्परिणाम यह होता है कि विधानमण्डल बहुत से छोटे-छोटे समूहों में बंट जाता है। ब्रिटिश संसद ने 1910 में आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति स्वीकार करने के विषय में सलाह देने के लिए एक रॉयल कमीशन नियुक्त किया था। इस आयोग ने यह सिफारिश भी की थी किन्तु अन्ततोगत्वा संसद ने

यह कहा कि सिफारिश को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जाएगा कि, आनुपातिक प्रतिनिधित्व से स्थायी सरकार नहीं बन पाएगी। संसद छोटे-छोटे समूहों में विभाजित हो जाएगी; जैसे ही कोई ऐसी बात होती है, जिससे कोई गुट अप्रसन्न हो जाता है तो वह गुट सरकार से अपना समर्थन वापस ले लेगा। इसका परिणाम यह होगा कि कुछ गुटों का समर्थन वापस लिए जाने के कारण सरकार गिर जाएगी।

यह भी जाने

'मुझे इस बारे में बिल्कुल संदेह नहीं है कि, चाहे भावी सरकार जनता को राहत दे या नहीं, हमारी भावी सरकार को एक बात अवश्य करनी है, वे स्थायी सरकार दे और विधि और व्यवस्था बनाए रखें' -**डॉ. भीम राव अम्बेडकर**

कार्यकाल

लोकसभा की निर्धारित कार्यावधि 5 वर्ष की है, इसे राष्ट्रपति द्वारा समय से पूर्व भी भंग की जा सकती है। इसके विपरीत राज्यसभा, एक स्थायी निकाय है और उसे भंग नहीं किया जा सकता। राज्यसभा के प्रत्येक सदस्य की कार्यावधि छह वर्षों की होती है, तथा उसके सदस्यों में से यथासंभव एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दो वर्ष की समाप्ति पर सेवा निवृत्त हो जाते हैं। सदस्यों की पदावधि उस तिथि से आरंभ हो जाती है, जब भारत सरकार द्वारा सदस्यों के नाम राजपत्र में अधिसूचित किए जाते हैं। उप-राष्ट्रपति, जो संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। जबकि उप-सभापति पद के लिए राज्यसभा के सदस्यों द्वारा अपने में से किसी सदस्य को निर्वाचित किया जाता है।

योग्यताएँ

राज्यसभा की सदस्यता के लिए 30 वर्ष या इससे अधिक की आयु होना आवश्यक है तथा वह भारत का नागरिक हो। वर्ष-1951 के जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (RPA- Representation of People Act, 1951) के अनुसार, सभी राज्यों के लिए यह आवश्यक है कि, राज्यसभा के चुनाव में वही व्यक्ति भाग ले सकता है, जो वहाँ के संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक हो, (परंतु यह बाध्यता 2003 में समाप्त कर दी गई है, जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने 2006 में वैध ठहराया है) परंतु उसने भारत सरकार या किसी राज्य के अधीन लाभ का पद ग्रहण न किया हो। पागल, दिवालिया, विदेशी या गैर-नागरिक न हो, संसद के किसी कानून द्वारा अयोग्य घोषित न किया गया हो।

राज्यसभा के कार्य एवं शक्तियाँ

राज्यसभा एवं लोकसभा की तुलना में राज्यसभा को कम शक्तियाँ एवं कार्य प्राप्त हैं। फिर भी उसकी महत्ता को कम नहीं आँका जा सकता है, क्योंकि कोई भी गैर-धन विधेयक दोनों सदनों की स्वीकृति के बिना पारित नहीं किया जा सकता तथा दोनों सदनों में मतभेद की स्थिति में राष्ट्रपति को दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाकर निपटाने का अधिकार है तथा राज्यसभा सरकार पर नियंत्रण रखने के लिए स्थगन प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव व अन्य प्रस्ताव प्रस्तुत कर तथा आधे घंटे की बहस की माँग उठाकर सरकार पर अपना नियंत्रण रख सकती है, लेकिन मंत्रिमण्डल का विघटन नहीं कर सकती है। धन विधेयक, केवल लोकसभा में प्रस्तुत किया जा सकता है, राज्यसभा को 14 दिनों के भीतर अनिवार्य रूप से सुझाव के साथ या बिना सुझाव के पास करके लोकसभा के पास भेजना होता तथा सुझाव लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है, कि वह इन्हें माने या न माने।

राज्यसभा की उपयोगिता या प्रासंगिकता

हमारी संवैधानिक प्रणाली में राज्यसभा का स्थान उतना महत्त्व का नहीं है, जितना अमेरिका में सीनेट का है। साथ ही उसकी स्थिति उतनी अनुपयोगी भी नहीं है, जितनी आज ब्रिटेन के हाउस ऑफ लार्ड्स की है। धन विधेयक के विषय में निम्न सदन के विनिर्दिष्ट कृत्य हैं। उन विनिर्दिष्ट शक्तियों को छोड़कर, संविधान में दोनों सदनों को समान स्तर पर रखा गया है।

मंत्रियों के चयन के विषय में भी संविधान दोनों सदनों में कोई भेद नहीं करता है। वस्तुत: इतने वर्षों के काल में अनेक मंत्रिमण्डल स्तर के मंत्री राज्यसभा से थे। जैसे- गृह मंत्री, विधि मंत्री, रेल और यातायात मंत्री, उत्पादन, निर्माण, आवासन और प्रदाय मंत्री यहाँ तक कि प्रधानमंत्री भी। किन्तु मंत्री के रूप में ऐसे सदस्य का उत्तरदायित्व लोकसभा के प्रति होता है **[अनुच्छेद 75(3)]**।

लोकसभा की तुलना में राज्यसभा की सांविधिक स्थिति

लोकसभा की तुलना में राज्यसभा की शक्तियों पर कई मर्यादाएँ अधिरोपित करने वाले आपवादिक (Exceptional) उपबंध ये हैं-

- धन विधेयक राज्यसभा में पुर:स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार वित्तीय उपबंधों वाला विधेयक भी राज्यसभा में पुर:स्थापित नहीं किया जा सकता।
- राज्यसभा को यह शक्ति नहीं है कि, वह धन विधेयक को अस्वीकृत या संशोधित करे। धन विधेयक के संबंध में उसे केवल सिफारिशें करने की शक्ति है। लोकसभा चाहे तो उन्हें स्वीकार करे या न करे। यदि राज्यसभा 14 दिन के भीतर विधेयक नहीं लौटाती है या उसकी सिफारिशें लोकसभा स्वीकार नहीं करती है तो राज्यसभा की सहमति के बिना ही यह समझ लिया जाएगा कि विधेयक दोनों सदनों ने पारित कर दिया है।
- लोकसभा के अध्यक्ष को ही यह विनिश्चय करने की एकमात्र और निश्चायक शक्ति है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं।
- राज्यसभा को बहस करने की शक्ति है, किंतु उसे लोक व्यय के लिए धन देने के लिए मतदान की शक्ति नहीं है। अनुदान की मांगें राज्यसभा के मत के लिए प्रस्तुत नहीं की जाती हैं।
- मंत्रिपरिषद, लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है राज्यसभा के प्रति नहीं **[अनुच्छेद-75(3)]**।
- इसके अतिरिक्त, जब राष्ट्रपति दोनों सदनों के बीच गतिरोध दूर करने के लिए संयुक्त अधिवेशन आहूत करते हैं तो संख्या बल में कमी होने के कारण राज्यसभा अपेक्षतया निर्बल हो जाती है [अनुच्छेद-108(4)]।

राज्यसभा की विशिष्ट शक्तियाँ

राज्यसभा की कुछ विशेष शक्तियाँ हैं जो लोकसभा के पास नहीं हैं और इनसे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है, यह अन्तत: कहा जा सकता है कि राज्यसभा की इन विशेष शक्तियों का वर्णन करना उपयोगी होगा, जिसमें वह लोकसभा की भागीदारी नहीं है। यह निम्न हैं:-

- अनुच्छेद-249 के अनुसार, राज्यसभा अपने दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पास करके राज्य-सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व के आधार पर विधि बनाने का अधिकार संसद को दे सकती है। ऐसा प्रस्ताव एक वर्ष तक लागू रह सकता है, जिसे राज्यसभा बार-बार पास कर सकती है। प्रस्ताव पारित होने के बाद संसद सामान्य काल में राज्य-सूची के उस विषय पर कानून बना सकती है।
- अनुच्छेद-312 के अनुसार, यदि राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक या उपयोगी हो, तो दो-तिहाई बहुमत से पास प्रस्ताव के द्वारा राज्यसभा एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं का गठन कर सकती है।

- लोकसभा के भंग होने पर राज्यसभा ही राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकारों के प्रयोग पर लोकतांत्रिक नियंत्रण लगा सकती है।
- राज्यसभा, भारत के उपराष्ट्रपति के पदच्युत का प्रस्ताव प्रारंभ कर सकती है।

राज्यसभा के संगठन व कार्य प्रक्रिया की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वह न तो इंग्लैण्ड के 'हॉउस ऑफ लॉर्ड्स' की भाँति केवल दिखावटी सदन है, और न ही अमेरिका की सीनेट की भाँति शक्तिशाली उच्च सदन है। यह निचले सदन की मात्र धुँधली छाया भी नहीं है। पिछले कुछ वर्षो की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से स्वयं स्पष्ट है कि, अपने लिए एक आश्चर्यजनक भूमिका विकसित करने में यह सफल हुई है तथा बहस के एक शानदार एवं बुलंद मंच के रूप में अपने हाथ फैलाने की कोशिश कर रही है।

संसद के दोनों सदनों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि, लोकसभा, राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है। नि:संदेह राज्यसभा को संसद का उच्च व लोकसभा को निम्न सदन कहा जाता है, किंतु एक को अधिक और दूसरे को कम करके आँका नहीं जाना चाहिए, क्योंकि इससे 'प्रतिद्वंद्विता की कटु परंपरा' को प्रोत्साहन मिलता है, जबकि दोनों के मध्य सहयोग और सामंजस्य की परंपरा होनी चाहिए।

राज्यसभा की उपयोगिता निम्नलिखित आधारों पर है-

1. यह केन्द्र के अनावश्यक हस्तक्षेप के विरुद्ध राज्यों के हितों की रक्षा करके संघीय संतुलन को सामान्य रखती है।
2. राष्ट्रपति 12 ऐसे अनुभवी एवं पेशेगत लोगों को मनोनित करते हैं जो सीधे चुनाव का सामना नहीं कर सकते हैं।
3. लोकसभा द्वारा शीघ्रता से दोषपूर्ण एवं अविवेकपूर्ण रूप में बनाये गये विधान की समीक्षा और उस पर विचार के उपबंध के रूप में जांच उपाय है।

राज्यसभा की आवश्यकता पर बहस

राज्यसभा, संसद का उच्च सदन है। राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय मत पद्धति के द्वारा होता है, जिसमें सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से मतदान करते हैं। वर्तमान समय में राज्यसभा की कार्यप्रणाली तथा चुनाव को लेकर काफी विवाद रहा है। 80-90 के दशक में राज्यसभा की उपयोगिता पर यह कहकर प्रश्न चिह्न लगाया जाता था, कि यह संस्था चुनाव में हारे हुये राजनीतिज्ञों तथा वफादार नौकरशाहों की **शरणस्थली** है। इसमें सत्तारूढ़ दलों के पसंदीदा व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं। वर्तमान समय में राज्यसभा की चुनाव प्रणाली तथा चुने जाने वाले सदस्यों को लेकर विवाद है। राज्यसभा चुनाव में क्रॉसवोटिंग आम बात हो चुकी थी, जिससे राजनीतिक नैतिकता का ह्रास हो रहा था। जिसके फलस्वरूप राज्यसभा चुनाव में खुली मतदान प्रणाली को अपनाया गया तथा सोचा गया कि, अब क्रॉसवोटिंग पर रोक लगेगी, परंतु ऐसा नहीं हो सका। परंतु वर्तमान समय में राज्यसभा चुनाव की प्रक्रिया ने नये प्रश्नों को जन्म दिया है। अब राज्यसभा चुनाव में जीतने के लिए खुले आम पैसे का बोलबाला बढ़ता जा रहा है, जिनके पास पैसे हैं, वे आसानी से राज्यसभा की सदस्यता प्राप्त कर रहे हैं। क्योंकि वे छोटे राजनीतिक दलों और निर्दलीय उम्मीदवारों को प्रलोभन में ले ले रहे हैं। इसके अतिरिक्त आज नव-कॉर्पोरेट जगत अपनी प्रसिद्धि व दलों को प्रदान किये गये चन्दे के बल पर राज्यसभा की सदस्यता प्राप्त कर रहे हैं। अत: राज्यसभा जिस उद्देश्य से गठित की गयी थी, उस पर प्रश्न चिह्न लग रहा है।

राज्यसभा में राष्ट्रपति को 12 सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है। इन सदस्यों के मनोनयन का आधार साहित्य, कला, विज्ञान व समाज सेवा में विशेषज्ञता प्राप्त होनी चाहिए। यह चयन कार्यपालिका की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। परंतु अब अधिकांशत: कार्यपालिका इन सदस्यों का चयन दलीय विचारधारा के आधार पर करती है विशेषज्ञता या विधायन में मांग हेतु नहीं। अत: इस प्रावधान का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है।

साथ ही मनोनीत उपरोक्त 12 सदस्य विधायिका के कार्यो में रूचि नहीं लेते हैं। महत्त्वपूर्ण विधेयकों पर बहस के दौरान ये लोग अनुपस्थित रहते हैं; जैसा कि लता मंगेशकर, रेखा, तथा सचिन तेंदुलकर के संदर्भ में हुआ। अत: ये घटनाएँ राज्यसभा की उपयोगिता व प्रावधान पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

राज्यसभा के गठन का ध्येय यह था कि, योग्य तथा कुशल व्यक्ति बिना चुनावी झंझट के ही विधायिका में जा सकें तथा अच्छे विधि निर्माण में मदद कर सकें। परंतु वर्तमान चयन प्रक्रिया ने राज्यसभा की आवश्यकता पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है।

राज्यसभा के पक्ष में तर्क

उपरोक्त घटनाओं के बावजूद राज्यसभा का महत्त्व कम नहीं होता है। अब भी राज्यसभा महत्त्वपूर्ण कार्यों का केंद्र है तथा कई महत्त्वपूर्ण विधेयकों के संदर्भ में इसके सुझाव उपयोगी होते हैं। यह संस्था लोकसभा की कार्यवाहियों पर समीक्षक की तरह कार्य करती है। अब भी कई विशेषज्ञ इस सदन के माध्यम से अपनी विशेषज्ञता का लाभ विधि निर्माण हेतु प्रदान करते हैं। इस संस्था के माध्यम से विधायन के अंतर्गत कुछ हद तक नीतियों की निरंतरता बनी रहती है, क्योंकि इसका विघटन नहीं होता है। राज्यसभा में कुछ सदस्यों का चयन पूरी संस्था बेकार नहीं साबित हो जाती।

लोकसभा एवं राज्यसभा को संयुक्त रूप से प्राप्त शक्तियाँ

राज्यसभा को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो दिखाती है, कि राज्यसभा, लोकसभा के समान ही शक्तिशाली है:-

- ***संविधान संशोधन के संदर्भ में***- राज्यसभा को संवैधानिक संशोधनों के मामले में समान अधिकार प्राप्त हैं, क्योंकि संविधान के अनुसार, ऐसा विधेयक दोनों सदनों में विशेष बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए। यह विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, जिससे दोनों सदनों के मध्य गतिरोध होने पर राष्ट्रपति संसद की संयुक्त बैठक बुलाए।
- ***राष्ट्रपति के निर्वाचन एवं महाभियोग के संदर्भ में***- राज्यसभा को राष्ट्रपति के निर्वाचन व महाभियोग में लोकसभा के समान शक्तियाँ प्राप्त है। यह बात सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश व भारत के नियंत्रक व महालेखा परीक्षक जैसे उच्च पदाधिकारी को विशेष अभियोग द्वारा हटाने के बारे में भी लागू होती है।
- ***आपात उद्घोषणा***- राष्ट्रपति द्वारा संकटकालीन घोषणा को दोनों सदनों द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए। राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल में मौलिक अधिकारों को स्थगित करने वाले तथा वित्तीय आपातकाल में वित्तीय औचित्य के सिद्धांतों के निर्धारण संबंधी आदेशों की स्वीकृति के लिए संसद के दोनों सदनों का समर्थन जरूरी है। संकट के समय सैनिक, कानून, न्यायालयों की स्थापना के लिए राज्यसभा को, लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं।
- ***प्रतिवेदनों के संदर्भ में***- विभिन्न स्वायत्तशासी संस्थाओं, जैसे-संघ लोक सेवा आयोग, भारत के नियंत्रक व महालेखा परीक्षक, अल्पसंख्यक आयोग, वित्त आयोग आदि के प्रतिवेदन दोनों सदनों के सामने विचारार्थ रखे जाते हैं।
- ***लोकसेवा के संदर्भ में***- किसी विशेष सेवा को संघीय लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र से अलग करने वाले प्रस्ताव पर राज्यसभा व लोकसभा दोनों की अनुमति होनी चाहिए।
- ***अन्य शक्तियाँ***
  - उच्चतम न्यायालय एवं संघ लोकसेवा आयोग के न्याय क्षेत्र में विस्तार।
  - राष्ट्रपति द्वारा जारी **अध्यादेशों** की स्वीकृति
  - राज्यसभा उपराष्ट्रपति को अकेले हटाने की पहल कर सकती है।

उप-राष्ट्रपति को, उसे राज्सभा के विशेष बहुमत संकल्प को पारित कर और लोकसभा के सामान्य बहुमत की स्वीकृति द्वारा पद से हटाया जा सकता है।

- भारत की संचित निधि से व्यय के सदंर्भ में।
- सामान्य विधेयकों की पुन:स्थापन और उनको पारित करना

विशेष रूप से लोकसभा की शक्तियाँ एवं कार्य

भारतीय संसद के दोनों सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है, क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा के सदस्यों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिद्धांत है कि, कानून निर्माण और प्रशासन पर नियंत्रण की अंतिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है।

लोकसभा की बैठकें

संविधान के अनुसार, लोकसभा की बैठक वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य होनी चाहिए और उन बैठकों के मध्य 6 महीने से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिए। इसकी गणपूर्ति या कोरम सदन की कुल संख्या का 1/10 भाग है। स्पीकर इसकी अध्यक्षता करता है व उसकी अनुपस्थिति में डिप्टी स्पीकर कार्य करता है। 6 सदस्यों का एक पैनल भी बनाया जाता है, जो स्पीकर व डिप्टी स्पीकर की अनुपस्थिति में सदन की कार्यवाही का संचालन करता है।

विधायी शक्तियाँ

लोकसभा को भारतीय संविधान में विधायी शक्तियाँ (Legislative Power) प्राप्त है, जिसके अनुसार, भारतीय संसद संघीय- सूची, समवर्ती-सूची, अवशिष्ट विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य- सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। वित्तीय शक्तियों (Financial Power) के संबंध में लोकसभा अत्यंत शक्तिशाली है। इस संबंध में राज्यसभा की शक्ति गौण रखी गई है। अनुच्छेद- 109 के अनुसार, वित्त विधेयक, लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं।

कार्यपालिका संबंधी शक्तियाँ

लोकसभा, कार्यपालिका पर भी अंकुश लगाती है। केंद्रीय मंत्रिपरिषद (प्रधानमंत्री के नेतृत्व सहित) लोकसभा के प्रति सामूहिक तौर से उत्तरदायी होती है। सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ता है। यदि लोकसभा किसी सरकारी विधेयक या बजट को अस्वीकार कर देती है या सरकारी नीतियों को अस्वीकृत करती है या सरकार की नीतियों व कार्यक्रमों में सरकार की इच्छा के विपरीत संशोधन कर देती है, तो उसे सरकार के प्रति अविश्वास की अभिव्यक्ति माना जाएगा। सरकार पर अंकुश लगाने के लिए लोकसभा के सदस्यों को स्थगन प्रस्ताव, आधे घंटे की बहस की माँग और मंत्रालयों से संबंधित प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार है। ये सभी व्यवस्थाएँ विपक्षी दलों को सरकार की नीतियों व क्रियाकलापों की आलोचना करने का श्रेष्ठ अवसर प्रदान करती हैं।

निर्वाचन संबंधी शक्तियाँ

लोकसभा अन्य विविध कार्य भी संपन्न करती हैं। यह राज्यसभा के साथ राष्ट्रपति के निर्वाचन व उसकी पदच्युति में समान अधिकार रखती हैं। लोकसभा अपने अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है व उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर सकती है। राज्यसभा के समान लोकसभा को सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों व अन्य न्यायाधीशों, भारत का नियंत्रक व महालेखा परीक्षक, मुख्य चुनाव आयुक्त आदि अधिकारियों को पदच्युत करने की शक्ति प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त राज्यसभा की भाँति यह स्वायत्तशासी संस्थाओं, जैसे-संघ लोक सेवा आयोग, भारत का नियंत्रक व महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, भाषा आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग आदि द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार करती है।

लोकसभा के विघटन के पश्चात लंबित विधेयकों का भविष्य

- लोकसभा के विघटन का आशय, लोकसभा के अंत से होता है। विघटन के पश्चात् नयी लोकसभा चुनी जाती है। लोकसभा का विघटन, राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है।
- अनुच्छेद-107 के अनुसार, यदि विधेयक राज्यसभा द्वारा पारित है और लोकसभा में लंबित है, तो लोकसभा के विघटन के पश्चात व्यपगत नहीं होगा।
- यदि कोई विधेयक लोकसभा में लंबित है और लोकसभा विघटित हो जाये, तो वह विधेयक समाप्त मान लिया जायेगा।
- यदि कोई विधेयक, लोकसभा ने पारित कर दिया हो तथा लोकसभा के विघटन के समय राज्यसभा में लंबित हो, तो वह समाप्त मान लिया जायेगा।

लोकसभा के विघटन के पश्चात दो प्रकार के विधेयकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा

1. यदि कोई विधेयक राज्यसभा में ही प्रस्तुत हो तथा राज्यसभा में लंबित हो।
2. यदि राष्ट्रपति ने सदन की संयुक्त बैठक को आहूत किया हो, तो लोकसभा के विघटन के पश्चात भी संयुक्त बैठक होगी, जिसमें विधेयक पर विचार किया जायेगा।
3. ऐसे विधेयक, जिसे दोनों सदनों ने पारित करके राष्ट्रपति के समक्ष भेज दिया हो, लेकिन राष्ट्रपति ने उसे अनुमति नहीं प्रदान किया हो।

संसद के अधिकारी

संसद के प्रत्येक सदन का अपना सभापतित्व रखने वाला अधिकारी और सचिव तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। संविधान के **अनुच्छेद-89** के अनुसार, उप-राष्ट्रपति राज्यसभा का **पदेन-सभापति** होगा। सभापति को साधारणतया मत देने का अधिकार नहीं होता है, क्योंकि वह राज्यसभा का सदस्य नहीं होता है बल्कि उसे यह पद भारत का उप-राष्ट्रपति होने के कारण प्राप्त होता है। परंतु यदि किसी विषय पर पक्ष तथा विपक्ष में डाले गये मतों की गणना एक समान हो तो राज्यसभा के **सभापति को निर्णायक मत** डालने का अधिकार होता है। राज्यसभा का सभापति वे सभी कार्य करता है, जो **लोकसभा का अध्यक्ष** करता है। अंतर इतना ही है कि लोकसभा के अध्यक्ष को संविधान ने कुछ विशेष शक्तियाँ दी है। उदाहरण के लिए, धन विधेयक को प्रमाणित करना या दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का पीठासीन अधिकारी होना। राज्यसभा अपने सदस्यों में से किसी एक सदस्य को उप-सभापति निर्वाचित करती है।

लोकसभा अध्यक्ष की निष्पक्षता

चर्चा में क्यों?

ऐसे अनेक उदाहरण सामने आए हैं, जब अपने दायित्वों के निर्वहन के क्रम में लोकसभा अध्यक्ष की निष्पक्षता पर प्रश्न उठाए गए हैं।

संवैधानिक प्रावधान क्या है?

लोकसभा अध्यक्ष के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को 'प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियम' में निर्धारित किया गया है। इन नियमों के निर्माण हेतु संसद के प्रत्येक सदन को संविधान के अनुच्छेद-118 के अंतर्गत अधिकार प्राप्त हैं।

लोकसभा अध्यक्ष की निष्पक्षता और स्वतंत्रता
लोकसभा अध्यक्ष के वेतन और भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं।
लोकसभा अध्यक्ष को कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान की जाती है और वह सदन के भंग होने के पश्चात् भी अपने पद पर बना रहता है अर्थात् जब तक नया अध्यक्ष न चुन लिया जाए या उसे सदन के पूर्ण बहुमत (सदन की कुल सदस्य संख्या का 50 प्रतिशत से अधिक) द्वारा पारित प्रस्ताव द्वारा न हटा दिया जाए।
सदन में अध्यक्ष के कार्य एवं आचरण के संबंध में चर्चा नहीं की जा सकती, जब तक कि इससे संबंधित कोई प्रस्ताव पारित न किया जाए।
प्रक्रिया तथा कार्य संचालन संबंधी नियम उसे "अवशिष्ट शक्तियाँ" प्रदान करते हैं।
उसे नियमों की अंतिम व्याख्या का अधिकार प्राप्त होता है और उसके कार्य संबंधी विनियम किसी न्यायालय के न्यायाधिकार क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आते हैं।
वह विधेयकों, प्रस्तावों पर प्रथमतः मतदान नहीं करता है। परन्तु मतों के बराबर होने की स्थिति में वह निर्णायक मत देता है।

लोकसभा अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष

संविधान के अनुच्छेद-93 के अनुसार, लोकसभा चुनाव के पश्चात् अपने पहले अधिवेशन में ही दो सदस्यों को अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के रूप में चुनती है। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सदन के उस कार्यकाल के जीवनपर्यंत अपने पद पर ही बना रहता है किंतु उसका पद निम्नलिखित रूप से इसके पहले भी समाप्त किया जा सकता है, जैसा कि संविधान का **अनुच्छेद-94** में प्रावधान है:-

- उसके सदन के सदस्य न रहने पर।
- यदि वह अध्यक्ष है तो उपाध्यक्ष को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित पद त्याग करने पर (उपाध्यक्ष की स्थिति में अध्यक्ष को)।
- लोकसभा सदस्यों द्वारा बहुमत से पारित प्रस्ताव (परंतु इस संकल्प को प्रस्तावित करने से कम-से-कम चौदह दिन के पूर्व सूचना देना अपरिहार्य) द्वारा उसे अपने पद से हटाये जाने पर।

परंतु जब कभी लोकसभा का विघटन किया जाता है तो विघटन के पश्चात् होने वाले लोकसभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त नहीं करेगा।

जब अध्यक्ष को हटाये जाने की कार्यवाही होती है, तो वह अध्यक्षता नहीं कर सकता है परंतु उसे लोकसभा में बोलने तथा कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार होता है। उसे प्रथमतया मतदान करने का अधिकार होता है, परंतु मत बराबर होने की दशा में मतदान करने का अधिकार नहीं होता है।

अध्यक्ष की भांति ही उपाध्यक्ष का चुनाव भी लोकसभा के सदस्य द्वारा ही होता है। उपाध्यक्ष तब तक अपने पद पर बना रहता है, जब तक कि वह सदन का सदस्य रहता है तथा वह स्वयं इस्तीफा नहीं दे देता है अथवा सदन में बहुमत से पारित एक प्रस्ताव के द्वारा उसे हटा नहीं दिया जाता। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष सदन की कार्यवाही की अध्यक्षता करता है और कार्यवाही के नियमानुसार अध्यक्ष के सभी अधिकारों का उपयोग करता है। अध्यक्ष के विपरीत उपाध्यक्ष को सदन में एक सदस्य की हैसियत से बोलने, सदन की कार्यवाही में भाग लेने और किसी भी मुद्दे पर मतदान करने का अधिकार देता है लेकिन उपाध्यक्ष यह सब कुछ उसी स्थिति में कर सकता है, जबकि अध्यक्ष सदन की अध्यक्षता कर रहा हो।

अध्यक्ष की शक्तियाँ एवं कार्य

लोकसभा के अध्यक्ष का पद सदन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, परम्परागत एवं औपचारिक पद है। अध्यक्ष लोकसभा का सर्वोच्च प्राधिकार प्राप्त अधिकारी होता है, जोकि उसकी अनन्य निष्पक्षता पर आधारित होता है। अध्यक्ष की अधिकांश शक्तियों एवं कार्यों का उल्लेख संविधान के अंतर्गत किया गया है, जबकि कुछ मामलों में उसे अपने विवेकानुसार कार्य करना पड़ता है। उसकी प्रमुख शक्तियाँ एवं कार्य निम्नलिखित हैं:-

- अध्यक्ष का सर्वप्रथम एवं सर्वप्रमुख कार्य लोकसभा की अध्यक्षता करना और उसकी कार्यवाही का संचालन करना है।
- कोई विधेयक 'धन विधेयक' है अथवा नहीं, इसका निर्धारण भी अध्यक्ष ही करता है एवं उसका निर्णय अंतिम होता है।
- किसी विधेयक के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों के मध्य विवाद की स्थिति उत्पन्न होने पर आहूत दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता भी लोकसभा का अध्यक्ष ही करता है।
- अध्यक्ष विधेयकों एवं संकल्पों के संबंध में रखे गये संशोधनों में से कुछ को लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु चयनित कर सकता है और ऐसे किसी भी संशोधन को लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत करने से इंकार कर सकता है, जो उसके विचार में तुच्छ अथवा नगण्य हों।
- सदन में किसी विषय पर बराबर मत रहने पर वह अपना निर्णायक मत (Casting Vote) दे सकता है।
- संसद की समस्त समितियों पर सर्वोच्च नियंत्रण अध्यक्ष का ही होता है। वही विभिन्न समितियों के अध्यक्षों/ सभापतियों की नियुक्ति करता है और उनके कार्यों के संगठन अथवा उनके द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के लिए ऐसे दिशा-निर्देश प्रेषित कर सकता है, जो वह आवश्यक समझे। कोई भी समिति अध्यक्ष की पूर्वानुमति के बिना न तो संसद भवन से बाहर अपनी बैठक का आयोजन कर सकती है और न ही सरकार के अधिकारियों को गवाही के लिए बुला सकती है।
- लोकसभा अथवा उससे सम्बन्धित मामलों से संविधान अथवा नियमों की व्याख्या करने का अधिकार, समाचार-पत्रों में वाद-विवाद का केंद्र नहीं बनाया जा सकता।
- वह सदन की कार्यवाहियों के सम्बन्ध में समय-समय पर राष्ट्रपति को सूचना देता रहता है, जिससे राष्ट्रपति एवं संसद के मध्य सामंजस्य बना रहता है।
- दल-बदल सम्बन्धी मामलों का निर्धारण तथा सदस्यों की योग्यता अथवा अयोग्यता का निर्धारण अध्यक्ष ही करता है।

अतः लोकसभा अध्यक्ष का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा सम्मानयुक्त है। अध्यक्ष सदस्यों के व्यक्तिगत तथा दल या गुटों के आधार पर प्राप्त अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का रक्षक होता है। अध्यक्ष सदन की शक्तियों, कार्यों तथा सम्मान का प्रतीक है।

संसद का सत्र

राष्ट्रपति के पास दोनों सदनों को आहूत करने की, सत्रावसान और लोकसभा का विघटन करने की शक्ति है। संसद के सत्र को आहूत करने के बारे में संविधान ने राष्ट्रपति पर **अनुच्छेद-85 (1)** के द्वारा एक कर्तव्य अधिरोपित किया है कि, वह दोनों सदनों को ऐसे अंतराल पर आहूत करेगा कि एक सत्र की अंतिम बैठक और उसके बाद के सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियत तारीख के बीच 6 माह से अधिक का अंतराल नहीं होगा।

संसद के संदर्भ में सत्रावसान, विघटन एवं स्थगन से अलग-अलग अभिप्राय लिया जाता है। संसद के प्रथम अधिवेशन और उसके सत्रावसान या विघटन के बीच की अवधि को **'सत्र'** कहा जाता है। **'दीर्घावकाश'** संसद के सत्रावसान होने और नए सत्र में उसके समवेत होने के बीच के समय को कहते हैं। सदन की बैठक विघटन, सत्रावसान या स्थगन द्वारा समाप्त की जा सकती है।

के विघटन के संदर्भ में यह प्रावधान है कि केवल लोकसभा का ही विघटन हो सकता है। राज्यसभा एक स्थायी सदन है अतः इसका विघटन नहीं हो सकता है। विघटन दो प्रकार से होता है-

1. समय व्यतीत हो जाने पर अर्थात् 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति पर या आपात की उद्घोषणा के दौरान विस्तारित अवधि की समाप्ति पर।
2. राष्ट्रपति द्वारा **अनुच्छेद-85(2)** के अधीन शक्ति के प्रयोग द्वारा।

राष्ट्रपति विघटन और सत्रावसान की शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार करता है। लोकसभा और राज्यसभा की दैनिक बैठकों को स्थगित करने की शक्ति क्रमशः लोकसभा के अध्यक्ष और राज्यसभा के सभापति को है। विघटन से लोकसभा का अंत हो जाता है। सत्रावसान से केवल सत्र की समाप्ति होती है। स्थगन से संसद के सत्र की विधिमान्यता का अंत नहीं होता केवल विनिर्दिष्ट समय के लिए कामकाज का आगे चलना स्थगित हो जाता है। स्थगन घंटे, दिन या सप्ताह के लिए हो सकता है। विघटन से विद्यमान लोकसभा के जीवनकाल का अंत हो जाता है, जिससे सदन के समक्ष लम्बित सभी विषय विघटन पर समाप्त हो जाते हैं। यदि इन विषयों को आगे बढ़ाना है तो उन्हें नए निर्वाचन के पश्चात् आगामी सदन में पुनः रखना होगा। इस लम्बित कामकाज के अंतर्गत न केवल सूचना प्रस्ताव आदि आते हैं बल्कि विधेयक भी आते हैं, वे विधेयक भी जो राज्यसभा में प्रारंभ हुए थे और लोकसभा को भेजे गए थे तथा वे विधेयक भी जो लोकसभा में प्रारंभ हुए थे और राज्यसभा को भेजे गए थे और विघटन की तारीख को राज्यसभा में लम्बित थे, किंतु ऐसा विधेयक जो राज्यसभा में लम्बित है किंतु लोकसभा द्वारा पारित नहीं किया गया है, विघटन पर समाप्त नहीं होगा। सदनों की संयुक्त बैठक आहूत करने के आशय की राष्ट्रपति की अधिसूचना के पश्चात् यदि लोकसभा का विघटन बीच में हो जाता है तो दोनों सदनों की संयुक्त बैठक पर इसका प्रभाव नहीं होगा, अनुच्छेद- **[108(5)]**।

संसदीय सत्र

संसदीय सत्र की परम्परा क्या है?

परम्परा के अनुसार, एक वर्ष में संसद के तीन सत्रों का आयोजन किया जाता है। वर्ष के आरम्भ में आयोजित होने वाला बजट सत्र, तीन सप्ताह का मानसून सत्र (जुलाई-अगस्त) और शीतकालीन सत्र (नवंबर-दिसंबर)।

प्रत्येक सत्र के आयोजन की तिथियों को कम से कम 15 दिन पूर्व घोषित किया जाता है ताकि सदस्यों को अपने प्रश्न प्रस्तुत करने और इन पर संसदीय कार्यवाहियों हेतु नोटिस देने का समय मिल सके।

संविधान में विशिष्ट रूप से ऐसा कोई उपबंध नहीं किया गया है, जिसमें बताया गया हो कि संसद की बैठक कब या कितने दिनों में होनी चाहिए। हालांकि, संविधान के अनुच्छेद-85 में उपबंध है कि दो संसदीय सत्रों के मध्य छः महीने से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिए। यही राज्य विधायिकाओं पर भी लागू होता है।

राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करते हुए संसद के सत्र को "ऐसे समय और स्थान पर आहूत कर सकता है, जिसे वह उचित समझे"। अतः संसद के सत्र को आहूत करना सरकार पर निर्भर होता है।

व्यवधानों के कारण होने वाले स्थगनों सहित, विभिन्न कारणों के चलते संसद की बैठकें 120 दिन प्रतिवर्ष से घटकर 65-70 दिन प्रतिवर्ष हो गयी हैं।

राज्य विधानसभाओं की कार्यप्रणाली भी एक गंभीर स्थिति प्रदर्शित करती है। पिछले पाँच वर्षों में 20 विधानसभाओं के आंकड़े इंगित करते हैं कि उनकी एक वर्ष में औसतन मात्र 29 दिनों के लिए ही बैठकें हुई।

लेम-डक सत्र

यह नयी लोकसभा के गठन से पूर्व वर्तमान लोकसभा का अंतिम सत्र होता है। वर्तमान लोकसभा के वे सदस्य, जो नयी लोकसभा हेतु निर्वाचित नहीं हो पाते, 'लेम-डक' कहलाते हैं। इसे लंगड़ी बत्तख भी कहते है।

संसद का विघटन

लोकसभा के कार्यकाल की समाप्ति के पश्चात् अथवा किसी समय लोकसभा में सरकार का बहुमत समाप्त हो जाने और किसी भी दल के पास स्पष्ट बहुमत के नहीं होने पर राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा का विघटन कर दिया जाता है। विघटन से लोकसभा का जीवनकाल समाप्त हो जाता है और पुनः चुनाव द्वारा नयी लोकसभा का गठन किया जाता है।

संसद का सत्रावसान

संसद के दोनों सदनों के लिए एक सत्र से दूसरे सत्र के बीच के अवकाश के समय को सत्रावसान कहा जाता है, जिसकी घोषणा राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

सत्रावसान क्यों

सत्रावसान का प्रावधान इसलिए किया गया है कि, इस समय जनता के प्रतिनिधि अपने चुनाव क्षेत्र में जाकर लोगों की समस्याओं का समाधान कर सकें। सत्रावसान से सदन की विधिमान्यता समाप्त नहीं होती और अगले सत्र में सदन यथावत कार्य करता है।

संसद का स्थगन

संसद सत्र के समय यदि संसद की कार्य प्रणाली सुचारू रूप से नहीं चल पा रही है तो लोकसभा अध्यक्ष द्वारा लोकसभा तथा राज्यसभा के सभापति द्वारा राज्यसभा के कार्यकाल को कुछ समय तक रोक दिया जाता है। इसे संसद का स्थगन कहते हैं। यह सदन की विधिमान्यता को समाप्त नहीं करती है। संसद का स्थगन दो प्रकार से हो सकता है–

- ***निश्चित कालीन स्थगन***- जब सदन को किसी निश्चित अवधि तक, कुछ घंटों अथवा कुछ दिनों के लिए स्थगित किया जाता है तो इसे निश्चित कालीन स्थगन कहते हैं।
- ***अनिश्चित कालीन स्थगन***- जब सदन को इस प्रकार स्थगित किया जाता है कि अगले अधिवेशन के लिए कोई सीमा निश्चित न हो तो यह अनिश्चित कालीन स्थगन कहलाता है।

विधेयक	वर्ष	प्रधानमंत्री
दहेज प्रतिषेध विधेयक, 1959	1961	जवाहर लाल नेहरू
बैंकिंग सेवा आयोग (निरसन), विधेयक	1978	मोरारजी देसाई
आतंकवाद निरोधक अध्यादेश, 2002	2002	अटल बिहारी वाजपेयी

संसद की संयुक्त बैठक

संविधान के **अनुच्छेद-108** के अनुसार, राष्ट्रपति को संसद के दोनों सदनों (राज्यसभा एवं लोकसभा) की संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार है। संसद की संयुक्त बैठक उन्हीं परिस्थितियों में बुलायी जा सकती है; यदि–

- एक सदन द्वारा पारित विधेयक दूसरे सदन द्वारा अस्वीकार कर दिया जाए।
- विधेयक में किए जाने वाले संशोधनों के बारे में दोनों सदन अंतिम रूप से असहमत हो गए हों।
- दूसरे सदन को विधेयक प्राप्त होने की तारीख से उसके द्वारा विधेयक पारित किए बिना छः माह से अधिक समय बीत गया हो।

इस प्रकार की संयुक्त बैठकों की अध्यक्षता लोकसभा के स्पीकर द्वारा की जाती है तथा सभी निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से लिए जाते हैं। संविधान के लागू होने से अभी तक केवल तीन बार दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आहूत किया गया (1961, 1978 एवं 2002 में)। मार्च 2002 में पोटा (आतंकवाद निरोधक अधिनियम) विधेयक को पारित करने के लिए दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया गया।

निम्नलिखित विषयों पर संसद की संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं है:–

- धन विधेयक के संदर्भ में।
- संविधान संशोधन विधेयक के संदर्भ में।

संसदीय विशेषाधिकार

संसद भारतीय लोकतंत्र का सर्वोच्च निकाय है जिसके सुचारू रूप से कार्य करने के लिए संसद के दोनों सदनों का संविधान के अधीन कुछ विशेषाधिकार हैं। प्रत्येक सदन के विशेषाधिकारों को निम्नलिखित दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है:

1. संसद सदस्यों के विशेषाधिकार।
2. सदन के सामूहिक विशेषाधिकार।

क्या आप जानते हैं?

विशेषाधिकारों के स्रोत- मूलत: इसे ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स से लिया गया है। सभी विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध करने के लिए कोई कानून नहीं है। ये पांच विभिन्न स्रोतों पर आधारित हैं, संवैधानिक प्रावधान, संसद के विभिन्न कानून, दोनों सदनों के नियम, संसदीय सम्मेलन और न्यायिक निर्वचन।

संसद सदस्यों के विशेषाधिकार

हर सदस्य द्वारा व्यक्तिगत रूप से उपभोग किए जाने वाले विशेषाधिकारों को निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है–

- ***गिरफ्तारी से उन्मुक्ति–*** 1976 के अधिनियम-104 के द्वारा यथा संशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 135-क के अंतर्गत सदस्यों को सदन या उसकी किसी समिति के जिसका वह सदस्य है, अधिवेशन के चलते रहने के दौरान या सदनों या समितियों की संयुक्त बैठक के दौरान तथा अधिवेशन या बैठक से पूर्व या पश्चात् 40 दिन की अवधि के दौरान गिरफ्तारी से छूट देती है। यह उन्मुक्ति सिविल मामलों में गिरफ्तारी तक ही सीमित है। आपराधिक मामलों में या निवारक निरोध की विधि के अधीन गिरफ्तारी में नहीं है।
- ***साक्षी के रूप में हाजिरी से मुक्ति–*** इंग्लैंड के संविधान के अनुसार, जब संसद सत्र में हो तब सदन की अनुमति के बिना किसी सदस्य को साक्ष्य देने के लिए सम्मन नहीं दिया जा सकता।
- ***वाक्-स्वातंत्र्य–*** प्रत्येक सदन की चहारदीवारी में वाक्-स्वतंत्रता होगी। इसका यह अर्थ है कि वहाँ कही गई किसी बात के लिए कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती। सामान्य नागरिक का वाक्-स्वतंत्रता अनुच्छेद-19(1)(ए) में विनिर्दिष्ट निर्बंधनों के अधीन है, उदाहरण के लिए मानहानि से संबंधित विधि के अधीन। सदस्य को संसद या उसकी समिति में कही गई किसी बात के लिए न्यायालय में उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

सदन के सामूहिक विशेषाधिकार

इसके अन्तर्गत संसद को निम्न अधिकार प्राप्त हैं-

- चर्चा और कार्यवाहियाँ प्रकाशित करने और अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित करने से रोकने का अधिकार,
- अन्य व्यक्तियों को अपवर्जित करने का अधिकार।
- सदन के आंतरिक मामलों को विनियमित करने का और चारदीवारी के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों को निपटाने का अधिकार।
- संसदीय कदाचार को प्रकाशित करने का अधिकार।
- सदस्यों को और बाहरी व्यक्तियों को सदन के विशेषाधिकारों को भंग करने के लिए दंडित करने का अधिकार आदि।

ये सदन के सामूहिक विशेषाधिकार हैं, जिनका अतिक्रमण संसद की अवमानना माना जाता है और संसद इसके लिए किसी भी व्यक्ति को दण्ड दे सकती है। अवमानना के संदर्भ में सदन की दण्ड देने की शक्ति पर न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है।

विशेषाधिकारों के संबंध में मतभेद

भारत में न्यायालयों ने यह बात मानी है कि, किसी विशेष मामले में विशेषाधिकार भंग हुआ है, या नहीं। इस प्रश्न का फैसला करने का अधिकार केवल संसद या राज्य विधानमण्डल को है। यह भी निर्णय दिया गया है कि, अवमानना करने के कारण दंड देने की सदन की शक्ति वैसी ही है, जैसे कि 'हॉउस ऑफ कॉमन्स' की है। उस शक्ति के प्रयोग की छानबीन करने के लिए न्यायालय अक्षम होगा। संसद, विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध कर सकती है। संविधान के अनुच्छेद-105(3) में निर्धारित है कि संविधान में उल्लिखित विशेषाधिकारों के अलावा, संसद विधि द्वारा अपने विशेषाधिकारों को समय-समय पर परिभाषित कर सकती है, परंतु इस उपबंध के अनुसरण में, प्रत्येक सदन की और उसके सदस्यों की समितियों की शक्तियों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों को परिभाषित करने के लिए संसद द्वारा अब तक कोई विधि नहीं बनाई गई है। वास्तव में, संसद का एक महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार यह है, कि विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध न किया जाए, वे वैसे ही अपरिभाषित रहने चाहिए, जैसे कि आज हैं, और जैसे कि वे सदा रहे हैं।

जहाँ तक इस संवैधानिक उपबंध का (अर्थात् 'जब तक संसद द्वारा, विधि द्वारा परिभाषित न किया जाए') और संसदीय विशेषाधिकारों की परिभाषा करने या उन्हें संहिताबद्ध करने के प्रश्न का संबंध है, इस बारे में मतभेद हैं।

संसद की शक्तियाँ

संसद को अपना कार्य निर्बाध रूप से चलाने के लिए कई शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। संसद के प्रत्येक सदन को निम्नलिखित शक्तियाँ प्राप्त हैं-

- ***अन्य व्यक्तियों को किसी भी समय दीर्घा से हटाने की शक्ति***- प्रक्रिया के नियमों के अधीन अध्यक्ष और सभापति को यह अधिकार है कि अजनबियों को सदन के किसी भाग से बाहर चले जाने का आदेश दे।
- ***अपने आंतरिक मामलों का विनियमन करने की शक्ति***- संसद के प्रत्येक सदन को यह शक्ति है कि, वह अपनी कार्यवाहियों को नियंत्रित और विनियमित करे और चारदीवारी के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों का न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना विनिश्चय करे। संसद की चारदीवारी के भीतर जो कहा या किया जाता है, उसके बारे में कोई भी न्यायालय जाँच नहीं कर सकता है।
- ***सदस्यों और बाहरी व्यक्तियों को सदन के विशेषाधिकारों को भंग करने के लिए दंडित करने की शक्ति***- प्रत्येक सदन विशेषाधिकारों के भंग या अवमानना के लिए दंड दे सकता है। यह दंड भर्त्सना, दंड या अवमानना के रूप में हो सकता है। ब्लिट्ज के विख्यात मामले में उस समाचार-पत्र के संपादक को लोकसभा में बुलाया गया और संसद के सदस्य की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल लेख प्रकाशित करने के लिए दंड दिया गया। 1990 में एक पूर्व मंत्री श्री के. के. तिवारी को राज्यसभा ने इसी प्रकार का दंड दिया था।

संसद में विधायी प्रक्रिया

भारतीय संविधान ने वैधानिक विधि के लिए कुछ व्यवस्थाएं निश्चित की हुई हैं। इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त वैधानिक प्रक्रिया के विषय में विस्तृत विवरण लोकसभा और राज्यसभा के विधिनियमों में अंकित हैं।

विधि निर्माण की प्रक्रिया

संसद का महत्त्वपूर्ण कार्य कानून बनाना है। इसके लिए सभी प्रस्ताव विधेयकों के रूप में संसद के सामने आने चाहिए। विधेयकों की विषय-वस्तु के आधार पर इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

- मूल विधेयक, जिसमें प्रस्तावों, विचारों और नीतियों संबंधी उपबंध होते हैं।
- संशोधन विधेयक, जिसका उद्देश्य वर्तमान अधिनियमों में रूपभेद करना या संशोधन करना होता है।
- विधेयक, जिसका आशय किसी एक विषय पर वर्तमान विधियों को समेकित करना होता है।
- ऐसे विधेयक, जिसका उद्देश्य व्यपगत होने वाले अधिनियमों को जारी रखना होता है।
- ऐसे विधेयक, जो राष्ट्रपति द्वारा जारी किए जाने वाले अध्यादेशों का स्थान लेते हैं।
- संविधान संशोधन विधेयक।

प्रक्रिया के आधार पर विधेयकों का वर्गीकरण

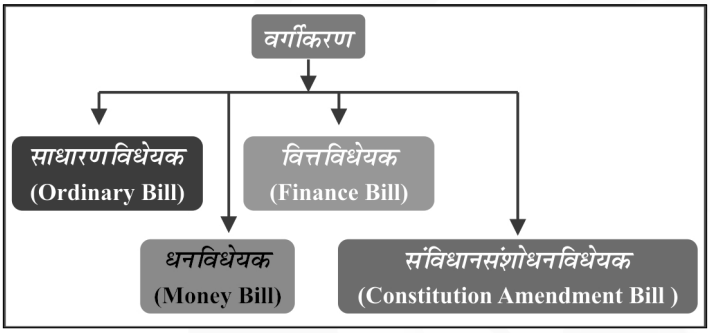

विधेयकों का वर्गीकरण

विधेयकों को मुख्यतः दो प्रकार से देखा जाता है- सरकारी विधेयक और गैर- सरकारी विधेयक।

1. ***सरकारी विधेयक***- ये विधेयक मंत्रियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।
2. ***गैर-सरकारी विधेयक***- ये विधेयक गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा शुक्रवार के दिन प्रस्तुत किये जाते हैं।

लोगों के प्रतिनिधियों को लोक महत्त्व के विभिन्न मामलों पर अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्रदान करने और सरकार को कार्यक्रम और नीतियों के निर्माण करने के लिए राजी करने की दृष्टि से संसद के नियमों एवं प्रक्रियाओं में गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा भी विधेयक की शुरूआत करने का उपबंध किया गया है। गैर सरकारी सदस्यों द्वारा लाए जाने वाले विधेयकों पर चर्चा करने से सदन को समस्याओं को समझने का और उनके सभी पहलुओं पर विचार करने का अवसर मिलता है। इससे एक लाभ यह होता है कि सरकार यदि आवश्यक समझे तो उस विषय पर व्यापक विधेयक स्वयं ला सकती है। गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों के लिए नियत दिन को पेश किए जाने वाले सभी विधेयक उस दिन की गैर-सरकारी सदस्यों की कार्य-सूची में सम्मिलित किए जाते हैं। गत वर्षों में आज तक लोकसभा एवं राज्यसभा में 14 गैर-सरकारी विधेयक पारित हो सके हैं।

नोट- *विधि निर्माण प्रकिया के अंतर्गत प्रत्येक विधेयक को कानून बनाने से पूर्व प्रत्येक सदन में पांच स्थितियों से गुजरना पड़ता है। इसके तीन वाचन होते हैं।*

साधारण विधेयक

संसद की विधायी प्रक्रिया में साधारण विधेयक को पास करने की वैधानिक विधि इस प्रकार है-

विधेयक प्रस्तुत करना

- ***प्रथम वाचन***- संविधान के अनुच्छेद- 107(1) के अनुसार, धन या वित्तीय विधेयक से भिन्न साधारण विधेयक किसी भी सदस्य द्वारा किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। जो सदस्य विधेयक प्रस्तुत करता है, उसको एक मास की अग्रिम सूचना सदन के अध्यक्ष या सभापति को देनी पड़ती है। ऐसी सूचना के साथ ही विधेयक को पेश करने के कारण, विधेयक का उद्देश्य एवं विधेयक पर आने वाले व्यय का विवरण आदि वर्णित करना आवश्यक है। इसके बाद अध्यक्ष विधेयक को पेश करने की तिथि निश्चित करता है। निश्चित तिथि के अनुसार विधेयक को पेश किया जाता है। विधेयक पेश करना एक औपचारिकता होती है तथा प्रथा के अनुसार, इस अवस्था में विधेयक पर चर्चा नहीं की जाती है। एक दिन में कितने ही विधेयक पेश किये जा सकते हैं। जब विधेयक सदन में पेश हो जाता है तो उसे भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है।
- ***द्वितीय वाचन***- द्वितीय वाचन में, विधेयक की विस्तृत एवं बारीकी से जाँच की जाती है। दूसरे या द्वितीय वाचन के दो चरण हैं। प्रथम चरण में, समूचे विधेयक पर सामान्य चर्चा होती है। इस चरण में सदन चाहे तो विधेयक को सदन की प्रवर समिति या दोनों सदनों की संयुक्त समिति को निर्दिष्ट कर सकती है या चाहे तो सीधे इस पर विचार कर सकती है। विधेयक पर उपर्युक्त समितियों द्वारा गहराई से विचार करने के पश्चात संशोधित प्रतिवेदन को छाप दिया जाता है, इसके बाद बिल या विधेयक का प्रस्ताव रख सकता है-
  - प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किए हुए बिल पर विचार किया जाए।
  - समिति के पास बिल पुनः भेजा जाए।
  - बिल को जनमत के लिए पुनः प्रसारित किया जाए। यदि मंत्री या प्रस्तावक यह प्रस्ताव पेश करता है कि, विधेयक पर प्रतिवेदित रूप में विचार किया जाए तो उस पर वाद-विवाद की अनुमति दी जाती है।

द्वितीय वाचन में प्रतिवेदन के रूप में विधेयक पर वाद-विवाद करने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने के पश्चात् विधेयक की प्रत्येक धारा पर बहुत सूक्ष्म रूप से सदन में विचार होता है। प्रत्येक खंड या धारा चर्चा के लिए अलग से सदन के समक्ष रखा जाता है तथा प्रत्येक धारा पर मतदान किया जाता है जो संशोधन स्वीकृत हो जाते हैं, वे विधेयक का अंग बन जाते हैं।

- ***तृतीय वाचन***- तृतीय वाचन में विधेयक की एक सदन में अंतिम अवस्था होती है। इस अवस्था में शाब्दिक, औपचारिक और आनुषांगिक संशोधन ही पेश किए जा सकते हैं। क्योंकि विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर सहमति हो चुकी होती है तथा उसकी विस्तारपूर्वक जाँच भी हो चुकी होती है। तत्पश्चात् मंत्री यह प्रस्ताव कर सकता है कि, विधेयक को पारित किया जाए।

दूसरे सदन में पारित किया जाना

उपर्युक्त तीनों वाचनों से गुजरने के पश्चात विधेयक को दूसरे सदन में भेजा जाता है। दूसरे सदन में विधेयक उन सभी अवस्थाओं (चरणों) से गुजरता है, जिससे विधेयक प्रथम सदन में गुजरा था। यदि दूसरा सदन विधेयक को उसी रूप में पारित कर दे, तो विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। परंतु यदि दूसरा सदन उसको रद्द कर दे या संशोधन कर दे जो प्रथम सदन को स्वीकार नहीं है या 6 माह तक उस विधेयक पर कोई कार्यवाही न करे तो

राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकते हैं। यदि संयुक्त अधिवेशन में विधेयक को दोनों सदनों के उपस्थित सदस्य बहुमत से पारित कर दें तो वह विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जायेगा। परंतु संविधान के अनुच्छेद-108 के अनुसार, राष्ट्रपति इस अधिकार का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही कर सकता है।

राष्ट्रपति की स्वीकृति

कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकता है। इसलिए दोनों सदनों से पारित होने के बाद विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। यदि राष्ट्रपति स्वीकृति दे दे तो उसको भारतीय गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

इस प्रकार वह विधेयक देश के कानून का रूप धारण करता है। यदि राष्ट्रपति विधेयक को स्वीकृति से इंकार कर दे तथा विधेयक को संसद के पास सुझावों सहित वापस कर दे तो संसद उस विधेयक पर पुनः विचार करती है। यदि संसद विधेयक को पुनः पारित करके राष्ट्रपति के पास भेजता है तो राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ती है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि, भारतीय वैधानिक विधि इस प्रकार निश्चित की गई है कि जिसके द्वारा विधेयक का पूर्णतः अवलोकन किया जा सके, विरोधी दल जन-विरोधी विधेयकों तथा शासक दल के अत्याचारों का विरोध कर सकें और एक दृढ़ जनमत स्थापित हो सके।

Private Bill

निजी विधेयक क्या है?

मंत्रियों तथा सभापतियों के अतिरिक्त सभी सांसद निजी सदस्य कहलाते हैं।

निजी सदस्यों द्वारा प्रस्तुत विधेयक निजी विधेयक कहलाता है, जो सरकारी विधेयकों से अलग होते हैं, जिन्हें मंत्रियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

सदन में इसकी अस्वीकृति का सरकार में संसदीय विश्वास या इसके इस्तीफे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

सदन में ऐसे प्रस्ताव को पेश करने के लिए एक माह पूर्व नोटिस देना अनिवार्य है।

संसदीय सत्र के दौरान, प्रत्येक शुक्रवार को संसदीय कार्यवाही के आखिरी दो या ढाई घंटे का समय निजी विधेयकों तथा निजी सदस्यों द्वारा उठाये गए अन्य मुद्दों पर चर्चा करने के लिए आरक्षित होता है।

निजी विधेयक से जुड़े मुख्य मुद्दे

संसद के इतिहास में अभी तक मात्र 14 निजी विधेयकों को पारित किया गया है और अंतिम निजी विधेयक वर्ष 1970 में पारित किया गया था।

वर्ष 2014 में, राज्यसभा में पेश किया गया ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के अधिकार विधेयक (राइट्स ऑफ ट्रांसजेंडर पर्सन्स बिल), 47 वर्षों में ऊपरी सदन में पारित होने वाला पहला निजी विधेयक था।

15वीं लोकसभा में 372 निजी विधेयक पेश किए गए, लेकिन उनमें से केवल 11 विधेयकों पर ही चर्चा हुई है। इसका अर्थ है कि, 96 प्रतिशत निजी विधेयक सदन में बिना किसी चर्चा के ही समाप्त हो गए।

इस प्रकार, निजी विधेयकों के साथ दोहरी समस्या है। पहला उन पर कोई बहस न किया जाना और दूसरा उनका पारित न होना।

संसद ने भ्रष्टाचार निरोधक संशोधन विधेयक -2018 पारित किया

पृष्ठभूमि

लोकसभा में 24 जुलाई, 2018 को भ्रष्टाचार निवारण (संशोधन) विधेयक, 2018 के पारित हो जाने से इस कानून को संसद की मंजूरी मिल गई है। यह विधेयक उन अधिकारियों को सुरक्षा प्रदान करेगा, जो अपना कार्य ईमानदारी से करते हैं। यह विधेयक राज्यसभा से 19 जुलाई, 2018 को ही पास हो चुका है।

भ्रष्टाचार निरोधक कानून (1988) संशोधन के लिए 2013 में पेश किया गया था। इसके बाद इस विधेयक को संसद की स्थायी समिति के पास भेजा गया था। स्थायी समिति ने इस पर अपने विचार रखने के बाद इसको प्रवर समिति के पास भेजा था, जिसके बाद इसे समीक्षा के लिए विधि आयोग के पास भी भेजा गया। अंत में समिति ने वर्ष 2016 में अपनी रिपोर्ट सौंपी थी, जिसके बाद वर्ष 2017 में इस विधेयक को दोबारा संसद में पेश किया गया था, जो कि वर्ष 2018 में पारित हुआ।

किस अधिनियम में संशोधन करता है?

यह विधेयक भ्रष्टाचार की रोकथाम अधिनियम, 1988 में संशोधन करता है।

इस विधेयक में क्या उपबन्ध हैं?

इस विधेयक में रिश्वत लेने वाले के साथ रिश्वत देने वाला भी समान रूप से जिम्मेदार माना गया है। विधेयक में यह सुनिश्चित किया गया है कि किसी को बेवजह परेशान नहीं किया जाए।

नए कानून के तहत रिश्वत लेने वालों की तरह रिश्वत देने वालों को भी 3 से 7 साल की कैद का प्रावधान किया गया है। इसके साथ ही जुर्माना भी लगाया जाएगा।

जाँच के दौरान यह भी देखा जाएगा कि रिश्वत किन परिस्थितियों में दिया गया है।

नए कानून के मुताबिक, किसी भी लोक सेवक पर भ्रष्टाचार का मामला चलाने से पहले अगर वह केंद्र का है तो पहले लोकपाल और अगर लोक सेवक राज्य का है तो राज्यों में लोकायुक्तों की अनुमति लेनी होगी।

इसके अलावा जिस व्यक्ति पर रिश्वत देने का आरोप होगा, उसको अपनी बात रखने के लिए 7 दिन का समय दिया जाएगा जिसे कुछ विशेष परिस्थितियों में 15 दिन तक बढ़ाया जा सकता है।

इस विधेयक का महत्त्व

इस विधेयक के आ जाने से भ्रष्टाचार निवारण में मदद मिलेगी तथा इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ईमानदार कर्मचारियों को संरक्षण दिए जाने का प्रावधान किया गया है।

विधेयकों को लौटाने के उदाहरण

वर्ष 1986 में भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक पारित किया गया, जिसे राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने अपनी मेज पर ही रहने दिया। वर्ष 1990 में उनके उत्तराधिकारी (एस. वेंकटरमन) ने विधेयक को अनु. 111 के अधीन पुनर्विचार के लिए लौटा दिया तो सरकार ने यह तय किया कि विधेयक को छोड़ दिया जाए।

विधेयकों को लौटाने के उदाहरण

वर्ष 2006 में संसद (निरर्हता निवारण) विधेयक, 2006 (लाभ के पद के विषय में) पारित हुआ। इसे राष्ट्रपति (अब्दुल कलाम) ने लौटा दिया। पुनर्विचार के बाद इसे 1-8-2006 को पुनः राष्ट्रपति को भेजा गया, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया, जिसके बाद राष्ट्रपति ने उसे अनुमति दे दी।

धन विधेयक

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-110** में धन विधेयक की परिभाषा दी गई है। इस अनुच्छेद के अनुसार, कोई विधेयक धन विधेयक तब समझा जायेगा, जब उसमें निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों से संबंधित प्रावधान हैं-

- कर लगाना, कम करना या बढ़ाना, उसको नियमित करना या उसमें कोई परिवर्तन करना हो।
- भारत सरकार की ओर से ऋण लेना, नियमित करना या किसी आर्थिक भार में कोई परिवर्तन करना हो।
- भारत की संचित निधि या आकस्मिक निधि में कुछ धन डालना हो या निकालना हो।
- भारत की संचित निधि में से किसी व्यय के संबंध में धन दिया जाना हो।
- भारत की संचित निधि में से किसी भी व्यय के दिए जाने की घोषणा करना या ऐसे व्यय को बढ़ाना हो।
- भारत की संचित निधि तथा सार्वजनिक लेखों (लोक लेखा) में धन जमा करने या लेखों की जाँच-पड़ताल करनी हो तथा उपर्युक्त (i) से (vi) में उल्लिखित विषयों से संबंधित विषय।

- धन की आय तथा व्यय के प्रति अन्य किसी प्रकार का मामला हो।

यदि यह प्रश्न उठता है कि, कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होता है। इस निर्णय को न्यायालय या सदन या राष्ट्रपति अस्वीकार नहीं कर सकता है। जब राष्ट्रपति के पास विधेयक को भेजा जाता है, तब उस पर लोकसभा अध्यक्ष द्वारा धन विधेयक लिखा होता है। संसद में धन विधेयक की वैधानिक विधि निम्नलिखित हैं-

धन विधेयक राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता है। लोकसभा अध्यक्ष द्वारा प्रमाणित धन विधेयक लोकसभा से पास होने के बाद राज्यसभा में भेजा जाता है। राज्यसभा धन विधेयक को न तो अस्वीकार करती है और न ही उसमें कोई संशोधन कर सकती है। वह विधेयक की प्राप्ति की तारीख से 14 दिन के भीतर विधेयक को लोकसभा को लौटा देती है। लोकसभा, राज्यसभा की सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि धन विधेयक को राज्यसभा द्वारा 14 दिन के भीतर लोकसभा को नहीं लौटाया जाता है तो वह दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है **(अनुच्छेद-109)**।

धन विधेयक पर राष्ट्रपति का शक्ति

धन विधेयक को लोकसभा में पेश करने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति लेनी आवश्यक है अर्थात धन विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही पेश किया जाता है। अत: धन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी अनुमति नहीं रोक सकता और न ही उसे पुनर्विचार के लिए संसद को लौटा सकता है। ऐसा विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रस्तुत किये जाने पर वह उसे अनुमति प्रदान करता है।

वित्त-विधेयक

साधारणतया वित्त विधेयक ऐसे विधेयक को कहते हैं जो आय या व्यय से संबंधित होता है। वित्त विधेयक में आगामी वित्तीय वर्ष में किसी नए प्रकार के कर लगाने या कर में संशोधन आदि से संबंधित विषय शामिल होते हैं। वित्त विधेयक द्वितीय वाचन के बाद प्रवर- समिति को भेजा जाता है। प्रवर-समिति द्वारा विधेयक की समीक्षा करने के बाद वित्त विधेयक जब दोबारा सदन में पेश किया जाता है तो उस समय से वह विधेयक लागू माना जाता है। वित्त विधेयक के प्रस्ताव का विरोध नहीं किया जा सकता और उसे तत्काल मतदान के लिए रखा जाता है। इसे पेश किए जाने के 75 दिनों के अंदर सदन से पारित हो जाना चाहिए तथा उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति भी मिल जानी चाहिए। सामान्यत: यह विधेयक वार्षिक बजट पेश किये जाने के तत्काल बाद लोकसभा में पेश किया जाता है।

संविधान संशोधन विधेयक

संविधान संशोधन विधेयक संविधान के भाग-20 तथा **अनुच्छेद- 368** के अंतर्गत आता है, जो संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। संविधान संशोधन विधेयक को पारित करने के लिए दोनों सदनों में विशेष बहुमत (कुल सदस्य संख्या का बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत) की आवश्यकता होती है। कुछ विधेयकों में संसद के विशेष बहुमत के साथ कम से कम आधे राज्यों की सहमति भी आवश्यक होती है। संविधान संशोधन विधेयक को मंजूरी देना राष्ट्रपति के लिए आवश्यक होता है। अत: राष्ट्रपति, संविधान संशोधन विधेयक को न तो पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है और न ही अनुमति देने से मना कर सकता है (वीटो का प्रयोग नहीं कर सकता है)। संविधान संशोधन विधेयक में किसी प्रकार का गतिरोध होने पर सदनों की संयुक्त बैठक नहीं होती है। अत: गतिरोध होने की स्थिति में विधेयक समाप्त हो जाता है।

संसद की भाषा

चर्चा में क्यों?

राज्यसभा के सदस्य अब किसी भी भारतीय भाषा में अपनी बात सदन में रख सकेंगे। संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज 22 भाषाओं में से किसी भी भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। राज्यसभा के 18 जुलाई, 2018 से प्रारंभ हुए मानसून सत्र के आरंभ होने से पहले यह घोषणा की गई है। राज्यसभा के सभापति ने कहा कि मुझे हमेशा से यह महसूस होता रहा है कि हमारी भावनाओं और विचारों को बगैर किसी अवरोध के जाहिर करने के लिए मातृभाषा प्राकृतिक माध्यम है। उन्होंने कहा कि, संसद जैसी बहुभाषी संस्था में सदस्यों को भाषाई बाधाओं के चलते अन्य की तुलना में खुद को अक्षम या तुच्छ नहीं समझना चाहिए।

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रावधान

राज्यसभा में पहले केवल 12 भाषाओं में बोलने की व्यवस्था थी जिनके लिए अनुवादक नियुक्त किए गए थे। इन भाषाओं में आसामी/असमिया, बंगाली, गुजराती, हिंदी, कन्नड़, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलुगू और उर्दू शामिल थीं। इसके बाद अनुवादकों की सहायता से पाँच अन्य भाषाओं बोडो, मैथिली, मणिपुरी, मराठी और नेपाली में बोलने की सुविधा प्रदान की गई थी। अनुवादकों की नियुक्ति में राज्यसभा सचिवालय ने विश्वविद्यालयों, दिल्ली में राज्यों के सदनों और कुछ अन्य संगठनों की मदद ली।

राज्यसभा द्वारा की गई घोषणा

राज्यसभा सचिवालय ने इस संबंध में पूरा बंदोबस्त कर लिया है कि, संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज सभी 22 भाषाओं में राज्यसभा सदस्य अपनी बात कह सकें।

संविधान की आठवीं अनुसूची में भाषाएँ

आठवीं अनुसूची में संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 22 प्रादेशिक भाषाओं का उल्लेख किया गया है। वर्ष 1950 में 8वीं अनुसूची में 14 भाषाएँ (असमिया, बांग्ला, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मराठी, मलयालम, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तमिल, तेलुगू, उर्दू) थीं। बाद में वर्ष 1967 में सिंधी को तथा वर्ष 1992 में कोंकणी, मणिपुरी और नेपाली को 8वीं अनुसूची में शामिल किया गया, जिससे इन भाषाओं की संख्या बढ़कर 18 हो गई। तत्पश्चात वर्ष 2003 में बोडो, डोगरी, मैथिली और संथाली को शामिल किया गया। इस प्रकार 8वीं अनुसूची में 22 भाषाएँ शामिल हो गई हैं।

वार्षिक बजट

संविधान के अनुच्छेद-112(1) के अनुसार, राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियों एवं व्ययों का विवरण रखवायेगा, जिसे **वार्षिक वित्तीय विवरण** कहा जाता है। भारत में वार्षिक बजट प्राय: फरवरी के अंत में लोकसभा में पेश किया जाता है।

बजट को पारित होना

बजट को पारित होने के लिए निम्नलिखित अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है-

- ***बजट प्रस्तुत करना***- संसद का बजट अधिवेशन प्राय: जनवरी के अन्त में शुरू होता है। सर्वप्रथम रेल मंत्री द्वारा रेल बजट प्रस्तुत किया जाता था। उसके पश्चात् वित्तमंत्री आम बजट लोकसभा में रखता था। लेकिन वर्ष 2017 से रेल बजट को सामान्य बजट में समाहित कर दिया गया है। अब यह रेल बजट सामान्य बजट के एक भाग के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। वित्त मंत्री आम बजट (सामान्य बजट एवं रेल बजट) लोकसभा में रखता है और इसकी प्रतियाँ सदस्यों के बीच वितरित की जाती हैं। आगामी बजट के साथ-साथ चालू वर्ष का विवरण भी दिया जाता है। साथ ही किसी व्यय या आय के बढ़ने या कम होने के कारण भी दिए जाते हैं ताकि सदस्य देश में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नए वर्ष के बजट पर विचार कर सकें। इसमें नए वर्ष की आर्थिक तथा वित्तीय नीति पर भी प्रकाश डाला जाता है। लोकसभा के बाद बजट राज्यसभा में भी प्रस्तुत किया जाता है।

- ***बजट पर बहस***– विपक्षी दल का नेता बजट पर बहस प्रारम्भ करता है। इस बहस के दौरान कोई मतदान नहीं होता और न ही कोई संशोधन प्रस्ताव पेश किए जा सकते हैं तथा बहस के पश्चात वित्त मंत्री को उत्तर देने का अधिकार होता है।
- ***मांगों पर मतदान***– बहस के पश्चात् विभिन्न विभागों की माँगों पर मतदान होता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मांगों पर मतदान केवल लोकसभा में ही होता है तथा राज्यसभा को इस सम्बंध में कोई शक्ति प्राप्त नहीं है।

बहस के दौरान पेश की जाने वाली माँगें या अनुदान माँगें

भारत का लोक-लेखा

संविधान के अनुच्छेद-266(2) के अनुसार, भारत-सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त सभी लोक धनराशियाँ भारत के लोक-लेखों में जमा की जाती हैं।

लेखानुदान (Vote on Account)

बजट पास करने की प्रक्रिया सामान्यतया चालू वित्तीय वर्ष के आरंभ होने के बाद तक चलती रहती है। इसलिए जब तक संसद मांगें स्वीकृत नहीं कर लेती, तब तक के लिए आवश्यक है कि देश का प्रशासन चलाने के लिए सरकार के पास पर्याप्त धन उपलब्ध हो। इसलिए लेखानुदान के लिए विशेष उपबंध किया गया है, जिसके द्वारा लोकसभा को शक्ति दी गई कि वह बजट की प्रक्रिया पूर्ण होने तक वित्त वर्ष के एक भाग के लिए अग्रिम अनुदान दे सकती है। यह सामान्यतया पूरे वर्ष के लिए अनुमानित व्यय का 1/6 यानी 6वें भाग (दो माह का व्यय) होता है।

विनियोग विधेयक

लोकसभा द्वारा पारित की गई व्यय की माँगों तथा संचित निधि में किये जाने वाले व्ययों को एकत्रित करके विधेयक का रूप दिया जाता है, जिसे विनियोग विधेयक कहते हैं। इस विधेयक को लोकसभा में पेश किया जाता है।
विनियोग विधेयक लोकसभा से पारित हो जाता है, तो उसके पश्चात् लोकसभा अध्यक्ष उसे धन विधेयक के रूप में प्रमाणित करके राज्यसभा की सिफारिशों के लिए भेज देता है। संसद में पारित होने के बाद इस विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। इसमें राष्ट्रपति की स्वीकृति औपचारिकता मात्र होती है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद सरकार के विभिन्न विभागों को व्यय करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

अनुपूरक अनुदान

संसद की ओर से स्वीकृत माँगें अनुमानित होती हैं। इसलिए यदि किसी विभाग के व्यय के लिए राशि कम पड़ जाए तो सरकार द्वारा लोकसभा में अनुपूरक अनुदान की माँग को पेश किया जा सकता है, जिसे वित्तीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व लोकसभा द्वारा पारित होना आवश्यक है। इसलिए इसे अनुपूरक अनुदान कहा जाता है।

धन की अग्रिम स्वीकृति

भारत में वित्तीय वर्ष 31 मार्च को समाप्त होता है और 1 अप्रैल से नया वित्तीय वर्ष आरम्भ होता है। अत: आवश्यक है कि, आने वाले वित्तीय वर्ष का अनुमानित बजट 31 मार्च से पहले पारित किया जाए। प्राय: यह होता है कि वार्षिक बजट संसद की ओर से 31 मार्च से पहले पारित करना संभव नहीं होता है, ऐसी स्थिति में संसद की स्वीकृति के बिना सरकार किसी प्रकार का व्यय नहीं कर सकती। यदि ऐसी स्थिति जारी रही तो सम्पूर्ण सरकारी कार्यवाही बंद हो जाएगी। इसलिए कार्यों को बिना बाधा के जारी रखने के लिए संसद कुछ निश्चित राशि को व्यय करने की अग्रिम स्वीकृति दे देती है। बाद में जब बजट पास होता है तो अग्रिम राशि को बजट में शामिल कर लिया जाता है। इसलिए इसे धन की अग्रिम स्वीकृति कहते हैं।

प्रत्यानुदान (Vote of Credit)

वित्तीय वर्ष के भीतर किसी आवश्यक कार्य के लिए यदि धन की त्वरित आवश्यकता हो, तो प्रत्यानुदान की माँग पेश की जाती है। यह कार्यपालिका के लिए एक 'ब्लैंक चेक' के समान है, जिसे लोकसभा प्रदान करती है।

अतिरिक्त अनुदान (Additional Grant)

जब किसी वित्तीय वर्ष में किसी नयी सेवा का निर्माण किया जाये, जिसकी कल्पना बजट के निर्माण के समय नहीं की गई थी, ऐसे खर्च को अतिरिक्त अनुदान के रूप में लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

ज्यादा अनुदान (Excess Grant)

जब किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा के लिए बजट कम पड़ जाये, जिसकी कल्पना बजट के निर्माण के समय नहीं की गई थी, ऐसे खर्च को ज्यादा अनुदान के रूप में लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

अपवादानुदान (Exceptional Grant)

यदि किसी विशेष एवं निश्चित उद्देश्य के लिये सरकार अनुदान की माँग रखती है, जो कि सामान्य वर्ष में खर्च के अतिरिक्त होता है, इसे अपवादानुदान कहते हैं।

समितियों द्वारा जाँच किया जाना

सामान्य बहस के बाद विस्तार से अनुदानों की माँगों पर बहस और मतदान की बारी आती है। सामान्य बहस के बाद सदन तीन या चार सप्ताह के लिए स्थगित हो जाती है। इस अंतराल के दौरान संसद की स्थायी समितियाँ अनुदान माँगों का निरीक्षण कर उन पर अपनी रिपोर्ट तैयार करती हैं और उन्हें सदन में प्रस्तुत करती हैं।

अनुदान माँग

संचित निधि पर भारित व्यय को छोड़कर अलग-अलग विभागों की माँगों पर सदन में विचार किया जाता है और प्रत्येक विभाग की माँग पर अलग-अलग मतदान होता है। इसे ही अनुदान माँग कहा जाता है।

प्रस्ताव

अनुदान माँगों पर बहस हेतु विपक्षी दलों द्वारा विभिन्न प्रस्ताव लाये जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

कटौती प्रस्ताव

यह सरकार के बजटीय या धन संबंधी माँगों पर असहमति व्यक्त करने का एक माध्यम है। सामान्यत: यह प्रस्ताव पारित नहीं हो पाता, क्योंकि सरकार बहुमत में रहती है। कटौती प्रस्ताव पारित होने की स्थिति में सरकार गिर सकती है। इसका महत्त्व केवल इसलिए है कि, इससे अनुदान माँगों पर व्यापक बहस हो पाती है। कटौती प्रस्ताव तीन प्रकार के होते हैं-

1. ***नीतिगत कटौती प्रस्ताव***– यह प्रस्ताव सरकार की नीतियों के प्रति असहमति प्रकट करने हेतु लाया जाता है, इसके तहत अनुदान माँगों को घटाकर एक रुपया कर दिया जाता है।
2. ***सांकेतिक कटौती***– यह प्रस्ताव भी सरकारी नीतियों के प्रति असहमति प्रकट करने हेतु लाया जाता है। जिसमें समस्त अनुदान माँगों में 100 रुपये की कटौती करने का प्रस्ताव लाया जाता है।

3. ***मितव्ययिता या आर्थिक कटौती***- इसमें माँग की राशि का एक निश्चित अनुपात कम करने को कहा जाता है तथा इसका उद्देश्य नीति का विरोध करना नहीं, वरन् माँगों में वास्तविक कटौती करना है।

विनियोग विधेयक का पास होना

संविधान के अनुच्छेद-114 के अनुसार, भारत की संचित निधि में से कोई धन विनियोग विधेयक से ही निकाला जा सकता है। इस विधेयक में लोकसभा द्वारा स्वीकृत अनुदानों की सभी माँगों तथा संचित निधि पर भारित व्यय सम्मिलित होता है। इसका उद्देश्य, संचित निधि में से व्यय के लिए सरकार को कानूनी अधिकार देना है। चूँकि विनियोग विधेयक में वे अनुदान शामिल होते हैं, जिन्हें लोकसभा पृथक-पृथक स्वीकार कर चुकी होती है। इसलिए इस विधेयक पर सार्वजनिक महत्त्व की बातें और प्रशासनिक नीतियों से संबंधित ऐसे विषयों पर ही बहस होती है, जो अलग-अलग माँगों पर विचार करते समय सदन में नहीं उठाए गये हों।

लोकसभा में पारित हो जाने के बाद विधेयक पर अध्यक्ष हस्ताक्षर करता है कि, वह एक धन विधेयक है और उसे राज्यसभा के पास भेजा जाता है। राज्यसभा को विधेयक में संशोधन करने या उसे अस्वीकृत करने की शक्ति प्राप्त नहीं है, उसे विधेयक पर अपनी सहमति प्रदान करनी ही पड़ती है। इसके पश्चात् विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

वित्त विधेयक

वित्त विधेयक तथा धन विधेयक में अंतर होता है। वित्त विधेयकों की दो श्रेणियाँ होती हैं-

प्रथम श्रेणी

प्रथम श्रेणी के वित्त विधेयकों में अनुच्छेद-110 के प्रावधानों के साथ अन्य विषयों का भी उल्लेख किया जाता है। वित्त विधेयक को पेश करने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है तथा इसे केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। लेकिन प्रथम श्रेणी के वित्त विधेयकों की स्थिति धन विधेयक से भिन्न है, क्योंकि राज्यसभा इसे संशोधित व अस्वीकार कर सकती है। लोकसभा तथा राज्यसभा के मध्य गतिरोध होने पर संयुक्त बैठक का प्रावधान भी लागू होता है। प्रथम श्रेणी के वित्त विधेयकों पर राज्यसभा को संशोधन का अधिकार है, जबकि धन विधेयकों के संदर्भ में राज्यसभा केवल 14 दिन तक ही अपने पास रोक सकती है।

वित्त विधेयकों की धन विधेयक से समानता

वित्त विधेयक के निम्नलिखित दो प्रावधान, धन विधेयक के समान होते हैं-

1. दोनों लोकसभा में ही आरंभ हो सकते हैं,
2. राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना उन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

द्वितीय श्रेणी

यह वित्त विधेयक है, क्योंकि अनुच्छेद- 110 में वर्णित किसी भी विषय का समावेश इसमें शामिल नहीं होता है तथा लोकसभा अध्यक्ष इसे धन विधेयक के रूप में भी प्रमाणित नहीं करता है। अत: इस श्रेणी में केवल वित्तीय व्यय का संचित निधि से प्रावधान होता है। इसकी प्रस्तुति के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश भी आवश्यक है। इसे पारित करने के लिए राष्ट्रपति से अनुशंसा ली जाती है।

भारत की आकस्मिक निधि

संविधान के **अनुच्छेद-267** के अनुसार, संसद को एक निधि स्थापित करने की शक्ति दी गई है। इस निधि को 'भारत की आकस्मिक निधि' कहा जाता है। यह एक ऐसी निधि है जिसमें संसद द्वारा पारित कानूनों द्वारा समय-समय पर धन जमा किया जाता है। यह निधि राष्ट्रपति के नियंत्रण में होती है तथा देश में उत्पन्न होने वाली आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए राष्ट्रपति इस निधि से सरकार को आवश्यक धन देता है। संसद से इस राशि की स्वीकृति लेना अनिवार्य है। राष्ट्रपति जब इसमें से धन व्यय करने की आज्ञा देता है, तो उसके पश्चात् होने वाले संसद के अधिवेशन में उस व्यय के संबंध में संसद की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है।

भारत की संचित निधि

संविधान के **अनुच्छेद-266(1)** के अनुसार, सरकार को मिलने वाले सभी राजस्वों, जैसे-सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क, आयकर, सम्पदा शुल्क, अन्य कर एवं शुल्क और सरकार द्वारा दिए गए ऋणों की वसूली से जो धन प्राप्त होता है, वे सभी संचित निधि में जमा किए जाते हैं। संसद की स्वीकृति के पश्चात् सरकार अपने सभी खर्चों का वहन इसी निधि से करती है। इसीलिए इसे भारत की संचित निधि कहा जाता है।

धन्यवाद प्रस्ताव

अनुच्छेद-87 (राष्ट्रपति का विशेष अभिभाषण) के अंतर्गत, यह प्रावधान है कि, राष्ट्रपति, लोकसभा के चुनाव के पहले सत्र और वर्ष के पहले सत्र में संसद को संयुक्त रूप में संबोधित करते हैं। इस प्रस्ताव पर सामान्यत: 3 से 4 दिन तक चर्चा होती है एवं प्रस्ताव पर चर्चा के बाद मतदान भी होता है। विपक्ष द्वारा सरकार की नीतियों और प्रशासनिक विफलता की भी आलोचना की जाती है। यदि मतदान में सरकार पराजित हो जाय, तो सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाया जा सकता है।

प्रस्ताव एवं संकल्प

भारतीय संसद के प्रतिदिन का कार्यकलाप प्रस्तावों तथा संकल्पों के माध्यम से संपादित होता है। प्रस्ताव का तात्पर्य है, कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना। किसी भी कार्य को प्रारंभ करने हेतु प्रस्ताव के रूप में सदन में प्रस्तुत किया जाता है। यह किसी मंत्री द्वारा या किसी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है। जबकि संकल्प एक प्रकार का प्रस्ताव है। किसी पूर्ण प्रस्ताव को संकल्प कहा जाता है। यह मुख्यत: लोक महत्त्व के विषयों पर सरकार का ध्यान आकर्षित करने हेतु लाया जाता है। प्रस्ताव के बाद मतदान नहीं होता है, जबकि संकल्प पर मतदान होता है।

प्रस्ताव एवं संकल्प में अंतर

प्रस्ताव और संकल्प में अधिक अंतर नहीं है क्योंकि बहुत से ऐसे तत्व हैं, जो दोनों में समान रूप से सम्मिलित हैं। वास्तव में दोनों में प्रक्रिया है, विषय वस्तु का नहीं। प्राय: प्रस्ताव और संकल्प, दोनों एक ही विषय पर कुछ रूप परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं। परंतु इनमें एक अंतर है, सभी संकल्प मूल प्रस्तावों की श्रेणी में आते हैं अर्थात् प्रत्येक संकल्प एक विशेष प्रकार का प्रस्ताव होता है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि, सभी प्रस्ताव अनिवार्य रूप से सदन के मतदान के लिए नहीं रखे जाते। जबकि यह आवश्यक होता है कि, सभी संकल्पों पर मतदान हो। यही नहीं किसी संकल्प पर स्थानापन्न प्रस्ताव पेश नहीं किया जाता जबकि मूल प्रस्तावों पर ऐसे प्रस्ताव पेश किये जा सकते हैं।

- ***मूल प्रस्ताव***- मूल प्रस्ताव अपने आप में पूर्णत: स्वतंत्र प्रस्ताव होता है। यह सदन के अनुमोदन के लिए पेश किया जाता है और इस तरीके से बनाया गया होता है कि, उससे सदन के फैसले की अभिव्यक्ति हो सके। मूल प्रस्ताव के तहत निम्नलिखित प्रस्ताव आते हैं-

विश्वास व अविश्वास प्रस्ताव

तकनीकी रूप में विश्वास प्रस्ताव और अविश्वास प्रस्ताव सदन में कोई मुद्दा उठाने का संसदीय माध्यम नहीं है, क्योंकि ये प्रस्ताव तब लाये जाते हैं, जब सरकार बहुमत खो चुकी हो और सरकार को सत्ता में रहने का अधिकार न हो। विश्वास प्रस्ताव, सामान्यत: सरकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार द्वारा विश्वास प्रस्ताव की नई परंपरा को आरंभ किया गया। जबकि परंपरागत रूप में विपक्ष के द्वारा सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाया जाता है। यह बिन्दु ध्यान देने योग्य है कि, एक सत्र में एक बार से अधिक अविश्वास प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता है। अविश्वास प्रस्ताव लाने के लिए किसी विशेष कारण को बताने की आवश्यकता नहीं होती है, जैसा कि स्थगन और ध्यानाकर्षण प्रस्ताव में होता है।

- ***विश्वास प्रस्ताव***- यह प्रस्ताव सरकार द्वारा लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है। विश्वास प्रस्ताव लाने का उद्देश्य सरकार द्वारा सदन में अपने बहुमत को दिखाना होता है। गठबंधन सरकार के बनने के बाद प्राय: मंत्रिपरिषद विश्वास प्रस्ताव पेश करता है।
- ***अविश्वास प्रस्ताव***- यह विपक्ष द्वारा लाया जाता है, जो यह साबित करने का प्रयास करता है कि, लोकसभा में सरकार को बहुमत प्राप्त नहीं है। अविश्वास प्रस्ताव की प्रक्रिया संसद के नियम-198 में वर्णित है। अविश्वास प्रस्ताव लाने के लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती है, यह लोकसभा के 50 सदस्यों के प्रस्ताव से लाया जा सकता है। भारत के संविधान में अविश्वास प्रस्ताव का उल्लेख नहीं है।

भारतीय राजनीति में अविश्वास प्रस्ताव

भारत के दूसरे प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के खिलाफ तीन बार अविश्वास प्रस्ताव पेश किया गया था। पहला वर्ष 1964 में और दूसरा वर्ष 1965 के दौरान दो अविश्वास प्रस्ताव लाए गए थे।

वर्ष 1987 में राजीव गांधी सरकार के खिलाफ भी अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था, लेकिन ध्वनि मत से उस प्रस्ताव को गिरा दिया गया था। पी.वी.नरसिम्हा राव के कार्यकाल में तीन बार यह प्रस्ताव पेश किया गया।

अब तक लोकसभा में 26 बार अविश्वास प्रस्ताव लाया जा चुका है।

अब तक सिर्फ तीन बार, वर्ष 1993 में वी पी सिंह सरकार, वर्ष 1997 में एच डी देवगौड़ा सरकार और वर्ष 1998 में अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पास हो पाया और सरकार गिर गई।

वर्ष 2003 में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पेश किया गया था जो गिर गया था।

वर्ष 2018 में नरेंद्र मोदी की सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पेश किया गया था जो सदन में गिर गया था।

- ***निंदा प्रस्ताव***- यह प्रस्ताव लोकसभा में विपक्ष द्वारा किसी मंत्री की आलोचना के लिए लाया जाता है। इसका उद्देश्य सरकार के कार्यों की आलोचना करना होता है। इस प्रस्ताव के पास होने से सरकार नहीं गिरती है। निंदा प्रस्ताव लाने के लिए किसी स्पष्ट नियम का उल्लेख नहीं है। फिर भी 50 सदस्यों के समर्थन से यह प्रस्ताव लाया जाता है।
- ***ध्यानाकर्षण प्रस्ताव***- यह प्रस्ताव सदन के सदस्यों द्वारा किसी अविलंबनीय विषय पर सरकार का ध्यान आकर्षित करने हेतु लाया जाता है, जिसकी सूचना लोकसभा महासचिव को देनी होती है। उसके पश्चात् संबद्ध मंत्री को इस प्रस्ताव की सूचना दी जाती है।
- ***स्थगन प्रस्ताव***- यह प्रस्ताव अविलंबनीय लोक महत्त्व के विषय पर लाया जा सकता है, जो किसी निश्चित मामले पर बहस करने हेतु संसद के कामकाज को रोकने हेतु लाया जाता है। यह प्रस्ताव 50 सदस्यों के समर्थन तथा पीठासीन अधिकारी की अनुमति से लाया जाता है। इस प्रस्ताव को केवल तात्कालिक घटना से संबंधित विषयों के संदर्भ में लाया जा सकता है।
- ***स्थानापन्न प्रस्ताव***- ऐसे प्रस्ताव, जो मूल प्रस्ताव के स्थान पर और इसके विकल्प के रूप में पेश किए जाएँ, उन्हें स्थानापन्न प्रस्ताव कहते हैं। मूल प्रस्ताव पर और स्थानापन्न प्रस्ताव पर साथ-साथ चर्चा होती है। परंतु सदन की स्वीकृति केवल स्थानापन्न प्रस्ताव पर ली जाती है। स्थानापन्न प्रस्ताव पर सदन की स्वीकृति मिल जाने के बाद मूल प्रस्ताव स्थगित हो जाता है।

लोक सभा अध्यक्ष के अधिकार एवं शक्तियाँ

लोकसभा अध्यक्ष विधायिका का सबसे महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होता है तथा इस अधिकार से वह विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ धारण किये होता है, जो इस प्रकार हैं-

व्यवस्था संबंधी शक्तियाँ- इसके अंतर्गत, लोकसभा अध्यक्ष द्वारा सदन संचालित करने के लिए सदन में व्यवस्था व मर्यादा बनाए रखना, सदन की कार्यवाही के लिए समय का निर्धारण करना, संविधान व सदन की प्रक्रिया से संबंधित नियमों की व्याख्या करना, विवादास्पद विषयों पर मतदान कराना व अपने निर्णय की घोषणा करना, बराबर मत पड़ने पर निर्णायक मत देना, प्रस्ताव, प्रतिवेदन व व्यवस्था के प्रश्नों को स्वीकार करना, मंत्री पद छोड़ने के बाद सदस्य को सदन के सम्मुख अपना वक्तव्य देने की अनुमति देना, सदस्यों की जानकारी के लिए विचाराधीन महत्त्वपूर्ण विषयों पर उद्बोधन देना, संवैधानिक मामलों पर अपनी सहमति देना, गणपूर्ति के अभाव में सदन की बैठक स्थगित करना, किसी सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति देना व उसके भाषण को हिंदी व अंग्रजी भाषा में अनुवाद की व्यवस्था करना तथा सदन के नेता की प्रार्थना पर सदन की गुप्त बैठक के आयोजन की स्वीकृति देना आदि शामिल है।

निरीक्षण व भर्त्सना संबंधी शक्तियाँ- लोकसभा की निरीक्षण व भर्त्सना संबंधी शक्तियों के अंतर्गत संसदीय समितियों की अध्यक्षता करना, संसदीय समितियों के अध्यक्षों को निर्देश देना, सार्वजनिक हित में सदन या समिति को आवश्यक जानकारी देने के लिए सरकार को आदेशित करना, सदन में असंसदीय व निरर्थक बातों को रोकना, अमर्यादित व उच्च शृंखला संदर्भों को कार्यवाही में से निकालना, सदन में बोलने के लिए सदस्यों को स्वीकृति देना, किसी सदस्य को अराजक व्यवहार के कारण निष्कासित करना या उसे मॉर्शल लॉ द्वारा सदन से बाहर निकालना, गंभीर अव्यवस्था उत्पन्न होने पर सत्र को स्थगित कर देना, सदन की सीमा में किसी सदस्य की गिरफ्तारी या उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही करने की अनुमति देना, विशेषाधिकार प्रस्ताव स्वीकार करना व आरोपित अपराधी के विरुद्ध गिरफ्तारी के आदेश जारी करना तथा किसी व्यक्ति को सदन की अवमानना करने या उसके विशेषाधिकार के उल्लंघन करने पर सदन के निर्णय को लागू करना शामिल हैं।

प्रशासन संबंधी शक्तियाँ- लोकसभा अध्यक्ष की प्रशासन संबंधी शक्तियों के अन्तर्गत, संसद के सचिवालय पर नियंत्रण रखना, दर्शक दीर्घा व प्रेस दीर्घा का नियंत्रण करना, सदन के सदस्यों के लिए आवास व अन्य सुविधाओं की व्यवस्था का प्रावधान करना, सदन व उसकी समितियों की बैठकों की व्यवस्था करना, संसदीय कार्यवाही व आलेखों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करना, सदन के सदस्यों व कर्मचारियों के जीवन व सदन की संपत्ति की सुरक्षा की उपयुक्त व्यवस्था करना तथा सदन के सदस्य का त्यागपत्र स्वीकार करना या उसे इस आधार पर अस्वीकार करना कि ऐसा कार्य विवशता के कारण शामिल है।

विविध शक्तियाँ- लोकसभा अध्यक्ष की विविध शक्तियों के अन्तर्गत, सदन द्वारा पारित विधेयक को प्रमाणित करना कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, इसे निर्णित करना, संसद के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता करना, राष्ट्रपति व सदन के मध्य संपर्क-सूत्र के रूप में कार्य करना। अंतर-संसदीय संघ में भारतीय संसदीय दल के पदेन प्रधान के रूप में कार्य करना, पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन की अध्यक्षता करना, संसदीय शिष्टमंडल के लिए सदस्यों को मनोनीत करना, शोक, संवेदना प्रकट करना, सदन के कार्यकाल की समाप्ति पर विदाई भाषण देना

व महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर टिप्पणी करना, सदन द्वारा पारित विधेयक की स्पष्ट त्रुटियों को ठीक करना तथा राजनीतिक दल-बदल के अपराध से ग्रस्त संसद सदस्य या सदस्यों के मामलों में अयोग्यता संबंधी निर्णय देना शामिल हैं।

संसदीय समितियाँ

वे समितियाँ, जिन्हें सदन द्वारा नियुक्त या निर्वाचित किया जाए या अध्यक्ष/सभापति द्वारा मनोनीत किया जाए। ये समितियाँ अध्यक्ष/सभापति के निर्देशाधीन कार्य करती हैं और अपना प्रतिवेदन सदन को या अध्यक्ष/सभापति को प्रस्तुत करती हैं। यह लोकसभा अथवा राज्यसभा सचिवालय द्वारा उपलब्ध कराए गए कर्मचारी द्वारा सेवित होती हैं।

संसदीय समितियाँ दो तरह की होती हैं-

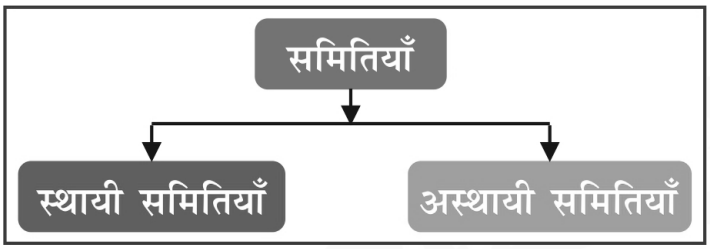

1. ***स्थायी समितियाँ***- स्थायी समितियों का चुनाव सदन द्वारा अथवा लोकसभा अध्यक्ष द्वारा प्रतिवर्ष किया जाता है और इन समितियों का कार्य निरंतर चलता रहता है।

वित्त समितियाँ

- लोक-लेखा समिति।
- प्राक्कलन समिति।
- सार्वजनिक उद्यमों के लिए गठित समिति (सार्वजनिक उद्यम समिति)।

विभागीय स्थायी समितियाँ (24) जाँच के लिए गठित समितियाँ (जाँच समितियाँ)

- याचिका अथवा आवेदन के लिए गठित समिति (याचिका समिति)।
- विशेषाधिकार समिति।
- आचार समिति।

परीक्षण एवं नियंत्रण के लिए गठित समितियाँ

- सरकारी आश्वासन समिति।
- अधीनस्थ विधायन समिति।
- विचारार्थ प्रस्तुत विषयों के लिए गठित समिति।
- अनुसूचित-जाति तथा अनुसूचित- जनजाति कल्याण समिति।
- स्त्री सशक्तिकरण समिति।
- लाभ के पदों के लिए गठित संयुक्त समिति।

सदन के दैनिक कार्यों से सम्बन्धित समितियाँ

- कार्य सलाहकार समिति।
- सदस्यों के निजी विधेयकों एवं संकल्पों के लिए गठित समिति।
- विनियम समिति।
- सदन की बैठकों से सदस्यों की अनुपस्थिति के लिए गठित समिति।

सदन समितियाँ अथवा सेवा समितियाँ (सदस्यों को सुविधाएँ अथवा सेवाएँ प्रदान करने वाले प्रावधानों से संबंधित)

- सामान्य प्रयोजन समिति।
- सदन समिति।
- पुस्तकालय समिति।
- सदस्यों के वेतन-भत्तों के लिए संयुक्त समिति।

2. ***अस्थायी समितियाँ***- अस्थायी समितियों का चुनाव जरूरत के अनुसार किया जाता है और जरूरत पूरी हो जाने पर उनकी समाप्ति हो जाती है।

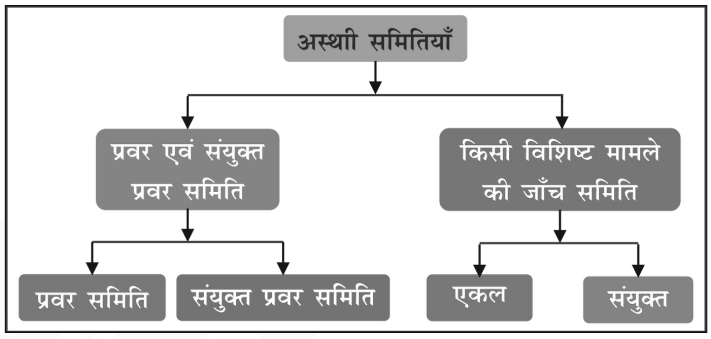

वित्तीय समितियाँ

वित्तीय समितियाँ सदन की तरफ से वित्तीय मामलों को देखती है तथा उस पर विचार कर अपना प्रतिवेदन सदन के सम्मुख रखती हैं। इन समितियों के कार्य की सामान्य प्रक्रिया लोकसभा के प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन नियम के सामान्य नियम संख्या 253 से 268, संसदीय समितियों के संबंध में अध्यक्ष के निर्देशों के सामान्य निर्देश संख्या 48 से 73, समिति विशेष के आंतरिक नियमों तथा अन्य संबंधित संसदीय अभिसमय तथा प्रथाओं द्वारा अभिशासित होते हैं।

प्राक्कलन/आकलन समिति

प्रक्कलन समिति भारतीय संसद की **सबसे बड़ी** समिति होती है, जिसका संबंध वार्षिक बजट की वित्तीय समिति से होता है। इसे अनुमान करने वाली वित्तीय समिति भी कहा जा सकता है। इसका गठन सर्वप्रथम तत्कालनी वित्त मंत्री जॉन मथाई की सिफारिश पर 1950 में किया गया था। इस समिति का गठन लोकसभा में बजट प्रस्तुत करने बाद होता है। इस समिति में **30 सदस्य (सभी लोकसभा से)** होते हैं। समिति के सदस्यों का चुनाव **आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली** द्वारा एकल संक्रमणीय पद्धति के आधार पर होता है। इस समिति के सदस्य मंत्री नहीं हो सकते हैं। यह समिति वार्षिक अनुमानित बजट का सूक्ष्म अध्ययन तथा जाँच करती है और वित्तीय प्रशासन में मितव्ययिता, कुशलता, दक्षता, सुधार तथा वैकल्पिक नीतियों के संबंध में सुझाव देती है। समिति के सुझावों पर सदन में बहस नहीं होती है। परंतु यह समिति अपना कार्य पूरे वर्ष करती है तथा अपना दृष्टिकोण सदन के समक्ष रखती है।

लोक-लेखा समिति

लोक-लेखा समिति, वित्तीय क्षेत्र की सबसे पुरानी समिति मानी जाती है। यह एक संयुक्त समिति है। इसमें लोकसभा के 15 सदस्य होते हैं तथा 7 सदस्य चुने जाते हैं। कुल मिलाकर इस समिति में 22 सदस्य होते हैं। इसका गठन सर्वप्रथम भारत सरकार अधिनियम, 1919 के तहत 1921 में किया गया था। प्राय: इस समिति का अध्यक्ष सत्ता पक्ष से नहीं होता है। इस समिति में भी मंत्री सदस्य नहीं होते हैं। इस समिति के सदस्यों का चुनाव भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली सकल संक्रमण ीय मत के आधर पर द्वारा किया जाता है। इस समिति को नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक का सहयोग प्राप्त होता है। यह समिति आम व्ययों पर निगरानी रखती है। मुख्य रूप से इन व्ययों को संसद की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। यह कार्य भी समिति द्वारा संपादित किया जाता है। यह समिति सरकार की नीति-विषयक मुद्दों पर आलोचना नहीं करती है।

लोक-लेखा समिति के मुख्य कर्तव्य

- क्या पैसा उसी मद में खर्च हुआ है, जिसके लिए दिया गया था?
- क्या इस खर्च के लिए संसद ने अनुमति प्रदान कर दी है?
- क्या खर्च संसद की अनुमति से ज्यादा था? अतिरिक्त खर्च तो नहीं हुआ है? यदि हुआ है, तो इसके लिए कौन-सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं?

सार्वजनिक उपक्रम समिति

सार्वजनिक उपक्रम समिति वित्तीय समिति है, जिसमें 15 सदस्य लोकसभा तथा 7 सदस्य राज्यसभा से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर 22 सदस्य होते हैं। यह समिति सर्वप्रथम 1964 में तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष जी.वी. मवलंकर की रेखरेख में गठित हुई थी। इसका भी सदस्य मंत्री नहीं हो सकता है। समिति का सभापति लोकसभा सदस्य होता है। यह समिति सार्वजनिक उपक्रमों की कार्य कुशलता, स्वायत्तता तथा स्वस्थ व्यावसायिक सिद्धांत व व्यवहारों की जाँच करती है।

जाँच समितियाँ

संसद विभिन्न मामलों को जाँच के लिए विभिन्न समितियों को सौंपती है जो अपना मत देती हैं और उपयुक्त कार्यवाही की अनुशंसा करती हैं।

याचिका समिति

लोकसभा को प्रस्तुत की गई याचिकाओं पर विचार करना और प्रतिवेदन प्रस्तुत करना। विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं आदि के उन अभ्यावेदनों, जो याचिका संबंधी नियमों के अंतर्गत नहीं आते हैं, पर भी विचार करना और उन्हें निपटाने के लिए निर्देश देना।

विशेषाधिकार समिति

विशेषाधिकार समिति का मुख्य कार्य लोकसभा अथवा उसके किसी सदस्य अथवा किसी समिति के सदस्य के विशेषाधिकार के भंग किए जाने से संबंधित प्रत्येक प्रश्न की जाँच करना, जो उसे लोकसभा अथवा अध्यक्ष द्वारा सौंपा जाए। प्रत्येक मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस बात का निश्चय करना कि क्या विशेषाधिकार को भंग किया गया है तथा अपने प्रतिवेदन में इस संबंध में उपयुक्त सिफारिश करना।

आचार संबंधी समिति

आचार संबंधी समिति के निम्नलिखित कार्य हैं:–

- सदस्यों के नैतिक तथा कदाचार व्यवहार की निगरानी रखना।
- सदस्यों के अनैतिक व्यवहार के संबंध में अथवा उसके संसदीय व्यवहार से संबंधित की गई प्रत्येक शिकायत की जाँच करना तथा उपयुक्त समझी जाने वाली सिफारिशें करना।
- ऐसे नियम बनाना जो यह विनिर्दिष्ट करते हों कि अनैतिक व्यवहार क्या है।

समिति जहाँ भी आवश्यक समझे, सदस्य के अनैतिक व्यवहार से संबंधित मामलों सहित, कदाचार संबंधी मामलों पर स्वप्रेरणा से विचार कर सकती है तथा उनकी जाँच कर सकती है और उपयुक्त समझी जाने वाली सिफारिशें कर सकती है। इस समिति द्वारा सदस्य के अनैतिक व्यवहार की जाँच करने के लिए वही प्रक्रिया अपनायी जाएगी, जो लोकसभा या सदस्य के विशेषाधिकार उल्लंघन से संबंधित किसी प्रश्न के बारे में अपनायी जाती है। लोकसभा में प्रस्तुत विशेषाधिकार समिति के प्रतिवेदन पर विचार करने और लोकसभा द्वारा ऐसे प्रतिवेदनों पर विचार करने की प्राथमिकता से संबंधित नियम 315 एवं 316 के उपबंध लोकसभा में प्रस्तुत आचार समिति के प्रतिवेदनों पर भी आवश्यक परिवर्तनों सहित लागू होंगे।

लोकसभा सदस्यों के कदाचार की जाँच संबंधी समिति

यह समिति लोकसभा सदस्यों के कदाचार और उनके द्वारा संसदीय विशेषाधिकार और सुविधाओं का दुरुपयोग करने के मामलों, जिनके बारे में लोकसभा अध्यक्ष को समय-समय पर मामले प्राप्त होते हैं, की जाँच करती है और प्रत्येक मामले में, यदि कोई हो, तो कार्यवाही की सिफारिश करती है और इसे अध्यक्ष को प्रस्तुत करती है। साथ ही, यदि समिति उपयुक्त समझती है तो इस बात पर भी गौर करती है कि, किसी सदस्य के किन-किन कृत्यों को कदाचार माना जाए और ऐसे कदाचारों के मामलों में की जाने वाली कार्यवाही के बारे में उचित सिफारिश करती है। समिति विधि के सुस्थापित सिद्धांतों और नैसर्गिक न्याय के अनुरूप अपनी स्वयं की प्रक्रिया अपनाने के लिए प्राधिकृत है। समिति, आम तौर पर अध्यक्ष द्वारा किसी मामले को भेजे जाने के एक महीने के भीतर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने का प्रयास करती है।

परीक्षण एवं नियंत्रण के लिए गठित स्थायी समितियाँ

सरकारी आश्वासन समिति

मंत्रियों द्वारा समय-समय पर दिए गए आश्वासनों, वाचनों और किए गए प्रतिज्ञानों आदि की जाँच करना और उनके बारे में प्रतिवेदन देना कि, इस प्रकार के आश्वासन आदि कहाँ तक क्रियान्वित किए गए हैं और यह भी देखना कि, क्या उन्हें इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित समय में क्रियान्वित किया गया है?

अधीनस्थ विधायन संबंधी समिति

अधीनस्थ विधायन संबंधी समिति का मुख्य कार्य इस बात की जाँच करना और लोकसभा को प्रतिवेदन देना है कि क्या विनियम, नियम, उपनियम, उपविधि आदि बनाने के लिए संविधान द्वारा प्रदत्त अथवा संसद द्वारा प्रत्यायोजित शक्तियों का प्रयोग कार्यपालिका द्वारा उस प्रत्यायोजन के अंतर्गत समुचित रूप से किया जा रहा है?

सदन के पटल पर पेश दस्तावेजों की समिति

सदन के पटल पर पेश दस्तावेजों की समिति का मुख्य कार्य मंत्रियों द्वारा लोकसभा पटल पर रखे गए सभी पत्रों (उन पत्रों को छोड़कर जो अधीनस्थ विधान संबंधी समिति अथवा किसी अन्य संसदीय समिति के कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत आते हों) की जाँच करना और लोकसभा को यह प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है कि–

- क्या, संविधान में, अधिनियम, नियम अथवा विनियम के उन उपबंधों का पालन हुआ है, जिनके अधीन वह पत्र लोकसभा पटल पर रखा गया है?
- क्या, पत्र को लोकसभा पटल पर रखने में कोई अनुचित विलंब हुआ है?
- यदि ऐसा विलंब हुआ है, तो क्या उक्त विलंब के कारणों को स्पष्ट करने वाला विवरण भी लोकसभा पटल पर रखा गया है, तथा क्या वे कारण संतोषजनक हैं?
- क्या, उस पत्र के हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों संस्करण लोकसभा के पटल पर रखे गए हैं?
- क्या, हिन्दी संस्करण लोकसभा पटल पर न रखने के कारणों को स्पष्ट करने वाला विवरण लोकसभा के पटल पर रखा गया है तथा क्या वे कारण संतोषजनक हैं?
- लोकसभा पटल पर रखे गए पत्रों संबंधी ऐसे अन्य कार्य भी करना, जो अध्यक्ष द्वारा समय-समय पर इस समिति को सौंपे जाएँगे?

अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित-जनजातियों के कल्याण संबंधी समिति

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण संबंधी समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:-

- संविधान के अनुच्छेद-338(5)(घ) के अंतर्गत, (राष्ट्रीय अनुसूचित-जाति और अनुसूचित-जनजाति आयोग) पेश किए गए प्रतिवेदनों पर विचार करना और संघ-सरकार, जिसमें संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रशासन भी शामिल हैं, के क्षेत्राधिकार के अंदर आने वाले मामलों के बारे में संघ-सरकार द्वारा किए जाने वाले मामलों के बारे में संघ-सरकार द्वारा किए जाने वाले उपायों को प्रतिवेदित करना।
- समिति द्वारा प्रस्तावित उपायों पर संघ-सरकार और संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रशासनों द्वारा की गई कार्यवाही का प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।
- अनुसूचित-जातियों और अनुसूचित-जनजातियों का विधिवत प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए अनुच्छेद- 335 के उपबंधों को दृष्टि में रखते हुए संघ-सरकार के नियंत्रणाधीन सेवाओं तथा पदों में (जिनमें सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों, संविहित और अर्द्ध सरकारी निकायों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों में नियुक्तियाँ भी शामिल हैं) संघ-सरकार द्वारा किए गए उपायों पर विचार करना।
- संघ-राज्य क्षेत्रों में अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित-जनजातियों के कल्याण संबंधी कार्यक्रमों के कार्यकरण के बारे में प्रतिवेदन करना।
- ऐसे अन्य मामलों पर विचार करना, जिसे समिति उचित समझे या जो सदन अथवा अध्यक्ष द्वारा उसे विशेष रूप से निर्दिष्ट किए जाएँ।

महिलाओं को शक्तियाँ प्रदान करने संबंधी समिति

यह समिति सरकार द्वारा महिला सशक्तिकरण की दिशा में किये जा रहे प्रयासों की जाँच करती है तथा राष्ट्रीय महिला आयोग की रिपोर्ट पर अंतिम टिप्पणी करती है। इस समिति में 30 सदस्य होते हैं, जिनमें 20 लोकसभा तथा 10 राज्यसभा के सदस्य शामिल होते हैं। इस समिति की सदस्य केवल महिलाएँ होती हैं।

- राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार करना और इस बात की सूचना देना कि संघ-राज्य क्षेत्र प्रशासनों सहित केन्द्रीय-सरकार के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मामलों के संबंध में महिलाओं की स्थिति/दशा सुधारने के लिए केन्द्रीय-सरकार द्वारा क्या उपाय किए जाने चाहिए।
- महिलाओं को सभी मामलों में समानता, उचित दर्जा और प्रतिष्ठा दिलाने हेतु केन्द्रीय-सरकार द्वारा किए गए उपायों की जाँच करना।
- महिलाओं के लिए व्यापक शिक्षा तथा विधायी निकायों/सेवाओं और अन्य क्षेत्रों में उनके पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए केन्द्रीय-सरकार द्वारा किए गए उपायों की जाँच करना।
- महिलाओं के लिए कल्याणकारी कार्यक्रमों के कार्यकरण के बारे में सूचित करना।
- समिति द्वारा प्रस्तावित उपायों पर केन्द्रीय-सरकार तथा संघ-राज्य क्षेत्र प्रशासनों द्वारा की गई कार्यवाही के बारे में सूचित करना।
- ऐसे अन्य मामलों की जाँच करना, जो समिति को उपयुक्त लगे अथवा जो इसे लोकसभा या अध्यक्ष द्वारा तथा राज्यसभा या राज्यसभा के सभापति द्व ारा विशेष रूप से भेजे जाएँ।

लाभ के पदों संबंधी संयुक्त समिति

लाभ के पदों संबंधी संयुक्त समिति का मुख्य कार्य केन्द्र-सरकार तथा राज्य-सरकारों द्वारा नियुक्त समितियों के गठन और स्वरूप की जाँच करना और यह सिफारिश करना कि कोई व्यक्ति संसद की किसी एक सभा (लोकसभा और राज्यसभा) का सदस्य चुने जाने तथा उसका सदस्य बने रहने के लिए संविधान के अनुच्छेद-102 के अंतर्गत किन पदों को धारण करने से 'अनर्ह' होना चाहिए और किन पदों को धारण करने से 'अनर्ह' नहीं होना चाहिए। संसद (निरर्हता निवारण) अधिनियम- 1959 की अनुसूची की भी समय-समय पर जाँच करना और उक्त अनुसूची में कोई परिवर्द्धन अथवा लोप करने या अन्यथा किन्हीं संशोधनों की सिफारिश करना है।

संसद सदस्य स्थानीय क्षेत्र विकास योजना संबंधी समिति

संसद सदस्य स्थानीय क्षेत्र विकास योजना संबंधी समिति के दो प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं:-

- संसद सदस्य स्थानीय क्षेत्र विकास योजना (लोकसभा) का कार्य निष्पादन तथा क्रियान्वयन में आ रही समस्याओं की निगरानी तथा पुनरीक्षा करना।
- योजना के संबंध में लोकसभा के सदस्यों की शिकायतों पर विचार करना तथा संसद सदस्य स्थानीय क्षेत्र विकास योजना के संबंध में ऐसे कार्य करना, जो इसे समय-समय पर अध्यक्ष द्वारा दिए जायें।

सदन के दैनिक कार्य से संबंधित स्थायी समितियाँ

कार्य मंत्रणा समिति

कार्य मंत्रणा समिति का मुख्य कार्य यह सिफारिश करना है कि, सरकार के उन विधायी तथा अन्य कार्यों पर, जिसे अध्यक्ष, सभा के नेता के परामर्श से समिति को सौंपने का निर्देश दे, चर्चा करने के लिए कितना समय नियत किया जाए। यह समिति स्वयं भी सरकार से सिफारिश करती है कि, वह विषय विशेष, सभा में चर्चा के लिए प्रस्तुत करे साथ ही यह समिति ऐसी चर्चाओं के लिए समय नियत करने की सिफारिश कर सकती है।

नियम समिति

नियम समिति का मुख्य कार्य लोकसभा में प्रक्रिया तथा कार्य संचालन के नियमों पर विचार करना तथा इन नियमों में ऐसे संशोधनों तथा परिवर्द्धनों की सिफारिश करना, जो आवश्यक समझे जाएँ।

लोकसभा एवं राज्यसभा की बैठकों से सदस्यों की अनुपस्थिति संबंधी समिति

लोकसभा एवं राज्य सभा का बैठकों से सदस्यों की अनुपस्थिति संबंधी समिति का मुख्य कार्य सभा की बैठकों से अनुपस्थिति की अनुमति प्राप्त करने के लिए सदस्यों के सभी प्रार्थना-पत्रों पर विचार करना और ऐसे प्रत्येक मामले की जाँच करना, जिसमें कोई सदस्य 60 दिन या इससे अधिक समय तक बिना अनुमति के सभा की बैठकों में अनुपस्थित रहा हो।

गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा संकल्पों संबंधी समिति

गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा संकल्पों संबंधी समिति के मुख्य कार्य गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा संकल्पों के लिए समय नियत करना, संविधान में संशोधन करने वाले गैर- सरकारी सदस्यों के विधेयकों की, लोकसभा में उनको पेश किए जाने से पहले जाँच करना और गैर-सरकारी सदस्यों के ऐसे विधेयकों, जिनमें सभा की विधायी क्षमता को चुनौती दी गई हो, की भी जाँच करना है।

सदन समितियाँ अथवा सेवा समितियाँ

सामान्य प्रयोजनों संबंधी समिति

इस समिति का मुख्य कार्य अध्यक्ष को सभा के कार्यों से संबंधित उन मामलों के बारे में सलाह देना, जो उसे अध्यक्ष द्वारा समय-समय पर सौंपे जाते हैं।

आवास समिति

आवास समिति का मुख्य कार्य लोकसभा के सदस्यों के आवास से संबंधित सभी प्रश्नों पर विचार करना तथा दिल्ली में सदस्यों के निवास स्थानों तथा होटलों में उपलब्ध करायी गई आवास, खाद्य, चिकित्सा सहायता आदि संबंधी सुविधाओं तथा अन्य सुख-सुविधाओं की देख-रेख करना है।

ग्रंथालय समिति

ग्रंथालय समिति का मुख्य कार्य ग्रंथालय से संबंधित ऐसे मामलों पर विचार करना तथा सलाह देना है, जो अध्यक्ष द्वारा समय-समय पर इसे भेजे जाएँ। ग्रंथालय में सुधार हेतु सुझावों पर विचार भी करना तथा ग्रंथालय द्वारा प्रदान की जा रही सेवाओं का सभा के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा पूरी तरह उपयोग करने के लिए सदस्यों की सहायता करना है।

संसद सदस्यों के वेतन तथा भत्ते संबंधी संयुक्त समिति

संसद सदस्यों के वेतन तथा भत्ते संबंधी संयुक्त समिति का मुख्य कार्य केन्द्र-सरकार के परामर्श से दोनों सदनों के सदस्यों को यात्रा और दैनिक भत्ते, चिकित्सा, आवास, टेलीफोन, डाक, पानी, बिजली, निर्वाचन क्षेत्र संबंधी तथा सचिवालयी सुविधाएँ आदि देने के बारे में नियम बनाना है।

संसद भवन परिसर में खाद्य-प्रबंधन संबंधी समिति

संसद भवन परिसर में खाद्य प्रबंधन संबंधी समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:-

- संसद भवन परिसर में स्थित रेलवे खान-पान इकाइयों द्वारा उपलब्ध कराए जाने वाले खाद्य पदार्थों की दरों में संशोधन करना।
- संसद भवन परिसर में रेलवे खान-पान इकाई चलाने के लिए दी जाने वाली सहायता प्रदान करना।
- सदस्यों के लिए उत्कृष्ट कैंटीन सेवा का प्रावधान करना।
- अन्य संबंधित मुद्दों पर विचार करना।

संसद सदस्यों तथा लोकसभा सचिवालय के अधिकारियों हेतु कम्प्यूटर का प्रावधान करने वाली समिति

सदस्यों को कम्प्यूटर की आपूर्ति करने के संबंध में अध्यक्ष को सलाह देना।

राष्ट्रीय नेताओं तथा संसद सदस्यों की तस्वीर/प्रतिमा स्थापित किए जाने संबंधी समिति

राष्ट्रीय नेताओं तथा संसद सदस्यों की तस्वीर/प्रतिमा स्थापित किए जाने संबंधी समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:-

- केन्द्रीय कक्ष में, संसद भवन परिसर में, अन्यथा अन्य किसी स्थान पर राष्ट्रीय नेताओं /संसद-सदस्यों की तस्वीर लगाए जाने के प्रस्ताव पर विचार करना।
- संसद भवन तथा संसद भवन परिसर के किसी अन्य भाग में राष्ट्रीय नेताओं/संसद सदस्यों की प्रतिमाओं के बारे में विचार करना।
- बाहरी संगठनों तथा व्यक्तियों से तस्वीर तथा प्रतिमा की स्वीकृति के बारे में विचार करना।
- जिन स्थानों पर तस्वीर तथा प्रतिमाएँ लगाई जा सकती हैं, उनके बारे में विचार करना।
- अन्य कोई कदम उठाए जाने के बारे में, जिससे कि संसद भवन परिसर और अधिक आकर्षक तथा दर्शनीय लगे, के बारे में निर्णय करना।

संसद भवन परिसर में सुरक्षा समिति

संसद भवन परिसर में सुरक्षा समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:-

- संसद भवन परिसर में, विशेषकर 13वीं लोकसभा के दौरान संयुक्त संसदीय समिति द्वारा की गई सिफारिशों के संदर्भ में सुरक्षा उपकरण स्थापित करने से संबंधित कार्य की प्रगति की समीक्षा।
- विचार करने/निर्णय लेने के लिए लंबित सुरक्षा पहलुओं पर विचार करना।
- संसद की सुरक्षा के संबंध में एक व्यापक प्रतिवेदन तैयार करना, जिसमें संभावित खतरों तथा भविष्य में संभावित परिदृश्य के मद्देनजर उनसे निपटने के लिए कदम उठाया जाए।

विभागीय स्थायी समितियाँ

लोकसभा के नियमों के बारे में विभिन्न विभागों से संबंधित 8 अप्रैल, 1993 को 17 समितियों का गठन किया गया। गौरतलब है कि जुलाई, 2004 में नियमों में संशोधन किया, गया ताकि ऐसी ही सात और समितियाँ गठित की जा सकें। इस प्रकार अब इन समितियों की संख्या-24 हो गई है।

विभागीय समितियों के कार्य

इन समितियों के क्षेत्राधिकार में आनेवाले मंत्रालयों/विभागों के संदर्भ में इनके कृत्य इस प्रकार होंगे-

- अनुदानों की माँगों पर विचार करना।
- ऐसे विधेयकों की जाँच करना जो राज्यसभा के सभापित अथवा लोकसभा अध्यक्ष द्वारा यथास्थिति सौंपे गए हों।
- वार्षिक प्रतिवेदनों पर विचार करना।

सभा में प्रस्तुत राष्ट्रीय आधारभूत, दीर्घावधि, नीति संबंधी दस्तावेजों, जो राज्यसभा के सभापति या लोकसभा अध्यक्ष द्वारा समिति को सौंपे गए हों, उन मामलों पर विचार करना।

सलाहकार समिति

संसदीय कार्य मंत्रालय सलाहकार समिति का निर्माण करता है, जिसमें संसद के दोनों सदनों के सदस्य होते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य आपसी भाईचारे तथा सदस्यों के बीच नजदीकी संबंध बनाना होता है, जिससे संसद में विभिन्न राजनीतिक दलों में आपसी तालमेल बना रहे तथा सरकारी प्रशासन सुचारू रूप से चलता रहे। प्रत्येक मंत्रालय में इस तरह की समिति बनायी जाती है।

सलाहकार समिति की न्यूनतम सदस्य संख्या 10 और अधिकतम 30 होती है। महत्त्वपूर्ण है कि, लोकसभा के भंग हो जाने पर यह समिति भी भंग हो जाती है एवं नई लोकसभा के साथ इसका भी पुनर्गठन किया जाता है।

नैतिक समिति

सांसदों के नैतिक आचरण तथा व्यवहार से संबंधित मामलों की देख-रेख के लिए लोकसभा द्वारा नैतिक-समिति का गठन किया गया है। इस समिति में विपक्ष के नेता सहित 9 सदस्यों को शामिल किया गया है, जो सांसदों के आचरण से सम्बन्धित आचार संहिता के निर्माण का कार्य करते हैं।

क्या आप जानते हैं?

भारत में समिति प्रणाली का विकास प्राचीन काल में ही हो गया था, किन्तु वर्तमान समय में इसका विकास- 'माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार अधिनियम-1919' द्वारा हुआ। संविधान लागू होने के पश्चात् संसदीय समितियाँ एक प्रकार से 'लघु संसद'' की भांति कार्य करती हैं।

संसदीय समितियों का गठन ''भारतीय संविधान के अनुच्छेद-118(1)' के अंतर्गत, निर्मित प्रक्रिया के तहत कार्य संचालन के नियमों के आधार किया जाता है।

विभागीय स्थायी समितियाँ

यह सुझाव दिया जा रहा है की विभागीय स्थायी समितियों (DRSC) को पुनर्गठित किया जाना चाहिए, ताकि ये समितियाँ अपने जाँच संबंधी दायित्वों का बेहतर निर्वहन कर सकें।

DRSC से संबंधित महत्त्वपूर्ण तथ्य

सभी विधेयकों को समितियों में प्रस्तुत नहीं किया जाता है, जैसे GST बिल को किसी भी DRSC में प्रस्तुत किए बिना पारित कर दिया गया था।

समितियों की सिफारिशें बाध्यकारी नहीं होती हैं।

इनकी पहुँच केवल बाह्य विशेषज्ञों तक ही होती है। इनमें कोई आंतरिक विशेषज्ञता विद्यमान नहीं होती है।

यह मंत्रालय के दैनिक प्रशासनिक मामलों पर विचार नहीं करती है।

DRSC क्या हैं?

इन्हें भारत की लघु संसद (Mini Parliaments) भी कहा जाता है। वर्ष 1993 में पहली बार 17 DRSC का गठन किया गया था।

वर्तमान में 24 DRSC कार्यरत हैं, जिनमें प्रत्येक में कुल 31 सदस्य होते हैं। इनमें से प्रत्येक DRSC में लोकसभा के 21 और राज्यसभा के 10 सदस्य होते हैं।

तदर्थ समितियों के विपरीत, समितियाँ स्थायी प्रकृति की होती हैं।

इनके तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

उनके समक्ष प्रस्तुत विधेयक की जाँच करना।

मंत्रालयों से संबंधित विशिष्ट विषयों का चयन करना एवं सरकार द्वारा किये गए इनके कार्यान्वयन की समीक्षा करना।

विभागों से संबंधित बजटीय परिव्ययों (Budgetary Outlays) की जाँच करना।

सदन के अध्यक्ष या स्पीकर द्वारा इन समितियों के समक्ष विधेयक प्रस्तुत किये जाते हैं।

संसदीय प्रक्रिया संबंधी महत्त्वपूर्ण शब्द तथा तथ्य

प्रश्न काल (Question Hour)

संसद के दोनों सदनों में प्रत्येक बैठक के पहले घंटे के समय को सामान्यत: प्रश्न काल के नाम से जाना जाता है। अक्सर संसद में व्यवधान के कारण यह बहुत कम समय ही चल पाता है। इस काल में मंत्रियों से उनके विभागों के संदर्भ में प्रश्न किए जाते हैं।

तारांकित प्रश्न

ऐसे प्रश्नों को तारांकित प्रश्न कहा जाता है, जिसका उत्तर सदन में मौखिक रूप से दिया जाता है। सदस्यों द्वारा ऐसे प्रश्नों के अनुपूरक प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं। ऐसे प्रश्नों को तारांकित प्रश्न इस कारण कहा जाता है कि इन पर तारे का निशान लगाकर अन्य प्रश्नों से इनका विभेद किया जाता है।

अतारांकित प्रश्न

ऐसे प्रश्न, जिनका लिखित रूप से जवाब दिया जाता है न कि तारांकित प्रश्नों के उत्तर की तरह मौखिक रूप से, अतारांकित प्रश्न कहलाते हैं। लिखित उत्तर के कारण इन पर अनुपूरक प्रश्न नहीं पूछे जा सकते। ऐसे प्रश्नों को अतारांकित प्रश्न इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इन पर तारे का निशान नहीं लगा होता।

अल्प सूचना प्रश्न

अविलम्बनीय लोक महत्त्व के किसी मामले के बारे में प्रश्न के मौखिक उत्तर के लिए सूचना दस दिन से कम अवधि में दी जाती है। ऐसे प्रश्न की सूचना देने वाले सदस्य को अल्प-सूचना पर प्रश्न पूछने के कारण को संक्षेप में स्पष्ट करना होता है।

शून्य काल (Zero Hour)

शून्यकाल 12 बजे से 1 बजे तक होता है। शून्यकाल का प्रचलन भी भारतीय संसदीय परंपरा की देन है। शून्यकाल, प्रश्नकाल के बाद आरंभ होता है, इसके अंतर्गत कोई भी सदस्य सरकार की पूर्व अनुमति से या इसके बिना भी प्रश्न पूछ सकता है। इस काल में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर सदन का ध्यान आकर्षित किया जाता है। वर्ष-1960 के दशक से ही यह परंपरा प्रारंभ है। ऐसे विषय, जिन पर प्रश्नकाल में प्रश्न न पूछा जा सके, ऐसे मुद्दों को लोकसभा के नियम-377 के अंतर्गत उठाया जाता है। इसे राज्यसभा में विशेष उल्लेख (Special Mention) के जरिये उठाया जाता है। संसद के दोनों सदनों में प्रश्नकाल के ठीक बाद का समय को शून्यकाल कहा जाता है। इस काल में उठाए जाने वाले विषयों के संदर्भ में कोई विशेष नियम नहीं होते हैं। इस काल में संसद के सभी सदस्य समान रूप से वाद-विवाद या परिचर्चा में भाग ले सकते हैं।

आधे घंटे की चर्चा

जिन प्रश्नों का उत्तर सदन में दिया जा चुका है, उनसे संबंधित मामलों पर आधे घंटे की चर्चा लोकसभा में सोमवार, बुधवार और शुक्रवार को, बैठक के अंतिम आधे घंटे में की जा सकती है। राज्यसभा में ऐसी चर्चा सभापति द्वारा इन प्रयोजन के लिए नियत किसी दिन की जा सकती है। परन्तु ऐसी चर्चा का विषय **'लोक महत्त्व'** का होना चाहिए, जो हाल के किसी तारांकित, अतारांकित या अल्प-सूचना प्रश्न का विषय रहा हो और जिसके उत्तर के किसी तथ्यात्मक मामले का स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो।

अल्पकालीन चर्चा

अल्पकालीन चर्चा के अंतर्गत दोनों सदनों में आम महत्त्व के विषय पर ध्यान आकृष्ट किया जाता है, जिसे किसी भी परिस्थिति में टाला नहीं जा सकता है। लोकसभा अध्यक्ष सप्ताह में दो दिन इस चर्चा के लिए समय निर्धारित कर सकता है। प्राय: विषय का चुनाव कार्य मंत्रणा समिति करती है।

ध्यानाकर्षण प्रस्ताव

ध्यानाकर्षण प्रस्ताव में अध्यक्ष या सभापति की स्वीकृति से कोई सदस्य 'अति सार्वजनिक महत्त्व' के किसी मामले की ओर मंत्री का ध्यान दिलाता है अथवा उससे संबंधित प्रश्न करता है तो इसे ध्यानाकर्षण प्रस्ताव कहा जाता है। प्रस्ताव के पश्चात् संबद्ध मंत्री तत्काल संक्षिप्त वक्तव्य दे सकता है अथवा बाद में वक्तव्य देने के लिए समय की माँग कर सकता है।

स्थगन प्रस्ताव

स्थगन प्रस्ताव सरकार के विरूद्ध निंदा प्रस्ताव होता है। यह प्रस्ताव किसी सदस्य द्वारा गंभीर सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर सदन का ध्यान आकर्षित करने के लिए किया जाता है। स्थगन प्रस्ताव पर विचार करने के लिए शाम के चार बजे का समय निर्धारित किया गया है।

निंदा प्रस्ताव

निंदा प्रस्ताव विरोधी दल के नेता या अन्य सदस्यों द्वारा सरकारी नीतियों की आलोचना करने के लिए पेश किया जाता है। प्रस्ताव की वैधता का फैसला लोकसभा अध्यक्ष करता है। इसके लिए सदन की अनुमति अपेक्षित नहीं होती है। निंदा प्रस्ताव पारित हो जाने पर माना जाता है कि सरकार ने सदन का विश्वास खो दिया है, अत: उसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

काम रोको प्रस्ताव

किसी सार्वजनिक महत्त्व के विषय पर विचार करने के लिए यदि कोई सदस्य सदन की वर्तमान कार्यवाही को बंद करने का प्रस्ताव रखता है तो उसे काम रोको प्रस्ताव कहते हैं। यह प्रस्ताव प्रश्न काल के समाप्त होने के बाद सदन के किसी भी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है।

विशेषाधिकार प्रस्ताव

यदि किसी मंत्री द्वारा संसद में (लोकसभा या राज्यसभा) सही तथ्यों को प्रकट

नहीं किया जाता है अथवा गलत सूचना दी जाती है तो इससे विशेषाधिकार भंग होता है, तो कोई भी सदस्य इस विशेषाधिकार प्रस्ताव को संसद में उस मंत्री के विरुद्ध पेश कर सकता है।

निर्णायक मत

किसी विधेयक पर मतदान के समय यदि सदन में पक्ष और विपक्ष के मत बराबर हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में सदन का अध्यक्ष अपने मत का प्रयोग करता है, जिसे निर्णायक मत कहा जाता है। अध्यक्ष द्वारा दिया गया यह मत विधेयक को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

व्यवस्था का प्रश्न

संसद की कार्यवाही जब नियमों के अनुसार न चल रही हो तो सदस्य को व्यवस्था का प्रश्न उठाने का अधिकार प्राप्त होता है। इस व्यवस्था के प्रश्न के माध्यम से सदस्य संसद की नियमेत्तर कार्यवाही के विरुद्ध अपना असंतोष प्रकट कर इसे नियम के अनुरूप चलाने की माँग करता है।

संसदीय फोरम

संसदीय फोरम, सांसदों द्वारा निर्मित एक अनौपचारिक मंच है, जिसके द्वारा सांसद नीति-निर्माण के लिए विभिन्न गैर- सरकारी स्वैच्छिक समूहों से परामर्श करते हैं और नागरिक समाज से भी विचार-विमर्श करते हैं। अनेक मामलों पर संसदीय फोरम की स्थापना की गई है। संसदीय फोरम के द्वारा सांसदों को सदन में किसी मुद्दे को उठाने के लिए भी सहायता प्रदान की जाती है।

संसदीय लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियाँ

आज जिस तरह से हमारे विधायी सदनों में व्यवस्था एवं शालीनता पर प्रश्नचिह्न लग गया है, इससे आम जनता के मन में भी इन संस्थाओं के प्रति अरूचि बढ़ रही है एवं सम्मान की भावना दिन- प्रतिदिन कम होती जा रही है। विधायी सदनों की बैठकों के दौरान कई सदस्यों द्वारा एक साथ उठकर हंगामा करना, एक-दूसरे के भाषण के दौरान टोका- टाकी करना, पीठासीन अधिकारियों के आदेशों का उल्लंघन करना, उनकी अवमानना करना, उनके ऊपर अनर्गल आरोप लगाना, शोरगुल, नारेबाजी, कार्यवाही का बहिष्कार करना, राज्यपाल, राष्ट्रपति के अभिभाषण के दौरान व्यवधान पैदा करना, कुर्सी फेंकना, एक-दूसरे से हाथापाई करना जैसी असंसदीय एवं शर्मनाक घटनाएँ हमारे संसदीय परिपाटी के अंग के रूप में स्थापित होती जा रही हैं, जिन्होंने हमारे लोकतंत्र के लिए ही खतरा उत्पन्न कर दिया है।

अत: विधायी सदनों के सदस्यों (सांसदों एवं विधायकों) के लिए आचरण संहिता की आवश्यकता है, क्योंकि संसद में एवं राज्यों के विधानमण्डलों में उनके कामकाज का अधिकांश समय, शोर-शराबा, हंगामा, नारेबाजी, आरोप-प्रत्यारोप, हाथापाई व अन्य असंसदीय तथा अशिष्ट कृत्यों में ही चला जाता है। परिणामस्वरूप समयाभाव के कारण अधिकांश विधेयकों पर न तो गंभीर व सार्थक बहस हो पाती है, न ही सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप विधि निर्माण हो पाता है। अत: इन संवैधानिक लोकतंत्रीय संस्थाओं को अर्थपूर्ण एवं इनकी मर्यादा को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि, इन सदस्यों (विधायकों एवं सांसदों) को विधायी कार्य व निजी व्यवहार के लिए एक सर्वसम्मत आदर्श आचरण संहिता हो।

संसदीय समूह (Parliamentary Groups)

संसदीय समूह का महत्त्व

संसदीय समूह के माध्यम से विभिन्न सांसदों के बीच संबंधों की स्थापना करना एवं विकास से संबंधित गतिविधियों में सहभागी बनने का मौका प्रदान करना। हालाँकि अंतर-संसदीय संबंधों को बढ़ावा देना सांसदों के कार्य का महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है। हाल के वर्षों में इसमें एक बढ़ोत्तरी देखने को मिली है जिसका कारण है आज के वैश्विक वातावरण में राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता। यह जरूरी है कि सांसद लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए कार्य करें और दुनिया के समक्ष चुनौतियों को अवसरों में बदलने के लिए सहयोग करें जिससे देशों में शांति और समृद्धि आए। विश्व के अलग-अलग हिस्सों के सांसदों का इसीलिए एक फोरम है, जहाँ वे अपनी सभी समस्याओं पर चर्चा कर सकते हैं व उनका समाधान खोज सकते हैं। ऐसे मंच पर पुरानी एवं नयी पीढ़ी के सांसदों के बीच ही नहीं, बल्कि अलग-अलग संसदीय व्यवस्थाओं के सांसदों के बीच भी विचारों का आदान-प्रदान हो सकेगा और नये विचार निकल सकेंगे। नि:संदेह अंतर-सरकारी सम्मेलनों में भी इन समस्याओं पर चर्चा होती है, लेकिन ये चर्चाएँ उतनी खुली नहीं हो पातीं जैसा कि विधायकों के सम्मेलन में संभव हो पाता है।

अंतर संसदीय संबंध, इस प्रकार आज बड़े महत्त्व के हैं, जबकि पूरी दुनिया ही समस्याओं से घिरी है, जो समस्याएँ आज किसी एक संसद के समक्ष हैं, वही कल किसी अन्य के समक्ष हो सकती हैं। इसलिए आवश्यकता है कि, विभिन्न देशों के सांसदों के बीच एक कड़ी बनी रहे। यह कड़ी भारत द्वारा विभिन्न विदेशी संसदों के साथ प्रतिनिधि मंडलों, शुभेच्छा दौरों, पत्राचार, दस्तावेजों आदि के आदान-प्रदान के द्वारा बनाए रखी जाती है। इस कार्य में भारतीय संसदीय समूह (Indian Parliamentary Group- IPG) एक माध्यम बनता है, जो कि अंतर-संसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह तथा राष्ट्रमंडलीय संसदीय संघ (CPA) की भारतीय शाखा के रूप में भी कार्य करता है।

संसदीय समूह का उद्देश्य

समूह के निम्न उद्देश्य हैं-

- संसद सदस्यों के बीच आपसी संपर्क बढ़ाना।
- सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों का अध्ययन करना, जो कि संसद में उठने वाले हैं साथ ही संगोष्ठियों एवं उन्मुखीकरण पाठ्यक्रमों का आयोजन एवं समूह के सदस्यों के बीच सूचना निस्सरण के लिए दस्तावेजों का प्रकाशन।
- सांसदों एवं गणमान्य व्यक्तियों द्वारा राजनीतिक, सुरक्षा संबंधी, आर्थिक, सामाजिक एवं शिक्षा संबंधी समस्याओं पर व्याख्यान आयोजित करना।
- विदेशी दौरों का आयोजन, इस उद्देश्य से कि अन्य देशों की संसद के सदस्यों से सम्पर्क विकसित हो।

संसदीय समूह की संरचना

भारतीय संसदीय समूह (IPG) एक स्वायत निकाय है। इसकी स्थापना 1949 में संविधान सभा के एक प्रस्ताव के अनुपालन में हुई थी।

संसदीय समूह की सदस्यता प्रत्येक संसद सदस्य के लिए खुली है। भूतपूर्व सांसद भी इसके सहयोगी सदस्य हो सकते हैं। लेकिन सहयोगी या संबद्ध सदस्यों को सीमित अधिकार ही प्राप्त होते हैं। उन्हें आईपीयू और सीपीए के सम्मेलनों एवं बैठकों में प्रतिनिधित्व पात्रता नहीं दी जाती, यात्रा-रियायतें भी नहीं मिलती, जो सीपीए की कुछ शाखाओं पर दी जाती हैं।

लोकसभा अध्यक्ष समूह के पदेन अध्यक्ष होते हैं। लोकसभा के उपाध्यक्ष (डिप्टी स्पीकर) तथा राज्यसभा के उप-सभापति इस समूह के पदेन उपाध्यक्ष होते हैं। लोकसभा के महासचिव समूह के पदेन महासचिव होते हैं।

संसदीय समूह के मुख्य कार्य

संसदीय समूह द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्य एवं गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं-

- संसदीय समूह भारत की संसद तथा विश्व की अन्य संसदों के बीच एक कड़ी का कार्य करता है। इस कड़ी को प्रतिनिधि मंडलों, शुभेच्छा मिशनों,

पत्राचार एवं दस्तावेजों के आदान- प्रदान द्वारा बनाए रखा जाता है।

- संसदीय समूह (क) अंतर-संसदीय संघ के राष्ट्र समूह (IPU) तथा (ख) राष्ट्रमंडल संसदीय संघ (CPA) की मुख्य शाखा के रूप में कार्य करता है।
- संसद सदस्यों का भारत दौरे पर आए विदेशी राष्ट्राध्यक्षों का संबोधन एवं प्रमुख व्यक्तियों द्वारा वार्त्ताओं का आयोजन समूह करता है।
- सामयिक रूचि एवं महत्त्व के संसदीय विषयों पर संगोष्ठियों का समय-समय पर राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन।
- संसदीय समूह के सदस्य, जब विदेशी दौरों पर जाने वाले होते हैं, आईपीयू एवं सीपीए के राष्ट्रीय समूहों के सचिवों एवं सीपीए की शाखाओं के सचिवों को उनका परिचय भेजा जाता है। दौरे वाले देशों के भारतीय मिशनों को सहायता एवं शिष्टाचार के लिए समुचित रूप से सूचित किया जाता है।
- विदेश जाने वाले भारतीय संसदीय प्रतिनिधिमण्डल में उन्हीं सांसदों को सम्मिलित किया जाता है जो प्रतिनिधिमण्डल के गठन के छः माह पूर्व समूह के सदस्य बन चुके होते हैं।
- सदस्यों को सूचनाओं की अनवरत पहुँच के लिए हर तिमाही एक आईपीजी न्यूजलेटर का प्रकाशन किया जाता है, जिसे प्रत्येक सदस्य एवं सम्बद्ध सदस्य को भी नियमित रूप से भेजा जाता है।
- संसदीय समूह के निर्णयानुसार, सर्वोत्कृष्ट सांसद के लिए एक पुरस्कार का गठन 1995 में किया गया था, जो हर वर्ष प्रदान किया जाता है। पाँच सदस्यों की एक समिति का गठन लोकसभा अध्यक्ष करते हैं, जो पुरस्कार के लिए नाम आमंत्रित एवं तय करती है।
- द्विपक्षीय संबंधों को बढ़ावा देने के लिए संसदीय समूह संसदीय मित्रता समूहों का गठन अन्य देशों की संसदों के साथ मिलकर करता है। मित्रता समूह के लक्ष्य एवं उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्कों को बनाए रखना होता है। साथ ही संसदीय गतिविधियों सूचनाओं एवं अनुभवों का आदान-प्रदान भी करना है।

अंतर-संसदीय संघ

आईपीयू संप्रभु राज्यों की संसदों का एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन है। वर्तमान में आईपीयू में 179 देशों की संसद शामिल हैं। इसका लक्ष्य दुनिया भर के लोगों के बीच शांति व सहयोग के लिए काम करना तथा दृढ़ प्रतिनिधिक संस्थाओं की स्थापना करना है। यह संपर्क, समन्वय तथा संसदों एवं सांसदों के बीच अनुभवों को साझा करना संभव बनाता है। सभी सदस्य देशों के बीच प्रतिनिधिक संस्थाओं के कामकाज के बारे में बेहतर ज्ञान एवं समझ प्रदान करने में अपना योगदान देता है। यह सभी अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के ज्वलंत मुद्दों पर अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं, ताकि संसदीय कार्रवाइयों का प्रभावी कार्यान्वयन किया जा सके। यह अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कामकाजी मानकों एवं क्षमताओं में सुधार के उपाय भी सुझाता है।

समूह की सदस्यता के प्रमुख लाभ, जहाँ तक आईपीयू के राष्ट्रीय समूह के रूप में इसके कार्य करने की बात है, वे निम्नलिखित हैं-

- यह भारतीय संसदीय प्रतिनिधिमंडलों को आईपीयू के सदस्य देशों के संसद सदस्यों अथवा सांसदों से सम्पर्क बढ़ाने में सहयोग देता है।
- यह आयोजन विभिन्न देशों में समकालीन परिवर्तनों एवं सुधारों के अध्ययन एवं समझ बढ़ाने का अवसर प्रदान करता है।
- बाहरी देशों की यात्रा के दौरान यह सांसदों को उन देशों के सांसदों से मिलने-जुलने में मदद करता है। यही काम वह भारत दौरे पर आए सांसदों के लिए करता है।
- समूह के सदस्य अंतर-संसदीय सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में विदेशों की यात्रा करने के लिए अर्हत (Eligible) होते हैं।

अतीत से, समूह के सदस्य आईपीयू के विभिन्न निकायों में विभिन्न पद धारण करते रहे हैं; जैसे आईपीयू की विभिन्न समितियों में पदाधिकारी एवं इसी आधार से वे आइपीयू बैठकों में विभिन्न मुद्दों पर भारत का पक्ष रखते रहे हैं।

राष्ट्रमण्डल संसदीय संघ

सीपीए 175 राष्ट्रस्तरीय, राज्यस्तरीय, प्रांतस्तरीय एवं क्षेत्रीय संसदों के लगभग 17,000 राष्ट्रमण्डल सांसदों का संघ है। इसका लक्ष्य संवैधानिक, विधायी, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के बारे में ज्ञान एवं समझ को बढ़ाना है। विशेषकर राष्ट्रमण्डल के देशों एवं उन देशों के बीच जिनका कि इनके साथ नजदीकी ऐतिहासिक एवं संसदीय सम्बद्धता है। इसका मिशन लोकतांत्रिक अभिशासन के बारे में जानकारी एवं समझ बढ़ाकर संसदीय लोकतंत्र को आगे ले जाना है। संसदीय समुदाय का निर्माण करके राष्ट्रमण्डल की लोकतांत्रिक प्रतिबद्धताओं को गहरा करना तथा इसके सांसदों एवं विधायकों के बीच अधिकाधिक सहयोग बढ़ाना भी इसका उद्देश्य है।

इस समूह की सदस्यता के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं, भारत में सीपीए की मुख्य शाखा के रूप में-

- ***सम्मेलन एवं संगोष्ठी***- सदस्यता से अधिवेशनों एवं क्षेत्रीय सम्मेलनों, संगोष्ठियों, दौरों-भ्रमण तथा प्रतिनिधिमंडलों के आदान-प्रदान में सहभागिता का अवसर मिलता है।
- ***प्रकाशन***-'दि पार्लियामेंटेरियन' त्रैमासिक तथा न्यूजलेटर 'फर्स्ट रीडिंग' सभी सदस्यों को प्रत्येक दूसरे माह प्राप्त होता है।
- ***सूचना***- सीपीए सचिवालय के संसदीय सूचना एवं संदर्भ केन्द्र सदस्यों को संसदीय, संवैधानिक एवं राष्ट्रमण्डल मुद्दों पर सूचनाएँ प्रदान करता है।
- ***परिचय***- सीपीए शाखाएँ अन्य देशों/क्षेत्रों के भ्रमण के दौरान परिचय का आयोजन करती हैं।
- ***संसदीय सुविधाएँ***- अन्य राष्ट्रमंडल देशों के भ्रमण के समय सदस्यों के प्रति संसदीय शिष्टाचार बरता जाता है, विशेषकर चर्चाओं एवं स्थानीय सदस्यों तक उनकी पहुँच बनायी जाती है।
- ***यात्रा सुविधाएँ***- कुछ शाखाएँ अपने नामित सदस्यों के लिए प्रतिवर्ष राष्ट्रमण डल या अन्य देशों का अध्ययन-भ्रमण या दौरा आयोजित करती हैं- राजनीतिक एवं प्रक्रियात्मक विकास की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन के लिए।

संसदीय मंच (Parliamentary Forum)

गठन

'जल संरक्षण एवं प्रबन्धन' पर प्रथम संसदीय मंच (Parliamentary Forums) सन् 2005 ई. में गठित हुआ। संसदीय फोरम के तहत सात अन्य फोरम भी गठित किए गए। वर्तमान में 8 संसदीय फोरम कार्यरत हैं-

1. जल संरक्षण एवं प्रबंधन पर संसदीय फोरम (2005)
2. युवाओं पर संसदीय फोरम (2006)
3. बच्चों पर संसदीय फोरम (2006)
4. जनसंख्या एवं जन-स्वास्थ्य पर संसदीय फोरम (2008)
5. भूमण्डलीय उष्णता एवं जलवायु परिवर्तन पर संसदीय फोरम (2008)
6. आपदा प्रबंधन पर संसदीय फोरम (2011)
7. शिल्पकारों एवं दस्तकारों पर संसदीय फोरम (2013)
8. सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्य पर संसदीय फोरम (2013)

मंच के उद्देश्य

संसदीय फोरम का गठन निम्न उद्देश्य के लिए किया जा सकता है -

- सदस्यों को एक ऐसा मंच प्रदान करना, जहाँ वे सम्बन्धित मंत्रियों, विशेषज्ञों

तथा नोडल मंत्रालयों के प्रमुख अधिकारियों के साथ महत्त्वपूर्ण विषयों पर संकेन्द्रित और सार्थक चर्चा कर सकें, जो परिणामोन्मुख हो और कार्यान्वयन प्रक्रिया को गति प्रदान कर सकें।

- सदस्यों को प्रमुख चिन्तनीय विषयों के साथ ही जमीनी वास्तविकताओं के प्रति भी संवेदित करना तथा उन्हें अद्यतन सूचनाओं, तकनीकी ज्ञान तथा देशी एवं विदेशी विशेषज्ञों द्वारा प्रासंगिक विषय के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी दिलाना, जिससे कि वे सदन में तथा विभागीय स्थायी समितियों में इन मुद्दों को प्रभावकारी ढंग से उठा सकें।
- महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर सम्बन्धित मंत्रालय, विश्वस्त गैर-सरकारी संगठनों, समाचार-पत्रों, संयुक्त राष्ट्र, इंटरनेट आदि के माध्यम से आँकड़े एकत्रित कर एक डाटाबेस तैयार करना और उन्हें सदस्यों के बीच वितरित करना, जिससे कि वे फोरम की बैठकों में सार्थक ढंग से भाग लें तथा अधिकारियों एवं विशेषज्ञों से स्पष्टीकरण प्राप्त करें।

उपरोक्त के बारे में सहमति बन गई है कि संसदीय फोरम मंत्रालयों/विभागों से संबंधित स्थायी समितियों (DRSC) के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा अथवा उनके अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करेगा।

संसदीय मंच की संरचना

संसदीय मंच के पदेन अध्यक्ष लोकसभा अध्यक्ष होते हैं। **अपवाद** हैं जनसंख्या पर गठित फोरम तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य पर गठित फोरम, जिनके पदेन अध्यक्ष राज्यसभा के सभापति होते हैं तथा लोक सभा अध्यक्ष **पदेन सह-अध्यक्ष** होते हैं। राज्यसभा के उप-सभापति, लोकसभा उपाध्यक्ष सम्बन्धित मंत्री तथा विभागों से संबंधित स्थायी समितियों के अध्यक्ष विभिन्न फोरमों के पदेन उपाध्यक्ष होते हैं। प्रत्येक फोरम में 31 से अधिक सदस्य नहीं हो सकते हैं (अध्यक्ष, सह-अध्यक्ष तथा उपाध्यक्षों को छोड़कर); जिसमें लोकसभा से अधिकतम 21 तथा राज्यसभा से अधिकतम 10 सदस्य होते हैं। इन फोरमों के सदस्य (अध्यक्ष सह-अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को छोड़कर) लोकसभा अध्यक्ष/सभापति द्वारा नामित किए जाते हैं, जिनमें राजनीतिक दलों/समूहों अथवा उनके द्वारा नामित सदस्य शामिल रहते हैं, जिनका संबंधित विषय में विशेष ज्ञान अथवा अभिरूचि हो। सदस्यों का कार्यकाल उनके अपने सदन में सदस्यता के साथ जुड़ा होता है। कोई सदस्य लोकसभा अध्यक्ष/सभापति को लिखित रूप में अपना त्याग-पत्र दे सकता है। फोरम का अध्यक्ष सदस्यों में से एक को सदस्य-संयोजक नियुक्त करता है, जो कि नियमित रूप से स्वीकृत कार्यक्रमों/बैठकों का संचालन अध्यक्ष के परामर्श से करता है। फोरम की बैठकें चालू सत्र में समय-समय पर आयोजित होती रहती हैं।

फोरम के कार्य *(Function of Forum)*

जल संरक्षण एवं प्रबंधन पर संसदीय फोरम

संसदीय फोरम के निम्न कार्य हैं-

- जल से सम्बन्धित समस्याओं की पहचान करना तथा उन पर सुझाव/अनुशंसा देना, जिससे कि उन पर विचारोपरान्त सरकार या सम्बन्धित संगठन द्वारा उपयुक्त कार्यवाही की जा सके।
- संसद सदस्यों के अपने-अपने चुनाव क्षेत्रों/राज्यों में जल संसाधन के संरक्षण संलग्नता के तरीकों को चिह्नित करना।
- जल संरक्षण एवं उसके कुशल प्रबन्धन के बारे में जागरूकता पैदा करने के लिए संगोष्ठियों एवं कार्यशालाओं का आयोजन।
- अन्य सम्बन्धित कार्य जिसे उचित समझा जाए।

बच्चों के लिए संसदीय फोरम

बच्चों के लिए संसदीय फोरम के निम्नलिखित कार्य हैं-

- सांसदों में बच्चों के कल्याण पर प्रभाव डालने वाले महत्त्वपूर्ण मुद्दों के बारे में जागरूकता बढ़ाना जिससे कि वे विकास प्रक्रिया में बच्चों के उचित स्थान को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक नेतृत्व प्रदान कर सकें।
- सांसदों को एक ऐसा मंच प्रदान करना, जहाँ वे बच्चों से सम्बन्धित अपने विचारों, दृष्टिकोणों, अनुभवों तथा विशेषज्ञ प्रचलनों के बारे में सुव्याख्यायित तरीके से कार्यशालाओं, संगोष्ठियों, उन्मुखीकरण कार्यक्रमों के माध्यम से आदान-प्रदान कर सकें।
- सांसदों को नागरिक समाज के साथ आमने-सामने होने का अवसर प्रदान करना ताकि बच्चों से संबंधित मुद्दों को उजागर किया जा सके तथा स्वयंसेवी क्षेत्र मीडिया तथा कॉरपोरेट क्षेत्र के साथ ही संवाद स्थापित कर प्रभावकारी राजनीतिक भागीदारी को बढ़ावा दिया जा सके।
- सांसदों को संस्थागत तरीके से विशेषज्ञता प्राप्त संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों, जैसे कि यूनिसेफ तथा अन्य तुलनीय बहुपार्श्विक एजेंसियों के साथ विशेषज्ञों के प्रतिवेदनों, अध्ययनों, समाचार एवं रुझान विश्लेषणों आदि के बारे में बातचीत करने के अवसर प्रदान करना।
- ऐसे अन्य कार्य, परियोजना, कार्यभार आदि को हाथ में लेना, जैसा कि फोरम उचित समझे।

युवाओं के लिए संसदीय फोरम

युवाओं के लिए संसदीय फोरम के निम्न कार्य हैं-

- विकासात्मक पहलों को आगे बढ़ाने के लिए युवाओं के अन्दर मौजूद मानव-पूँजी का उपयोग करने के बारे में रणनीतियों पर संकेन्द्रित चर्चा चलाना/करना।
- जन-नेताओं के बीच तथा तृणमूल स्तर पर सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के लिए युवा शक्ति की क्षमताओं के बारे में जागरूकता पैदा करना।
- युवा प्रतिनिधियों एवं नेताओं के साथ नियमित अन्त:क्रिया करना तथा उनकी आशाओं, आकांक्षाओं, चिन्ताओं एवं समस्याओं के बारे में जानना और विचार करना।
- उन तरीकों पर विचार करना, जिनके माध्यम से संसद की विभिन्न वर्गों के युवाओं तक पहुँच को बढ़ाया जा सके, जिससे कि लोकतान्त्रिक संस्थाओं में उनकी आस्था एवं प्रतिबद्धता बनायी रखी जा सके और उनमें उनकी सक्रिय सहभागिता को भी प्रोत्साहित किया जा सके।
- विशेषज्ञों, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अकादमियों तथा सम्बन्धित सरकारी एजेंसियों के साथ चर्चा करके युवा सशक्तिकरण से सम्बन्धित सार्वजनिक नीति की पुनर्रचना की जा सके।

आपदा प्रबन्धन पर संसदीय फोरम

आपदा प्रबंधन पर संसदीय फोरम के निम्न कार्य हैं-

- आपदा प्रबंधन से जुड़ी समस्याओं की पहचान करना तथा सुझाव/अनुशंसाएँ देना, ताकि सरकार/ संबंधित संस्था उन पर विचार कर आपदा के प्रभाव को कम करने के लिए उपयुक्त कार्यवाही कर सके।
- उन तरीकों की पहचान करना, जिनसे संसद सदस्यों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय निकायों के विशेषज्ञों से बातचीत करने के लिए संलग्न किया जा सके, जो आपदा प्रबंधन के क्षेत्र में बढ़े हुए प्रयासों के साथ आपदा के प्रभावों का न्यूनीकरण करने के लिए नयी प्रौद्योगिकियों का विकास कर रहे हैं।
- संगोष्ठियों/कार्यशालाओं का आयोजन संसद सदस्यों को आपदा के कारणों एवं प्रभावों के बारे में जागरुक करने के लिए।
- संसद सदस्यों में आपदा प्रबंधन के बारे में जागरुकता फैलाने के लिए।

- अन्य सम्बन्धित कार्य शुरू करना जो भी उपयुक्त माना जाए।

जनसंख्या एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए संसदीय फोरम

जनसंख्या एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए संसदीय फोरम के निम्न कार्य हैं-

- जनसंख्या स्थिरीकरण एवं इससे जुड़े मामलों पर रणनीति बनाने के लिए संकेन्द्रित चर्चा करना।
- जन-स्वास्थ्य से जुड़े मामलों पर चर्चा करना एवं रणनीति बनाना।
- जनसंख्या नियंत्रण एवं जन-स्वास्थ्य के बारे में समाज के सभी वर्गों, में जागरुकता फैलाना।
- राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय स्तर पर विशेषज्ञों के साथ जनसंख्या एवं जन-स्वास्थ्य जैसे मामलों पर चर्चा करना तथा बहुपार्श्विक संस्थाओं, जैसे-विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या निधि (UNPF), अकादमियों एवं सम्बन्धित सरकारी एजेन्सियों के साथ संवाद करना।

भूमंडलीय उष्णता एवं जलवायु परिवर्तन पर संसदीय फोरम

भूमंडलीय उष्णता एवं जलवायु परिवर्तन पर संसदीय फोरम के निम्नलिखित कार्य हैं-

- भूमंडलीय उष्णता एवं जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित समस्याओं को चिह्नित करना तथा सरकार/ सम्बन्धित संगठन के स्तर पर भूमंडलीय उष्णता को कम करने के लिए की जाने वाली कार्रवाइयों के बारे में राय देना/अनुशंसा करना।
- उन तरीकों को चिह्नित करना, जिनके द्वारा सांसदों को राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उन विशेषज्ञों के साथ संवाद स्थापित कराया जा सके, जो कि भूमंडलीय उष्णता एवं जलवायु परिवर्तन पर कार्य कर रहे हैं। साथ ही भूमंडलीय उष्णता के न्यूनीकरण से सम्बन्धित नई प्रौद्योगिकी को विकसित करने संबंधी प्रयासों को बढ़ावा देने के लिए भी कार्य कर रहे हैं।
- सांसदों में भूमंडलीय उष्ण एवं जलवायु परिवर्तन के कारणों एवं प्रभावों के बारे में जागरूक करने के लिए संगोष्ठियों/ कार्यशालाओं का आयोजन करना।
- उन तरीकों को चिह्नित करना, जिनसे सांसदों को भूमंडलीय उष्णता एवं जलवायु परिवर्तन को रोकने के बारे में जागरूकता फैलाने में संलग्न किया जा सके।
- ऐसे दूसरे कार्य जिन्हें फोरम उचित समझे।

दस्तकारों एवं शिल्पकारों के लिए संसदीय फोरम

दस्तकारों एवं शिल्पकारों के लिए संसदीय फोरम के निम्न कार्य हैं-

- संसद सदस्यों का ध्यान दस्तकारों एवं शिल्पीगणों को प्रभावित करने वाले मुद्दों की ओर आकृष्ट कर उनमें उनकी समस्याओं के प्रति जागरुकता बढ़ाना, जिससे कि पारम्परिक कला और शिल्प का विभिन्न माध्यमों से संरक्षण एवं संवर्धन किया जा सके।
- संसद सदस्यों को दस्तकारों एवं शिल्पियों से संबंधित मामलों पर विचार विनिमय के लिए एक मंच प्रदान करना, जहाँ एक सुसंगत तरीके से कार्यशालाओं, संगोष्ठियों, उन्मुखता कार्यक्रमों आदि के माध्यम से इस क्षेत्र की समस्याओं, अनुभवों एवं विशेषताओं को साझा किया जा सके।
- दस्तकारों एवं शिल्पियों से जुड़े मुद्दों को प्रकाश में लाने के लिए संसद सदस्यों को नागरिक समाज के साथ एक अंतरापृष्ठ उपलब्ध कराना, साथ ही स्वयंसेवी क्षेत्र, मीडिया तथा कॉरपोरेट जगत के साथ प्रभावी रणनीतिक साझेदारी को बढ़ावा देना।
- संसद सदस्यों को इस मुद्दे पर विभिन्न संघीय मंत्रालयों, सरकारी संगठनों जैसे-खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग (KVIC)ए कपार्ट (CAPART) एवं अन्य संबंधित संगठनों को संवाद करने में सक्षम बनाना।
- कला एवं पारम्परिक दस्तकारी के संरक्षण तथा दस्तकारों एवं शिल्पीगणों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेषज्ञों/संगठनों आदि से राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर व्यापक संवाद एवं चर्चा आयोजित करना।
- ऐसे अन्य कार्य, परियोजनाएँ, जिम्मेदारियाँ आदि हाथ में लेना जिन्हें फोरम उचित समझे।

सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्यों के लिए संसदीय फोरम

सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्यों के लिए संसदीय फोरम के निम्नलिखित कार्य हैं-

- सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्य को वर्ष 2015 तक हासिल कर लेने के कार्य में जो अवरोध या महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं, उनके बारे में संसद सदस्यों को जागरुक बनाना और इनकी समीक्षा करना।
- संसद सदस्यों को सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्य (MDG) के कार्यान्वयन से जुड़े विचारों, दृष्टिकोणों, अनुभवों, विशेषताओं एवं सर्वोत्तम प्रचालनों पर कार्यशालाओं, संगोष्ठियों, उन्मुखीकरण कार्यक्रमों आदि के माध्यम से सुसंगत रूप में चर्चा के लिए मंच प्रदान करना।
- संसद सदस्यों को सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्यों से जुड़े मूल्यों, यथा-गरीबी एवं भुखमरी उन्मूलन, सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धि, यौन समानता एवं स्त्री सशक्तिकरण, शिशु-मृत्यु में कमी, मातृ-स्वास्थ्य में सुधार, एचआईवी/एड्स, मलेरिया तथा अन्य बीमारियों की रोकथाम, पर्यावरणीय धारणीयता तथा विकास के लिए वैश्विक साझेदारी के विकास को उजागर करने एवं चर्चा करने के लिए नागरिक समाज (civil society) के साथ अंतरापृष्ठ (interface) प्रदान करना।
- संसद सदस्यों को विशेषज्ञ, संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों तथा अन्य तुलनीय बहुपार्श्विक एजेंसियों, विशेषज्ञ प्रतिवेदन, अध्ययन, समाचार एवं चलन-विश्लेषण इत्यादि के साथ सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्यों की उपलब्धि के विषय में संस्थानिकीकृत ढंग से बात करने में समर्थ बनाना।
- अन्य कार्य परियोजना, दायित्व आदि जैसा कि फोरम उचित समझे अपने हाथ में लेना।

उच्चतम न्यायालय
(Supreme Court)

न्यायपालिका (Judiciary)

परिचय

लोकतांत्रिक प्रणाली शक्तियों के विभाजन व शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा में विश्वास रखती है, जिसका अर्थ यह है कि, जो संस्थान कानूनों का निर्माण करते हैं एवं लागू करते हैं, वे संस्थान उन कानूनों की औचित्यता व अनौचित्यता की जांच नहीं कर सकते। भारत में संघीय व्यवस्था के प्रारूप को अपनाया गया है, जिसमें संविधान द्वारा संघ व राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है। जहाँ एक ऐसी संस्था की माँग उठती है, जो यह निर्णय दे कि, केंद्र व राज्य अपने-अपने दायरे में ही काम कर रहे हैं, साथ ही मौलिक अधिकारों की व्यवस्था भी यह माँग करती है कि सभी नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहें, चाहे वह अल्पसंख्यक हो या बहुसंख्यक।

अत: उपरोक्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए हमारे संविधान के भाग-5, अनुच्छेद (124-147) में एक न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। भारतीय संविधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि, संविधान के द्वारा शासन के सभी अंगों पर निश्चित प्रतिबंध आरोपित हैं। इसलिए भारत में शासन का कोई अंग सर्वोच्च नहीं, अपितु संविधान सर्वोच्च है। इस संविधान की व्याख्या के लिए शासन के अंगों पर लगे प्रतिबंधों की जाँच के लिए एक स्वतंत्र और स्वायत्त न्यायपालिका की व्यवस्था की गयी है।

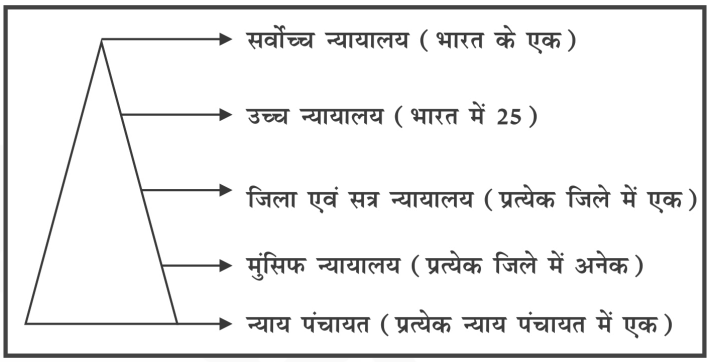

न्यायपालिका की संरचना

न्यायपालिका की संरचना के महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। केंद्रीय स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय, राज्यों के स्तर पर उच्च न्यायालय, जिला स्तर पर जिला एवं सत्र न्यायालय। जिला न्यायालय की भी दो महत्वपूर्ण कड़ियाँ मुंसिफ न्यायालय (प्रत्येक जिले में अनेक) और न्याय पंचायत (प्रत्येक पंचायत में एक) हैं।

संरचना (Structure)

उच्चतम न्यायालय
- इसके फैसले सभी अदालतों को मानने होते हैं।
- यह उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का तबादला कर सकता है।
- यह किसी अदालत से मुकदमा अपने पास मँगवा सकता है।
- यह किसी एक उच्च न्यायालय में चल रहे मुकदमें को दूसरे उच्च न्यायालय में भेज सकता है।

उच्च न्यायालय
- निचली अदालतों के फैसले पर की गई अपील की सुनवाई कर सकता है।
- मौलिक अधिकारों को बहाल करने के लिए रिट जारी कर सकता है।
- राज्य के क्षेत्राधिकार में आने वाले मुकदमों का निपटारा कर सकता है।
- अपने अधीनस्थ अदालतों का पर्यवेक्षण और नियंत्रण करता है।

जिला एवं सत्र न्यायायल
- जिले में दायर मुकदमों को सुनवाई करती है।
- निचली अदालतों के फैसले पर की गई अपील की सुनवाई करती है।
- गंभीर किस्म के आपराधिक मामलों पर फैसला देती है।
- फौजदारी और दीवानी के मुकदमों पर विचार करती है।

मुंसिफ न्यायालय
- जिले में जिला एवं सत्र न्यायाधीश के नीचे 'सिविल' एवं आपराधिक मामलों को देखने के लिए अलग-अलग 'मजिस्ट्रेट' होते हैं।
- सिविल मामलों को देखने वाले मजिस्ट्रेट को 'मुंसिफ मजिस्ट्रेट या सिविल मुंसिफ' तथा अपराधिक मामलों को देखने वाले मजिस्ट्रेट कहलाता है।

न्याय पंचायत
- कुछ राज्यों में पंचायत न्यायालय का गठन किया गया है, जिसे विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे- पंचायत अदालत, ग्राम कचहरी, न्याय पंचायत आदि।
- न्याय पंचायत अपराधिक एवं सिविल (दीवानी) के छोटे मामलों की सुनवाई करती है। जिले के प्रत्येक पंचायत में एक 'न्याय पंचायत' की स्थापना की जाती है।

'न्याय व्यवस्था' भारत बनाम संयुक्त राज्य अमेरिका

अमेरिका

अमेरिकी व्यवस्था में केंद्र तथा राज्यों के अलग-अलग न्यायालय होते हैं। वहाँ सर्वोच्च न्यायालय का कार्य संविधान की व्याख्या करना, संघीय विषयों वाले विवादों का निपटारा करना तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा करना होता है। जबकि राज्यों के अलग न्यायालय होते हैं, राज्य न्यायालय, राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता है। राज्य-सूची के विषयों पर अंतिम निर्णय राज्य न्यायालय का ही होता है। राज्य न्यायालय, संघीय न्यायालय के अधीन कार्य नहीं करता है तथा वह सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय भी नहीं होता है।

भारत

भारत में स्थिति भिन्न है। भारतीय न्याय व्यवस्था सोपानात्मक है। सबसे उच्च शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है, जबकि न्यायिक दृष्टि से सभी न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय के अधीन हैं। सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति व हस्तांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा इसके निर्णयों को बदल सकता है। उच्च न्यायालयों के निर्णयों के खिलाफ, सर्वोच्च न्यायालय में अपील हो सकती है। परंतु प्रशासनिक दृष्टि से उच्च न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय से स्वतंत्र है। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को सम्मिलित रूप से उच्चतर न्यायालय (Higher Judiciary) कहते हैं। जबकि उच्च न्यायालय से भिन्न तथा निम्न न्यायालयों को अधीनस्थ न्यायपालिका (Subordinate Judiciary) कहते हैं।

अधिकरण (Tribunals)

42वें संविधान संशोधन अधिनियम-1976 द्वारा भारत में अधिकरणों की व्यवस्था की गयी, जो न्यायपालिका के भार को कम करने हेतु विशेष उद्देश्यों से बनाया गया है। ये न्यायालय मूलत: सिविल वादों का निपटारा करते हैं तथा उच्च न्यायालय के समान शक्तियाँ धारण करते हैं।

विशेष अदालतें

यह न्यायपालिका की आवश्यकताओं से उपजी व्यवस्था है, जरूरत के अनुसार विशेष अदालतों का गठन किया जाता है; जैसे- उपभोक्ता अदालत, लोक अदालत, हरित अदालत, ई. अदालत, मोबाइल अदालत आदि।

स्वतंत्र न्यायपालिका

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के बीच, समूहों के बीच और व्यक्ति या समूह तथा सरकार के बीच विवाद उठते हैं। इन सभी विवादों को 'कानून के शासन के सिद्धांत' के आधार पर एक स्वतंत्र संस्था द्वारा हल किया जाना चाहिए। 'कानून के शासन' का भाव यह है कि, धनी और गरीब, महिला और पुरुष तथा अगड़े और पिछड़े सभी लोगों पर एक समान कानून लागू हो। न्यायपालिका की प्रमुख भूमिका यह है कि वह 'कानून के शासन' की रक्षा और कानून की सर्वोच्चता को सुनिश्चित करे। न्यायपालिका व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करती है, विवादों को कानून के अनुसार हल करती है और यह सुनिश्चित करती है कि लोकतंत्र की जगह किसी एक व्यक्ति या समूह की तानाशाही न ले ले। इसके लिए जरूरी है कि न्यायपालिका किसी भी राजनीतिक दबाव से मुक्त हो।

इतनी स्वतंत्रता क्यों?

- न्यायपालिका की स्वतंत्रता लोकतंत्र की प्रभावी कार्यकरण की आधारभूत शर्त है, क्योंकि कार्यपालिका के कार्यों पर न्यायापलिका में आने-वाले ज्यादातर मुद्दे सरकार के विरुद्ध ही आते हैं।
- भारत का संविधान लिखित एवं सर्वोच्च है, जिसकी व्याख्या के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता है।
- भारतीय संविधान में संघीय प्रावधानों का उल्लेख है तथा मूल अधिकारों का भी अध्याय है और इन प्रावधानों के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका अति आवश्यक है।

भारतीय न्यायपालिका सर्वोच्च नहीं, क्यों? और कैसे?

- भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति असीमित नहीं है। उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है कि, वित्त आयोग को सौंपे गये विषयों तथा अंतर्राज्यीय जल विवादों आदि को न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखा गया है। इसके अतिरिक्त चुनाव क्षेत्रों के परिसीमन को भी न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखा गया है।
- मंत्रिपरिषद द्वारा राष्ट्रपति एवं राज्यपालों को दिया गया परामर्श भी न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखा गया है।

अत: कहा जा सकता है कि भारतीय शासन प्रणाली में 'सर्वोच्च न्यायालय' सर्वोच्च संस्था नहीं है बल्कि संविधान सर्वोच्च है।

क्या आप जानते हैं?

उत्तर प्रदेश भारत का ऐसा पहला राज्य है, जिसने 'पंचायत राज अधिनियम-1947' के तहत 'न्याय पंचायत' का गठन किया। इसमें कुल पांच सदस्य होते हैं, जो जिला अधिकारी द्वारा जिला न्यायाधीश के साथ विचार-विमर्श कर ग्राम सभा सदस्यों से नामित होते हैं अथवा ग्राम पंचायत समिति द्वारा निर्वाचित होते हैं।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय

सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रीय स्तर का एकमात्र न्यायालय है। राज्यों में उच्च न्यायालय एवं अधीनस्थ न्यायालय हैं (अनुच्छेद 214-237)। राज्यों के अधीनस्थ न्यायालयों के विरुद्ध उच्च न्यायालयों में अपील की सकती है और उच्च न्यायालय के फैसले के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। इस प्रकार भारत में पिरामिडीय अनुतंत्र में सूत्रबद्ध एकल व संगठित न्याय प्रणाली है, जिसके शीर्ष पर भारत का सर्वोच्च न्यायालय है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय अंतिम होते हैं तथा इन निर्णयों के विरुद्ध किसी और न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। अत: भारतीय न्यायालयों में इसे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यता

संविधान के अनुच्छेद-124(3) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए निम्न योग्यताएँ निश्चित की गई हैं-

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह कम से कम लगातार पाँच वर्ष तक किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयों का न्यायाधीश रह चुका हो।
- उसने कम-से-कम 10 वर्ष लगातार किसी एक या दो या इससे अधिक उच्च न्यायालयों में वकालत की हो।
- राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता हो।

न्यायाधीशों की नियुक्ति

संविधान के अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा। न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए मंत्रियों की सलाह के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से परामर्श कर सकेगा। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की दशा में वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करेगा, जो वह आवश्यक समझे और सामान्यत: उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। अनुच्छेद-124(1) के अनुसार, उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायामूर्ति से परामर्श करना अनिवार्य है। इस उपबंध से कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग उपांतरित हो जाता है, क्योंकि इसमें यह उपबंध किया गया है कि कार्यपालिका को न्यायापालिका के सदस्यों से परामर्श करना चाहिए। कारण यह है कि वे इस विषय में अपनी राय देने के लिए अर्ह हैं।

शपथ

अनुच्छेद-124(6) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश, राष्ट्रपति या

राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित व्यक्ति के समक्ष संविधान की श्रद्धा व निष्ठा रखने, भारत की एकता तथा अखण्डता को बनाये रखने तथा संविधान की मर्यादा बनाये रखने की शपथ लेते हैं। न्यायाधीश के शपथ का प्रारूप, तीसरी अनुसूची में वर्णित है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश का कार्यकाल

संविधान के अनुच्छेद-124(2) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं। उनकी नियुक्ति हेतु कोई न्यूनतम आयु अथवा नियत पदावधि का निर्धारण नहीं किया गया है। 65 वर्ष की आयु से पहले कोई भी न्यायाधीश अपनी इच्छानुसार त्याग-पत्र दे सकता है। इसके अतिरिक्त किसी भी न्यायाधीश को कदाचार या अयोग्यता के कारण 65 वर्ष की आयु से पहले भी पदच्युत किया जा सकता है। इसके लिए प्रावधान किया गया है कि, संसद के दोनों सदन अपने-अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति के पास भेजें। अनुच्छेद-124(4) के अंतर्गत यह कहा गया है कि संसद द्वारा किसी न्यायाधीश के विरुद्ध प्रस्ताव पास किए बिना राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को पद से हटाने का आदेश जारी नहीं कर सकता है।

कॉलेजियम व्यवस्था

वर्ष 1998 में न्यायाधीशों के दूसरे मामले में न्यायालय ने यह निर्धारित किया है कि, भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति में अब न्यायाधीशों की ही प्राथमिकता हो गयी है। अब न्यायाधीशों की नियुक्ति में भारत के मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के 4 न्यायाधीशों की कॉलेजियम से परामर्श करना होगा। यदि दो न्यायाधीशों ने भी अपनी राय प्रतिकूल रूप में प्रकट की, तो मुख्य न्यायाधीश उस नाम की अनुशंसा सरकार को नहीं भेजेंगे। कॉलेजियम के द्वारा सामान्यत: आम सहमति से निर्णय लिया जाता है, जिसमें मुख्य न्यायाधीश का विचार सम्मिलित होता है। परामर्श प्रक्रिया का अभिप्राय, केवल उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की राय नहीं है, बल्कि परामर्श का अर्थ, सहमति है।

न्यायाधीश नियुक्ति विधेयक (संविधान संशोधन विधेयक)

भारत में अब तक 25 उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति, न्यायाधीशों की एक कॉलेजियम व्यवस्था द्वारा की जा रही है। परंतु वर्तमान समय में इस व्यवस्था को लेकर रोष व्याप्त है। अत: वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में तथा न्याय प्रणाली की गुणवत्ता में सुधार हेतु संसद ने एक 'न्यायिक नियुक्ति आयोग' गठित करने की पहल की थी। इस हेतु संसद ने वर्ष 2015 में 99वाँ संविधान संशोधन पास कर दिया था। हालांकि सरकार द्वारा पारित इस विधेयक को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।

विधेयक लाने का उद्देश्य

इस विधेयक का उद्देश्य, न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका तथा विधायिका को बराबर का अधिकार देना था। वर्ष 1993 से अब तक प्रचलित 'कॉलेजियम सिस्टम' के तहत न्यायपालिका स्वयं ही उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है तथा इसमें कार्यपालिका की कोई भूमिका नहीं है। संभवत: भारत, विश्व का ऐसा पहला देश है, जहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका की कोई भूमिका नहीं होती है। अत: इसी कमी को दूर करने हेतु यह विधेयक लाया गया था।

साथ ही इस विधेयक को लाने का उद्देश्य, न्यायाधीशों की गुणवत्ता में सुधार करना था। अब तक न्यायाधीशों की नियुक्ति में भाई-भतीजावाद तथा कम गुणवत्ता वाले न्यायाधीशों की नियुक्ति की संभावना बनी रहती है, क्योंकि कॉलेजियम व्यवस्था में कोई गुणवत्ता मानक तय नहीं था। जबकि न्यायिक नियुक्ति आयोग के तहत एक व्यापक आधार पर गुणवत्ता तथा अनुभव वाले व्यक्तियों की नियुक्ति का प्रावधान है।

न्यायिक नियुक्ति आयोग की संरचना

नई व्यवस्था में न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु एक आयोग के गठन का प्रावधान है तथा आयोग में निम्नलिखित सदस्य होंगे-

- सर्वोच्च न्यायालय का 'मुख्य न्यायाधीश' न्यायिक नियुक्ति आयोग का पदेन अध्यक्ष (Chairman) होगा।
- सर्वोच्च न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीश आयोग के पदेन सदस्य होंगे।
- कार्यपालिका की तरफ से 'केंद्रीय विधि मंत्री' आयोग के पदेन सदस्य होंगे।
- दो गणमान्य व्यक्तियों को इस आयोग का सदस्य नियुक्ति किया जायेगा।

गणमान्य व्यक्ति का मनोनयन

'गणमान्य व्यक्ति' के मनोनयन का अधिकार निम्नलिखित व्यक्तियों के समूह को प्राप्त होगा-

- भारतीय प्रधानमंत्री।
- भारत के मुख्य न्यायाधीश।
- लोकसभा में विपक्ष के नेता।
- विधि मंत्रालय का सचिव।

संवैधानिक प्रावधानों में संशोधन

इस अधिनियम के तहत संविधान के अनुच्छेद-124(2) तथा 217(1) में संशोधन किया गया था।

आलोचना

- इस विधेयक के तहत न्यायपालिका में दखलअंदाजी का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा, जिससे न्याय व्यवस्था प्रभावित हो सकती है तथा न्यायपालिका, कार्यपालिका के दबाव में आ सकती है।
- यह प्रावधान संविधान के अनुच्छेद-50 में वर्णित 'कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के पृथक्करण की भावना के अनुकूल नहीं है।'
- इन प्रावधानों का प्रभाव न्यायालय द्वारा किये जा रहे विभिन्न मुकदमों की सुनवाई पर पड़ सकता है; जैसे-कोयला ब्लॉक आवंटन।
- न्यायाधीशों की नियुक्ति सरकार द्वारा आधिकारिक रूप से की जायेगी, इससे न्यायालय की स्वायत्तता प्रभावित होगी तथा न्यायाधीशों में कार्यपालिका की प्रशंसा के भाव आ सकते हैं।

सरकार का तर्क

- सरकार का मानना है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका का भी अधिकार है। ऐसा विश्व में लगभग सभी देशों में होता है।
- सरकार का मानना है कि वर्तमान में प्रचलित 'कॉलेजियम व्यवस्था', शक्ति पृथक्करण सिद्धांत के खिलाफ है। शक्ति पृथक्करण सिद्धांतों में रोक व संतुलन (Cheque and Balance) भी निहित है, जिसके अनुसार, न्यायाधीश स्वयं अपनी नियुक्ति नहीं कर सकते।
- सरकार का तर्क है कि न्यायाधीशों की नियुक्तियों में अनियमितता हो रही है।

कॉलेजियम व्यवस्था की आलोचना

कॉलेजियम व्यवस्था की निम्न बिन्दुओं के आधार पर आलोचना की जा सकती है-

- इस प्रणाली के कारण जो व्यवस्था है उसके अंतर्गत वर्तमान न्यायाधीश उत्तराधिकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं और यह एक तरह से एक

साम्राज्य के अंदर एक-दूसरे साम्राज्य वाली बात है।

- सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि संविधान में कहीं भी कॉलेजियम प्रणाली का वर्णन नहीं है और इस प्रणाली का विकास 'तीन न्यायाधीश वाद-28 अक्टूबर, 1998 से हुआ था।'
- इसके साथ-साथ सुप्रीम कोर्ट के बार एसोसिएशन ने कहा कि यह प्रणाली लेन-देन और अनुगृहीत कर शासन व्यवस्था में अधिकृत और परोक्ष रूप से पैठ जमाने की संस्कृति को बढ़ावा देती है।
- उन्होंने यह भी कहा कि राजनैतिक रसूख वाले लोग, राजनीतिज्ञ और अभिनेताओं को न्यायालय से तुरंत राहत मिल जाती है जबकि एक सामान्य आदमी न्याय के लिए वर्षों तक लड़ता रहता है।

राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का गठन

राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का गठन संविधान में 99वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 2014 द्वारा किया गया। यह अधिनियम 13 अगस्त, 2014 को लोकसभा में और 14 अगस्त, 2014 को राज्यसभा में पारित हो गया। इसके साथ-साथ संसद ने राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग के कार्यों के विनियमन के लिए भी एक अधिनियम को वर्ष 2014 में ही पारित किया और दोनों विधेयकों को आधे से अधिक राज्यों के विधानमंडलों से मिली स्वीकृति के बाद 31 दिसंबर, 2014 को राष्ट्रपति ने इस विधेयक पर हस्ताक्षर कर दिए। इस तरह राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग से संबंधित दोनों अधिनियम 13 अप्रैल, 2015 को अस्तित्व में आये।

राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग की संरचना

इसमें 6 लोगों को रखे जाने का प्रावधान है-

- मुख्य न्यायाधीश।
- उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीश।
- कानून मंत्री।
- दो गणमान्य व्यक्ति जिन्हें मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमंत्री और सदन में विपक्ष के नेता से बनी एक तीन सदस्यीय कमिटी द्वारा केवल एक बार के लिए नामित किया जाएगा।

वर्तमान में न्यायाधीश की नियुक्ति की व्यवस्था

राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग के लिए ही अनुच्छेद-124 (क), 124(ख) और 124(ग) जोड़े गये, लेकिन उच्चतम न्यायालय ने पाँच सदस्यों के एक पीठ द्वारा दिए गए अपने निर्णय में इस **अधिनियम को असंवैधानिक करार दिया** और कॉलेजियम व्यवस्था में ही सुधार के लिए सरकार से सुझाव मांगे। वर्तमान स्थिति में कॉलेजियम व्यवस्था ही लागू है। वर्तमान में उच्चतम न्यायालय में 34 न्यायाधीश (एक मुख्य न्यायाधीश) है। 2019 में केन्द्र सरकार ने उच्चतम न्यायालय के कुल न्यायाधीशों की संख्या 31 से बढ़ाकर 34 कर दी है, जिसमें मुख्य न्यायाधीश भी शामिल है। यह संविधान संशोधन अधिनियम, 2019 के अंतर्गत किया गय है।

न्यायाधीशों को हटाये जाने की प्रक्रिया

न्यायाधीश का पद एक अति उत्तरदायित्व वाला महत्वपूर्ण व सम्माननीय पद है। न्यायपालिका की कार्यपालिका से स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए इनके हटाने का प्रावधान अत्यंत कठिन बनाया गया है। ताकि न्यायाधीश, बिना किसी दबाव के अपना कार्य कर सकें। न्यायाधीशों को निम्नलिखित दो आधारों पर हटाया जा सकता है-

(प्रथम महाभियोग)
पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश बी. रामास्वामी के विरुद्ध कदाचार (वित्तीय) के आधार पर वर्ष 1991 में लोकसभा में महाभियोग की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। अंतत: मतदान में महाभियोग प्रस्ताव पारित नहीं हो सका, फलस्वरूप असफल हो गया।

न्यायाधीशों को हटाने जाने की प्रक्रिया

संवैधानिक प्रावधान

- भारतीय संविधान के अनुच्छेद-124(4) के अनुसार, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को राष्ट्रपति द्वारा दो आधारों पर हटया जा सकता है।

1. दुर्व्यवहार के आधार पर।
2. कार्य करने में असमर्थता के आधार पर/न्यायाधीश को हटाने के लिए संसद की विशेष प्रक्रिया का उल्लेख है। न्यायाधीश को संसद की कुल सदस्य संख्या का बहुमत एवं उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत 2/3 से हटाया जाएगा।

आंतरिक प्रावधान

- उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने के लिए स्वयं इस प्रक्रिया का निर्माण किया है। भट्टाचार्य जी वाद में न्यायपालिका ने इसका सिद्धांत दिया, जिसके अनुसार कदाचार के दोषी पाये गये किसी भी न्यायाधीश को भारत के मुख्य न्यायाधीश, उस न्यायाधीश को उसके पद से हटा देंगे, परंतु यह बाध्यकारी नहीं है।

न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीशों के वेतन आदि का निर्धारण संसद द्वारा किया जाता है। वर्तमान में मुख्य न्यायाधीश को 2,80,000 रुपये प्रति माह तथा अन्य न्यायाधीशों को 2,50,000 रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता है। इस वेतन के अतिरिक्त उन्हें नि:शुल्क आवास तथा अन्य भत्ते मिलते हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते भारत की संचित निधि से दिए जाते हैं। संसद समय-समय पर इस वेतन-भत्ते में बढ़ोत्तरी कर सकती है। लेकिन किसी न्यायाधीश के सेवा-काल में वेतन भत्तों में कमी नहीं कर सकती। केवल वित्तीय आपात की स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के वेतन, भत्ते कम किए जा सकते हैं।

कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश

अनुच्छेद-126 के द्वारा यह उपबंधित किया गया है कि, जब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का पद रिक्त है या जब मुख्य न्यायमूर्ति की अनुपस्थिति के कारण अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हैं, तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से ऐसा एक न्यायाधीश, जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का निर्वहन करेगा।

तदर्थ न्यायाधीश

अनुच्छेद-127 के द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि, यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय के सत्र को आयोजित करने या चालू रखने के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्ति प्राप्त न हो तो भारत का मुख्य न्यायमूर्ति राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से और संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात, किसी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश से, जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए सम्यक रूप से अर्हित है और जिसे भारत का मुख्य न्यायमूर्ति नाम निर्दिष्ट करे, न्यायालय की बैठकों में उतनी अवधि के लिए, तदर्थ न्यायाधीश के रूप में उपस्थित रहने के लिए लिखित रूप में अनुरोध कर सकेगा। इस प्रकार नामनिर्दिष्ट न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे और वह उक्त न्यायाधीश के कर्तव्यों का निर्वहन करेगा।

सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की उपस्थिति

अनुच्छेद-128 के अनुसार, भारत का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी ऐसे व्यक्ति को जो उच्चतम या फेडरल न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, किंतु इस समय अवकाश ग्रहण कर चुके हैं और उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश बनने के लिए सम्यक रूप से योग्य हैं, को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय भारत का अंतिम न्यायालय है अर्थात सर्वोच्च न्यायालय एकीकृत न्यायिक व्यवस्था की सर्वोच्च संस्था है। संविधान के अनुच्छेद-141 में कहा गया है कि, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बनाए सिद्धांत भारतीय सीमा में आने वाले सभी न्यायालयों पर लागू होते हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकारों, शक्तियों तथा कार्यो को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं-

संविधान के संरक्षक के रूप में न्यायपालिका

भारतीय न्यायपालिका संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करती है तथा न्यायपालिका यह देखती है कि, क्या संविधान में उल्लिखित प्रावधानों का पालन किया जा रहा है, या नहीं। संविधान के अनुच्छेद-13(2), अनुच्छेद-32, अनुच्छेद-245 एवं अनुच्छेद-368 में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि, संविधान के प्रावधान का सरकार के अन्य अंगों द्वारा अनुपालन करवाए-

- अनुच्छेद-13(2) के अनुसार, यदि विधायिका द्वारा निर्मित कोई विधि संविधान के भाग-3 में उल्लिखित प्रावधानों का उल्लंघन करती है तो न्यायालय उस विधि को विरोध की सीमा तक शून्य घोषित कर सकती है।
- अनुच्छेद-32 के अनुसार, मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय विभिन्न रिट जारी कर सकती है।
- अनुच्छेद-245 के अनुसार, न्यायालय यह देखता है, कि क्या केंद्र व राज्य के बीच शक्तियों के विभाजन के प्रावधान का पालन किया जा रहा है। संविधान के अनुसार, संघ-सरकार व राज्य-सरकार अपनी-अपनी सूची में ही विधि निर्माण पर कार्य कर सकती हैं। संघ-सूची पर केन्द्र-सरकार तथा राज्य-सूची पर राज्य-सरकार कानून का निर्माण कर सकती है।
- न्यायपालिका यह भी देखती है कि, क्या कानून का निर्माण उचित प्रक्रियाओं के अनुसार हुआ है, या नहीं?
- संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन संविधान में वर्णित प्रक्रियाओं के अनुसार ही हो सकता है। यदि ऐसा नहीं हुआ है, तो न्यायालय किसी भी संशोधन को रद्द घोषित कर सकता है।
- **केशवानंद भारती वाद** में कहा गया कि, यदि विधायिका तथा कार्यपालिका संविधान के आधारभूत ढांचे को नष्ट करने का प्रयास करती है, तो न्यायालय उसे रोक सकता है।

रिट अधिकारिता

बिना संरक्षण के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था खोखली है। भारतीय संविधान ने मौलिक अधिकारों के संरक्षण का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा है। अनुच्छेद-13(2) के अनुसार, विधायिका, मौलिक अधिकारों को छीनने वाला कोई भी कानून नहीं बना सकती है। न्यायालय इस बात की जाँच करता है कि, क्या विधायिका द्वारा निर्मित कोई कानून मौलिक अधिकारों का हनन तो नहीं कर रहा है। ''केशवानंद भारती वाद'' में न्यायालय ने यह कहा है, कि वे मौलिक अधिकार, जो संविधान के आधारभूत ढाँचे से संबंधित हैं उनमें विधायिका, संविधान संशोधनों के द्वारा भी परिवर्तन नहीं कर सकती है।

अनुच्छेद-32 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति है, कि वह मौलिक अधिकारों को लागू करवाने हेतु कार्यवाही करे। न्यायालय को बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा अधिकार पृच्छा जैसे रिटें जारी करने का अधिकार है। यह न्यायालय के प्रारंभिक अधिकारिता में आता है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय, संघीय न्यायालय के साथ-साथ देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय भी है। **बोम्मई वाद (1994)** में यह निर्धारित हुआ है कि, संघीय शासन संविधान का आधारभूत ढाँचा है, जिसकी व्याख्या का अधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय के पास है। अत: सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को तीन भागों में बांटा जा सकता है-

1. प्रारंभिक व संघीय अधिकार क्षेत्र।
2. अपीलीय न्यायालय के रूप में।
3. सलाहकारी न्यायालय के रूप में।

- ***मूल या आरंभिक अधिकार क्षेत्र***- संविधान के **अनुच्छेद-131** में, सर्वोच्च न्यायालय के मूल अधिकार क्षेत्र की व्याख्या की गई है। इस अधिकार क्षेत्र का अभिप्राय उन अभियोगों से है, जिन पर सर्वोच्च न्यायालय को विशेषाधिकार है अर्थात जिन्हें सीधे ही सर्वोच्च न्यायालय में आरंभ किया जा सकता है तथा जिन्हें अन्य निम्न न्यायालयों में आरंभ नहीं किया जा सकता है। आरंभिक अधिकार क्षेत्र में निम्नलिखित अभियोग आते हैं-
  - जहाँ भारत सरकार तथा दूसरी ओर एक या एक से अधिक राज्यों के बीच के विवाद हों।
  - जहाँ भारत सरकार के साथ एक या एक से अधिक राज्य हों तथा दूसरी ओर एक या एक से अधिक अन्य राज्यों के बीच विवाद हों।
  - जहाँ दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद हों।
  - इसके अलावा संविधान के तीसरे खंड में दिये गये मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए नागरिक सर्वोच्च न्यायालय के आश्रय क्षेत्र में आते हैं, क्योंकि संविधान के अनुच्छेद-32 के अनुसार, नागरिकों को मौलिक अधिकारों की अवहेलना पर सर्वोच्च न्यायालय में याचिका या रिट दाखिल करने का अधिकार दिया गया है। अर्थात नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सीधे सर्वोच्च न्यायालय में रिट दायर कर सकता है।
  - अनुच्छेद 71 के अनुसार, राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी

विवाद सर्वोच्च न्यायालय के मूल अधिकार क्षेत्र में आते हैं क्योंकि ऐसे विवादों की सुनवाई कोई अन्य न्यायालय नहीं कर सकता है।

- ***अपीलीय अधिकार क्षेत्र***- अपीलीय अधिकार क्षेत्र में ऐसे अभियोग आते हैं, जिनका आरंभ तो निम्न स्तरीय न्यायालयों में होता है। परंतु उनके निर्णय के प्रति सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। अपीलीय अधिकार क्षेत्र को चार भागों में बाँटा जा सकता है-
  - ***संवैधानिक अभियोगों में अपील***- संविधान के **अनुच्छेद-132** के अनुसार, किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय के द्वारा दिये गये निर्णय, डिग्री या आदेश के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। यदि संबंधित उच्च न्यायालय अभियोग के संबंध में यह प्रमाण-पत्र दे कि, अभियोग में संवैधानिक व्याख्या का प्रश्न निहित है। संवैधानिक व्याख्या से संबंधित किसी भी अभियोग में, चाहे वह दीवानी हो या फौजदारी, उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।
  - ***दीवानी या सिविल अभियोगों की अपील***- संविधान के **अनुच्छेद-133** के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय को दीवानी अभियोगों के निर्णय के विरुद्ध भी अपीलें सुनने का अधिकार प्राप्त है।
  - ***फौजदारी या दांडिक अभियोगों में अपील***- संविधान के **अनुच्छेद-134** के अनुसार उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध निम्नलिखित फौजदारी अभियोगों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है-
  - ऐसा अभियोग, जिसमें निम्न न्यायालयों ने व्यक्ति को रिहा कर दिया हो, परंतु अपील करने पर उच्च न्यायालय ने उसे मृत्यु दंड दिया हो।
  - ऐसा अभियोग, जो निम्न न्यायालयों में चल रहा हो, परंतु उच्च न्यायालय उस अभियोग को अपने हाथ में लेकर व्यक्ति को मृत्यु दंड दे दिया हो।
  - उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे कि, अभियोग सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने योग्य है।

संसद कानून द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय अधिकार क्षेत्र बढ़ा सकती है।

  - ***विशेष अपीलें सुनने का अधिकार***- संविधान के **अनुच्छेद-136** के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय अपील करने की विशेष आज्ञा दे सकता है। **अनुच्छेद-136(1)** में यह व्यवस्था दी गयी है कि, सर्वोच्च न्यायालय सैन्य न्यायालय को छोड़कर भारत की भूमि पर स्थित किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी भी विषय संबंधी दिये गए निर्णय, परिणाम, दंड या आदेश के विरुद्ध अपील करने की विशेष आज्ञा स्वेच्छानुसार दे सकता है।
- ***परामर्शदात्री अधिकार क्षेत्र***- संविधान के **अनुच्छेद-143** के अनुसार, भारत के राष्ट्रपति को किन्हीं वैधानिक समस्याओं के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार है। जब कभी राष्ट्रपति यह अनुभव करता है कि, किसी विशेष मुद्दे पर न्यायिक सलाह की आवश्यकता है तो वह सर्वोच्च न्यायालय से सलाह माँग सकता है। यदि कोई वैधानिक समस्या उत्पन्न हो गई है तो वह समस्या को सर्वोच्च न्यायालय की वैधानिक राय लेने के लिए भेज सकता है। जब राष्ट्रपति की ओर से सर्वोच्च न्यायालय को वैधानिक परामर्श देने के लिए कोई विशेष प्रस्ताव भेजा जाता है तो न्यूनतम पाँच न्यायाधीशों की द्वारा उस मामले के प्रति निर्णय करना अनिवार्य है, राष्ट्रपति को दो श्रेणियों के मामलों में उच्चतम न्यायालय से राय लेने का अधिकार देता है;

अ. सार्वजनिक महत्व के किसी मसले पर विधिक प्रश्न उठने पर।

ब. किसी पूर्व संवैधानिक संधि, समझौते, प्रसंविदा आदि सनद मामलों पर किसी विवाद के उत्पन्न होने पर।

पहले मामले में उच्चतम न्यायालय अपना मत दे भी सकता है और देने से इनकार भी कर सकता है। दूसरे मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति को अपना मत देना अनिवार्य है। दोनों ही मामलों उच्चतम न्यायालय का मत सिर्फ सलाह होती है। इस तरह, राष्ट्रपति इसके लिए बाध्य नहीं है कि वह इस सलाह को माने। यद्यपि सरकार अपने द्वारा निर्णय लिए जाने के संबंध में इसके द्वारा प्राधिकृत विधिक सलाह प्राप्त करती है।

सलाहकारी अधिकारिता की उपयोगिता

सलाहकारी शक्ति के अंतर्गत दी गई सलाह से सरकार को उस महत्वपूर्ण तथ्य पर विधि की व्याख्या तथा जटिलताओं का उत्तर मिल जाता है। इसलिए सरकार विधि के निर्माण से पहले सलाह का ध्यान रखती है। सलाहकारी निर्णय भले ही सरकार पर बाध्यकारी न हो, लेकिन अधीनस्थ न्यायालयों के लिए बाध्यकारी एवं निर्देश के रूप में माने जा सकते हैं।

वे मामले जिन पर सलाहकारी शक्ति का प्रयोग किया गया है-

- दिल्ली विधि अधिनियम -1951
- केरल शिक्षा विधेयक-1958
- बेरुबारी संघ का मामला-1960
- समुद्री प्रशुल्क अधिनियम-1963
- केशव सिंह वाद-1964 (विधायिका से विशेष अधिकार से संबंधित मामला)
- राष्ट्रपति चुनाव-1974
- विशेष न्यायपालिका अधिनियम-1978
- जम्मू एवं कश्मीर राज्य का पुनर्स्थापना अधिनियम-1982
- कावेरी जल विवाद अधिनियम-1992
- रामजन्म भूमि मामला, 1993
- न्यायाधीश वाद-1998
- स्पेशल रिफेरेंस अधिनियम-2001
- गुजरात विधानसभा चुनाव-2002
- पंजाब जल समझौता समाप्ति अधिनियम-2004
- 2G स्पेक्ट्रम मामला-2012

नोट- **इसके साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों (** Natural Resource **) के सभी क्षेत्रों में नीलामी को बाध्यकारी बनाया गया।)**

  - ***संविधान की व्याख्या तथा सुरक्षा का अधिकार***- संविधान की व्याख्या तथा सुरक्षा का अधिकार भी सर्वोच्च न्यायलय को ही प्रदान किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गई संविधान की व्याख्या सर्वोपरि एवं सर्वोत्तम मानी जाती है और साथ ही संविधान के **अनुच्छेद-137** के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त है अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय को स्वयं के द्वारा सुनाए गए निर्णय या दिए गए आदेश का पुनर्विलोकन करने की शक्ति है।

क्या आप जानते हैं?

ऑस्ट्रेलिया और अमेरिका के संविधान में न्यायपालिका को परामर्श क्षेत्राधिकार नहीं प्रदान किया गया है। ध्यातव्य होना चाहिए कि भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय का परामर्शी क्षेत्राधिकार 'कनाडा' के संविधान से लिया गया है।

- ***अभियोगों को स्थानांतरित करने की शक्ति***- संविधान के **अनुच्छेद-139(क)** के अनुसार, कुछ अभियोग जिनका संबंध एक

या लगभग एक ही प्रकार के कानून के प्रश्नों से है, जो कि एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयों के पास निर्णय के लिए पड़े हैं, तो सर्वोच्च न्यायालय अपनी पहल के आधार पर या भारत के महान्यायवादी द्वारा दिये गये अनुरोध-पत्र द्वारा संतुष्ट होने पर ऐसे प्रश्न यदि असाधारण महत्व वाले महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे मामले किसी उच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों से अपने पास मँगवा सकता है और उन समस्त अभियोगों का निर्णय स्वयं कर सकता है।

न्यायालय की अवमानना

न्यायालय की अवमानना से तात्पर्य, न्यायालय की क्रिया-कलापों पर अनुचित टिप्पणी करने से है। 'न्यायालय की अवमानना' एक विधिक शब्द है। न्यायालय की अवमानना करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने की शक्ति न्यायालय को प्राप्त है। जब न्यायालय किसी मुकदमे की सुनवाई या जाँच के दौरान यह महसूस करता है कि, कोई व्यक्ति उसकी अवमानना कर रहा है, तब वह अपने आदेश में इस शब्दावली का प्रयोग करता है। यह न्यायालय की वह सबसे बड़ी शक्ति है, जिसका प्रयोग कर वह मुकदमों के दौरान चल रही कार्यवाही में जान-बूझकर व्यवधान डालने वाले व्यक्ति को उसके इस आचरण के लिए दंडित कर सकता है। अवमानना में निम्नलिखित अर्थ समाहित हैं-

- न्यायालय के वैध आदेश अनुपालन नहीं करने पर।
- न्यायाधीश के प्रति निरादर प्रदर्शित करने पर।
- असंगत व्यवहार से न्यायालय की कार्यवाही में बाधा डालने या ऐसे तथ्यों को प्रकाशित करने से जिनसे मुकदमे के न्यायोचित संपादन में खतरा उत्पन्न होने की संभावना बनती है।

इसके चलते न्यायालय की अवमानना की कार्यवाही प्रारंभ होती है, न्यायालय की अवमानना का दोषी पाए जाने पर संबंधित व्यक्ति को न्यायाधीश जेल या जुर्माने की सजा दे सकता है।

न्यायालय की अवमानना का, संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेदों में प्रावधान है। न्यायालय की अवमानना की रोकथाम की वांछनीयता को देखते हुए भारतीय संविधान के अनुच्छेद-129 एवं 215 में अवमानना का प्रावधान है। यह शक्तियाँ उच्चतर न्यायपालिका (Higher Judiciary) को प्रदान करने का प्रावधान किया गया है तथा भारतीय संसद द्वारा वर्ष 1952 में न्यायालय अवमानना कानून-1952 बनाया गया तथा वर्ष 1971 में 'न्यायालय अवमानना संशोधन कानून 1971' पास किया गया।

क्यों आवश्यक?

न्यायपालिका में लोगों के विश्वास को बनाये रखने के लिए अवमानना प्रावधानों का होना अत्यावश्यक है। अन्यथा, न्यायाधीशों की ईमानदारी, न्यायिक क्षमता तथा निष्पक्षता पर अवैधानिक आक्रमण बहुत तीव्र एवं भयावह तरीके से हो सकता है। ऐसा देखा गया है कि, कानून की अवहेलना करने वाले अपने व्यवहार और अभद्र वक्तव्यों से न्यायपालिका की गरिमा को नष्ट करने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थितियों में अवमानना संबंधी प्रावधान न्यायपालिका की सुरक्षा में आ खड़े होते हैं। (गरिमा की सुरक्षा करते हैं)।

अवमानना प्रावधानों के अभाव में न्यायपालिका की विश्वसनीयता गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त हो सकती है एवं शरारती तत्व न्यायपालिका के सदस्यों की छवि को धूमिल करने की नीयत से उनके विरुद्ध तथ्यहीन आरोप लगाने का प्रयास करते हैं, वे दूसरों के मुँह से सुनी हुई बातों की तह में जाने का प्रयास नहीं करते और बिना उन आरोपों की उपयुक्त जाँच किए, उन्हें हथकंडा बनाकर न्यायपालिका के सदस्यों के विरुद्ध आरोपों को हवा में उछालते रहते हैं।

निष्पक्ष आलोचना

प्रत्येक नागरिक को न्यायालयों के आचरण पर, 'निष्पक्ष आलोचना' के नाम पर टिप्पणी करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। अगर ऐसा होगा, तब न्यायिक संस्था का कोई औचित्य ही नहीं रह जाएगा। जब कोई व्यक्ति किसी लंबित मुकदमे के बारे में अशोभनीय टिप्पणी करता है और उसके उपरांत जब न्यायालय नोटिस जारी करता है, तो नोटिस प्राप्तकर्ता यह बयान देता है कि, इस नोटिस को भेजने का उद्देश्य आलोचना को दबाना और असहमति का मुँह बंद करना है तथा उन लोगों को तंग करना है, जो उससे असहमत हैं। अतः यह न्यायिक संस्था पर सीधा प्रहार माना जाता है, न कि मात्र किसी वैयक्तिक न्यायाधीश के आचरण पर।

न्यायालय की अवमानना व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

भले ही संविधान के अनुच्छेद-19(1)(क) में सभी नागरिकों को वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी गयी हो, परंतु अनुच्छेद-129 तथा 215 ने उच्चतर न्यायपालिका को न्यायालय की अवमानना रोकने संबंधी अधिकार दिये गये हैं, जो अनुच्छेद-19(1)(क) के तहत दी गयी स्वतंत्रता को सीमित कर देते हैं। यह प्रावधान न्यायपालिका की सुरक्षा एवं प्रोत्साहन के लिए आवश्यक है, इन दोनों प्रावधानों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाना ही बेहतर है।

यह भी जानें

न्यायालय की अवमानना के लिए 6 माह तक की कारावास या 2000 तक का जुर्माना अथवा दोनों का आरोपण किया जा सकता है।

अमेरिकी उच्चतम न्यायालय से तुलना

हमारे उच्चतम न्यायालय को अमेरिकी उच्चतम न्यायालय की तुलना में कई बातों में व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं-

पहला, अमेरिकी उच्चतम न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता परिसंघीय संबंधों से उत्पन्न होने वाली या विधियों और संधियों की सांविधानिक विधिमान्यता से संबंधित मामलों तक ही सीमित है, किंतु हमारा उच्चतम न्यायालय परिसंघीय न्यायालय एवं संविधान का संरक्षक भी है। इसके साथ ही संविधान के निर्वचन के संबंध में उत्पन्न होने वाले मामलों के अतिरिक्त सिविल और दाण्डिक मामलों के संबंध में यह देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है। (अनुच्छेद 133-134)

दूसरा, हमारे उच्चतम न्यायालय को भारत के राज्य क्षेत्र में किसी भी न्यायालय या अधिकरण के विनिश्चय से अपील ग्रहण करने की असाधारण शक्ति प्राप्त है। इस विवेकाधिकार की कोई सीमा नहीं है। (अनुच्छेद-136) अमेरिकी उच्चतम न्यायालय को इस प्रकार की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है।

तीसरा, अमेरिकी उच्चतम न्यायालय ने सरकार को सलाह देने की शक्ति ग्रहण करने से इंकार कर दिया और किसी भी विषय के पक्षकारों के बीच वास्तविक विवाद को निपटाने तक ही अपने को सीमित रखा है। संविधान ने हमारे उच्चतम न्यायालय को राष्ट्रपति द्वारा उस निर्दिष्ट किसी तथ्य या विधि के प्रश्न पर सलाह के रूप में राय देने की शक्ति प्रदान की है।

न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review)

न्यायिक पुनर्विलोकन, एक ऐसी संस्थात्मक व्यवस्था है, जिसमें न्यायालय के द्वारा, विधायिका, कार्यपालिका और स्वयं न्यायपालिका द्वारा किये गये कार्यों की संवैधानिकता का परीक्षण किया जाता है। भारतीय संविधान में शासन के प्रत्येक अंगों पर निश्चित प्रतिबंध आरोपित हैं। उदाहरण के लिये, अनुच्छेद-13(2) में यह स्पष्ट प्रावधान है कि, राज्य किसी भी ऐसी विधि का निर्माण नहीं कर सकता है, जो मूल अधिकारों को कम करती हो या छीनती हो।

परिणामस्वरूप, न्यायपालिका ने सरकार के अनेक विधियों और अध्यादेशों को अवैध घोषित कर दिया। भारतीय संविधान की संघीय व्यवस्था में संघ और राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन है। इस शक्ति विभाजन के उल्लंघन को रोकने

के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रबंधन किया गया है। अत: कुछ लोगों के मान्यतानुसार, भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन का कोई सुनिश्चित आधार वर्णित नहीं है। एक लिखित संविधान के अंतर्गत, जहाँ सरकार के प्रत्येक अंग पर निश्चित प्रतिबंध हो, न्यायिक पुनर्विलोकन अपरिहार्य हो जाता है। लेकिन दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार, भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की स्पष्ट व्यवस्था है, अमेरिका की भाँति, यह न्यायपालिका द्वारा निर्मित नहीं है।

न्यायिक-पुनर्विलोकन (प्रत्यक्ष या परोक्ष)

अनुच्छेद-13(2) में न्यायिक-पुनर्विलोकन का स्पष्ट आधार है। उदाहरण के लिए, वर्ष-2005 में न्यायपालिका ने 'पाई फाउंडेशन वाद' में अल्पसंख्यकों के शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकारों के संदर्भ में निर्णय दिया। भारतीय संविधान में सरकार का कोई अंग सर्वोच्च नहीं है, लेकिन जहाँ संविधान की व्याख्या का प्रश्न होगा, न्यायपालिका की प्राथमिकता, स्वाभाविक रूप में स्थापित होगी। संविधान निर्माताओं ने, अमेरिकी न्यायपालिका के सर्वोच्चता की संकल्पना को अस्वीकृत कर दिया था, क्योंकि अमेरिका में इसके द्वारा सामाजिक विधानों पर प्रतिकूल प्रभाव देखा गया। भारत जैसे नवजात लोकतंत्र के लिए प्रारंभ में ही शासन के अंगों के मध्य संघर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

न्यायिक-पुनर्विलोकन की सीमाएँ

संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका के न्यायिक पुनर्विलोकन के महत्व को देखते हुए संविधान में ही प्रतिबंध आरोपित कर दिये थे। ये प्रतिबंध निम्न हैं-

- मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई राष्ट्रपति या राज्यपाल को सलाह की न्यायपालिका द्वारा जाँच नहीं की जा सकती है।
- राष्ट्रपति या राज्यपाल के नाम पर निर्मित या क्रियान्वित किसी विधि का परीक्षण न्यायालय इस आधार पर नहीं कर सकता, कि किसी अन्य ने तो इसका निर्माण नहीं किया है।
- संसद की शक्तियों तथा विशेषाधिकारों का न्यायपालिका के द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता।
- संसद तथा विधायिका के द्वारा किये गये कार्य की या सदस्यों द्वारा प्रेरित शक्तियों की न्यायपालिका, न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं कर सकता।
- न्यायालय, संसद तथा विधायिका के प्रक्रिया की वैधानिकता का पुनरीक्षण नहीं कर सकते।
- अंतर्राज्यीय जल विवादों को भी न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र से बाहर रखा गया है।
- निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन का भी न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं हो सकता।
- राष्ट्रपति तथा राज्यपाल द्वारा अपनी शक्तियों तथा कार्यों के संदर्भ में कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जिन्हें न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखा गया है।

उपरोक्त बिन्दुओं से स्पष्ट है कि, भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन स्वीकार किया गया है, न्यायिक सर्वोच्चता का सिद्धांत नहीं, क्योंकि न्यायपालिका की पुनर्विलोकन शक्तियों पर संविधान द्वारा प्रतिबंध आरोपित है।

9वीं अनुसूची भी न्यायिक समीक्षा के दायरे में

पूर्व मुख्य न्यायाधीश वाई. के सबरवाल की अध्यक्षता में 9 सदस्यीय खंडपीठ ने 11 जनवरी 2017 को यह निर्णय दिया कि, 9वीं अनुसूची में शामिल कोई भी कानून न्यायिक समीक्षा के दायरे से बाहर नहीं है। इसके पहले इस सूची में शामिल कानून न्यायिक समीक्षा के दायरे से बाहर रखे गए थे।

न्यायिक समीक्षा के लिए संवैधानिक प्रावधान

न्यायिक समीक्षा के प्रावधान को अमेरिका के संविधान से लिया गया है। भारत के संविधान में संसद को सर्वोच्च स्थान प्राप्त नहीं है, जबकि उच्चतम न्यायालय को संघ और राज्य दोनों द्वारा बनाए गए विधानों के संबंध में अनुच्छेद-13, अनुच्छेद-32, अनुच्छेद-131 से 136, अनुच्छेद-143, अनुच्छेद-145, अनुच्छेद-226, अनुच्छेद-246, अनुच्छेद-251, अनुच्छेद-254 और अनुच्छेद-372 के तहत न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्राप्त है।

संसदीय विशेषाधिकार एवं संसदीय प्रक्रियाओं का न्यायिक-पुनर्विलोकन

भारतीय संविधान में, परंपराओं के द्वारा भी सांसदों और संसद को विशेषाधिकार प्राप्त है। विशेषाधिकार का अभिप्राय, 'उन विशिष्ट अधिकारों से है, जो सामान्यत: आम नागरिकों को प्राप्त नहीं है।' उदाहरण के लिए, अनुच्छेद-105 के अंतर्गत सांसदों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का असीमित अधिकार है। अत: सामान्य व्यक्तियों पर वाक् और अभिव्यक्ति पर लगने वाला प्रतिबंध सांसदों पर लागू नहीं होते हैं। विशेषाधिकार में यह भी सम्मलित है कि, संसद किसी भी व्यक्ति को सदन से निष्कासित कर सकती है तथा किसी भी मुद्दे को सदन की प्रक्रिया से निकाल सकती है। यह उल्लेखनीय बिन्दु है कि, आज भी सांसदों के विशेषाधिकार का पूर्ण निर्धारण **(संहिताकरण)** नहीं हुआ है। अत: विशेषाधिकार को निर्धारित करने की शक्ति स्वयं संसद के पास ही है।

'सर्चलाइट वाद' में न्यायपालिका ने स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तुलना में संसदीय विशेषाधिकारों को प्राथमिकता दी। तकनीकी रूप में अनुच्छेद-19(1)(क) की तुलना में अनुच्छेद-105 और 194 ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। **'केशव सिंह वाद'** के ऐतिहासिक मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपनी सलाहकारी अधिकारिता के अंतर्गत निर्णय दिया, जिसके अनुसार, संसदीय विशेषाधिकारों के नाम पर जीवन का अधिकार, अपराधों के संबंध में संरक्षण का अधिकार और मनमानी गिरफ्तारी के विरुद्ध अधिकार का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय या न्यायपालिका ऐसे व्यक्तियों की जीवन रक्षा के लिए रिट जारी करती है, यह विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं है लेकिन **'केशव सिंह वाद'** में भी **'सर्चलाइट वाद'** के उस निर्णय को स्वीकार किया गया, जिसके अंतर्गत व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तुलना में संसदीय विशेषाधिकार ज्यादा महत्वपूर्ण माना गया है।

संसदीय विशेषाधिकारों और न्यायिक पुनर्विलोकन के मध्य विवाद में न्यायपालिका ने **'नरसिंह राव केस'** में नरसिंह राव को संसद के अंतर्गत कार्यवाही के आधार पर बरी कर दिया। आलोचकों के अनुसार, क्या संसदीय विशेषाधिकार के नाम पर भ्रष्टाचार के अधिकार दिये जा सकते हैं? **'किहोतो होलोहॉन वाद'** में न्यायपालिका ने तो यहाँ तक कह दिया कि, स्पीकर द्वारा दिये गये दल-बदल निर्णय का भी न्यायिक-पुनर्विलोकन हो सकता है, क्योंकि स्पीकर की भूमिका, अर्द्ध-न्यायिक होती है। झारखंड विधानसभा के मामले में तो न्यायपालिका विश्वास मत प्राप्त करने की तिथि और प्रक्रिया का भी निर्धारण कर दिया। इसे संसदीय विशेषाधिकारों का घोर उल्लंघन कहा गया, क्योंकि विश्वास मत प्राप्त करने की तिथि और प्रक्रिया के निर्धारण का अधिकार सदन को है। इस संबंध में संविधान ने संसद को पूर्ण शक्ति प्रदान की है। ठीक इसी प्रकार 11 (ग्यारह) सांसदों की बर्खास्तगी के मामले में जब न्यायपालिका ने हस्तक्षेप किया तो लोक सभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने पूरे देश के स्पीकरों का सम्मेलन बुलाया तथा उन्होंने यह तर्क दिया कि, सांसदों के निष्कासन का अधिकार, स्पीकर और संसद को है, इस संबंध में न्यायपालिका, सदन को कोई आदेश नहीं दे सकती है।

न्यायपालिका के अनुसार, 'न्यायिक पुनर्विलोकन से न्यायपालिका को वंचित नहीं किया जा सकता। यद्यपि न्यायपालिका ने भी यह माना कि सांसदों के

निष्कासन का अधिकार संसद को है, लेकिन न्यायपालिका को भी न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है।'

संसदीय प्रक्रियाओं का न्यायिक पुनर्विलोकन

संसदीय प्रक्रियाओं के संदर्भ में न्यायपालिका का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है तथा न्यायपालिका के अनुसार, प्रक्रियाओं के निर्धारण का पूर्ण अधिकार, संसद या संबंधित विधानमंडल को है। संसदीय प्रक्रिया की अनियमितता की जाँच न्यायपालिका नहीं कर सकती। लेकिन ('मैथलैयागन वाद' में) न्यायपालिका के अनुसार, 'यदि संसदीय प्रक्रिया ही अवैध है, तो इसका न्यायिक पुनर्विलोकन हो सकता है।'

इस संदर्भ में अभी भी विवाद बने हुए हैं। विशेषकर तमिलनाडु विधानसभा के मामले में, जब विधानसभा ने कुछ पत्रकारों (हिंदू में पत्रकारों) को हिरासत में लेने का आदेश दिया, तो यह **तर्क** दिया गया कि, अनुच्छेद-19(2 से 6) तक वर्णित प्रतिबंधों में संसदीय विशेषाधिकार के नाम पर कोई प्रतिबंध लागू नहीं होते हैं। **दूसरा तर्क** यह दिया गया कि, हमारा संविधान सर्वोच्च है, शासन का कोई विधायी अंग नहीं। इसलिए भारत में ब्रिटेन जैसे संसदीय विशेषाधिकार नहीं दिये जा सकते हैं। **तीसरा तर्क** यह दिया गया कि, शासन में बैठे लोगों पर नियंत्रण हेतु प्रेस की स्वतंत्र भूमिका आवश्यक है। संसदीय विशेषाधिकारों का कोई भी व्यक्ति विरोधी नहीं है, लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बिन्दु है कि इन विशेषाधिकारों के प्रयोग से संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन न किया जाय।

सामान्य विधानों और अध्यादेशों का न्यायिक पुनर्विलोकन

सामान्य विधानों और अध्यादेशों के न्यायिक पुनर्विलोकन पर कोई विवाद नहीं है। यहाँ यह बिन्दु महत्वपूर्ण है कि, विधि और अध्यादेश का अभिप्राय, समान रूप से लिया जाता है। सामान्य विधियों और अध्यादेशों का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जाता है, यदि इससे मूल अधिकार का उल्लंघन हो या विधि का निर्माण सातवीं अनुसूची में उल्लिखित विधायी शक्तियों के अनुरूप न किया जाये। उदाहरणत: यदि संघ-सरकार द्वारा राज्य-सूची के विषय पर विधि का निर्माण किया जा रहा है, तो न्यायपालिका इसे अवैध घोषित कर सकती है। ठीक इसी प्रकार अध्यादेशों का भी पुनर्विलोकन किया जा सकता है। यदि ये मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हों या अध्यादेश में सातवीं अनुसूची के विधायी शक्तियों के विभाजन का पालन न किया गया हो।

संवैधानिक संशोधन का न्यायिक पुनर्विलोकन

भारतीय लोकतंत्र के आरंभिक वर्षों से ही न्यायिक पुनर्विलोकन को सीमित करने के प्रयास किये गये हैं। उदाहरण के लिए, पहले संविधान संशोधन से नौवीं अनुसूची का निर्माण करके उस अनुसूची में सम्मिलित विषयों का न्यायिक पुनर्विलोकन से प्रतिबंधित कर दिया गया। यह बिंदु ध्यान देने योग्य है कि, 50 और 60 के दशक में संसद में कभी भी न्यायिक पुनर्विलोकन को समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया, अपितु न्यायपालिका की स्वतंत्रता का सम्मान किया गया, लेकिन सामाजिक हित में कुछ विषयों को न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखने का प्रयास किया गया। अत: लोकतंत्र के इन वर्षों में संसद ने विधियों का निर्माण किया, संविधान का संशोधन किया, तो दूसरी ओर न्यायपालिका ने न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया। इसलिए यह विवाद का बिंदु नहीं था, कि क्या संवैधानिक संशोधनों का न्यायिक पुनर्विलोकन हो सकता है। लेकिन 25वें संविधान संशोधन (1971) द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन को प्रतिबंधित करने का प्रयास किया गया। इसके पहले 24वें संविधान संशोधन से, संविधान संशोधनों को न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखने का प्रयास किया गया। लेकिन न्यायपालिका ने इस प्रयास को अवैध करार दिया। उदाहरण के लिए, **'केशवानंद भारती वाद'** में न्यायपालिका ने यह स्पष्ट कहा कि, न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग है। सरकार ने पुन: 39वें संविधान संशोधन द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और लोकसभा अध्यक्ष, प्रधानमंत्री के चुनाव को पुनर्विलोकन से बाहर रखा। लेकिन न्यायपालिका ने इसे **'इंदिरा बनाम राज नारायण वाद'** में अवैध घोषित किया। सरकार ने पुन: 42वाँ संविधान संशोधन करते हुए अनुच्छेद-368 (4),(5) का निर्माण किया तथा संविधान संशोधन को न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर रखने की व्यवस्था की। **'मिनर्वा मिल्स वाद'** में न्यायपालिका ने पुन: इसे अवैध घोषित किया।

निष्कर्ष

अत: निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि, भारतीय लोकतंत्र में संविधान संशोधनों का भी न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की उपयोगिता

न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धांत को बनाये रखने के लिए, संघीय संतुलन के लिए एवं मूल अधिकारों के रक्षा आदि अनेक विषयों में उच्चतम न्यायालय ने देश में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के महत्व पर बल दिया है। इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा किये गये कुछ अवलोकन निम्नानुसार हैं-

'भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और किसी विचाराधीन कानून की वैधता के लिए उसका संविधान के प्रावधानों एवं अपेक्षाओं के अनुरूप होना अनिवार्य है और न्यायपालिका ही तय कर सकती है कि कोई अधिनियिम संवैधानिक है अथवा नहीं।'

"जब मौलिक अधिकार अस्तित्व में है और संविधान का हिस्सा हैं तो न्यायिक समीक्षा की शक्ति का उपयोग इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि इन अधिकारों के द्वारा जो गारंटी प्रदान की गई है, उनका उल्लंघन नहीं किया जा सके।''

संविधान सर्वोच्च विधि है, देश का स्थायी कानून और सरकार की कोई भी शाखा इसके ऊपर नहीं है। सरकार के समस्त अंग, चाहे वह कार्यपालिका हो, विधायिका हो अथवा न्यायपालिका संविधान से ही शक्ति और अधिकार पाते हैं और उन्हें अपने संवैधानिक प्राधिकार की सीमा में ही रहकर कार्य करना होता है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितने भी ऊँचे पद पर क्यों न हो, कोई भी प्राधिकारी चाहे वह कितना भी शक्तिशाली हो, यह दावा नहीं कर सकता कि संविधान के अंदर उसे किस सीमा तक शक्ति प्राप्त है, इसका न्यायकर्ता वह स्वयं ही होगा अथवा उसकी कार्यवाही संविधान द्वारा प्रावधानिक ऐसी शक्ति की सीमा में है। यह न्यायालय संविधान का अंतिम व्याख्याकर्ता है और इसी न्यायालय को यह निर्धारण करने की जिम्मेदारी दी गई है कि, सरकार की प्रत्येक शाखा को कितनी शक्ति प्राप्त है और यह कितनी सीमित है, यदि सीमित है, तो इसकी सीमाएँ क्या हैं और क्या उस शाखा की कोई कार्यवाही उस सीमा का उल्लंघन करती है?

'सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को संविधान को कायम रखने का दायित्व सौंपा गया है और इस स्थिति में उन्हें संविधान की व्याख्या करने की शक्ति भी मिली हुई है। इन्हें ही सुनिश्चित करना है कि, संविधान में शक्ति के संतुलन की जो व्यवस्था की गई है, वह बनी रहे और विधायिका तथा कार्यपालिका अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में अपने संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर पाए।'

हमारे संस्थापक पूर्वजों ने, इसीलिए बुद्धिमानीपूर्वक स्वयं संविधान में ही न्यायिक समीक्षा का प्रावधान सम्मिलित कर दिया, जिससे कि संघवाद या संतुलन कायम रहे, नागरिकों को दिए गए मौलिक अधिकार एवं मूल स्वतंत्रता की रक्षा हो सके और समता, स्वाधीनता की उपलब्धता, तथा आनंद हासिल करने का एक उपयोगी साधन हमारे पास हो और जिसकी मदद से हम एक

स्वस्थ राष्ट्रवाद का सृजन करने में सफल हो सकें। न्यायिक समीक्षा का कार्य अपने आप में संविधान की व्याख्या का ही हिस्सा है। यह संविधान को नई दशाओं तथा समय की माँग के अनुसार समायोजित करता है।''

न्यायिक सक्रियता (Judical Activism)

न्यायिक सक्रियता की शुरूआत अपातकाल के बाद के वर्षों से मानी जाती है। जिसका अर्थ, न्यायपालिका द्वारा निभाई जाने वाली वह सक्रिय भूमिका है जिससे राज्य के अन्य अंगों को उनके संवैधानिक कृत्य करने को बाध्य करे। हालांकि, न्यायपालिका यह हस्तक्षेप बहुत कम समय या महत्वपूर्ण पड़ावों पर करती है। जब उसे लगता है कि, विधायिका अथवा कार्यपालिका के कृत्य संवैधानिक अथवा जनता के अधिकारों के विरुद्ध जा रहा है या जा सकता है। न्यायपालिका की इस सक्रियता से लोकतंत्र की शक्ति तथा जन विश्वास को बल मिलता है। इस तरह यह सक्रियता न्यायपालिका द्वारा संवेदनशील और उत्तरदायी शासन के कृत्यों को न्यायोचित तरीके से कराने का एक अनोखा प्रयास है।

यह शक्ति उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के पास ही है। ये उनकी पुनर्विक्षा तथा रिट क्षेत्राधिकार में आती है। जनहित याचिका को हम न्यायिक सक्रियता का मुख्य माध्यम मान सकते हैं।

हालांकि, न्यायिक सक्रियता का समर्थन एक सीमित सीमा तक ही किया जा सकता है, क्योंकि कार्यपालिका तथा विधायिका भी उसी संविधान से शक्तियाँ पाते हैं।

न्यायिक सक्रियता क्या है?

न्यायिक सक्रियता से तात्पर्य, ऐसी स्थिति से है जब न्यायपालिका न्यायिक निर्णयों से इतर प्रशासनिक व नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप करती है। ऐसा तब होता है, जब शासन व्यवस्था के अंग ठीक से संचालित नहीं हो रहे होते हैं। आमतौर पर वृहद लोक कल्याण की भावना न्यायिक सक्रियता के मूल में होती है। देश में विशेष सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के संबंध में न्यायपालिका का सक्रिय दृष्टिकोण ही न्यायिक सक्रियता है।

संविधान से मिली शक्ति

- न्यायिक सक्रियता को संविधान से अलग रखकर नहीं देखा जा सकता। वस्तुत: न्यायालय को कार्यपालिका एवं विधानपालिका में हस्तक्षेप की सीमा का कहीं वर्णन नहीं है। परन्तु इतना तो तय है कि हस्तक्षेप की शुरूआत में ही विधानपालिका और कार्यपालिका अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूरी तरह सजग हो जाती है, इसलिये अनावश्यक हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती।
- भारतीय संविधान ने अपनी उद्देशिका में राज्य को पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और सामाजवादी गणतंत्र माना है, जिसके अनुसार संतुलन बनाए रखना सरकार का प्रथम कर्त्तव्य है। भारत के उसी संविधान में न्यायपालिका को कार्यपालिका और विधानपालिका से स्वतंत्र रखा गया है तथा न्यायपालिका को संविधान का रक्षक माना गया है।
- न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती तथा न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्णा अय्यर ने जनहित याचिका के माध्यम से न्यायिक सक्रियता को शुरू किया था। हालांकि, जनहित याचिका का संविधान में कहीं कोई वर्णन नहीं है, परन्तु न्यायपालिका की न्यायिक सक्रियता ने देश की जनता को जनहित याचिका के रूप में एक अच्छा विकल्प दिया, जिससे जनहित के मामलों को सतह से ऊपर लाना और निपटाना आसान हुआ।

वर्ष 1980 के पूर्व व्यवस्था थी कि केवल पीड़ित व्यक्ति अदालत जा सकता है। लेकिन बाद में 7 सदस्यीय संविधान पीठ ने कहा कि कोई भी व्यक्ति, भले ही उसका उस बात से संबंध हो या ना हो, अगर किसी वाद में रूचि रखता है, तो अनुच्छेद-32 और 226 के तहत न्यायालय में जा सकता है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में न्यायिक सक्रियता का आकार इतना बढ़ गया है कि, कुछ लोग इसे न्यायिक दुरूपयोग तथा न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र के अतिक्रमण के रूप में देख रहे हैं और जिसके चलते कई बार न्यायिक सक्रियता की आलोचना भी होती है।

न्यायिक सक्रियता का वर्णन

न्यायिक सक्रियता के कारणों को **डॉ. बी. एल. बधेरा** ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है-

- उत्तरदायी सरकार उस समय लगभग ध्वस्त हो जाती है जब सरकार की शाखाएँ विधायिका एवं कार्यपालिका अपने-अपने कार्यों का निष्पादन नहीं कर पातीं। परिणामत: संविधान तथा लोकतंत्र में नागरिकों का भरोसा टूटता है।
- नागरिक अपने अधिकारों एवं आजादी के लिए न्यायपालिका की ओर देखते हैं। परिणामत: न्यायपालिका पर पीड़ित जनता को आगे बढ़कर मदद पहुँचाने का भारी दबाव बनता है।
- न्यायिक उत्साह अर्थात न्यायाधीश भी बदलते समय के समाज सुधार में भागीदार बनना चाहते हैं। इससे जनहित याचिकाओं को हस्तक्षेप के अधिकार (Locus Standi) के तहत प्रोत्साहन मिलता है।
- विधायी निर्वात अर्थात ऐसे कई क्षेत्र हो सकते हैं, जहाँ विधानों का अभाव है। इसलिए न्यायालय पर ही जिम्मेदारी आ जाती है कि, वह परिवर्तित सामाजिक जरूरतों के हिसाब से न्यायालयी विधायन का कार्य करें।
- भारत के संविधान में स्वयं ऐसे कुछ प्रावधान हैं, जिनमें न्यायपालिका को विधायन यानी कानून बनाने की गुंजाइश है, यहाँ इसे एक सक्रिय भूमिका निभाने का मौका मिलता है।

इसी प्रकार सुभाष कश्यप ने ऐसी कुछ आकस्मिकताओं की चर्चा की है जब न्यायपालिका अपने सामान्य क्षेत्राधिकार को लाँघकर ऐसे क्षेत्र में दखल दे जो कि विधायिका या कार्यपालिका का हो सकता है।

- जब विधायिका अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने में विफल हो गई हो।
- एक 'हंग (Hung)' विधायिका, जिसमें किसी दल को बहुमत नहीं मिली हो, की स्थिति में जब सरकार कमजोर व असुरक्षित हो और ऐसे निर्णय लेने में अक्षम हो, जिससे कोई जाति या समुदाय या अन्य समूह अप्रसन्न हो सकता है।
- सत्तासीन दल, सत्ता खोने के भय से ईमानदार और कड़ा निर्णय लेने से डर सकता है और इसी कारण से समय लगाने और निर्णय लेने में देरी करने अथवा न्यायालयों पर कठोर निर्णय लेने संबंधी दुर्भावना डालने के लिए जन मुद्दों को संदर्भित कर दिया जाता है।
- जहाँ विधायिका और कार्यपालिका, नागरिकों के मूल अधिकारों जैसें- गरिमापूर्ण जीवन, स्वास्थ्यकर परिवेश का संरक्षण करने में विफल हो, अथवा कानून एवं प्रशासन को एक ईमानदार, कार्यकुशल एवं न्यायपूर्ण व्यवस्था देने में विफल हो।
- जहाँ विधि के न्याय का, मजबूत सर्वसत्तावादी संसदीय दल वाली सरकार द्वारा गलत नीयत या उद्देश्यों से दुरूपयोग हो रहा हो जैसा कि आपातकाल के दौरान हुआ था।

कभी-कभी न्यायालय जाने-अनजाने स्वयं मानवीय प्रवृत्तियों, लोक-लुभावनवाद, प्रचार, मीडिया की सुर्खियाँ बटोरने आदि का शिकार हो जाता है।

न्यायिक सक्रियता की अवधारणा में निम्न प्रवृतियाँ देखी जा सकती हैं-

- प्रशासनिक प्रक्रिया में सुनवाई के अधिकार का विस्तार।
- बिना किसी सीमा के अत्यधिक प्रतिनिधिमंडल।
- विवेकाधीन शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए न्यायिक नियंत्रण का विस्तार।
- प्रशासन को नियंत्रित करने के लिए न्यायिक समीक्षा का विस्तार।
- पारदर्शी सरकार (Open Government) को बढ़ावा देना।
- अवमानना शक्ति का अंधाधुध प्रयोग।
- अवास्तविकता के विरुद्ध न्यायिकता का प्रयोग।
- आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए व्याख्या के मानक नियमों का विस्तार।
- आदेश पास करना जो कि वास्तव में असाध्य हैं।

न्यायिक सक्रियता के उत्प्रेरक

उपेन्द्र बक्शी (प्रमुख न्यायविद्) ने निम्नलिखित प्रकार के सामाजिक/मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को रेखांकित किया है, जो न्यायिक सक्रियता को उत्प्रेरित करते हैं।

- ***नागरिक अधिकार कार्यकर्ता***- ये समूह मुख्यत: नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों से जुड़े मामले उठाते हैं।
- ***जन अधिकार कार्यकर्ता***- ये समूह सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों पर जनांदोलनों का राज्य द्वारा दमन की स्थिति में जोर देते हैं।
- ***उपभोक्ता अधिकार कार्यकर्ता***- ये समूह राजनीति एवं आर्थिक व्यवस्था की जवाबदेही के ढाँचे में उपभोक्ता अधिकार संबंधी मामले उठाते हैं।
- ***बँधुआ मजदूर समूह***- ये समूह भारत में मजदूरी दासता के उन्मूलन के लिए न्यायिक सक्रियता की अपेक्षा करते हैं।
- ***पर्यावरणीय कार्यवाही के लिए नागरिक समूह***- ये समूह न्यायिक सक्रियता को बढ़ते पर्यावरणीय गिरावट तथा प्रदूषण को समाप्त करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं।
- ***वृहत् सिंचाई परियोजनाओं के विरुद्ध नागरिक समूह***- इन कार्यकर्ताओं को भारत की न्यायपालिका से यह अपेक्षा होती है कि, वह वृहत् सिंचाई परियोजनाओं को रोक दे, जो कि दुनिया की किसी भी न्यायपालिका के लिए असंभव है।
- ***बाल अधिकार समूह***- ये लोग बाल श्रम, शिक्षा, साक्षरता का अधिकार, सुधार गृह के किशोरों तथा यौन श्रमिकों के बच्चों के अधिकारों से संबंधित मामलों को उठाते हैं।
- ***हिरासती या परिरक्षण अधिकार समूह***- इनमें कैदियों के अधिकार, राज्य के संरक्षण, परिरक्षण या हिरासत में महिलाओं तथा निवारक बंदीकरण से प्रभावित व्यक्तियों के लिए की जाने वाली सामाजिक कार्यवाहियां शामिल हैं।
- ***निर्धनता अधिकार समूह***- ये समूह सूखे एवं अकाल के दौरान सहायता तथा शहरी गरीबों के मामलों को न्यायालय तक ले जाते हैं।
- ***मूलवासी जन-अधिकार समूह***- ये समूह वनवासियों, संविधान की पाँचवीं एवं छठी अनुसूचियों के नागरिकों तथा अस्मिता संबंधी अधिकारों के लिए कार्य करते हैं।
- ***महिला अधिकार समूह***- ये समूह लैंगिक समानता, लिंग आधारित हिंसा एवं उत्पीड़न, बलात्कार तथा दहेज हत्या जैसे मामलों पर आंदोलन करते हैं।
- ***बार-आधारित समूह***- ये समूह भारतीय न्यायपालिका की स्वायत्तता तथा जवाबदेही संबंधी मुद्दों के लिए आंदोलन करते हैं।
- ***मीडिया स्वायत्तता समूह***- ये समूह प्रेस के साथ ही राज्य के स्वामित्व वाले जन माध्यमों की स्वायत्तता एवं जवाबदेही पर एकाग्र रहते हैं।
- ***वर्गीकृत अधिवक्ता आधारित समूह***- इस कोटि में प्रभावशाली वकीलों के समूह आते हैं जो विभिन्न मुद्दों के लिए आंदोलन करते हैं।
- ***वर्गीकृत वैयक्तिक आवेदक याचिकाकर्ता***- इसके अंतर्गत स्वतंत्र कार्यकर्ता आते हैं।

न्यायिक सक्रियता को लेकर आशंकाएँ

प्रमुख कानूनविद उपेन्द्र बक्शी ने उस भय का भी जिक्र किया है, जो न्यायिक सक्रियता से उत्पन्न होता है। वे कहते हैं- "तथ्य यह है कि अनेक प्रकार के भय इसको लेकर व्याप्त हैं, यह आह्वान भारत के सबसे कर्तव्यनिष्ठ एवं ईमानदार न्यायाधीशों के अंदर भी एक घबराहट लाता है।'' वे निम्न प्रकार के भय की चर्चा करते हैं-

- ***विचारात्मक भय***- क्या वे विधायिका, कार्यपालिका या नागरिक समाज की अन्य स्वायत्त संस्थाओं की शक्ति हड़प रहे हैं?
- ***मीमांसात्मक भय***- क्या वे अर्थशास्त्र में मनमोहन सिंह, वैज्ञानिक मामलों में परमाणु ऊर्जा प्रतिष्ठान के विशेषज्ञ तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के प्रमुखों के स्तर तक का ज्ञान रखते हैं?
- ***प्रबंधन संबंधी भय***- इस प्रकार के वादों का अतिरिक्त कार्यभार लेकर क्या वे न्याय कर पा रहे हैं, एक ऐसी परिस्थिति में जबकि पहले से ही मुकदमों का ढेर सामने है?
- ***वैधता संबंधी भय***- क्या वे अपने प्रतीकात्मक प्राधिकार की ही क्षति नहीं कर रहे, जनहित याचिकाओं में आदेश पारित करके, जिनकी कार्यपालिका अनदेखी भी कर सकती है? क्या इससे न्यायपालिका में लोगों का भरोसा कम नहीं होगा?
- ***लोकतंत्र संबंधी भय***- जनहित याचिका वास्तव में लोकतंत्र का पोषण कर रही है या भविष्य की इसकी संभावनाओं को समाप्त कर रही है?
- ***आत्मवृत्त संबंधी भय***- सेवानिवृत्ति के पश्चात् राष्ट्रीय मामलों में मेरा क्या स्थान होगा, अगर मैं इस प्रकार के वाद आवश्यकता से अधिक करूँ?

न्यायिक सक्रियता (कार्यपालिका बनाम न्यायपालिका)

न्यायिक सक्रियता, एक विवादास्पद संकल्पना है, जिसके संदर्भ में विधायिका और न्यायपालिका के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। यह बिन्दु उल्लेखनीय है कि, न्यायपालिका ने स्वयं को सक्रिय नहीं माना, अपितु यह आलोचना विधायकों और राजनेताओं की हैं, क्योंकि न्यायपालिका के अनुसार, न्यायपालिका, संविधान की व्याख्या कर रही है तथा यह न्यायपालिका का मूल कार्य है। संविधान की व्याख्या सदैव के लिये एक समान नहीं हो सकती, अपितु परिवर्तित परिस्थितियों में व्याख्या भी भिन्न हो सकती है। न्यायपालिका के अनुसार, न्यायपालिका का भी मूल उद्देश्य सामाजिक न्याय प्रदान करना है, केवल प्रक्रिया को बनाये रखना नहीं। इस संदर्भ में न्यायपालिका की भूमिका उल्लेखनीय है, क्योंकि न्यायपालिका ने जनहित याचिका के माध्यम से आम लोगों का विश्वास संवैधानिक व्यवस्था में बनाये रखा, लेकिन किसी भी देश में न्यायाधीशों की सरकार की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए न्यायपालिका को प्रत्येक मामले में हस्तक्षेप करने से बचना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक मामलों में हस्तक्षेप से-

- भ्रम और अनिश्चितता में वृद्धि होगी।
- न्यायालय की विश्वसनीयता में गिरावट हो सकती है।

भारत में विधायिका बनाम् न्यायपालिका का यह विवाद पुराना है। संसदीय संप्रभुता और न्यायिक पुनर्विलोकन के मध्य पहला बड़ा संघर्ष **'गोलकनाथ वाद'** में देखा जा सकता है, जिस वाद में न्यायपालिका ने मूल अधिकारों के संशोधन को प्रतिबंधित करने का प्रयास किया। विधायिका और न्यायपालिका का यह संघर्ष आपातकाल के दौरान और प्रभावी हुआ। सरकार ने 42वाँ संविधान

संशोधन करते हुए संसदीय संप्रभुता को स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन दूसरी ओर, **'केशवानंद भारती वाद'** में न्यायपालिका ने आधारभूत ढ़ाँचे का सिद्धांत देते हुए न्यायिक पुनर्विलोकन को प्रभावी रूप में प्रयोग किया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाए, तो न्यायपालिका की शक्तियों में वृद्धि हुई, क्योंकि 'गोपालन वाद' में तथा **'ए. डी. एम. जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला वाद'** में न्यायपालिका ने विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को पूर्ण रूप से स्वीकार किया। वर्ष-1980 के दशक में न्यायपालिका के कार्यों में आमूल-चूल परिर्वतन देखा गया तथा अमेरिका की भाँति, भारत में भी जनहित याचिका का प्रयोग किया जाने लगा।

जनहित याचिका (P.I.L) के माध्यम से न्यायपालिका ने नागरिकों के मूल अधिकारों को अत्यधिक महत्व दिया तथा वंचित और गरीब लोगों के मानवाधिकार की रक्षा के लिए सक्रिय प्रयास किया। अत: पुलिस बर्बरता, अमानवीय यातना और बंदीगृह में मृत्यु तथा बलात्कार जैसी घटनाओं को रोकने के लिए न्यायालयों ने कड़े निर्देश जारी किये। इसके साथ ही न्यायपालिका ने पर्यावरण को शुद्ध रखने पर भी बल दिया।

वर्ष 1990, के दशक में न्यायिक सक्रियता का विवाद उस समय और प्रभावी हुआ, जब गठबंधन सरकार के युग में मंत्रिमंडलीय स्तर पर भ्रष्टाचार के मामले प्रकाश में आये। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय देते हुए सी. बी. आई. (C.B.I.) की स्वतंत्रता और स्वायत्तता का समर्थन किया। इसी समय **हवाला कांड** भी प्रकाश में आया, जिसमें न्यायपालिका ने सरकार को यह निर्देश दिया कि, सी. बी. आई. की रिपोर्ट सीधे न्यायपालिका को भेजी जाए। न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा ने यह कहा कि, तटस्थता के लिए यह आवश्यक था कि, सी. बी. आई. को नियंत्रित करने का अधिकार कार्यपालिका के हाथ में नहीं रहे। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप **कार्यपालिका बनाम न्यायपालिका** की बहस और प्रभावी हुई। लोकसभा स्पीकर पी. ए. संगमा ने कहा कि, न्यायपालिका के कार्य खतरनाक हैं। यह विधायिका और कार्यपालिक के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप है और न्यायाधीश लोकप्रियता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं।

इसी दौरान अनेक सामाजिक संरक्षकों द्वारा जनहित याचिकाएं (P. I. L.) दायर की गयीं, जिसमें बड़े बाँधों का मुद्दा, बच्चों और बँधुआ मजदूरों का मामला और एम. सी. मेहता ने पर्यावरण के संरक्षण से संबंधित मामले उठाये। एच. बी. शौरी ने नागरिक समाज के हित में अनेक जनहित याचिका का प्रयोग किया। ताजमहल के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 212 उद्योगों को बंद करने का आदेश दिया। वर्ष 1996-97 में उच्चतम न्यायालय ने दिल्ली से औद्योगिक इकाईयों को बाहर करने का आदेश दिया, क्योंकि ये इकाइयाँ घनी आबादी में कार्यरत थीं। वर्ष-2000 में उच्चतम न्यायालय ने यमुना को प्रदूषण से बचाने के लिए दिल्ली सरकार को निर्देश दिये। गठबंधन सरकार के युग में शक्ति संतुलन न्यायपालिका ने निश्चित रूप से अपने पक्ष में किया है। वर्ष 1993, के एक ऐतिहासिक निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि, न्यायाधीशों की नियुक्ति में प्राथमिकता मुख्य न्यायाधीश की होगी तथा राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश की सलाह के अनुसार ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करेगा। एडवोकेट ऑन रिकॉर्डस केस अथवा जजेज केस (Advocate On Recorders Case/Judges Case) के निर्णय से भारत में न्यायापालिका की शक्तियों में अत्यधिक बढ़ोत्तरी हुई है। यह बिन्दु ध्यान देने योग्य है कि, वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधीश बनाने की परंपरा थी, लेकिन वर्ष 1970 के दशक में इस परंपरा की अवहेलना की गयी। वर्ष 1973 में तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता का उल्लंघन करते हुए, ए. एन. राय को मुख्य न्यायाधीश बनाया गया। 1970 के दशक में निम्नलिखित माध्यमों से न्यायपालिका को हतोत्साहित करने का प्रयास किया गया-

1. वरिष्ठतम न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश न बनाया जाना।
2. उच्च न्यायालय के अतिरिक्त न्यायाधीशों को स्थायी न करना।
3. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का मनमाना स्थानांतरण करना।
4. सार्वजनिक सभाओं में न्यायपालिका की आलोचना करना।

विधायिका बनाम न्यायपालिका के मध्य संतुलन स्थापित करने के लिए वर्ष 2000 में एन. डी. ए. सरकार के प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ने 'राष्ट्रीय न्यायिक आयोग' के निर्माण का सुझाव दिया। आयोग का यह कार्य होगा कि, न्यायाधीशों के नैतिक आचरण, नियुक्ति, स्थानांतरण और पदमुक्ति करने का निर्वहन करें। न्यायाधीशों के एक वार्षिक सम्मेलन में न्यायाधीशों ने यह निर्णय किया, कि न्यायपालिका को स्वयं अपने आंतरिक गतिविधियों को स्वनियंत्रित करना होगा। यद्यपि पूर्व न्यायाधीश जे. एस. वर्मा के अनुसार, महाभियोग या आंतरिक कार्यवाही दोनों प्रकियाएं अपर्याप्त हैं।

संविधान में न्यायपालिका और विधायिका के मध्य सामंजस्य स्थापित किया गया है। व्यवहारिक रूप में यदि सरकार के तीनों अंगों के मध्य सांमजस्य नहीं होगा, तो प्रशासन का कार्य प्रभावी नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायपालिका द्वारा दिये गये निर्णय को लागू करने का दायित्व कार्यपालिका का है। यदि कार्यपालिका उन निर्णय को लागू न करे, तो व्यवहार में वे निरर्थक हो जायेंगे। इसलिए आवश्यकता सामंजस्यता की है, संघर्ष की नहीं। यद्यपि न्यायपालिका ने B.A.L.C.O. विनिवेश केस में स्पष्ट कहा कि, आर्थिक नीतियों के निर्धारण का अधिकार सरकार को है, न्यायपालिका को नहीं। N. C. E. R. T. केस में न्यायपालिका ने पुन: यह दोहराया, कि शैक्षणिक पाठ्यक्रमों को निर्धारित करने का अधिकार सरकार को है, न्यायपालिका को नहीं।

संप्रति परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि, न्यायपालिका पर भी नियंत्रण स्थापित करने के लिये किसी संस्था की आवश्यकता है, क्योंकि अनेक न्यायाधीशों के विरुद्ध भी दुराचरण और भ्रष्टाचार के मामले पाये गये हैं। लोकतंत्र में सरकार के किसी भी अंग को अनियंत्रित शक्ति प्रदान नहीं की जा सकती है। संविधान में ही शासन के प्रत्येक अंग पर प्रतिबंध हैं।

कार्यपालिका या विधायिका के अनुसार, वस्तुत: न्यायाधीश, जनता द्व ारा निर्वाचित नहीं होते, इसलिए सामाजिक न्याय का मूल दायित्व संसद का है, न्यायपालिका का नहीं। न्यायपालिका तो विवादों के समाधान की एक संस्था है। न्यायपालिका द्वारा विधायिका का किया जाने वाला कार्य द्वितीयक है प्राथमिक नहीं। संविधान में शासन के प्रत्येक अंग के कार्य निर्धारित हैं। इसलिए न्यायपालिका, विधायिका या कार्यपालिका को कार्यों का आदेश नहीं दे सकती। वस्तुत: इनका यह भी तर्क है कि, वित्तीय एवं प्रशासनिक विषयों का ज्ञान, न्यायपालिका के पास नहीं होता। ऐसे मामलों में न्यायपालिका, सरकार को निर्देश नहीं दे सकती।

यह सत्य है कि, भारत में संसदीय शासन प्रणाली स्वीकार की गयी है। संविधान निर्माताओं ने संसद को प्राथमिक बनाने का प्रयत्न भी किया है, लेकिन जनप्रतिनिधित्व के नाम पर भ्रष्टाचार और गैर-संवैधानिक कार्य करने की अनुमति किसी को भी नहीं हो सकती। भारतीय राजनीति में जिस प्रकार राजनीति का अपराधीकरण हुआ है **(बोहरा आयोग)**, उस परिस्थिति में संसदीय शासन के नाम पर न्यायिक पुनर्विलोकन पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता।

इसलिए यदि न्यायिक सर्वोच्चता की संकल्पना स्वीकार नहीं की जा सकती, तो संसदीय सर्वोच्चता की मान्यता भी स्वीकार करना कठिन है। इसलिए व्यवहार में न्यायपालिका की स्वतंत्रता और स्वायत्तता आवश्यक है। जबकि जनप्रतिनिधियों को संविधान निर्माताओं के आदेश को ध्यान में रखना होगा।

न्यायिक अतिसक्रियता

संविधान में विधायिका, न्यायपालिका व कार्यपालिका के मध्य, शक्ति विभाजन किया गया है एवं प्रत्येक अंग के अपने काम निर्धारित हैं।

वर्तमान में न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका को नीति निर्माण संबंधी आदेश दिये गये हैं। यही न्यायिक अतिसक्रियता है।

निम्नलिखित मामलों में न्यायपालिका ने कार्यपालिका को आदेश दिया है-

- गेहूँ को गरीबों में मुफ्त बाँटने का आदेश दिया।
- केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त की नियुक्ति को रद्द कर दिया।
- काले धन हेतु सरकार द्वारा गठित विशेष जाँच टीम के सदस्यों पर न्यायपालिका ने आपत्ति उठायी।
- 2G स्पेक्ट्रम मामले की जाँच उच्चतम न्यायालय द्वारा स्वयं की जा रही है।
- कॉलेजियम व्यवस्था के माध्यम से न्यायाधीशों की नियुक्ति स्वयं न्यायाधीश कर रहे हैं। अत: न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति की प्राथमिकता समाप्त हो गई है। (99वाँ संविधान संशोधन अधिनियम को असंवैधानिक घोषित करना)।

अन्य आदेश

- ***सूखे से निपटने के लिए केन्द्र को दिए गए आदेश***- इस संबंध में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि, सरकार सूखा प्रबंधन पर गंभीरता से विचार करे और मौजूदा सभी प्रावधानों को खारिज कर एक नई पारदर्शी नीति बनाए, जिससे सूखा नियंत्रण से संबंधित सभी कार्य प्रमाणिक तरीके से निपटाए जा सकें। इसके साथ-साथ उच्चतम न्यायालय ने केंद्र-सरकार को राष्ट्रीय आपदा शमन कोष स्थापित करने का आदेश दिया। हालांकि भारत सरकार ने इसके लिए राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया कोष पहले से बना कर रखा है।
- ***अप्राप्य ऋण के लिए पैनल***- सुप्रीम कोर्ट ने केंद्र-सरकार को उन सभी ऋणों के संबंध में एक समिति गठित करने का आदेश दिया है जो अप्राप्य ऋण की श्रेणी में आते हैं या जिनके लौटने की संभावना बहुत कम है।
- ***अरुणाचल प्रदेश के गर्वनर को सुप्रीम कोर्ट का नोटिस***- उच्चतम न्यायालय ने अरुणाचल प्रदेश के गर्वनर **'ज्योति प्रकाश राजखोवा'** को भारतीय संविधान के अनुच्छेद-361 के संबंध में एक नोटिस जारी किया, जो अरुणाचल प्रदेश में गर्वनर द्वारा राष्ट्रपति शासन लागू करने से जुड़ा था।
- ***बी. सी. सी. आई. में सुधार***- हालांकि बी. सी. सी. आई. एक निजी संस्था है, तब भी सुप्रीम कोर्ट इनमें हस्तक्षेप कर इसमें सुधार करने का हर संभव प्रयास कर रही है।
- राष्ट्रगान में देशभक्ति थोपना श्यामा नारायण चौकसे भारत संघ (2016) मामले में SC ने निर्णय दिया कि, सभी सिनेमा हॉल द्वारा चलचित्र (Movie) शुरू करने से पूर्व राष्ट्रगान चलाया जाना चाहिए।

सरकार के प्रदर्शन का लेखा निरीक्षण

कानून के प्रवर्तन में देरी से व्यथित होकर मुख्य न्यायाधीश टी.एस. ठाकुर ने कहा कि, सरकार के प्रदर्शन को आँकने के लिए एक अंकेक्षण प्रक्रिया होनी चाहिए। भारत के राष्ट्रपति द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में सुप्रीम कोर्ट ने भारत के राष्ट्रपति द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति के अधिकार के संबंध में दखल देते हुए यह कहा कि न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कॉलेजियम का है। उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय उसके पूर्व के एक वाद के निर्णय से जुड़ा है जिसे **'तीन न्यायाधीश' वाद** भी कहा जाता है।

लोकतंत्र में न्यायिक सक्रियता

संविधान दिवस (26 नवम्बर) के मौके पर केंद्रीय विधि मंत्री ने कहा कि यद्यपि, जनहित याचिका गरीबों को न्याय प्रदान करने के उद्देश्यों की पूर्ति करती है लेकिन इसका इस्तेमाल शासन के विकल्प एवं विधायिका और कार्यपालिका की कानून बनाने और क्रियान्वयन की शक्तियों के विकल्प के तौर पर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शासन करने संबंधी कार्य उन्हीं के पास रहने चाहिए, जो शासन करने के लिये चुने गए हैं। इसके प्रत्युत्तर में भारत के मुख्य न्यायाधीश ने कहा कि नागरिकों के मौलिक अधिकार संविधान के आधारभूत मूल्य हैं, जिनसे समझौता नहीं किया जा सकता। न्यायपालिका को न्यायिक समीक्षा की शक्ति इसलिए दी गई है कि संतुलन बना रहे।

न्यायिक सक्रियता क्या है?

देश में न्यायिक सक्रियता का जन्म वर्ष 1986 में जनहित याचिका (PIL) के माध्यम से हुआ था। न्यायिक सक्रियता से तात्पर्य ऐसी स्थिति से है, जब न्यायपालिका न्यायिक कार्यों से इतर प्रशासनिक व नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप करती है। ऐसा तब होता है जब शासन व्यवस्था के अंग ठीक से संचालित नहीं हो रहे होते। आमतौर पर वृहद लोक कल्याण की भावना सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के संबंध में न्यायपालिका का सक्रिय दृष्टिकोण ही न्यायिक सक्रियता है।

न्यायिक सक्रियता के उद्देश्य

जनहित याचिका (पी.आई.एल) को सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से न्याय प्रणाली में लाया गया था, ताकि गरीब से गरीब व्यक्ति की पहुँच भी न्यायालय तक हो या फिर न्यायपालिका स्वयं उन मुद्दों को उठा सके, जो आम जनता के हित और संविधान की मूल भावना से जुड़े हों। नि:संदेह पीआईएल ने न्यायिक प्रक्रिया को लोकतांत्रिक बनाया है। हालांकि भारतीय न्याय प्रणाली में पीआईएल के आने से पहले भी न्यायिक सक्रियता के उदाहरण देखे जा सकते हैं; जैसे- गोलकनाथ मामले में जब शीर्ष न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती है। इसके बाद ''केशवानंद भारती वाद'' में संविधान के मूल ढाँचे में संशोधन न करने की व्यवस्था देकर संसद की विधायी शक्तियों को सीमित कर दिया गया।

वर्तमान में न्यायिक सक्रियता में वृद्धि के कारण

नीति निर्माण और नीति क्रियान्वयन दोनों में ही पारदर्शिता और उत्तरदायित्व का अभाव है, जिसके कारण न्यायपालिका को हस्तक्षेप करना पड़ रहा है।

न्यायपालिका का सामाजिक सुधार और परिवर्तन के प्रति उत्साह भी उसको सक्रिय होने के लिये प्रेरित करता है।

चूँकि न्यायपालिका कानून और नीतियों की अंतिम व्याख्याकार है, संविधान के आधारभूत ढाँचे की संरक्षक है। इन सब उत्तरदायित्वों की वजह से न्यायपालिका की जिम्मेदारी है कि, वह अपने कर्तव्यों का सही तरीके से पालन करे। इसके लिये उसका सक्रिय होना आवश्यक है।

न्याय कितनी भी देरी से क्यों न मिलता हो, इसके बावजूद आज भी जनता का विश्वास न्यायपालिका में बना हुआ है। इसी विश्वास को बनाए रखने के लिये वर्तमान में न्यायपालिका ज्यादा सक्रिय हो गई है।

लोकतंत्र में न्यायिक सक्रियता की सीमाएँ

न्यायिक सक्रियता के तहत अदालतों को नि:संदेह कानून लागू करने और उनकी व्याख्या करने का अधिकार है, लेकिन कानून बनाने या उनमें बदलाव करने का अधिकार नहीं है, जो कि आजकल न्यायपालिका कर रही है।

जस्टिस जे.एस. वर्मा के शब्दों में ''न्यायिक सक्रियता और न्यायिक नियंत्रण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं न्यायपालिका के सदस्यों को आत्म-अनुशासन का अभ्यास करना चाहिए और सरकार के नीतिगत निर्णयों पर अनावश्यक टिप्पणी करने से बचना चाहिए।''

कार्यपालिका और विधायिका दोनों को ही अपनी जिम्मेदारियों का पूर्ण निर्वहन करना होगा। न्यायपालिका को संविधान की सुरक्षा सुनिश्चित करने का विशेष दायित्व मिला है। इसलिए यह कार्यपालिका से किसी भी कानून के बारे में पूछताछ कर सकती है और विधायिका या कार्यपालिका इससे बच नहीं सकती है।

संविधान में शासन के तीनों अंगों की पृथक-पृथक शक्तियाँ और अधिकार निर्धारित किये गए हैं। इस प्रकार न्यायपालिका की अति सक्रियता शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन नहीं कर सकती है।

जनहित याचिकाओं के लिये दिशा-निर्देश तय करने की आवश्यकता है, क्योंकि इनमें से अधिकांश राजनीतिक या आर्थिक प्रतिद्वंद्विताओं से प्रेरित होती हैं, जो कि न्यायपालिका का समय बर्बाद करती है।

सारांश

लोकतंत्र तीन समकक्ष इकाइयों (विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका) से मिलकर बनती है। तीनों इकाइयाँ अपने-अपने दायित्व पूरा करने के लिये स्वतंत्र होती हैं। साथ ही वे एक-दूसरे की सहायक की भूमिका में भी होती हैं। ये तीनों इकाइयाँ संविधान द्वारा परिभाषित नियमों से संचालित होती हैं। भारत में आज जिस तरह की न्यायिक निगरानी व्यवस्था है, वह प्रशंसनीय है। 2-जी घोटाला, कोयला घोटाला, खाद्यान आवंटन जैसे मामलों की निगरानी में सर्वोच्च न्यायालय ने महत्त्वपूर्ण और सक्रिय भूमिका निभाई है।

नि:संदेह अतीत में न्यायिक सक्रियता के कई सुखद परिणाम सामने आए हैं, लेकिन इसको शासन व न्याय व्यवस्था में लाभकारी बनाए रखने के लिये शासन के सभी अंगों को मिलकर कार्य करना होगा, ताकि किसी भी एक इकाई द्वारा अन्य इकाई के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण न किया जा सके।

आरटीआई के दायरे में शीर्ष न्यायपालिका

- ध्यातव्य है कि, दिल्ली हाईकोर्ट ने शीर्ष न्यायपालिका को आरटीआई के दायरे में लाने संबंधी एक मामले में अपना निर्णय दिया है।
- वर्ष 2010 में, आर.के. मिश्र नाम के एक स्कूल शिक्षक ने **'सुप्रीम कोर्ट रजिस्ट्री'** के समक्ष एक आरटीआई दायर कर यह पूछा था कि, न्यायालय ने उनके द्वारा पूर्व में भेजे पत्रों के संदर्भ में क्या कार्रवाई की है?
- यह आरटीआई की मदद से न्यायिक लड़ाई लड़ने का एक प्रयास था और सुप्रीम कोर्ट रजिस्ट्री आसानी से यह कह सकता था कि, उसके पास इस संबंध में कोई जानकारी नहीं है। लेकिन, सुप्रीम कोर्ट रजिस्ट्री ने इस आरटीआई को ही खारिज कर दिया।
- गौरतलब है कि, शीर्ष न्यायपालिका ने अब तक स्वयं को आरटीआई के दायरे से बाहर रखा है, जबकि आरटीआई अर्थात् सूचना के अधिकार ने भारत में लोकतंत्र को मजबूत करने का काम किया है।

RTI *एक्ट क्या है?*

- सूचना का अधिकार (Right To Information-RTI) अधिनियम, 2005 नागरिकों को सूचना का अधिकार उपलब्ध कराने के लिये लागू किया गया है।
- इस अधिनियम के प्रावधानों के तहत, भारत का कोई भी नागरिक किसी भी सरकारी प्राधिकरण से सूचना प्रदान करने का अनुरोध कर सकता है, जो उसे 30 दिन के अंदर मिल जानी चाहिए।
- अधिनियम में यह भी कहा गया है कि, सभी सार्वजनिक प्राधिकरण अपने दस्तावेजों का संरक्षण करते हुए उन्हें सुरक्षित रखेंगे।
- इसके अंतर्गत, सभी संवैधानिक निकाय, संसद अथवा राज्य विधानसभा के अधिनियमों द्वारा गठित संस्थान और निकाय शामिल हैं।

न्यायपालिका आरटीआई के दायरे में क्यों नहीं आना चाहती है?

- न्यायपालिका स्वयं को आरटीआई के दायरे में नहीं लाना चाहती, जबकि आरटीआई लागू करवाने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।
- वह इसलिये आरटीआई के दायरे में नहीं आना चाहती, क्योंकि उसे यह महसूस होता है कि यदि शीर्ष न्यायपालिका में आरटीआई की अनुमति दे दी गई तो न्यायिक नियुक्तियों के संदर्भ में सूचनाएँ माँगी जाएंगी।
- न्यायपालिका अभी भी कॉलेजियम व्यवस्था के तहत नियुक्तियाँ कर रही है और इसकी कार्य प्रणाली को लेकर हमेशा से एक गोपनीयता बनाकर रखी गई है।
- न्यायपालिका की स्वतंत्रता का हवाला देकर भी सुप्रीम कोर्ट आरटीआई खारिज करता रहा है।

न्यायिक नियुक्तियाँ और आरटीआई

- वर्ष 2005 में पारित सूचना का अधिकार (आरटीआई) ने भारत में शासन की प्रकृति को बदल दिया। इससे प्रशासन में अभूतपूर्व पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व की भावना का संचार हुआ।
- कुछ ऐसी भी संस्थाएँ हैं, जहाँ आरटीआई लागू किये जाने को लेकर विवाद होते रहे हैं और ऐसी ही एक संस्था है, शीर्ष न्यायपालिका अर्थात सर्वोच्च न्यायालय।
- वर्ष 2010 में केंद्रीय सूचना आयोग ने निर्देश दिया था कि, तीन जजों की नियुक्ति से संबंधित सभी प्रक्रियाओं तथा इस संबंध में सरकार तथा शीर्ष न्यायपालिका के मध्य हुए पत्राचार से संबंधित जानकारियाँ आरटीआई के तहत उपलब्ध कराई जाएं। लेकिन सुप्रीम कोर्ट में इसके विपक्ष में दायर याचिका पर अभी तक कोई भी निर्णय नहीं लिया जा सका।

न्यायपालिका को आरटीआई के अंतर्गत क्यों आना चाहिए?

- गौरतलब है कि, आरटीआई अधिनियम में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो न्यायपालिका को आरटीआई के दायरे से बाहर रखने की अनुमति देता हो।
- न्यायपालिका ने स्वयं ही खुद को आरटीआई से बाहर रखा हुआ है।
- विदित हो कि, आरटीआई अधिनियम का अनुच्छेद 8(1)(J) के अनुसार, आरटीआई के तहत व्यक्तिगत जानकारियाँ नहीं माँगी जा सकती।
- न्यायाधीशों का चयन, स्थानांतरण या उनके खिलाफ दर्ज शिकायतें व्यक्तिगत मामलों के अंतर्गत नहीं आते हैं।
- आरटीआई अधिनियम की धारा 24 में इंटेलिजेंस ब्यूरो, रॉ, सीआरपीएफ, सीआईएसएफ आदि जैसे कुछ संस्थानों को इसके दायरे से बाहर रखा गया है, लेकिन इसमें न्यायपालिका का कोई जिक्र नहीं है। इसलिए न्यायपालिका को आरटीआई के दायरे में आना चाहिए।

सारांश

आरटीआई ने यह मिसाल कायम की है कि, पारदर्शिता सुनिश्चित कर संस्थाओं को कैसे मजबूत बनाया जा सकता है। यहाँ तक कि पी. जे. थॉमस मामले में स्वयं न्यायपालिका यह कह चुकी है कि देश में सभी संस्थाओं को पारदर्शिता बहाल करने पर विशेष ध्यान देना होगा। इसलिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता के नाम पर न्यायधीशों की नियुक्ति संबंधी प्रक्रिया आदि के बारे में जानकारियाँ गोपनीय नहीं रखी जानी चाहिए। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण, पदोन्नति, सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्ति के संदर्भ में कॉलेजियम की सिफारिशों को अपने वेबसाइट पर प्रदर्शित करना प्रारंभ किया है, जो एक महत्वपूर्ण कदम है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति कौन करे न्यायपालिका या कार्यपालिका

सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम ने दो नाम सर्वोच्च न्यायालय में बतौर न्यायाधीश नियुक्ति के लिये सरकार को भेजे थे। सरकार ने उनमें से इंदु मल्होत्रा का नाम तो स्वीकार कर लिया लेकिन जस्टिस के. एम जोसेफ का नाम पुनर्विचार के लिये कॉलेजियम को वापस भेज दिया। इस प्रकरण में सरकार, न्यायाधीशों की नियुक्ति से जुड़ी कॉलेजियम व्यवस्था को लेकर बिल्कुल भी सहज नहीं है और दूसरी तरफ सर्वोच्च न्यायालय, जो हर हाल में कॉलेजियम व्यवस्था बरकरार रखना चाहती है। हालांकि, जब कॉलेजियम ने जस्टिस कुरियन जोसेफ का नाम दुबारा भेजा तो सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया। फिर भी यह जानना ज़रूरी होगा कि इस अस्वीकृति के विविध पहलू क्या रहे?

सरकार की आपत्ति

तत्कालीन कानून मंत्री ने देश के मुख्य न्यायाधीश और कॉलेजियम के प्रमुख दीपक मिश्रा को पत्र लिखकर निम्नलिखित तीन कारण बताए कि क्यों जस्टिस

के.एस. जोसेफ को सर्वोच्च न्यायालय में जज नहीं बनाया जाना चाहिये-

- जस्टिस के.एस.जोसेफ का नाम प्रांतीय-जातीय प्रतिनिधित्व और वरीयता के सिद्धांत के प्रतिकूल बताते हुए व यह कहते हुए वापस कर दिया गया कि, केरल से दो जज पहले ही सर्वोच्च न्यायालय में हैं।
- जस्टिस के.एम.जोसेफ वरीयता क्रम में देश में 42वें नंबर पर हैं, जो काफी नीचे हैं। देश में विभिन्न उच्च न्यायालयों के जज उनसे सीनियर हैं।
- सर्वोच्च न्यायालय में अनुसूचित जाति या जनजाति का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है।

इसके अलावा सरकार ने यह भी कहा कि, सर्वोच्च न्यायालय में कोलकाता, छत्तीसगढ़, राजस्थान, गुजरात, उत्तराखंड, झारखंड, जम्मू-कश्मीर, सिक्किम, मणिपुर और मेघालय उच्च न्यायालय का प्रतिनिधित्व नहीं है।

न्यायपालिका का क्या तर्क है?

- इस मुद्दे पर न्यायपालिका तर्क देती है कि, कोई भी शाखा (विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका) सर्वोच्चता का दावा नहीं कर सकती।
- सर्वोच्च न्यायालय संवैधानिक संप्रभुता में विश्वास करता है और उसका पालन भी करता है।
- स्वतंत्र न्यायपालिका को न्यायिक समीक्षा की शक्ति के साथ संतुलन स्थापित करने के लिए संविधान के अंतिम संरक्षक की शक्ति दी गई है, ताकि इस बात को सुनिश्चित किया जा सके कि संबंधित सरकारें कानून के प्रावधान के अनुसार अपने दायरे के भीतर काम करें।
- सर्वोच्च न्यायालय किसी भी तरह की नीति लाने के पक्ष में नहीं है, लेकिन जब नीति बन गई तो उसकी व्याख्या करने और इसे लागू किया जाए या नहीं, यह देखने का अधिकार आवश्यक है।
- संविधान ने न्यायपालिका को जो अधिकार सौंपे हैं, वह उसी का पालन कर रही है। न्यायपालिका तभी हस्तक्षेप करती है, जब कार्यपालिका अपने संवैधानिक कर्त्तव्यों का निर्वहन करने में विफल रहती है।

सरकार का क्या तर्क है?

- सरकार की ओर से प्राय: यह तर्क दिया जाता है कि, निष्पक्ष न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए न्यायपालिका सरकार पर विश्वास नहीं करती है।
- शासन का काम उनके पास रहना चाहिए, जो शासन करने के लिए निर्वाचित किये गये हों।
- न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत का हवाला देते हुए सरकार कहती है कि, शक्ति के पृथक्करण का सिद्धांत न्यायपालिका के लिए भी उतना ही बाध्यकारी है जितना कार्यपालिका के लिए।

सारांश

वर्ष 1973 में चर्चित केशवानंद भारती मामले में सर्वोच्च न्यायालय की 13 जजों की संविधान पीठ अपने फैसले में यह स्पष्ट कर चुकी है कि भारत में संसद नहीं, बल्कि संविधान सर्वोच्च है। अपने इस ऐतिहासिक फैसले में अदालत ने टकराव की किसी भी स्थिति को खत्म करने के लिए संविधान के मौलिक स्वरूप का सिद्धांत भी पारित किया था, जिसके अनुसार संसद ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती, जो संविधान की मूल संरचना के प्रतिकूल हो। इसके साथ ही न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार के तहत संसद द्वारा किये गए किसी संशोधन से संविधान की मूल संरचना प्रभावित होने की जाँच करने के लिए भी न्यायपालिका स्वतंत्र है।

राज्य कार्यपालिका
(The State Executive)

परिचय

भारतीय संविधान में राज्य कार्यपालिका की उसी तरह परिकल्पना की गई है जैसे कि केन्द्र के लिये की गई है। इसे संसदीय व्यवस्था कहते हैं। राज्य में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए तथा सामाजिक एवं आर्थिक विकास संबंधी कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए विधायिका द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाता है। व्यवस्थापिका (विधायिका) द्वारा बनाये गये इन कानूनों एवं नीतियों को व्यवहारिक रूप देने के लिए कार्यपालिका (Executive) का गठन किया गया है। भारत के संघीय शासन की भांति भारतीय राज्यों में भी कार्यपालिका के तीन स्वरूप भारतीय संविधान के भाग-VI, **अनुच्छेद-153** से **167** में दिखाई पड़ते हैं। राज्य कार्यपालिका में राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद और राज्य का महाधिवक्ता शामिल होता है।

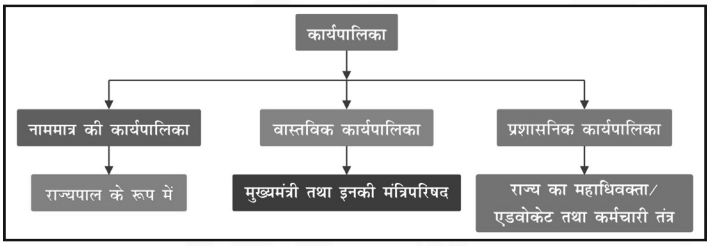

राज्यपाल (The Governer)

संविधान के अनुसार, राज्यपाल राज्य स्तर पर संवैधानिक प्रमुख होता है। कार्यपालिका प्रमुख होने के नाते वह राज्य के प्रमुख के रूप में तथा केंद्र-सरकार के प्रतिनिधि के रूप में, केंद्र एवं राज्य के बीच कड़ी के रूप में कार्य करते हुये दोहरी भूमिका निभाता है। भारत में राज्यपाल का चयन अमेरिका की भांति जनता द्वारा निर्वाचन पद्धति से नहीं होता है, बल्कि यहाँ राज्यपाल, राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है।

राज्यपाल के लिए योग्यताएँ

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-157** एवं **158** के अनुसार किसी भी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप में नियुक्ति के लिये निम्न योग्यताएँ वांछित है-

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह 35 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो।
- संसद अथवा राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य न हो।
- वह किसी भी लाभ के पद पर न हो।

इसके अलावा राज्यपाल के पद के संबंध में कुछ अन्य बातें भी जोड़ी गई हैं। भारत के लोकतांत्रिक इतिहास में राज्यपाल पद के संदर्भ में दो प्रथाएँ प्रचलित हुई हैं-पहली, राज्यपाल नियुक्त किया जाने वाला व्यक्ति उसी राज्य से संबंधित न हो। दूसरी, राज्यपाल के पद के लिए व्यक्ति की नियुक्ति के संबंध में निर्णय लेते समय राज्य के मुख्यमंत्री को विश्वास में लेना चाहिए। साधारणत: किसी भी व्यक्ति की राज्यपाल पद पर नियुक्ति के बारे में अंतिम निर्णय लेने से पूर्व केंद्रीय तथा संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से विचार-विमर्श किया जाता है, परन्तु अनेक बार ऐसा नहीं भी किया गया है। मुख्यत: उस समय जब राज्यों में केंद्र से पृथक किसी अन्य दल की सरकार रही है।

राज्यपाल की नियुक्ति (Appointement of the Governer)

संविधान के **अनुच्छेद-155** में कहा गया है कि, राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। जिस प्रकार कनाडा में राज्यपालों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्व ारा होती है, उसी प्रकार भारत में राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस प्रकार राज्यपाल केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त होता है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय की 1979 की व्यवस्था के अनुसार, राज्य में राज्यपाल का कार्यालय केन्द्र सरकार के अधीन रोजगार नहीं है। यह एक स्वतन्त्र व संवैधानिक पद है। भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-153** में यह प्रावधान है कि, भारत के प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होगा, किंतु 1956 में किए गए संशोधन के अनुसार एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है।

राज्यपाल निर्वाचित क्यों नहीं?

इसके निम्नलिखित कारण निम्नानुसार हैं-

- भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है, जहाँ राज्यपाल को राज्य का संवैधानिक प्रधान बनाया गया है तथा मुख्यमंत्री एवं मंत्रिमण्डल वास्तविक प्रधान होता है। इसलिए राज्यपाल को निर्वाचित नहीं किया जाता है, क्योंकि राज्यपाल की भूमिका संवैधानिक प्रधान की है।
- राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति के कारण निर्वाचन में धन के अपव्यय एवं चुनावी मुद्दों, व्यक्तिगत संघर्षों तथा निर्वाचन के दुष्परिणामों से बचा जा सकता है।
- प्रत्यक्ष निर्वाचित व्यक्ति स्वयं को मुख्यमंत्री से श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण समझेगा, फलत: विवाद बढ़ेगें।
- प्रत्यक्ष चुने जाने पर केन्द्र-सरकार का राज्यों पर प्रभावी नियंत्रण नहीं हो सकेगा।
- निर्वाचन पद्धति से अलगाववाद को बढ़ावा मिलेगा, अत: राज्यपाल, संघ द्वारा चयनित तथा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति भारतीय संसदीय प्रणाली के लिए ठीक रहेगा।

यह भी जाने

संविधान में राज्यपाल हेतु किसी प्रकार के शैक्षणिक या व्यवसायिक योग्यताएँ निर्धारित नहीं की गई हैं।

प्रो. हरेन्द्र कुमार मुखर्जी बंगाल के स्थाई निवासी होने के बावजूद बंगाल के राज्यपाल (1951-56) रहे। यह एक मात्र अपवाद है।

शपथ

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा राज्यपाल को शपथ दिलायी जाती है। शपथ से पूर्व राज्य के मुख्य सचिव, राष्ट्रपति द्वारा जारी नियुक्ति आदेश अर्थात् वारण्ट पढ़ कर सुनाते हैं। शपथ का प्रारूप **(अनुच्छेद-159)** निम्नलिखित है- 'मैं, अमुक, ईश्वर की शपथ लेता हूँ/सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक.....(राज्य का नाम) के राज्यपाल के पद का कार्यपालन (अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण (Preserve) संरक्षण (Protect) और प्रतिरक्षण (Defend) करूँगा और मैं.....(राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।'

राज्यपाल का कार्यकाल एवं पदमुक्ति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-156 के अनुसार, राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण करता है, जो समान्यत: 5 वर्ष का होता है। परन्तु **अनुच्छेद-156(1)** में यह भी व्यवस्था है कि, राज्यपाल तब तक अपने पद पर बना रह सकता है, जब तक कि राष्ट्रपति की इच्छा हो। इस तरह राष्ट्रपति राज्यपाल को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरित कर सकता है अथवा उसी राज्य में फिर से नियुक्त कर सकता है अथवा राष्ट्रपति उसे किसी भी समय पद से हटा सकता है। **अनुच्छेद-156(2)** के अनुसार, राज्यपाल राष्ट्रपति के पास अपना त्यागपत्र भेजकर पदमुक्त हो सकता है। **अनुच्छेद-156(3)** के अनुसार, उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त, राज्यपाल अपनी नियुक्ति की तिथि से पाँच वर्ष तक पद पर बना रह सकता है।

'बी.पी. सिंघल बनाम भारत संघवाद (2004)' में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, क्योंकि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त कार्य करता है, इसलिए राष्ट्रपति राज्यपाल को पाँच वर्ष पूर्व अथवा किसी भी समय बिना कोई कारण बताये हटा सकता है। यद्यपि **अनुच्छेद-156(1)** में राष्ट्रपति की सहमति की समाप्ति का कोई भी कारण नहीं बताया गया है, तथापि सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार, यह शक्ति दुर्लभ व असाधारण परिस्थितियों में ही इस्तेमाल होनी चाहिए और इस संदर्भ में न्यायिक समीक्षा बहुत ही सीमित रूप में इस्तेमाल की जा सकती है। ध्यान देने योग्य यह बात है कि **'राज्यपाल को हटाने के आधार तथा प्रक्रिया का संविधान में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।'** व्यवहारिक स्थिति यह है कि केन्द्र एवं राज्य में, विपक्षी राजनीतिक दलों की सरकारें गठित होने पर राज्यपाल हटाये जाते रहें हैं।

राज्यपाल की परिलब्धियाँ

राज्यपाल को 3,50,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है तथा बिना किराए का आवास एवं अन्य परिलब्धियाँ भत्ते, विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। **'राज्यपाल के वेतन और भत्तों में उसके कार्यकाल के दौरान कोई कमी नहीं की जा सकती है।'**

राज्यपाल को न्यायिक सुविधाएँ

राज्यपाल को कुछ न्यायिक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं, जो इस प्रकार हैं-

- राज्यपाल अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन के संबंध में किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं है।
- राज्यपाल के कार्यकाल में उसके विरुद्ध फौजदारी अभियोग नहीं चलाया जा सकता है।
- कार्यकाल की अवधि में राज्यपाल को बंदी बनाने के लिए न्यायालय द्वारा आदेश जारी नहीं किया जा सकता है।
- व्यक्तिगत रूप में राज्यपाल के विरूद्ध दीवानी अभियोग चलाया जा सकता है, परंतु इस उद्देश्य के लिए उसे दो माह की अग्रिम सूचना देना अनिवार्य है।

राज्यपाल की शक्तियाँ एवं कार्य

राज्यपाल राज्य में लगभग वे समस्त कार्य करता है, जो केंद्र में राष्ट्रपति द्वारा किये जाते हैं, किंतु राज्यपाल को राष्ट्रपति जैसी कोई **राजनयिक या सैन्य संबंधी शक्तियाँ** प्राप्त नहीं है। राज्यपाल के अधिकारों और कर्तव्यों को चार भागों में बाँटा जा सकता है- कार्यपालिका, विधायिका, वित्त तथा न्यायपालिका।

राज्य के कार्यपालिका संबंधी सभी कार्य राज्यपाल के नाम पर किए जाते हैं। वह राज्य सरकार का कामकाज सामान्य ढंग से चलाने तथा मंत्रियों में कार्यों का वितरण करने के लिए नियम बनाता है।

राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियाँ

राज्यपाल मुख्यमंत्री को नियुक्त करता है तथा मुख्यमंत्री के परामर्श से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। राज्यपाल के पास मंत्रियों की नियुक्ति के अधिकार के साथ ही बर्खास्तगी का भी अधिकार होता है। वह मुख्यमंत्री सहित सभी मंत्रियों को बर्खास्त कर सकता है।

राज्यपाल, महाधिवक्ता और राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों जैसे वरिष्ठ पदाधिकारियों की भी नियुक्ति करता है। किंतु वह राज्य लोक सेवा के सदस्यों को नहीं हटा सकता। आयोग के सदस्य **अनुच्छेद-317** में विहित प्रक्रिया द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन पर कुछ निरर्हताओं के होने पर ही राष्ट्रपति द्वारा हटाए जा सकते हैं। राज्य के विश्वविद्यालय का पदेन कुलाधिपति राज्यपाल ही होता है। वह कुलपति की (Vice Chancellor) नियुक्ति करके विश्वविद्यालय का कार्य संचालित करवाता है। राज्यपाल राज्य के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के क्रम में राष्ट्रपति से परामर्श करता है। राष्ट्रपति के समान ही राज्यपाल अपने राज्य की विधानसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय के सदस्यों का नाम निर्दिष्ट करता है, यदि यह समाधान हो जाता है कि, उनका विधानसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है। राष्ट्रपति, लोकसभा में इस शक्ति के प्रयोग से अधिक से अधिक दो सदस्य नियुक्त कर सकता है, किंतु राज्यपाल द्वारा **23वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1969** के पश्चात् एक से अधिक सदस्य नियुक्त नहीं किए जा सकते (अनुच्छेद-333)। संसद ने 126 (या 104) वें संविधान संशोधन 2020, से अनुच्छेद 334 में सुधार करके SC और ST समुदाय के लिए और दस सालों (25 जनवरी 2030 तक) के लिए लोकसभा एवं राज्य विधान सभा में सीट आरक्षण का प्रावधान किया। लेकिन इस संशोधन में आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए इस सुविधा को अगले 10 सालों के लिए बढ़ाने का प्रावधान नही किया है ।

विधायिका संबंधी शक्तियाँ

राज्यपाल, राज्य विधायिका का एक अभिन्न अंग है जैसे कि, भारत का राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। अत: राष्ट्रपति को दी गई संसद से संबंधित विधायी शक्तियों की भाँति राज्यपाल को भी राज्य विधानमण्डलों से संबंधित तथा अन्य आवश्यक विधायी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

अनुच्छेद-174, के अनुसार, राज्यपाल को राज्य विधायिका का सत्र बुलाने, सत्रावसान करने तथा विधानसभा भंग करने का अधिकार है तथा दो सत्रों के बीच छ: माह से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिये।

अनुच्छेद-175 का प्रावधान है कि, राज्यपाल विधायिका के किसी भी एक अथवा दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है और दोनों सदनों को किसी लंबित विचाराधीन विधेयक अथवा अन्य विषय पर पुनर्विचार के लिए कह सकता है। चुनाव के बाद नवगठित विधानमंडल का पहला अधिवेशन और प्रत्येक नए वर्ष का पहला सत्र राज्यपाल द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

अनुच्छेद-213 के अंतर्गत, राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार प्राप्त है, लेकिन यह शक्ति उसे तभी प्राप्त होगी, जब विधानमंडल या उसके दोनों सदन सत्र में नहीं हैं। यह विवेकाधीन शक्ति नहीं है, इसका प्रयोग मंत्रियों की सलाह और सहायता से किया जाना चाहिए। विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियमों की तरह ही राज्यपाल द्वारा जारी अध्यादेश विधानमण्डल के सत्र शुरू होने के 6 सप्ताह तक क्रियाशील रहते हैं। यदि विधानमण्डल द्वारा 5 सप्ताह के पूर्व ही राज्यपाल द्वारा जारी अध्यादेश अस्वीकृत कर दिया जाए, तो वह अध्यादेश तत्काल ही समाप्त हो जाएगा।

- राज्यपाल, विधानमण्डल के विधेयकों को अनुमोदन तथा स्वीकृति प्रदान करता है। राज्यपाल की स्वीकृति के बाद ही कोई विधेयक अधिनियम बनता है। विधेयक से सम्बन्धित निम्न प्रावधान उल्लेखनीय हैं-

- सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण तथा उच्च न्यायालय की शक्तियों में कमी करने वाला विधेयक, राष्ट्रपति को भेजता है।
- राज्यपाल द्वारा लौटाया गया कोई विधेयक यदि पुनः विधानमण्डल द्वारा राज्यपाल को स्वीकृति हेतु भेजा जाता है तो उसे स्वीकृति देनी ही पड़ती है।
- राज्यपाल धन विधेयक को अस्वीकृत करके विधानमंडल में वापस नहीं लौटा सकता है। अनुच्छेद-207 के अनुसार, वित्त विधेयक राज्यपाल की अनुमति से ही विधानसभा में प्रस्तुत होता है।
- जिन राज्यों में द्विसदनीय विधानमण्डल की व्यवस्था है वहाँ, पर राज्यपाल विधान परिषद के कुल सदस्यों के 1/6 सदस्यों को मनोनीत करता है। वे सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान या व्यवहारिक अनुभव रखते हों। इसी प्रकार राज्यपाल विधानमण्डल में एक एंग्लो-इण्डियन (न होने पर) समुदाय को भी मनोनीत कर सकता है। (अनुच्छेद-171)

संसद ने 104वें संविधान संशोधन 2020, से अनुच्छेद 334 में सुधार करके SC और ST समुदाय के लिए और दस सालों (25 जनवरी 2030 तक) के लिए लोकसभा एवं राज्य विधान सभा में सीट आरक्षण का प्रावधान किया। लेकिन इस संशोधन में आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए इस सुविधा को अगले 10 सालों के लिए बढ़ाने का प्रावधान नहीं किया है।

वित्त संबंधी शक्तियाँ (Financial Powers)

राज्यपाल राज्य का वार्षिक वित्तीय विवरण विधानमंडल में पेश किया जाना सुनिश्चित कराता है। **अनुच्छेद-207** के अंतर्गत धन विधेयक और अनुदान की माँगों की सिफारिश करने की शक्ति भी राज्यपाल को है। विधानमंडल में उसकी पूर्वानुमति के बिना कोई वित्त विधेयक पेश नहीं किया जा सकता है। अनुदान माँग अथवा कर संबंधी प्रस्ताव राज्यपाल के नाम पर मंत्रियों के अतिरिक्त और कोई नहीं पेश कर सकता।

राज्य का आकस्मिक निधि कोष राज्यपाल के अधिकार में होता है और वह इससे अग्रिम निधि निकाल सकता है, विशेषकर अप्रत्याशित के लिए जो राज्य विधानमंडल वह पंचायतों एवं नगरपालिका ही वित्तीय स्थिति की हर पाँच वर्ष बाद समीक्षा के लिये वित्त आयोग का गठन करता है।

न्यायपालिका संबंधी शक्तियाँ (Judicial Powers)

राज्यपाल, जिला न्यायाधीशों और अन्य न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति आदि के मामले में निर्णय लेता है।

अनुच्छेद-161 प्रावधान करता है कि, राज्यपाल न्यायालय द्वारा दंड दिए गए किसी व्यक्ति को क्षमादान दे सकता है, उसकी सजा कम कर सकता है अथवा सजा को बदल सकता है। ऐसा विशेषतः ऐसे अपराधों के क्षेत्र में होता है, जहाँ राज्य के कार्यकारी अधिकारों का संबंध हो।

राज्यपाल तथा राष्ट्रपति को ये न्यायिक शक्तियाँ मूलतः न्यायिक भूलों को सुधारने के लिए दी गई हैं, लेकिन राज्यपाल के पास राष्ट्रपति की भांति मृत्युदण्ड को क्षमा करने एवं कोर्ट मार्शल के दण्ड को क्षमा करने की शक्ति नहीं है। यदि कोई दण्डादेश प्राप्त व्यक्ति राज्यपाल या राष्ट्रपति से यह प्रार्थना करता है कि, उसका दण्ड क्षमा किया जाए या कम कर दिया जाए तो राज्यपाल या राष्ट्रपति विधि की भूल तथा उस व्यक्ति की परिस्थितियों पर गौर करते हैं। उदाहरण के लिए, किसी गर्भवती महिला की सजा कम या विलंबित की जा सकती है। भारत में आज तक किसी राष्ट्रपति या राज्यपाल ने कुख्यात अपराधियों का दण्ड क्षमा नहीं किया है।

राज्यपाल की वीटो शक्ति (Veto Power of the Governer)

राष्ट्रपति के समान ही राज्य में विधेयकों के संदर्भ में राज्यपाल अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

जब कोई विधेयक राज्यपाल को विधानमंडल के दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् प्रस्तुत किया जाता है, तब राज्यपाल निम्नलिखित में से कोई कदम उठा सकता है-

- वह विधेयक को अनुमति देने की घोषणा कर सकता है, जिसके परिणामस्वरूप वह तुरंत विधि बन जाएगा।
- वह यह घोषित कर सकता है कि, वह विधेयक को अनुमति नहीं देता। ऐसी दशा में वह विधेयक विधि नहीं बनेगा।
- धन विधेयक से भिन्न किसी विधेयक को वह संदेश के साथ पुनः विधानसभा को वापस कर सकता है।
- राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रख सकता है। जहाँ प्रश्नगत विधि, संविधान के अधीन उच्च न्यायालय की शक्ति के अल्पीकरण की स्थिति की दशा में, विधयेक पर आरक्षण अनिवार्य है। (अनुच्छेद-200)

इस प्रकार आरक्षित धन विधेयक की दशा में राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने या न देने की घोषणा कर सकेगा। किंतु धन विधेयक से भिन्न विधेयक की दशा में अनुच्छेद-201 के प्रावधान के अनुसार, राष्ट्रपति उस पर अनुमति देने या अस्वीकार करने की घोषणा करने के स्थान पर राज्यपाल को यह निर्देश दे सकता है कि, वह विधेयक को पुनर्विचार के लिए विधानमंडल को वापस कर दे। वापस किये गये विधेयक पर विधानमंडल छः माह के भीतर पुनर्विचार करेगा और यदि वह पुनः पारित किया जाता है तो विधेयक राष्ट्रपति को पुनः प्रस्तुत किया जाएगा, किंतु इस पर भी राष्ट्रपति के लिए अनुमति देना अनिवार्य नहीं है।

इस प्रकार कोई भी विधेयक, जो राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया जाता है वह तभी प्रभावी होगा जब राष्ट्रपति उसे अनुमति प्रदान कर दे। किंतु संविधान ने राष्ट्रपति द्वारा अनुमति दिए जाने या न दिए जाने की कोई समय-सीमा अधिरोपित नहीं की है। परिणामस्वरूप, राष्ट्रपति चाहे तो राज्य विधानमंडल के विधेयक को बिना अपना मत व्यक्त किए अनिश्चितकाल तक लम्बित रख सकता है। राष्ट्रपति के पास एक तीसरा अनुकल्प भी है, जिसका प्रयोग **केरल शिक्षा विधेयक** के बारे में किया गया था अर्थात् जब आरक्षित विधेयक राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है और राष्ट्रपति के मस्तिष्क में विधेयक की संवैधानिकता के बारे में कोई संदेह उत्पन्न होता है तो वह यह विनिश्चिय करने के लिए, उस विधेयक को अनुमति दे सकता है या उसे लौटा सकता है अथवा उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद-143 के अधीन उसकी राय जानने के लिए भेज सकता है।

राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियाँ (Governer's Discretionary Powers)

संविधान में राज्यपाल के कुछ विवेकाधीन शक्तियों का भी वर्णन है, जिनका उपयोग वह विशेष परिस्थितियों में करता है। राज्यपाल के विवेकाधिकार दो तरह के होते हैं- **प्रथम,** संविधान में प्रत्यक्ष तौर पर लिखे हुए, संवैधानिक विवेकाधिकार। **दूसरे,** अप्रत्यक्ष विवेकाधिकार, जो कि राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। इन्हें परिस्थितिकीय तात्कालिक विवेकाधिकार कहा जा सकता है।

- ***संवैधानिक विवेकाधिकार***- भारत के राष्ट्रपति के विपरीत राज्यपाल के पास कुछ विशेष विवेकाधिकार होते हैं। ऐसे विशिष्ट मामलों में उसे मंत्रिमंडल के निर्णय के आधार पर काम नहीं बल्कि अपने व्यक्तिगत निर्णय या स्वविवेक के आधार पर काम करना पड़ता है। **अनुच्छेद-356** के अंतर्गत, राष्ट्रपति को राज्य की स्थिति के बारे में, विशेषकर संवैधानिक

संकट के बारे में रिपोर्ट भेजते समय राज्यपाल अपने विवेक के आधार पर कार्य करता है। संविधान के **अनुच्छेद-200** के अंतर्गत, राज्य विधायिका द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रखने का निर्णय भी राज्यपाल स्वयं ही लेता है। कोई अध्यादेश जारी करते समय भी राज्यपाल को राष्ट्रपति की सलाह लेनी पड़ती है। ऐसे समय में भी वह अपने विवेक से काम लेता है। केंद्र और राज्य सरकार के बीच किसी मामले पर विरोध पैदा होने पर भी राज्यपाल अपने विवेक से काम करता है। असम और नागालैण्ड के राज्यपाल आदिवासी क्षेत्र का प्रशासन चलाने और नागा विद्रोहियों की हिंसक गतिविधियों पर नियंत्रण संबंधी मामलों पर अपने विवेक का इस्तेमाल करते हैं।

- ***परिस्थितिकीय विवेकाधिकार***- राज्यपाल किसी विशेष परिस्थिति में अपने विवेक का इस्तेमाल कर सकता है। सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल अपने मंत्रिमंडल की सलाह और सहायता से काम करता है। लेकिन असामान्य परिस्थितियों में वह राष्ट्रपति के एजेंट के रूप में काम करता है और राष्ट्रपति को राज्य की परिस्थिति के संबंध में जानकारी देता है। निम्नलिखित परिस्थितियों में राज्यपाल अपने विवेक का इस्तेमाल कर सकता है-
  - मुख्यमंत्री की नियुक्ति।
  - मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी।
  - विधानसभा भंग करना।

अत: राज्यपाल सामान्य स्थिति में संवैधानिक मुखिया तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में स्वविवेक शक्तियों का प्रयोग करने वाला राज्य का महत्त्वपूर्ण अधिकारी है।

राज्यपाल द्वारा राज्य में आपालकाल हेतु राष्ट्रपति से परामर्श

भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का यह सर्वाधिक ज्वलंत प्रश्न है। संविधान के **अनुच्छेद-356** के अनुसार, यदि राज्यपाल को यह लगे कि राज्य में संविधान के प्रावधानों के अनुसार, शासन नहीं चलाया जा सकता है तो वह राष्ट्रपति को यह सूचित करे कि राज्य में राष्ट्रपति शासन (आपातकाल) लागू कर देना चाहिये। यदि राज्यपाल किसी राज्य की संवैधानिक विफलता की सूचना राष्ट्रपति को नहीं देता है तो भी राष्ट्रपति स्वयं की संतुष्टि (वस्तुत: केन्द्रीय मंत्रिमण्डल) पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। राज्य में राष्ट्रपति शासन के समय राज्य की समस्त शासन शक्तियाँ राष्ट्रपति तथा संसद के अधिकार क्षेत्र में आ जाती हैं, जो राज्यपाल द्वारा निर्वाहित की जाती हैं। शुरू में राष्ट्रपति शासन की घोषणा 2 माह तक प्रवर्तन में रहती है जिसे संसद 6 माह के लिए एक बार बढ़ा सकती है, लेकिन इसे अधिकतम 3 वर्ष की अवधि तक बढ़ाया जा सकता है। (1987 में पंजाब में लागू राष्ट्रपति शासन, 68वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1991 के अंतर्गत 5 वर्ष तक जारी रहा।)

अनुच्छेद-239 में, संघ-क्षेत्र के लिए राज्यपाल की शक्तियाँ वर्णित की गई हैं। **अनुच्छेद-244** (1 एवं 2) के अन्तर्गत, गठित जनजातियों हेतु पाँचवीं अनुसूची में वर्णित अनुसूचित क्षेत्रों, स्वशासी क्षेत्रों एवं असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम के स्वशासी जिलों **(छठी अनुसूची)** के सन्दर्भ में राज्यपाल को कतिपय विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

राज्यपाल को प्रशासनिक सहायता देने हेतु राजभवन में राज्यपाल सचिवालय होता है। जिस प्रकार केन्द्रीय सचिवालय है, उसी प्रकार राज्य सरकार के समस्त विभाग सम्मिलित रूप से राज्य शासन सचिवालय के नाम से जाने जाते हैं।

राज्यपाल: संवैधानिक अध्यक्ष से अधिक (Governer: More than a Constitutional)

राज्यपाल को एक संवैधानिक अध्यक्ष मात्र मानना भूल होगी। वास्तव में वह एक संवैधानिक अध्यक्ष तो है ही, इससे कुछ अधिक भी है। इस दृष्टि से राज्यपाल पद का अध्ययन दो रूपों में किया जाना चाहिए। प्रथम, संविधान- निर्माता राज्यपाल को क्या भूमिका देना चाहते थे? द्वितीय, राज्यपाल पदधारी व्यक्तियों ने विविध परिस्थितियों में क्या भूमिका निभायी है? संविधान-निर्माताओं की धारणा के अनुसार, सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा, लेकिन विशेष परिस्थितियों में उसकी भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

राज्य शासन में उसकी शक्तियाँ वास्तविक न होते हुए भी राज्य शासन में उसका स्थान सबसे अधिक सम्मानित और प्रतिष्ठित होता है। वह दलगत राजनीति से ऊपर होने के कारण निष्पक्ष होता है और राज्य के वास्तविक शासक (मन्त्रीगण) सदैव ही, आवश्यकता के अनुसार, उससे मन्त्रणा कर सकते हैं। अपने निर्दलीय व्यक्तित्व के आधार पर राज्यपाल, राज्य शासन की ढुलमुल और अस्थायी राजनीति में स्थायित्व और स्थिरता लाने की स्थिति में होता है। यदि राज्यपाल प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला और कार्यशील व्यक्ति हो तो वह विरोधी पक्ष और मन्त्रिमण्डल के बीच अनेक मतभेदों को दूर कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है। राज्य शासन को सुगम, सुचारु और कार्यकुशल बनाने में राज्यपाल का बहुत अधिक महत्त्व होता है।

यह भी जानें

डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि, उन सिद्धांतों के अनुसार, जिन पर राज्यों का शासन आधारित है, राज्यपाल को प्रत्येक कार्य में मन्त्रिपरिषद् की सलाह आवश्यक रूप से माननी होगी और ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना होगा, जिसके करने में उसे स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना पड़े।

राज्यपाल की स्थित अथवा भूमिका (Position of Role of Governer)

भारतीय राज्य कार्यपालिका के अन्तर्गत, राज्यपाल की भूमिका के सम्बन्ध में सामान्यत: दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। इनमें से प्रथम में राज्यपाल को राज्य का केवल संवैधानिक अध्यक्ष माना गया है, लेकिन द्वितीय में इस बात पर बल दिया गया है कि राज्य के प्रशासन में राज्यपाल की भूमिका एक संवैधानिक अध्यक्ष की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण है।

राज्यपाल की स्थिति के संबंध में संविधान के विभिन्न उपबंधों से ऐसा प्रतीत होता है कि, संविधान निर्माताओं ने राज्य की प्रशासन संबंधी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ राज्यपाल को ही सौंपी हैं। राज्य का शासन राज्यपाल के नाम पर ही चलाया जाता है और राज्य के महत्त्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा ही की जाती है। वह राज्य विधानमंडल का अधिवेशन बुलाता है और राज्य की विधानसभा को निश्चित अवधि से पूर्व भी भंग कर सकता है। राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किया गया कोई भी विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति के बिना कानून का रूप धारण नहीं कर सकता। जब राज्य विधानमण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो तब राज्यपाल अध्यादेश भी जारी कर सकता है। वित्त विधेयक राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के बिना राज्य विधानसभा में पेश नहीं किया जा सकता है। संविधान के **अनुच्छेद-163** में, मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई है, वहीं मंत्रिपरिषद् भी संविधान के अनुच्छेद-163 द्वारा एक परामर्शदात्री संस्था प्रतीत होती है। संविधान के उपबंधों के अनुसार, राज्यपाल को राज्य के प्रशासन संबंधी कार्यकारी, संवैधानिक, न्यायिक और वित्तीय क्षेत्रों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिससे वह राज्यों में वास्तविक शासक की भांति प्रतीत होता है।

राज्यपाल की वास्तविक कार्यपालिका के रूप में भूमिका

राज्यपाल को संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के बाद भी राज्य के प्रशासन में राज्यपाल की वही स्थिति है जो केंद्र में राष्ट्रपति की है। संविधान के अनुसार, राज्यपाल को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं और उसके परामर्श के लिए एक मंत्रिपरिषद्

की व्यवस्था की गई है। संविधान में राज्यपाल के लिए मंत्रिपरिषद् का परामर्श मानने संबंधी कोई विशेष धारा अंकित नहीं की गई है, परंतु केंद्र की भांति संसदीय शासन प्रणाली होने के कारण उन सभी परम्पराओं को कार्यान्वित करना आवश्यक है, जो परम्पराएं इंग्लैण्ड में प्रचलित हैं, क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली का आदर्श इंग्लैण्ड की शासन प्रणाली के ढांचे से लिया गया है। राज्यपाल सभी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमंडल के परामर्श के अनुसार करता है, क्योंकि राज्यपाल राज्य का वास्तविक शासक नहीं, बल्कि वह एक संवैधानिक प्रधान है।

राज्यपाल के संवैधानिक मुखिया होने का अर्थ यह नहीं कि, उसका पद सर्वथा महत्त्वहीन है। राज्यपाल को कुछ विशेष परिस्थितियों में अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमंडल के परामर्श के बिना स्वेच्छा से करने का अधिकार भी दिया गया है। ऐसी शक्तियों को विवेकाधीन शक्तियाँ कहते हैं। ये शक्तियाँ राज्यपाल की वास्तविक स्थिति को बहुत अधिक शक्तिशाली बनाती हैं।

लेकिन हाल के वर्षों में राज्यपाल का पद काफी विवादास्पद हो गया है। संविधान निर्माताओं द्वारा मूल रूप से की गई इस पद की कल्पना और पिछले पचास वर्षों में इसके कार्यान्वयन में भारी अंतर आया है। 1967 के आम चुनावों के बाद जब विभिन्न राज्यों में केंद्र से पृथक् पार्टी की सरकार बनी, तब से यह पद चर्चा का विषय बना। उसी समय से एक जैसी राजनीतिक परिस्थितियों में ही राज्यपालों द्वारा भिन्न-भिन्न निर्णय लिये जाने के कारण केंद्र-राज्य संबंधों में तनाव शुरू हुआ। राज्य-सरकारों ने यह भी आरोप लगाया कि, केंद्र-सरकार ने अपने राजनीतिक उद्देश्य के लिए राज्यपाल पद का दुरूपयोग किया। 1980 के दशक में यह पद इतना विवादित रहा कि कुछ राजनीतिक दलों ने इस पद को पूरी तरह समाप्त करने की माँग कर डाली। इन घटनाओं ने इस पद की गरिमा और सम्मान को ठेस पहुँचायी।

अंततः केंद्र-राज्य संबंधों की गहन समीक्षा के उद्देश्य से केंद्र-सरकार ने 1983 में **सरकारिया आयोग** का गठन किया, ताकि आयोग इन संबंधों को अधिक सार्थक एवं रचनात्मक बनाने के लिए सुझाव दे। सरकारिया आयोग ने राज्यपाल पद के लिए सुझाव दिया कि (i) राज्यपाल की नियुक्ति संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से विचार-विमर्श के बाद ही की जाए, (ii) केवल ऐसे व्यक्ति राज्यपाल बनाए जाएं जो अपनी निष्ठा के लिए पहचाने जाते हों और जो स्थानीय राजनीति में बहुत सक्रिय न हों, तथा, (iii) यदि किसी मंत्रिमंडल के बहुमत होने का संदेह हो तो इसे स्पष्ट करने के लिए सही स्थान विधानसभा है लेकिन राज्य का मुख्यमंत्री जान-बूझकर यदि इसे टाल रहा हो, तो राज्यपाल स्वयं पहल कर इस मामले को हल कर सकता है।

केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में भूमिका

संविधान के अनुच्छेद-200 तथा 201 (विधेयकों को राष्ट्रपति तक भेजना), अनुच्छेद-167 (मुख्यमंत्री से सूचना- प्राप्ति), अनुच्छेद-356 (राज्य में राष्ट्रपति शासन), अनुच्छेद-160 (राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल का कार्य करना) तथा अनुच्छेद- 257 (राज्य द्वारा संघ शक्तियों का ध्यान रखना) इत्यादि ऐसे प्रावधान हैं, जो राज्यपाल की भूमिका को राज्य में केन्द्र के अभिकर्ता (एजेण्ट) या प्रतिनिधि के समान बनाते हैं। संघीय शासन व्यवस्थाओं के सर्वथा प्रतिकूल इन प्रावधानों से राज्यों के ऊपर केन्द्र या संघीय-सरकार का प्रभुत्व स्थापित होता है कि राज्यपाल की भूमिका केन्द्र में है।

विवाद की स्थिति में राज्यपाल की भूमिका

विवाद की निम्न परिस्थितियों में राज्यपाल की भूमिका महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि निर्णायक भी हो जाती है।

- ***राज्यपाल का चयन तथा पदमुक्ति***- राज्यपाल के रूप में राजनेताओं, प्रशासकों तथा सैन्य अधिकारियों इत्यादि को नियुक्त किया जाता रहा है। विगत अनुभवों से सिद्ध होता है कि, जनता से अस्वीकृत, चुनाव में हारे हुए, संगठन में विवादित तथा असंतुष्ट राजनीतिज्ञों को केन्द्रीय स्तर पर सत्तारूढ़ राजनीतिक दल द्वारा राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता रहा है। यह सुझाव बार-बार दिया जाता रहा है कि, सक्रिय राजनीति में भाग लेने वाले व्यक्ति को राज्यपाल नहीं बनाया जाना चाहिये।
- ***राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति***- जब किसी राज्य में सरकार गठित करने के लिए किसी एक दल के पास स्पष्ट बहुमत नहीं होता है तो राज्यपाल के समक्ष मुख्यमंत्री का चयन करना एक कठिन कार्य हो जाता है। उदाहरण के तौर पर कर्नाटक में हुए विधानसभा चुनाव (2011) में किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला, फलस्वरूप राज्यपाल द्वारा भाजपा को सरकार बनाने के निमंत्रण पर हुए विवाद से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

इसी प्रकार से अन्य निम्न मुद्दे भी महत्त्वपूर्ण है-

- राज्यपाल द्वारा मंत्रिमण्डल को अपदस्थ करना।
- राज्यपाल द्वारा विधानसभा को भंग करना।
- अनुच्छेद-356 (आपातकाल) का दुरूपयोग आदि।

उपसंहार

राज्य की कार्यपालिका में राज्यपाल के पद से संबंधित अनेक विवादों को सुलझाने तथा स्वस्थ परम्पराओं को विकसित करने के लिए बहुत से समाधान या सुझाव समय-समय पर विभिन्न आयोगों एवं चिंतकों द्वारा दिए जाते रहे हैं। इस संबंध में विस्तृत एवं व्यावहारिक सुझाव **'सरकारिया आयोग (1989)'** द्वारा दिए गए थे। सरकारिया आयोग की सिफारिशों पर विगत् एक दशक से केन्द्र-सरकार तथा अंतरराज्यीय परिषद् द्वारा विचार-विमर्श किया जा रहा है। 14 जून, 2005 को राज्यपालों के सम्मेलन को संबोधित करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने सलाह देते हुए कहा था- 'यदि उच्च पद पर विराजमान व्यक्ति सदाचार के विरुद्ध आचरण करता है, तो सदाचार स्वयं उसके विध्वंस का रूप धारण कर लेता है।'

क्या राष्ट्रपति राज्य को नियंत्रित करता है?

राष्ट्रपति, राज्यपाल को नियुक्त करने, उसका स्थानांतरण करने और हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी है। वस्तुतः राज्यपाल को नियुक्ति किए जाने के लिए किसी व्यक्ति को चुनने, उसको नियुक्त करने का अधिकार होता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह पर कार्य करता है।

पूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरमन की यह राय है कि, राज्यपालों की नियुक्ति, पदावधि और केंद्र के प्रति उत्तरदायित्व के बारे में नियम बनाए जाने चाहिए।

केंद्रीय-सरकार का राज्यपालों पर औपचारिक रूप से कोई नियंत्रण नहीं है, किंतु राजनेता लचीले व्यक्ति चुनते हैं और उनसे काम करवाने के लिए मार्ग ढूंढ लेते हैं।

राज्यपाल पद का महत्त्व

विगत दशकों की दलीय, क्षेत्रीय एवं जातीय राजनीति के दुश्चक्र ने वे मूल्य सेतु ही तोड़ दिये हैं, जिन पर देश को गर्व था। राजनीतिक दल जन-मानस की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने में सफल नहीं हुए हैं। दूसरी ओर राष्ट्रीय दलों द्वारा की गयी क्षेत्रीय उपेक्षाओं के कारण राष्ट्रीय राजनीति क्षेत्रीयता पर आश्रित हो गयी है। लेकिन क्षेत्रीय संकीर्णता यह भूल गयी कि कमजोर केन्द्र राष्ट्रीय हित में नहीं है। केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध सूत्र बनाये रखने का अधिकरण राज्यपाल का संस्थान है।

वस्तुतः केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विकास में राज्यपाल की सार्थक उपयोगिता है। राष्ट्रीय एकीकरण में राज्यपाल एक महती और उपयोगी भूमिका का निर्वाह कर

सकते हैं। राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में राज्यपाल राज्य मन्त्रिपरिषद् के मार्गदर्शन, परामर्शदाता, मित्र, अभिभावक और दार्शनिक की भूमिका के दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं। वे राज्य की रचनात्मक और जनकल्याणकारी प्रवृत्तियों में सक्रिय रूप से भाग लेकर जनसाधारण का विश्वास अर्जित कर सकते हैं। यदि इस पद को समाप्त कर दिया जाता है तो संवैधानिक संकट उत्पन्न हो सकता है। राज्यपाल केवल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष ही नहीं, अपितु संविधान और विधि का संरक्षण, प्रतिरक्षण और जनता की सेवा और कल्याण का महत्त्वपूर्ण दायित्व भी उसी का है। इन दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए संविधान द्वारा उसे मन्त्रिपरिषद् की सलाह के बिना स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। संविधान के अनुच्छेद-163, 371-(क) (1)(ख), 371(क)(1)(घ), 371 (क)(2)(ख), 371 (क)(2)(च), 239, 200 एवं 365 के अन्तर्गत राज्यपालों को जो अधिकार दिये गये हैं वे भारत की संघात्मक व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) - संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि, राज्यपाल का पद आवश्यक ही नहीं वरन् अपरिहार्य भी है। आवश्यकता है तो बस इस बात की है कि, राज्यपाल के पद पर जिस व्यक्ति को नियुक्त किया जाये उसका आचरण और व्यवहार संयमित हो। वह संवैधानिक सीमा में राज्य और राष्ट्र के हित के लिए कार्य करे और प्रत्येक समस्या का राजनीति से ऊपर उठकर निरपेक्ष ढंग से समाधान करने का प्रयत्न करे। संविधान-निर्माताओं के द्वारा तो सम्भवत: यह सोचा गया था कि राज्यपाल की प्रथम भूमिका राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में तथा द्वितीय भूमिका राज्य में केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में होगी, लेकिन व्यवहार के अन्तर्गत अनेक बार राज्यपाल की दूसरी भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ऐसा विशेष रूप से उस समय होता है, जब केन्द्र में एक राजनीतिक दल की सरकार हो और राज्य में किसी विरोधी राजनीतिक दल की या कुछ विरोधी दलों की संयुक्त सरकार हो। व्यवहार के अन्तर्गत जब कभी राज्यपाल की इन दोनों भूमिकाओं में परस्पर विरोध की स्थिति उत्पन्न हुई है, तब राज्यपाल, केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में अपनी भूमिका को अधिक महत्त्व देता है।

विरोधी दल सामान्य रूप से यह शिकायत करते रहे हैं कि केन्द्र-सरकार राज्यपाल पद का उपयोग अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करती है। वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल की केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में भूमिका और राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में भूमिका में सामंजस्य स्थापित होना चाहिए।

राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की तुलना

राष्ट्रपति व राज्यपाल की विधायी शक्तियों की तुलना

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
जब कोई साधारण विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग संयुक्त रूप से पारित होकर राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए आता है, तब दोनों सदनों द्वारा पारित होकर राज्यपाल के स्वीकृति के लिये आता है, राष्ट्रपति के पास निम्नलिखित विकल्प होते हैं-	जब कोई साधारण विधेयक राज्य की विधानसभा द्वारा या विधानपरिषद् वाले राज्य में विधानमंडल के दोनों सदनों द्वारा पारित होकर राज्यपाल के स्वीकृति तब राज्यपाल के पास निम्नलिखित विकल्प होते हैं-
वह विधेयक पर अनुमति देता है और वह विधेयक अधिनियम बन जाता है।	वह विधेयक पर अनुमति देता है और वह विधेयक अधिनियम बन जाता है।
वह विधेयक पर अनुमति रोक लेता है और वह विधेयक अधिनियम नहीं बन पाता है।	वह विधेयक पर अनुमति रोक लेता है और वह विधेयक अधिनियम नहीं बन पाता है।
अथवा वह विधेयक को, यदि वह धन विधेयक नहीं है तो, सदन के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। जब राष्ट्रपति द्वारा पुनर्विचार के लिए लौटा दिए गए विधेयक को पुन: दोनों सदन संशोधन सहित या उसके बिना ही, फिर से पारित कर दे और राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत करें तब राष्ट्रपति को स्वीकृति देना अनिवार्य होता है।	अथवा वह विधेयक को, यदि वह धन विधेयक नहीं है तो, पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। जब राज्यपाल द्वारा पुनर्विचार के लिए लौटा दिए गए विधेयक पर सदन या दोनों सदन (जिन राज्यों में विधानपरिषद् हो) पुनर्विचार के बाद राज्यपाल द्वारा सुझाये गए संशोधन सहित या उसके बिना ही, फिर से पारित कर दे और राज्यपाल के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत करे, तब राज्यपाल को स्वीकृति देना अनिवार्य होता है।
अनुच्छेद-201 के अनुसार, जब कोई विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रख लिया जाता है, तब राष्ट्रपति- (i) विधेयक पर अनुमति देता है, (ii) या अनुमति रोक लेता है, (iii) या अगर वो विधेयक धन विधेयक नहीं है, वहाँ राष्ट्रपति राज्यपाल को यह निर्देश दे सकेगा कि वह विधेयक को, यथास्थिति, राज्य के विधानमंडल के सदन या सदनों को पुनर्विचार के लिए लौटा दे और इस तरह जब कोई विधेयक राष्ट्रपति द्वारा लौटा दिया जाता है, तब ऐसा संदेश मिलने की तारीख से छ: माह की अवधि के भीतर सदन द्वारा उस पर तद्नुसार पुनर्विचार किया जाएगा और यदि वह सदन द्वारा संशोधन सहित या उसके बिना फिर से पारित कर दिया जाता है तो उसे राष्ट्रपति के समक्ष उसके विचार के लिए फिर से प्रस्तुत किया जाएगा।	ऐसा कोई विधेयक, जो अधिनियम बन जाने के बाद, राज्यपाल की राय में उच्च यायालय की शक्तियों का ऐसा अल्पीकरण करता हो कि वह स्थान, जिसकी पूर्ति के लिए वह न्यायालय इस संविधान द्वारा परिकल्पित है, संकट में पड़ जाए, तो वह उस विधेयक पर अनुमति रोक कर उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखेगा। इन आरक्षित विधेयकों के संबंध में राज्यपाल का कोई उत्तरदायित्व नहीं रह जाता।

राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति की तुलना

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
1. संसद के सत्र में न होने की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी किया जा सकता है।	1. राज्य विधानमंडल के सत्र में न होने की स्थिति में अध्यादेश निकाला जा सकता है।
2. यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाए कि, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि, जिनके निराकरण हेतु संसद के सत्र में आने की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। तब वह अध्यादेश जारी कर सकता है।	2. यदि राज्यपाल को यह समाधान हो जाए कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनके निराकरण हेतु विधानमंडल के सत्र में आने की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। तब वह अध्यादेश जारी कर सकता है।
3. अध्यादेश निकालने एवं उसे वापस लेने की शक्ति का प्रयोग संघीय परामर्श से किया जाता है।	3. अध्यादेश निकालने एवं उसे वापस लेने की शक्ति का प्रयोग राज्य मंत्रिपरिषद् के परामर्श से किया जाता है।

4. अध्यादेश जारी करने हेतु राष्ट्रपति को किसी अनुदेश की आवश्यकता नहीं होती।	4. निम्नलिखित तीन दशाओं में राज्यपाल, राष्ट्रपति से अनुदेश प्राप्त करने के पश्चात् ही अध्यादेश जारी कर सकता है, यदि- (i) उन उपबंधों को अंतर्विष्ट करने वाले विधेयक को विधामंडल में पुर:स्थापित किए जाने हेतु राष्ट्रपति की पूर्वानुमति की आवश्यकता होती है। (ii) राज्यपाल उन उपबंधों की अंतर्विष्ट करने वाले, विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करना आवश्यक समझता है। (iii) उन उपबंधों को अंतर्विष्ट करने वाला विधेयक, विधानमंडल द्वारा पारित अधिनियम तब तक विधिमान्य होता है, जब तक राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखे जाने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो गई हो।
5. अध्यादेश, संसद द्वारा पारित अधिनियम के समान ही शक्तिशाली होता है।	5. अध्यादेश विधानमंडल द्वारा पारित अधिनियम के समान ही शक्तिशाली होता है।
6. संसद के सत्र में आते ही अध्यादेश को दोनों सदनों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है।	6. विधानमंडल के सत्र में आते ही अध्यादेश को उसके विचारार्थ दिया जाएगा (यथास्थिति, सदन)।
7. संसद के सत्र में आने के 6 सप्ताह के पश्चात्, अध्यादेश स्वयं समाप्त हो जाता है। यदि संसद के दोनों सदन अध्यादेश का निरानुमोदन करते हुए संकल्प पारित कर देते हैं तो अध्यादेश 6 सप्ताह से पूर्व भी समाप्त हो जाता है।	7. विधानमंडल के सत्र में आने के 6 सप्ताह के पश्चात् अध्यादेश स्वयं समाप्त हो जाता है। यदि विधानसभा अध्यादेश का निरानुमोदन करते हुए संकल्प पारित कर देती है तो अध्यादेश 6 सप्ताह से पूर्व भी समाप्त हो जाता है। विधानसभा के द्वि-सदनीय होने की स्थिति में निरानुमोदन संबंधी संकल्प, विधानसभा पारित करती है और विधानपरिषद् केवल उससे सहमति प्रकट करती है।

राष्ट्रपति व राज्यपाल में क्षमादान करने की शक्ति की तुलना

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
1. सेना के न्यायालय द्वारा दिए गए दंड या दंडादेश के संदर्भ में क्षमादान, प्रविलंबन, विराम, निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति है।	1. ऐसी कोई भी शक्ति प्राप्त नहीं है।
2. उन सभी मामलों में, जिनमें दंड या दंडादेश ऐसे विषय से संबद्ध किसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिए दिया गया है, जिस विषय तक संघ की कार्यपालिका की शक्ति का विस्तार है।	2. मृत्युदंड को छोड़कर, उन सभी विषयों में राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं, जिन पर संघ की कार्यपालिका की शक्ति का विस्तार है (भारतीय दंड संहिता की धारा 54 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1974 की धारा 432-433 में कुछ परिस्थितियों में मृत्युदंड को निलंबित करने, उसका परिहार करने या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है।)
3. उन सभी परिस्थितियों में, जहाँ दंडादेश मृत्युदंड है, वहाँ उपरोक्त सभी प्रकार की शक्ति है।	3. मृत्यु दंडादेश की दशा में क्षमा करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। किन्तु विधि द्वारा यदि निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्रदान की गई है तो वह अप्रभावित है, क्योंकि संविधान में इसे अछूता रखा गया है।

राज्य की मंत्रिपरिषद् (Executive Council of The State)

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-163** के अनुसार, राज्यपाल के परामर्श तथा सहायता के लिए मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई है। भारतीय शासन प्रणाली में केंद्र के समान ही औपचारिक रूप से राज्य की सभी कार्यपालिका संबंधी शक्तियाँ राज्यपाल में निहित होती हैं, लेकिन उन शक्तियों का उपयोग वह विधानमंडल के निर्वाचित एवं विधानसभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह पर ही करता है, जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है। अत: यह बात स्पष्ट है कि, राज्य की कार्यपालिका शक्ति, विधानमंडल के सदस्यों के विशेष समूह के हाथ में होती है, जिसे राज्य मंत्रिपरिषद् कहते हैं और यह शक्ति उन्हें तब तक प्राप्त रहती है, जब तक उन्हें विधानसभा में बहुमत प्राप्त रहता है।

संवैधानिक स्थिति (Constitutional Status)

भारत के संविधान में भाग-VI के अनुच्छेद-163 और 164 के उपबंधों में राज्य के मंत्रिपरिषद् की सामान्य चर्चा की गई है। राज्य मंत्रिपरिषद् या किसी एक मंत्री को पद से हटाने की शक्ति सैद्धांतिक रूप से राज्यपाल के पास होती है, परंतु वास्तव में यह मुख्यमंत्री की शक्ति है। जब तक मुख्यमंत्री के नेतृत्व वाले मंत्रिपरिषद् के पास बहुमत है, तब तक राज्यपाल न तो मुख्यमंत्री को हटा सकता है और न ही मुख्यमंत्री के परामर्श के बिना किसी मंत्री को हटा सकते है।

मंत्रिपरिषद् की रचना (Formation of The Executive)

मंत्रिपरिषद् के निर्माण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मुख्यमंत्री की नियुक्ति है, क्योंकि संविधान के अनुच्छेद-163 के अंतर्गत, मुख्यमंत्री को परिषद् का प्रधान घोषित किया गया है। केंद्र की भांति राज्यों में भी संसदीय शासन प्रणाली होने के कारण राज्यों में उन सभी परम्पराओं को कार्यान्वित किया जाना स्वाभाविक है, जो संसदीय शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं हैं। इसलिए राज्यपाल अपनी इच्छा के अनुसार, किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त नहीं करता, बल्कि उस व्यक्ति को ही मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है, जिसको राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। सिद्धांतत: अनुच्छेद-164(A) में यह उपबंध है कि, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श से करेगा। अनुच्छेद-164(B) के अनुसार, मंत्रिपरिषद् राज्य की विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। वर्तमान समय में भारत में संघीय तथा प्रान्तीय दोनों ही सरकारों में मंत्रिमण्डल ही मंत्रिपरिषद् का पर्याय बन चुका है, क्योंकि मंत्रिपरिषद् के वे मंत्री जो कैबिनेट स्तर के होते हैं तथा महत्त्वपूर्ण विभाग के मंत्री होते हैं, वे मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में जो समूह बनता है उसमें शामिल होते हैं, वह मंत्रिमण्डल कहलाता है। मंत्रिपरिषद् की तुलना में मंत्रिमण्डल का आकार छोटा होता है। मंत्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता है। इस प्रकार व्यवहार में मंत्रिमण्डल के निर्णय मंत्रिपरिषद् के निर्णय माने जाते हैं। संघीय मंत्रिपरिषद् के समान ही राज्य मंत्रिपरिषद् में भी 3 प्रकार के मंत्री होते हैं।

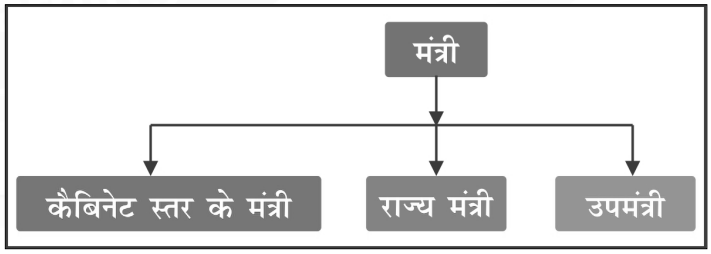

योग्यताएँ एवं नियुक्ति (Eligibility and Appointment)

मंत्री बनने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती है। मंत्री के लिए वही योग्यताएँ हैं, जो विधायक बनने के लिए हैं। मुख्यमंत्री अपने मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा मंत्रियों को शासन के विभागों का वितरण करता है। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार, मध्य प्रदेश, झारखंड और ओडिशा में जनजातीय कल्याण मंत्री का होना आवश्यक है।

मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा ही की जाती है। मंत्रिपरिषद् के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य है कि, वे राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों में से किसी एक सदन के सदस्य अवश्य हों। संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि, किसी गैर-सदस्य को भी मंत्रिपरिषद् में शामिल किया जा सकता है किंतु ऐसे सदस्य के लिए यह अनिवार्य है कि, वह छः माह के अंदर विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य अवश्य बन जाये। यदि वह व्यक्ति निश्चित अवधि के अंदर सदन का सदस्य नहीं बन पाता तो उसे मंत्रिपरिषद् से त्यागपत्र देना पड़ता है।

91वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 के अनुसार, यदि दसवीं अनुसूची के अंतर्गत राज्य की विधानसभा (यदि राज्य में एक ही सदन है) के सदस्य को उस सदन की सदस्यता के अयोग्य सिद्ध कर दिया गया है तो उसे पुनर्मतदान तक मंत्री नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

मंत्रियों के वेतन-भत्ते

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-164(5) के अनुसार, मंत्रियों के वेतन-भत्ते समय-समय पर विधानमण्डल द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

क्या आप जानते हैं?

मंत्रिमण्डल क्या है?

'मंत्रिपरिषद् के वे मंत्री जो कैबिनेट स्तर के होते हैं तथा जिनके पास महत्त्वपूर्ण प्रकृति के मंत्रालय व विभाग होते हैं, वे मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में जो समूह बनाते हैं, उसे मंत्रिमण डल कहते हैं।'

मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमंडल में अन्तर

मंत्रिपरिषद्	***मंत्रिमंडल***
मंत्रिपरिषद् का आकार बड़ा होता है।	मंत्रिमंडल का आकार छोटा होता है।
इसमें कैबिनेट, राज्य, उपमंत्री तथा संसदीय सचिव स्तर के मंत्री सम्मिलित हैं।	केवल कैबिनेट स्तर तथा स्वतंत्र प्रभार वाले राज्यमंत्री सम्मिलित होते हैं।
सम्पूर्ण मंत्रिमंडल, मंत्रिपरिषद् का एक भाग होता है।	मंत्रिपरिषद्, मंत्रिमंडल का भाग नहीं होती है।
मंत्रिपरिषद् शब्द का वर्णन हमारे संविधान में है।	मंत्रिमण्डल शब्द तथा इस संस्था का निर्माण केवल सुविधा की दृष्टि से किया गया है। मूल संविधान में वर्णन नहीं था।

मंत्रिपरिषद् के कार्य एवं शक्तियाँ (Functions & Powers of Council of Ministers)

केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के समान राज्य मंत्रिपरिषद् भी अनेक प्रशासनिक, विधायी एवं वित्तीय कार्य सम्पन्न करती है। यह राज्य की वास्तविक शासन संचालक शक्ति है। मंत्रिपरिषद् के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं-

- ***राज्य-शासन संचालन***- राज्य-सरकार के अधीन कार्यरत समस्त प्रशासकीय, अर्द्ध-प्रशासकीय तथा स्वायत्तशासी प्रशासनिक संस्थाओं पर मंत्रिपरिषद् का नियंत्रण रहता है। राज्य-सरकार के कार्यक्षेत्र में स्थापित तथा संचालित समस्त प्रशासनिक संरचनाएँ राज्य-सरकार के किसी न किसी विभाग के अधीन होती हैं और सरकारी विभागों के शीर्ष पर राजनीतिक मंत्री होता है।

मंत्री अपने अधीन विभाग के सचिवों तथा अन्य अधिकारियों के माध्यम से प्रत्येक कर्मचारी एवं विभागीय गतिविधियों को नियंत्रित-निर्देशित करता है। किसी भी विभाग के अधीन कार्यरत कार्यालय में हुई अनियमितता तथा लापरवाही सीधे सम्बन्धित मंत्री को प्रभावित करती है। अतः मंत्री का यह दायित्व है कि, वह अपने विभाग के उद्देश्यों, लक्ष्यों, कार्यक्रमों एवं दायित्वों के प्रति सतत् जागरूक रहे। दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्य तथा उच्च स्तरीय निर्णय, मंत्री की कार्य कुशलता या निर्णय पर निर्भर करता है।

- ***नीति-निर्धारण कार्य***- मंत्रिपरिषद्, राज्य की वास्तव में नीति निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था है। राज्य के बहुमुखी विकास, चुनावी वायदों को पूरा करने, कल्याणकारी कार्य, शान्ति व्यवस्था तथा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नीतियाँ एवं कार्यक्रम बनाये जाते हैं। नीतिगत निर्णय होने के बाद नीति को लागू करने का कार्य प्रशासनिक विभाग करते हैं। विभाग का राजनीतिक प्रमुख मंत्री होता है। इस रूप में मंत्री को सम्बन्धित नीतिगत निर्णय को सम्पादित करने के लिए आवश्यक तथ्य, सूचनाएँ तथा तार्किक आधार तैयार करना होता है। मंत्री के इस कार्य में उसका कार्यालय सहायता प्रदान करता है। कार्यालय का प्रमुख, सचिव होता है। इस प्रकार सचिव अपने सहयोगियों के माध्यम से मंत्री को सहायता प्रदान करता है। विधानसभा में राज्यपाल द्वारा पढ़ा जाने वाला अभिभाषण भी मंत्रिपरिषद् द्वारा ही तैयार किया जाता है, जो सरकार की नीतियों को उजागर करता है।
- ***नियम तथा विधि-निर्माण संबंधी कार्य***- संविधान की राज्य-सूची में वर्णित विषयों पर कानून बनाने का कार्य राज्य-सरकार का है। सरकारी विधेयक मंत्रियों द्वारा विधानमण्डल में प्रस्तुत किए जाते हैं। विधेयक प्रस्तुत करने के पूर्व मंत्रिपरिषद् में उस विधेयक पर व्यापक विचार-विमर्श होता है।

इस प्रकार नवीन नियम तथा प्रचलित नियमों में संशोधन करने का अधिकार मंत्रिपरिषद् को प्राप्त है। राज्यपाल द्वारा जारी किया जाने वाला अध्यादेश भी मंत्रिपरिषद् द्वारा ही तैयार किया जाता है।

- ***बजट सम्बन्धी कार्य***- वर्तमान प्रशासनिक तंत्र के रक्त या प्राणवायु के रूप में 'वित्त' की महत्ता सर्वसिद्ध है। राज्य सरकार के कार्यों को सफलतापूर्ण संचालित करने के लिए प्रत्येक वर्ष आय एवं व्यय का विवरण तैयार करना अर्थात् बजट बनवाना मंत्रिपरिषद् का अहम कार्य है। भारत के संविधान में 'बजट' शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं किया गया है, बल्कि इसे 'वार्षिक आय-व्यय का विवरण' कहा गया है। प्रत्येक मंत्री अपने सम्बन्धित विभाग की योजनाओं तथा गैर-योजना मदों के लिए आवश्यक वित्तीय प्रावधानों का विस्तृत विवरण प्रत्येक प्रशासनिक इकाई से तैयार करवाता है। इसके पश्चात् समस्त विभागों का समग्र बजट मंत्रिपरिषद् द्वारा स्वीकृत होता है। इसके पश्चात् विधानमण्डल में बजट का प्रस्तुतिकरण एवं संशोधन होता है। विधायिका द्वारा बजट स्वीकृत होने से पूर्व इसे लम्बी प्रक्रिया से गुजरना होता है। मंत्रिपरिषद् के सदस्य सामूहिक रूप से विधानमण्डल में राज्य-सरकार द्व ारा प्रस्तुत बजट के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं।
- ***समन्वयकारी कार्य***- वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था में समन्वय का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रशासनिक कार्यकुशलता अच्छे समन्वय पर निर्भर करती है। किसी एक विभाग के कार्य का दूसरे विभाग या विभागों के कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। अनेक बार सरकार के किसी एक विभाग की नीति या कार्यक्रम का प्रभाव दूसरे विभाग पर पड़ने के कारण आपसी विवाद उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्रिपरिषद् के माध्यम से समन्वय का कार्य करवाया जाता है। एक विभाग में कैबिनेट, राज्य तथा उपमंत्री के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। आज के भीमकाय मंत्रिपरिषद् में मंत्रियों के आवास, वाहन, कार्यालय आदि को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। इन विवादों या बाधाओं का आपसी बातचीत द्वारा ही समाधान सम्भव है। प्रशासन के बढ़ते हुए कार्य क्षेत्र के कारण मंत्रिपरिषद् के लिए प्रशासन में समुचित सहायता के बिना समन्वय स्थापित करना सम्भव नहीं रहा है। मध्य प्रदेश में इस महत्त्वपूर्ण कार्य को मुख्य सचिव करता है।
- ***कार्मिक प्रशासन पर नियंत्रण***- प्रशासनिक कार्यों को क्रियान्वित तथा शासन

के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु लोक सेवकों की विशाल टीम प्रत्येक राज्य-सरकार के अधीन कार्यरत है। राज्य की मंत्रिपरिषद् अपने अधीन आने वाले विभागों के कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही इत्यदि के क्रम में नीतियाँ तैयार करती है। इन कार्मिक नीतियों के निर्माण के अतिरिक्त मंत्रिपरिषद्, कार्मिकों की छंटनी, किसी विभाग को समाप्त करने या नया विभाग खोलने, नये पदों का सृजन करने, महंगाई भत्ता बढ़ाने, वेतनमानों में संशोधन करने तथा उच्च पदों पर पदस्थापन एवं स्थानान्तरण से संबंधित निर्णय भी लेती है। राज्य-सेवा नियमों में संशोधन इत्यादि का कार्य भी मंत्रिपरिषद् का है। राज्य सरकार के मंत्री अचानक किसी कार्यालय का दौरा कर कार्मिक तंत्र पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास भी करते हैं।

- ***अन्य-कार्य***- उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त मंत्रिपरिषद् निम्नलिखित कार्य भी करती है-
  - पूर्ववर्ती सरकारों और मंत्रिपरिषद् के निर्णयों को परिवर्तित करना।
  - राज्य की योजनाओं का निर्माण एवं कार्यान्वयन करना।
  - लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों, राजस्व मण्डल के सदस्यों, आयुक्त, सचिव, विभागाध्यक्ष, जिला एवं सत्र न्यायाधीशों आदि की नियुक्ति की सिफारिश करना।
  - भू-भाग प्रदान करने से संबंधित प्रस्ताव पारित करना।
  - किसी कार्य को क्षेत्रीय-परिषद् में ले जाने हेतु प्रस्ताव पारित करना।
  - दूसरे राज्यों, केन्द्र-सरकार या विदेशी अभिकरणों से वार्ता एवं समझौते करना।
  - प्राकृतिक आपदाओं के समय तात्कालिक सहायता एवं निर्णय लेना।
  - राजस्व, भूमि, कर, अनुदान तथा सहायता संबंधी निर्णय करना।

मंत्रिमंडल बैठकों से संबंधित प्रमुख कार्य मुख्य सचिव कार्यालय सम्पादित करता है। मुख्य सचिव मंत्रिमंडल का सचिव होता है। मुख्यमंत्री से मंत्रिपरिषद् की बैठक के कार्यक्रम, स्थान और समय सम्बन्धी आदेश प्राप्त करता है। मंत्रिमंडल के निर्णयों से सम्बन्धित विभागों को अवगत कराता है।

मंत्रिमंडल की बैठक

ये बैठक मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में समय-समय पर होती रहती है। मंत्रिमण्डल की बैठक प्रति सप्ताह, मासिक होती है तथा आवश्यकतानुसार आपातकालीन बैठक भी बुलाई जा सकती है। मुख्यमंत्री की इच्छा या अन्य परिस्थितियों में किसी वरिष्ठ मंत्री (जैसे उप-मुख्यमंत्री) द्वारा भी बैठक बुलवाई जा सकती है। पर्याप्त समय होने पर मुख्य सचिव द्वारा प्रत्येक कैबिनेट मंत्री को बैठक का समय, दिनांक तथा विचारणीय मुद्दों की सूची प्रेषित की जाती है। यदि तत्काल बैठक बुलवानी हो तो टेलीफोन से भी सूचना दी जा सकती है। विशेष सचिव द्व ारा मंत्रिमण्डल में हुए निर्णय 'मिनट्स' (Minutes) के रूप में लिखे जाते हैं, जिनका अनुमोदन अध्यक्ष (मुख्यमंत्री) के द्वारा होने के पश्चात ये निर्णय सभी मंत्रियों तथा सचिवों एवं अन्य आवश्यक संस्थाओं तक प्रेषित किये जाते हैं। कई बार मंत्रिमण्डल की बैठक हुए बिना ही परिपत्र (Circular) भेजकर किसी मुद्दे पर मंत्रियों की राय ले ली जाती है। राजस्थान में जून-दिसम्बर, 2006 में मंत्रिमण डल बैठकें नहीं हुई तथा यही विधि अपनायी गयी।

राज्यपाल तथा मंत्रिपरिषद्
(The Governor and Council of Ministers)

राज्यपाल नाममात्र का कार्यकारी है और मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका है। संविधान के अन्तर्गत, राज्यपाल को दी गयी सत्ता की एक विस्तृत सूची है। यदि इसे इसी प्रकार स्वीकृत कर लिया जाये तो राज्यपाल वास्तविक शासक बन जाता है। ''मन्त्रिगण राज्यपाल के अनुग्रहपर्यन्त पदासीन रहेंगे''।

अनुच्छेद-167 के अनुसार, राज्य के मुख्यमंत्री का कर्तव्य है कि, राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मंत्रिपरिषद् के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को दे। कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सलाह के बिना ही कार्य कर सकता है- जैसे राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने पर। कतिपय परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त कर सकता है।

डॉ. अम्बेडकर के वचन

डॉ. अम्बेडकर ने कहा, 'मुझे इस बात में तनिक सन्देह नहीं है कि इसमें संविधान का तात्पर्य यह है कि मंत्रिमण्डल तब तक पदासीन रहेगा, जब तक उसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।'

विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद्
(Legislature and Council of Ministers)

मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिषद् अपने पद पर उसी समय तक रह सकती है, जब तक कि उसे विधानसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। काम रोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव तथा अविश्वास प्रस्ताव द्वारा विधानसभा मंत्रिपरिषद् को हटा सकती है। व्यवहार में दलीय अनुशासन तथा प्रचण्ड दलीय बहुमत के कारण मंत्रिपरिषद् विधानसभा पर नियन्त्रण रख सकती है।

यह भी जानें

अब तक मंत्रिपरिषद् का आकार मुख्यमंत्री की विवेकाधीन शक्तियों के अंतर्गत था, किंतु संविधान के 91वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 के व्यवस्थापन के पश्चात् राज्य की मंत्रिपरिषद् में मुख्यमंत्री सहित अन्य मंत्रियों की कुल संख्या राज्य विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या के पंद्रह प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

अल्पमत मंत्रिमंडल (Minority Government)

भारत में राज्यों में भी संघीय शासन की भांति संसदात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गयी है। संसदात्मक शासन-व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत यही है कि, मंत्रिमण्डल का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत हो, परन्तु प्राय: यह देखा गया है कि, राज्यों में अल्पमत सरकारें भी समय-समय पर बनती रहती हैं। अल्पमत मंत्रिमंडल उसे कहते हैं, जिसका राज्य विधानसभा में स्पष्ट बहुमत नहीं होता, परन्तु वह अन्य दलों के सहयोग से विधानसभा के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं। जो दल मंत्रिमंडल का समर्थन करते हैं, वे मंत्रिमंडल में सम्मिलित नहीं होते और केवल विधानसभा में ही उसको पूर्ण समर्थन देते हैं। भारत के कई राज्यों में अल्पमत मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ है।

उपरोक्त के मुख्यत: तीन कारण निम्न है-

- अल्पमतीय मंत्रिमण्डल एक अवसरवादी कार्यवाही रही है।
- समर्थन देने वाला दल एवं उसके सदस्यगण स्वयं सत्ता के लोभी हो जाते हैं।
- मंत्रिमंडल और समर्थन देने वाले दल में नीति सम्बन्धी अन्तर आ जाता है।

उत्तरदायित्व

- ***विधानमंडल के प्रति मंत्रियों का सामूहिक उत्तरदायित्व***- एक मंत्री व्यक्तिगत रूप से राज्यपाल के प्रति उत्तरदायी होता है, लेकिन अनुच्छेद-164(2) के अनुसार, मंत्री विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। यही कारण है कि, विधानसभा में किसी एक मंत्री के प्रति अविश्वास प्रस्ताव लाए जाने का कोई मतलब नहीं होता, क्योंकि अविश्वास प्रस्ताव किसी एक मंत्री के विरुद्ध लाया जाए या पूरे मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध बात एक ही है। मंत्रिपरिषद् एक टीम के रूप में काम करती है और यदि विधानसभा किसी एक भी मंत्री में अविश्वास व्यक्त कर देती

है तो पूरे मंत्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना पड़ता है। हालांकि संविधान में मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध या किसी मंत्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव का कहीं वर्णन नहीं किया गया है।

- ***राज्यपाल के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व***– हर मंत्री अपने मंत्रालय या विभाग से संबंधित कार्यों का प्रधान होता है और उसके लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है। संविधान के अनुच्छेद-164(1) में यह व्यवस्था की गई है कि, मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं अर्थात् प्रत्येक मंत्री व्यक्तिगत रूप से राज्यपाल के प्रति उत्तरदायी होता है। हालांकि उस मंत्री का कार्यकाल मुख्यमंत्री के विश्वास पर ही निर्भर करता है, क्योंकि उसकी नियुक्ति अथवा बर्खास्तगी मुख्यमंत्री की सिफारिश पर ही होती है।
- ***विधिक उत्तरदायित्व***– राज्य सरकार के मंत्रियों के ऊपर कोई विधिक उत्तरदायित्व नहीं होता है।

कोई भी विधिक उत्तरदायित्व नहीं

भारतीय संविधान में विधिक जिम्मेदारी केंद्रीय मंत्रियों की भांति राज्यों के मंत्रियों को नहीं है। राज्यपाल द्वारा लोक अधिनियम के किसी आदेश पर मंत्री के प्रति हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त न्यायालय, मंत्रियों द्वारा राज्यपाल को दी गई सलाह की समीक्षा नहीं कर सकता है।

संयुक्त मंत्रिमंडल अथवा मिली-जुली सरकार (Coalition Government)

मिली-जुली सरकारों से अभिप्राय है, विधानसभा में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न होना व कुछ दल मिलकर निश्चित कार्यक्रम के आधार पर अपना एक सर्वमान्य नेता चुन लेते हैं और उस नेता द्वारा जो मंत्रिमण्डल बनाया जाता है, उसमें सभी दलों को उनकी संख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

क्या आप जानते है?

'केरल को संयुक्त मंत्रिमंडलों का घर कहा जाता है।'

मंत्रिपरिषद् में मुख्यमंत्री का विशेष स्थान

अगर मुख्यमंत्री चाहे तो वह किसी मंत्री को पद से इस्तीफा देने के लिए कह सकता है अथवा राज्यपाल से उसे बर्खास्त करने की सिफारिश कर सकता है। इसके अलावा मुख्यमंत्री अपने मंत्रिपरिषद् का पुनर्गठन कर सकता है और मंत्रियों के विभागों में फेरबदल कर सकता है। मुख्यमंत्री विधानसभा का नेता होता है और संवैधानिक स्थिति के हिसाब से राज्यपाल, मुख्यमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद् की सलाह पर ही कार्य करते हैं। मंत्रिपरिषद् के प्रमुख के रूप में वह निम्न शक्तियों का प्रयोग करता है–

- अपने दल के विधायकों को मंत्री बनाने की सिफारिश राज्यपाल से करना।
- मंत्रियों के विभागों का आवंटन करना।
- आवश्यकता पड़ने पर मंत्रियों के विभागों में फेरबदल करना।
- किसी मंत्री को पद से हटाने अथवा राज्यपाल को उसके बर्खास्तगी के लिए सलाह देना।
- सभी मंत्रियों और उनकी गतिविधियों को निर्देशित एवं नियंत्रित करना।
- सभी मंत्रियों एवं मंत्रालयों के बीच समन्वय बनाये रखने में मुख्य भूमिका अदा करना।

मुख्यमंत्री के त्यागपत्र देने से पूरा मंत्रिमंडल भी विघटित हो जाता है। मुख्यमंत्री की मृत्यु होने पर मंत्रिपरिषद् तब तक निष्क्रिय हो जाती है, जब तक कोई नया मुख्यमंत्री न चुन लिया जाए। जबकि, किसी मंत्री की मृत्यु अथवा त्यागपत्र देने की अवस्था में मुख्यमंत्री का पद अक्षुण्ण रहता है और अगर वह चाहे तो उस खाली मंत्री पद पर दल के किसी और सदस्य को नियुक्त करने की सिफारिश राज्यपाल से कर सकता है।

मंत्रियों की पदमुक्ति एवं कार्यकाल

संविधान के अनुच्छेद-164(1) के अनुसार, सभी मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यंत अपने पद पर रह सकते हैं। अनुच्छेद- 164(ठ) के अनुसार, मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। किसी एक मंत्री को भी राज्यपाल अपनी इच्छा के अनुसार मंत्री पद से नहीं हटा सकता। ऐसी शक्ति का प्रयोग वह मुख्यमंत्री के परामर्श से ही कर सकता है। मंत्री उस समय तक अपने पद पर बना रह सकता है, जब तक विधानसभा में उसको बहुमत का समर्थन प्राप्त है। मंत्रिमंडल का निश्चित कार्य-काल पाँच वर्ष का है। यह समय विधानसभा के कार्यकाल के साथ चलता है। इस निश्चित समय से पहले भी मंत्रिमण्डल को निलंबित किया जा सकता है, परंतु यदि मंत्रिपरिषद् को पाँच वर्ष विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है तो मंत्रिपरिषद् पाँच वर्ष के समय तक अपने पद पर स्थिर रह सकती है। यदि मुख्यमंत्री अपने पद से त्यागपत्र दे दे तो मंत्रिपरिषद् का अंत हो जाता है, क्योंकि उसके त्यागपत्र का अर्थ सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् का त्यागपत्र होता है। केंद्र-सरकार द्वारा राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता के संदर्भ में अनुच्छेद-356 का उपयोग करके भी राज्य मंत्रिपरिषद् का अंत किया जा सकता है।

मंत्रिपरिषद् के कार्य

राज्य मंत्रिपरिषद् भी संघ की मंत्रिपरिषद् की भांति ही विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक, विधायी एवं वित्तीय कार्यों का सम्पादन करती है।

राज्यपाल और मंत्रिमंडल के बीच संबंध

साधारणतया राज्यपाल और उसके मंत्रियों के बीच संबंध उसी प्रकार के हैं जैसे राष्ट्रपति और उसके मंत्रियों के हैं। परन्तु इसमें एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि, संविधान राष्ट्रपति को कोई कार्य अपने विवेकानुसार करने की शक्ति नहीं देता, जबकि राज्यपाल को कुछ कृत्य अपने विवेकानुसार करने का अधिकार है। अनुच्छेद-163(1) के अनुसार ये अधिकार इस प्रकार हैं-

'जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करे, उन बातों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल के कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी।'

राज्यपाल की इस विवेकाधीन अधिकारिता के कारण 42वें संविधान संशोधन अधिनियम में अनुच्छेद-163(1) में उस प्रकार का कोई संशोधन नहीं किया गया, जैसा कि अनुच्छेद-74(1) में किया गया है। जो कार्य अपने विवेकानुसार करने के लिए राज्यपाल को निर्दिष्ट किया गया है, उनमें उससे यह अपेक्षा नहीं होगी कि वह मंत्रियों की सलाह के अनुसार काम करेगा या उनसे सलाह मांगेगा। जिसमें संविधान के अनुसार, राज्यपाल को अपने विवेकानुसार कार्य करना है, वहाँ राज्यपाल का विनिश्चय अंतिम होगा और राज्यपाल द्वारा की गई किसी विधिमान्यता को इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।

मुख्यमंत्री (Chief Minister)

राज्य की मंत्रिपरिषद् का प्रधान मुख्यमंत्री होता है। **अनुच्छेद-164** के प्रावधान के अनुसार, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है। राज्यपाल उस व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है, जिसको राज्य विधानसभा में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त हो अर्थात् मुख्यमंत्री राज्य विधानसभा में बहुमत दल का नेता हो।

मुख्यमंत्री की योग्यताएँ

संविधान मुख्यमंत्री की योग्यता के संबंध में मौन है। सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि मुख्यमंत्री पद के लिए न्यूनतम योग्यताएँ वही हैं, जो एक विधायक के लिए आवश्यक हैं।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति

यह सत्य है कि, मुख्यमंत्री के चयन में संवैधानिक, व्यवहारिक एवं निर्णायक भूमिका निभाने वाले कुछ तत्व होते हैं। ये तत्व हैं: राज्यपाल की भूमिका, विधायक दल की भूमिका, प्रदेशाध्यक्ष का प्रभाव, प्रधानमंत्री का दबाव, जातीयता एवं क्षेत्रीयता का प्रभाव। अनुच्छेद-164(1) के अनुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जायेगी तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श से करेगा तथा मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रहेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति के लिए विधानसभा का सदस्य होना आवश्यक नहीं है।

छ: माह के लिए किसी भी व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाया जा सकता है चाहे वह विधानसभा का सदस्य ही न हो। किन्तु ऐसे मुख्यमंत्री को छ: माह के भीतर विधानमण्डल की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक है। अत: संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल द्वारा ही की जाती है।

शपथ एवं वेतन भत्ते

मुख्यमंत्री को पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल उसे पद और गोपनीयता की शपथ दिलाता है।

मुख्यमंत्री के वेतन एवं भत्ते विधानमंडल द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। मुख्यमंत्री को, राज्य विधानमंडल के प्रत्येक सदस्य को मिलने वाले वेतन-भत्तों सहित नि:शुल्क आवास एवं अन्य सुविधाएँ मिलती हैं।

मुख्यमंत्री का किसी भी सदन का सदस्य होना

संविधान के अनुसार, मुख्यमंत्री, विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि, ठीक नियुक्ति के समय वह विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य हो। अगर कोई व्यक्ति मुख्यमंत्री नियुक्त होने के समय विधानमंडल का सदस्य न हो, तो भी 6 महीने तक के लिए मुख्यमंत्री नियुक्त किया जा सकता है, परन्तु इस अवधि के बीच उसे विधानमंडल के किसी भी सदन (विधानसभा अथवा विधानपरिषद्) का सदस्य निर्वाचित होना पड़ेगा और ऐसा न होने पर उसे मुख्यमंत्री पद से हटना पड़ेगा।

मुख्यमंत्री के कार्य व शक्तियाँ

भारतीय संविधान में मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियों का सीमित उल्लेख मिलता है। संविधान के **अनुच्छेद-167** में केवल तीन प्रकार के कार्यों का वर्णन देखने को मिलता है, जो निम्न प्रकार हैं-

- राज्य प्रशासन तथा विधान के प्रस्तावों से सम्बन्धित जो निर्णय मंत्रिपरिषद् द्वारा लिये गये हैं, की सूचना राज्यपाल को पहुँचाना।
- राज्य प्रशासन तथा विधान के प्रस्तावों के क्रम में जो भी जानकारी राज्यपाल द्वारा माँगी जाये, उसे राज्यपाल तक पहुँचाना।
- किसी ऐसे विषय पर राज्यपाल के निर्देशों पर मंत्रिपरिषद् में विचार करना, जिस विषय पर मंत्री ने निर्णय ले लिया हो, किन्तु मंत्रिपरिषद् ने सामूहिक निर्णय न किया हो।

उपर्युक्त कार्यों को देखकर ऐसा लगता है कि, मुख्यमंत्री का पद वास्तव में शक्तिशाली नहीं है। वस्तुत: मुख्यमंत्री राज्य का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति है तथा वास्तविक कार्यपालिका है। उसकी शक्तियाँ निम्नांकित हैं-

- राज्य के विकास तथा शान्ति व्यवस्था के लिए योजनाएँ एवं कार्यक्रम तैयार करना।
- केन्द्र, विदेश तथा अन्य राज्य सरकारों से सम्पर्क एवं समन्वय करना।
- जन-सम्पर्क करना।
- राज्य में कुशल प्रशासन की व्यवस्था करना।
- राज्य के विकास के लिए नीति एवं योजनाएँ बनाना।
- राज्य के विकास के लिए समस्त प्रकार के संसाधनों का समुचित उपयोग करना।
- मंत्रिपरिषद् की बैठकों के माध्यम से राज्य के चहुँमुखी विकास के लिए नीतियाँ बनाना।
- बजट-निर्माण, स्वीकृति तथा उसका क्रियान्वयन सुनिश्चित करना।
- राजस्व एकत्रण तथा राज्य की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करना।
- केन्द्र तथा विभिन्न अभिकरणों से संधियाँ एवं समझौते करना।
- मंत्रिपरिषद् तथा राज्यपाल के बीच सम्पर्क सूत्र का कार्य करना।
- मंचों पर राज्य का हित तथा पक्ष स्पष्ट करना।
- राज्य के प्रशासन से सम्पर्क तथा नेतृत्व करना।
- राज्य कर्मचारियों के लिए कार्मिक नीतियाँ तैयार करना।
- कमजोर, पिछड़े तथा जनजाति के कल्याण एवं विकास के कार्यों पर विशेष ध्यान देना।
- राज्य की जनता से सम्पर्क रखना।
- जन शिकायतों को सुनना एवं निराकरण करना।
- राज्य विधानसभा का सत्र बुलवाना, राज्यपाल का भाषण तैयार करवाना, आदि।

मुख्यमंत्री की भूमिका

मुख्यमंत्री राज्य सरकार का प्रधान होता है। राज्य के प्रशासन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो मुख्यमंत्री के नियंत्रण से बाहर हो। उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका इस प्रकार है-

- ***मंत्रिपरिषद् का निर्माण***– मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार, राज्यपाल द्वारा की जाती है। यह निर्णय करना भी मुख्यमंत्री का ही कार्य है कि, किस व्यक्ति को कैबिनेट मंत्री, किसको राज्यमंत्री तथा किसको उप-मंत्री बनाना है। मुख्यमंत्री को अपनी मंत्रिपरिषद् का विस्तार करने का भी अधिकार है।
- ***विभागों का बंटवारा***– संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री विभागों का बंटवारा करने हेतु स्वतंत्र है क्योंकि संविधान द्वारा उस पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया है किंतु व्यवहार में वह सदस्यों की योग्यताओं और राजनीतिक महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही विभागों का बंटवारा करता है। मुख्यमंत्री अपने मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन भी कर सकता है।
- ***मंत्रिपरिषद् का पुनर्गठन***– मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद् का पुनर्गठन भी कर सकता है। यदि कोई मंत्री मुख्यमंत्री की नीति से सहमत नहीं है तो मुख्यमंत्री उसको त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है और यदि मंत्री त्यागपत्र देने से इंकार करता है तो मुख्यमंत्री उसे अपदस्थ करवा सकता है।
- ***मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष***– मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष होता है। वह मंत्रिपरिषद् के अधिवेशनों की अध्यक्षता करता है, अधिवेशनों की तिथि तय करना तथा उसके लिए कार्य सूची बनाना भी मुख्यमंत्री का ही अधिकार है।
- ***राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के मध्य कड़ी***– संविधान के **अनुच्छेद-167** के अंतर्गत, मंत्रिपरिषद् के निर्णयों की राज्यपाल को सूचना देना मुख्यमंत्री का संवैधानिक कर्तव्य है। यदि राज्यपाल को किसी प्रशासकीय विभाग के प्रति कोई सूचना प्राप्त करनी है तो वह केवल मुख्यमंत्री के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। अत: मुख्यमंत्री दोनों के बीच कड़ी का कार्य करता है।

- ***राज्य विधानमंडल का नेता–*** मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद् का ही नहीं, बल्कि राज्य विधानमंडल का भी नेता माना जाता है। मुख्यमंत्री को विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के कारण विधानमंडल उसकी इच्छा के विरूद्ध किसी कानून का निर्माण नहीं कर सकता। विधानमंडल में महत्त्वपूर्ण निर्णयों की घोषणा मुख्यमंत्री ही करता है। मुख्यमंत्री अध्यक्ष के साथ मिलकर विधानसभा का कार्यक्रम निश्चित करता है, विधानसभा को स्थगित और भंग किये जाने का निर्णय भी व्यवहारत: मुख्यमंत्री द्वारा ही लिया जाता है।
- ***राज्यपाल का मुख्य परामर्शदाता–*** मुख्यमंत्री राज्यपाल को शासन संबंधी प्रत्येक मामले में परामर्श देता है। संविधान के अनुसार, राज्यपाल उस समय मुख्यमंत्री का परामर्श नहीं लेता जब वह केंद्रीय-सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। अन्य स्थितियों में राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है।
- ***नियुक्तियाँ–*** राज्य में सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल, मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार ही करता है। अत: मुख्यमंत्री ही राज्य का वास्तविक शासक होता है।
- ***विधानसभा भंग कराने का अधिकार–*** विधानसभा का सत्र बुलाने तथा सत्रावसान के अतिरिक्त राज्यपाल को संविधान के अनुच्छेद- 174(2) (B) के अन्तर्गत, विधानसभा को भंग करने का भी अधिकार है। परन्तु व्यवहार में राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर ही विधानसभा को भंग करता है। आमतौर पर राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर ही कार्य करता है, लेकिन कुछ विशेष अवसरों पर वह अपने विवेक का भी प्रयोग करता है। विधानसभा भंग करने तथा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते समय राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करता है। ऐसे अवसरों पर वह मंत्रिमण डल के परामर्श पर कार्य नहीं कर सकता।
- ***राजनीतिज्ञों के मित्रों के रूप में–*** भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली में मुख्यमंत्री को अपने दल तथा अन्य राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना होता है। बहुमत दल के समस्त विधायक जहाँ एक ओर मुख्यमंत्री को अपना पारिवारिक सदस्य मानते हैं, वहीं राज्य के अन्य विधायक तथा सांसद भी मुख्यमंत्री से मित्रवत् सम्बन्ध बनाते हैं। लोकतांत्रिक सरकारों, विशेषत: भारतीय संदर्भों में आम जनता की यह प्रवृत्ति होती है कि, वह अपने वैध अथवा अवैध कार्य जनप्रतिनिधियों की सहायता से करवाना चाहती है। इस विकट स्थिति में किसी भी मुख्यमंत्री के धैर्य, निष्पक्षता तथा राजनीतिक दुरभिसंधियों का स्पष्ट खुलासा हो जाता है। जो मुख्यमंत्री प्रत्येक प्रकरण में जनहित को प्राथमिकता देते हैं तथा बिना राजनीतिक भेदभाव के निष्पक्ष निर्णय लेते हैं, वे अन्तत: सभी राजनीतिक दलों के लिए स्वीकार्य होने लग जाते हैं। सांसद क्षेत्र विकास कार्य, केन्द्र प्रवर्तित विकास योजनाएँ तथा क्षेत्रीय समस्याओं के आधार पर संचालित कल्याण कार्यक्रमों में मुख्यमंत्री तथा संबंधित क्षेत्र के सांसद एवं विधायकों की आपसी समझ-बूझ ही उस कार्य के समय पर सफलतापूर्वक निष्पादित होने की प्राथमिक आवश्यकता बन चुकी है। जनसाधारण द्वारा अपने निर्वाचित प्रतिनिधि क्षेत्र की जनसमस्याओं की जानकारी तथा तत्सम्बन्धी सुविधाओं की माँग के पश्चात् प्रत्येक जनप्रतिनिधि के समक्ष यही विकल्प शेष रहता है कि, वह उस माँग या समस्या को मुख्यमंत्री के समक्ष प्रस्तुत करे।
- ***राज्य के प्रतिनिधि के रूप में–*** हमारे संविधान में, मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री के बीच औपचारिक सम्बन्धों की कोई व्याख्या नहीं की गयी है। इसके बावजूद मुख्यमंत्री का यह नैतिक दायित्व बनता है कि, वह देश के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्रियों से सीधे एवं व्यवहारिक सम्बन्ध स्थापित करे। हमारे यहाँ राज्य-सरकारों को निरन्तर प्रधानमंत्री कार्यालय, योजना आयोग (वर्तमान में नीति आयोग), केन्द्रीय सचिवालय तथा राष्ट्रीय प्रशासनिक अभिकरणों से दिशा-निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। मुख्यमंत्री को सीधे सम्बोधित इन पत्रों या दिशा-निर्देशों के अनुरूप कार्रवाई करना अथवा राज्य के पक्ष को प्रतिनिधि के रूप में मुख्यमंत्री, राष्ट्रीय विकास परिषद्, अन्तर्राज्यीय परिषद्, क्षेत्रीय परिषद् तथा अन्य मंचों पर राज्य की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक समस्याओं और जनाकांक्षाओं को स्पष्ट करता है।
- ***राज्य के प्रशासक के रूप में–*** मुख्यमंत्री राज्य का सबसे सशक्त वास्तविक शासन संचालनकर्ता होता है। वास्तव में वह राज्य के प्रशासन का केन्द्र-बिन्दु होता है। राज्य में कानून, शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने, विकास कार्यों को गति प्रदान करने, जनसाधारण की कठिनाइयों का निवारण करने तथा नौकरशाही को राज्य के सामाजिक-आर्थिक विकास के प्रति प्रतिबद्ध करने के लिए मुख्यमंत्री में प्रशासकीय कौशल तथा नेतृत्व करने की क्षमता का होना आवश्यक है। साथ में राज्य के वार्षिक बजट का निर्माण, पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण तथा केन्द्र से उनकी स्वीकृति करवाना और राजकोषीय सन्तुलन को बनाये रखने के लिए कर, शुल्क तथा अन्य विधियों से जनता से राजस्व एकत्र करने में मुख्यमंत्री की कार्य-शैली प्रशासन-तंत्र को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार मुख्यमंत्री राज्य का न केवल मुख्य प्रशासक बल्कि मार्गदर्शक होता है।

संक्षेप में, मुख्यमंत्री का पद राज्य में वास्तविक, प्रभावशाली तथा यथार्थपरक सत्ता का प्रतीक है जो राज्य की सुख, शान्ति, प्रतिष्ठा तथा प्रगति को अत्यधिक प्रभावित करता है। राज्य के प्रशासन में मुख्यमंत्री का वही स्थान है, जो संघ में प्रधानमंत्री का है। मुख्यमंत्री की शक्तियाँ अपार तथा असीमित हैं। समय, स्थिति तथा व्यक्तित्व के अनुसार, उसकी शक्तियाँ घटती-बढ़ती रहती हैं। सच तो यह है कि, जब तक विधानसभा में बहुमत उसके साथ है और हाईकमान का आशीर्वाद उसे प्राप्त है, तब तक वह एक तानाशाह के समान कार्य कर सकता है। सिर्फ अन्तर यह है कि, एक तानाशाह मनमाने तरीके से अपनी शक्तियों एवं अधिकारों का प्रयोग करता है, परन्तु मुख्यमंत्री स्थापित नियमों एवं अभिसमयों के अनुसार ही राज्य में शासन करता है।

मुख्यमंत्री की स्थिति का मूल्यांकन

किसी राज्य के मुख्यमंत्री की शक्ति का आधार उसकी संवैधानिक स्थिति को माना जाता है। लेकिन, संवैधानिक और संस्थागत स्थिति के साथ-साथ निम्न पहलू भी उसकी भूमिका को प्रभावित करते हैं।

- किसी मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि उसका दलीय स्वरूप कैसा है? अगर वह एक दलीय मुख्यमंत्री है तो उसकी स्थिति और शक्ति सुदृढ़ होगी। अगर वह द्वि-दलीय या बहुदलीय सरकार का मुख्यमंत्री है तो उसकी स्थिति कमजोर रहेगी।
- मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके दल को राज्य विधानसभा में कितना बहुमत प्राप्त है? यदि उसके दल को विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त है तो उसकी स्थिति प्रभावशाली होगी। इसके विपरीत यदि किसी मुख्यमंत्री के दल का बहुत कम या क्षीण बहुमत है तो ऐसी स्थिति में उसकी स्थिति कमजोर होगी।
- अल्पमतीय अथवा अन्य दलों के समर्थन पर आश्रित मुख्यमंत्री की स्थिति बहुत कमजोर होती है। ऐसे मुख्यमंत्री खुलकर कोई भी निर्णय नहीं ले सकते हैं।
- मुख्यमंत्री की 'चयन प्रक्रिया' भी उनकी स्थिति को प्रभावित करती है। अगर किसी मुख्यमंत्री को राज्य विधानमण्डलीय दल द्वारा स्वतंत्र रूप से नेता निर्वाचित किया है, तो उसकी भूमिका शक्तिशाली होगी। दूसरी तरफ यदि मुख्यमंत्री का चयन करते समय विधायकों की राय की उपेक्षा की गई है अथवा उनको दल के 'उच्च कमान' द्वारा अपनी पसंद से थोपा गया है, तो ऐसे मुख्यमंत्री की शक्ति पर सदैव प्रश्न-चिन्ह लगा रहेगा।

- यदि राज्य विधानसभाध्यक्ष के साथ उसके संबंध मधुर नहीं हैं, तो उसे अवांछनीय कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। परिणामस्वरूप, अनेक संवैधानिक और राजनीतिक प्रश्न उठ खड़े होंगे।
- मुख्यमंत्री अगर केन्द्र में सत्तारूढ़ दल का है तो उसकी स्थिति मजबूत रहेगी। उसे केन्द्रीय सहायता प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। इसके अतिरिक्त वह राज्य के लिए केन्द्र से नयी परियोजनाओं को भी स्वीकृत करा सकेगा साथ ही उसे केन्द्र की 'अवांछनीय दबाव और भृकुटि दिखाने की राजनीति' का भी सामना नहीं करना पड़ेगा। वह 'बर्खास्तगी और राष्ट्रपति शासन' लागू करने की राजनीति के भय से भी मुक्त रहेगा।
- राज्य के मुख्यमंत्री तथा प्रधानमन्त्री के साथ दलीय और व्यक्तिगत स्तर पर 'मधुर सम्बन्ध' किसी भी मुख्यमंत्री को सशक्त बना सकते हैं। इसके विपरीत यदि किसी मुख्यमंत्री का प्रधानमंत्री के साथ सम्बन्ध मधुर नहीं हैं, तब उसे अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है।
- राज्य में विकास-कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन भी किसी मुख्यमंत्री की लोकप्रियता में नये आयाम जोड़ सकती है। उसके द्वारा अपनी मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार की गई नीतियों का सफल क्रियान्वयन भी उसके जनाधार को सशक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त अकाल, बाढ़, भूकम्प, तूफान और महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओं के समय राज्य-सरकार द्वारा दी गयी समुचित राहत से भी जनता में उसके नेतृत्व के बारे में विश्वास अर्जित हो सकता है।
- मुख्यमंत्री राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने, अपराधिक और राष्ट्र-विरोधी तत्वों का दमन करने, साम्प्रदायिक, जातीय और संकीर्ण शक्तियों से निपटने और आतंकवादी शक्तियों को कुचलने संबंधित महत्त्वपूर्ण फैसला लेता है। यदि राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति ठीक है तो जनसाधारण में प्रशासन के प्रति आस्था और विश्वास की भावना कायम होगी।
- मुख्यमंत्री का राज्य प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण भी उसके शक्तिशाली होने की प्रमुख कसौटी होती है। उसका राज्य सचिवालय पर नियंत्रण होना चाहिए। उसे राज्य-सचिवालय में अपने दल के कार्यकर्ताओं और सत्ता के दलालों की अनावश्यक भीड़ एकत्रित नहीं होने देना चाहिए तथा उसे मन्त्रियों को यह निर्देश देना चाहिए कि, सचिवालय में बैठकर आवश्यक सरकारी कार्य को निपटायें। मुख्यमंत्री में प्रशासनिक कर्मठता और दक्षता का होना नितान्त वांछनीय है।
- मुख्यमंत्री का व्यक्तित्व भी उसकी शक्ति में वृद्धि करता है। उसका सुन्दर सौम्य व्यक्तित्व उसकी अच्छी भाषण-शैली, कठोर निर्णय-शक्ति, अपने सहयोगियों और कर्मचारियों को साथ लेकर चलने की भावना जैसे व्यक्तिगत गुण एक मुख्यमंत्री में होने चाहिए।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि, राज्य में मुख्यमंत्री का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वह राज्य की जनता की आशाओं और अपेक्षाओं का प्रतीक होता है। मुख्यमंत्री को राज्य का वास्तविक शासक माना जाता है। इसके बावजूद भी, व्यवहार में, उसकी शक्तियों को अनेक तत्व प्रभावित करते हैं, और वह असीमित अथवा अमर्यादित शासक नहीं है। फिर भी, राज्य की संस्थागत राजनीति में उसका सबसे अहम् और विशिष्ट स्थान होता है।

उप-मुख्यमंत्री (Deputy Chief Minister)

भारत में उपमुख्यमंत्री का पद संवैधानिक पद नहीं है। उप-मुख्यमंत्री की पद तुष्टिकरण, स्थायित्व, गठबंधन दलों के निरंतर सहयोग की अपेक्षा और अधिक-से-अधिक विधायकों के साथ लेकर चलने की नीति का पद माना जा सकता है। अब तक जितने भी उप-मुख्यमंत्री हुए उन्हें किसी-न-किसी तरह या हर तरह से अपने मुख्यमंत्री के लगभग समान या थोड़े कम विधानसभा सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और उन्हें नजर-अंदाज कर दल की अखंडता को बनाये रखने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। अब उप-मुख्यमंत्री इस गैर-संवैधानिक और गठबंधन की राजनीति से अनुप्रमाणित इस पद से कितने प्रसन्न अथवा लाभान्वित रहते हैं, ये तो अलग विषय है, लेकिन यह बात निश्चित है कि वो एक शक्तिशाली दबाव समूह का नेता हो जाता है। बिहार में ही देखा जाए तो अब तक चार उप-मुख्यमंत्री रह चुके हैं।

महाधिवक्ता (The Advocate General of State)

केन्द्रीय-कार्यपालिका की भांति संविधान के **अनुच्छेद-165** के अनुसार, प्रत्येक राज्य का राज्यपाल, उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए अर्हित किसी व्यक्ति को राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त करेगा। महाधिवक्ता का यह कर्तव्य होगा कि, वह उस राज्य की सरकार को विधि संबंधी ऐसे विषयों पर सलाह दे और विधिक स्वरूप के ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करे जो राज्यपाल समय-समय पर निर्देशित करे या सौंपे और उन कृत्यों का निर्वहन करे जो उसको इस संविधान अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन प्रदान किए गए हों। गौरतलब है कि महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसादपर्यंत पद धारण करेगा और ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेगा, जो राज्यपाल अवधारित करे।

योग्यता एवं नियुक्ति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-165 के अनुसार, कोई व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता रखता है, राज्यपाल के द्वारा राज्य के महाधिवक्ता (The Advocate General of State) के रूप में नियुक्त किये जाने के योग्य है, यदि वह-

- भारत का नागरिक हो।
- कम से कम 10 वर्षों तक न्यायिक पद धारण किया हो या 10 वर्ष तक उच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में कार्य करने का अनुभव रखता हो।

कार्यकाल

भारतीय संविधान में, महाधिवक्ता के कार्यकाल को निश्चित नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त संविधान में उसे हटाने की प्रणाली का भी वर्णन नहीं किया गया है।

कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद-177 के अंतर्गत, राज्य के महाधिवक्ता को यह अधिकार होगा कि, वह उस राज्य की विधानसभा में या विधानपरिषद् वाले राज्य की दशा में दोनों सदनों में बोल सकता है और उनकी कार्यवाहियों में भाग ले सकता है, किंतु उसे मतदान का अधिकार नहीं होगा। राज्यपाल, महाधिवक्ता पद पर उस व्यक्ति को नियुक्त करता है, जो उच्च न्यायालय के न्यायधीश बनने की योग्यता रखता हो।

राज्य में वह मुख्य कानून अधिकारी होता है। इस नाते महाधिवक्ता के कार्य निम्नवत हैं-

- राज्य सरकार को विधि संबंधी ऐसे विषयों पर सलाह दे, जो राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गए हों।
- विधिक स्वरूप से ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करे जो राज्यपाल द्वारा सौंपे गए हों।
- संविधान या किसी अन्य विधि द्वारा प्रदान किए गए कृत्यों का निर्वहन करना।

अपने कार्य संबंधी कर्त्तव्यों के तहत उसे राज्य के किसी न्यायालय के समक्ष सुनवाई का अधिकार है। इसके अतिरिक्त उसे विधानमंडल के दोनों सदनों या संबंधित समिति अथवा उस सभा में, जहाँ के लिए वह अधिकृत है, बिना मताधिकार के बोलने व भाग लेने का अधिकार है। उसे वे सभी विशेषाधिकार एवं भत्ते मिलते हैं, जो विधानमंडल के किसी भी सदस्य को मिलते हैं। महाधिवक्ता को प्रतिमाह 1.25 रुपये लाख वेतन दिया जाता है।

राज्य विधानमंडल
(State Legislature)

परिचय

संविधान के अंतर्गत, प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमंडल की व्यवस्था की गई है **(अनुच्छेद-168)**। इस राज्य विधानमंडल में राज्यपाल के अतिरिक्त विधानमंडल के एक या दोनों सदन शामिल हैं। जिन राज्यों में दो सदन हैं, वहाँ उच्च सदन को विधान परिषद व निम्न सदन को विधानसभा कहा जाता है। उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त भारतीय संविधान के भाग-VI, में अनुच्छेद-168 से 212 तक राज्य विधानमंडल (The State Legislature) का गठन, कार्यकाल, अधिकारियों, प्रक्रियाओं, विशेषाधिकारों एवं शक्तियों आदि का वर्णन किया गया। यद्यपि उक्त सभी संसद के अनुरूप है, फिर भी इनके मध्य कुछ अन्तर भी विद्यमान है।

गठन

विधानमंडल के गठन के विषय में राज्यों के लिए शासन की एक सी प्रणाली विहित की गई है, किंतु संविधान बड़े और छोटे राज्यों के बीच अन्तर करता है। प्रत्येक राज्य का विधानमंडल, राज्यपाल और राज्य के विधानमंडल से मिलकर बनेगा। कुछ राज्यों में विधानमंडल के दो सदन होंगे अर्थात विधानसभा और विधान परिषद, शेष राज्यों में केवल एक सदन होगा अर्थात विधानसभा **[अनुच्छेद-168]**।

संविधान के प्रारंभ से किए गए परिवर्तन के कारण, अनुच्छेद-169 में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार, 2020 में दो सदन वाले राज्यों की संख्या 6 है, जो निम्न हैं- आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक और उत्तर प्रदेश [अनुच्छेद- 168]।

विधानपरिषद का सृजन एवं समाप्ति (उत्सादन)

इसका यह अर्थ हुआ कि, शेष राज्यों में, विधानमंडल एक-सदनीय है अर्थात वह केवल विधानसभा से मिलकर बनता है [अनुच्छेद-168] किंतु यह सूची स्थायी नहीं है, क्योंकि संविधान में यह उपबंध है कि जिन राज्यों में विधान परिषद विद्यमान है, वहाँ उसका उत्सादन किया जा सकता है, ऐसा करने के लिए एक सरल प्रक्रिया है, जिसमें संविधान के संशोधन की आवश्यकता नहीं होती। प्रक्रिया यह है कि उस राज्य की विधानसभा एक विशेष बहुमत द्वारा एक संकल्प पारित करेगी, जिसके अनुसरण में संसद अधिनियम बनाएगी। (संकल्प, कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाएगा [अनुच्छेद- 169]।

यह भी जानें

पंगु सत्र (लेमडक सत्र)- यह विधानमंडल का वह सत्र है, जब नई विधानसभा का चुनाव हो गया हो, परन्तु पुरानी विधानसभा अपनी अंतिम बैठक कर रही हो। सामान्यत: पंगु सत्र में विधानसभा के वही सदस्य उपस्थित होते हैं, जो नए चुनावों में पुनर्निर्वाचित नहीं हो पाए हैं।

यह असाधारण उपबंध राज्यों के लिए किया गया था, जिससे संविधान के बनाते समय की गई इस आलोचना का उत्तर दिया जा सके कि, हमारे कुछ राज्य जो निर्धन हैं उन्हें दो सदनों पर खर्च करना ठीक नहीं रहेगा। तदनुसार यह उपाय किया गया कि, प्रत्येक राज्य अपनी इच्छानुसार चाहे तो दूसरा सदन रखे या नहीं रखे। यह बड़ी रोचक बात है कि, इस उपबंध का फायदा उठाकर आंध्र प्रदेश ने 1957 में संसद द्वारा विधान परिषद अधिनियम, 1957 पारित कराके विधान परिषद का सृजन किया। इसी प्रक्रिया द्वारा 1985 में आंध्र प्रदेश की विधान परिषद की समाप्ति हो गई। हालांकि वर्तमान में आंध्र प्रदेश में विधान परिषद उपस्थित है।

विधानपरिषद की संरचना

विधान परिषद की सदस्य संख्या विधानसभा के अनुसार कम या अधिक होती है। विधान परिषद की सदस्य संख्या विधानसभा की सदस्य संख्या के एक-तिहाई से अधिक नहीं होगी, किंतु कम से कम 40 सदस्य होंगे। यह उपबंध इसलिए किया गया है, जिससे विधानमंडल में विधान परिषद को प्रमुखता प्राप्त न हो [अनुच्छेद- 171(1)]

संविधान में अधिकथित विधान परिषद की संरचना अंतिम नहीं है। विधानमंडल के सदन की संरचना का उपबंध करने की अंतिम शक्ति संसद को दी गई है [अनुच्छेद-171(2)]। जब तक कि संसद इस विषय पर विधान नहीं बनाती, तब तक इसकी संरचना उस प्रकार होगी जैसा कि संविधान में उल्लिखित है। संविधान में यह कहा गया है कि, यह भागत: नामनिर्दिष्ट और भागत: निर्वाचित निकाय होगी। निर्वाचन अप्रत्यक्ष होगा और आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

सभी 28 राज्यों एवं सभी संघ-राज्य क्षेत्रों में विधानमंडल एवं विधानपरिषद् में सीटों की संख्या

राज्य	विधानसभा सीटें	विधानपरिषद सीटें	राज्य	विधानसभा सीटें	विधानपरिषद
आंध्र प्रदेश	175	58	अरुणाचल प्रदेश	60	
असम	126		बिहार	243	75
छत्तीसगढ़	90		गोवा	40	
गुजरात	182		हरियाणा	90	
हिमाचल प्रदेश	68		झारखंड	81	
कर्नाटक	224	75	केरल	140	
मध्य प्रदेश	230		महाराष्ट्र	288	78
मणिपुर	60		मेघालय	60	
मिजोरम	40		नागालैंड	60	

ओडिशा	147		पंजाब	117	
राजस्थान	200		सिक्किम	32	
तमिलनाडु	234		तेलंगाना	119	40
त्रिपुरा	60		उत्तराखंड	70	
उत्तर प्रदेश	403	100	प. बंगाल	294	
संघ राज्य क्षेत्र	विधान सभा सीटें	विधानपरिषद सीटें	संघ राज्य क्षेत्र	विधान सभा सीटें	विधानपरिषद सीटें
दिल्ली	70	00	पुदुचेरी	30	00

परिसीमन के बाद, जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा की कुल सींटे बढ़कर 114 हो गई, जिन से 24 सीटें उन क्षेत्रों के लिए नामित की गई हैं जो पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के अंतर्गत आते हैं। शेष 90 सीटों में से 43 सीटें जम्मू संभाग में और 47 सीटें कश्मीर संभाग में हैं।

विधानसभा में नामित सदस्य

विधानसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय से एक प्रतिनिधि को, राज्यपाल नामित कर सकता है, अगर उसे लगे कि विधानसभा में उस समुदाय का उचित प्रतिनिधि नहीं है। यह उपबंध संविधान के लागू होने से 10 वर्षों तक के लिए ही था, परन्तु बाद में इसे 10-10 वर्षों के लिए बढ़ाया गया। 95वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2009 द्वारा इसे 2020 तक के लिए बढ़ा दिया गया है।

निर्वाचन

विधानसभा के स्थानों के लिए प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रतिनिधि, प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं। 18 वर्ष से अधिक उम्र का हर योग्य नागरिक इस निर्वाचन में अपने मताधिकार का प्रयोग करता है।

प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों का विभाजन

अनुच्छेद-170 के अनुसार, प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में ऐसी रीति से विभाजित किया जाएगा कि, प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या का उसको आवंटित स्थानों की संख्या से अनुपात, सभी राज्यों में यथासंभव समान हो।

प्रत्येक जनगणना के पश्चात पुनः समायोजन

अनुच्छेद-170 के अनुसार, प्रत्येक जनगणना की समाप्ति पर, प्रत्येक राज्य की विधानसभा में स्थानों की कुल संख्या और प्रत्येक राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन का ऐसे प्राधिकारी द्वारा और ऐसी रीति से पुनः समायोजन किया जाएगा, जो संसद विधि द्वारा अवधारित करे, परन्तु ऐसे पुनः समायोजन से विधानसभा में प्रतिनिधित्व पद पर तब तक कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, जब तक उस समय विद्यमान विधानसभा का विघटन नहीं हो जाता है। ऐसा पुनः समायोजन उस तिथि से प्रभावी होगा, जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे और ऐसे पुनः समायोजन के प्रभावी होने तक विधानसभा के लिए कोई निर्वाचन, उन प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर हो सकेगा, जो ऐसे पुनः समायोजन के पहले विद्यमान हैं।

इसके साथ यह व्यवस्था भी की गई है कि, जब तक सन 2026 के पश्चात की गई पहली जनगणना के सुसंगत आँकड़े प्रकाशित नहीं हो जाते हैं, तब तक इस खंड के अधीन-

- प्रत्येक राज्य की विधानसभा में 1971 की जनगणना के आधार पर पुनः समायोजित स्थानों की कुल संख्या का तथा ऐसे राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन का, जो 2001 की जनगणना के आधार पर पुनः समायोजित किए गये हैं, उनका पुनः समायोजन आवश्यक नहीं होगा।

अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए स्थानों का आरक्षण

संविधान में राज्य की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर, प्रत्येक राज्य की विधानसभा के लिए अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए सीटों की व्यवस्था की गई है। मूल रूप से यह आरक्षण व्यवस्था संविधान के लागू होने के बाद 10 वर्षों के लिए बढ़ायी गई और 79वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1999 के द्वारा इसे 2010 तक के लिए बढ़ा दिया गया। दिसंबर 2019 में 126वां संविधान संशोधन विधेयक पारित करके ST/SC आरक्षण आगामी 10 वर्ष (25 जनवरी 2030) तक के लिए बढ़ाया गया।

विधानपरिषद में निर्वाचन

एकल संक्रमणीय आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति

अनुच्छेद-171 के अनुसार, विधान परिषद के लिए निर्वाचित होने वाले सदस्य ऐसे प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाएँगे, जो संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन विहित किए जाएँ। यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार, एकल संक्रमणीय मत द्वारा होंगे।

इस प्रणाली में दो प्रक्रियाएँ मिली हुई हैं, पहला है- 'अनुपातिक प्रतिनिधित्व' और दूसरा है- 'एकल संक्रमणीय पद्धति'।

खुली मतदान व्यवस्था

संसद द्वारा जनप्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 2003 पारित कर, 28 अगस्त, 2003 को विधानपरिषदों के लिए विधानसभा से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों के लिए खुली मतदान व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। इस संशोधन के माध्यम से राज्य विधान परिषद का चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को सम्बंधित राज्य का मतदाता होने की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई है।

स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा चुने हुए सदस्य

अनुच्छेद-171 में यह व्यवस्था भी है कि किसी राज्य की विधान परिषद के सदस्यों की कुल संख्या का, यथासंभव एक-तिहाई भाग के निकटतम, उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों और अन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो संसद विधि द्वारा विनिर्दिष्ट करे।

विश्वविद्यालय के स्नातक

इसके साथ-साथ यथासंभव वे 12वें भाग के निकटतम, उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित होंगे, जो भारत के राज्यक्षेत्र में किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष

से स्नातक हैं या जिनके पास कम-से-कम तीन वर्ष से ऐसी अर्हताएँ हैं, जो संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि या उसके अधीन ऐसे किसी विश्वविद्यालय से स्नातक की अर्हताओं के समतुल्य विहित की गई हों।

पढ़ाने के काम में संलग्न व्यक्ति द्वारा

इसके साथ-साथ यथासंभव, वे 12वें भाग के निकटतम, ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित होंगे, जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से निम्न स्तर की ऐसी शिक्षा संस्थाओं में, जो संसद द्व ारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन विहित की जाएँ, पढ़ाने के काम में कम-से-कम तीन वर्ष से लगे हुए हैं। अर्थात् 1/12 सदस्यों का निर्वाचन 3 वर्ष से अध्यापन कर रहे लोग चुनते हैं लेकिन ये अध्यापक माध्यमिक स्कूलों से कम नहीं होना चाहिए।

विधानसभा के सदस्यों द्वारा

यथासंभव, निकटतम एक-तिहाई भाग, राज्य की विधानसभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा, जो विधानसभा के सदस्य नहीं हैं।

राज्यपाल द्वारा नामनिर्देशित

शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा खंड (5) के उपबंधों के अनुसार, नामनिर्देशित किए जाएँगे। नामनिर्देशित किए जाने वाले सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे, जिन्हें निम्नलिखित विषयों के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है- साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन और समाज सेवा।

विधानमण्डल की अवधि

विधानसभा की अवधि

सामान्य अवधि **अनुच्छेद-172** के अनुसार, प्रत्येक राज्य की प्रत्येक विधानसभा, यदि पहले ही विघटित नहीं कर दी जाती है तो, अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियत तारीख से अधिकतम पाँच वर्ष तक बनी रहेगी और पाँच वर्ष की उक्त अवधि की समाप्ति का परिणाम विधानसभा का विघटन होगा। **आपात के समय: अनुच्छेद-172** यह भी कहता है कि, उक्त अवधि को, जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो, तब संसद विधि द्वारा अवधि को एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकेगी। अगर आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में नहीं रहती तब किसी भी स्थिति में उसका विस्तार छ: माह की अवधि से अधिक नहीं होगा।

विधानपरिषद की अवधि

राज्यसभा की तरह ही राज्य का विधान परिषद भी एक स्थायी सदन है और अनुच्छेद-172 के अनुसार, राज्य की विधान परिषद का विघटन नहीं होगा, किन्तु उसके सदस्यों में से यथासंभव निकटतम एक-तिहाई सदस्य संसद द्वारा इसके लिए बनाई गयी विधि से प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर यथाशीघ्र निवृत्त हो जाएँगे।

राज्य विधानमंडल की सदस्यता

योग्यता

संविधान के अनुच्छेद-173 में, विधानमंडल की सदस्यता के लिए योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं। राज्य विधानमंडल की सदस्यता ग्रहण करने के लिए किसी व्यक्ति के पास निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए-

- उसे भारत का नागरिक होना चाहिए और निर्वाचन आयोग द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारूप के अनुसार शपथ लेना चाहिए या प्रतिज्ञान करना चाहिए और उस पर अपने हस्ताक्षर करने चाहिए।
- विधान परिषद के लिए उसे कम-से-कम 30 वर्ष और विधानसभा के लिए उसे कम-से-कम 25 वर्ष की आयु का होना चाहिए। उसके पास ऐसी अन्य योग्यताएँ होनी चाहिए जो संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इसे निमित्त विहित की जाए।

ऊपर वर्णित योग्यताओं के अलावा संसद ने **'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951'** द्वारा निम्नलिखित अन्य योग्यताएँ भी निर्धारित की हैं-

- विधानमंडल में निर्वाचन के लिए खड़ा होने वाला व्यक्ति उस राज्य का निवासी होना चाहिए।
- यदि कोई व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीट पर चुनाव लड़ता है तो उसे अनुसूचित जाति या जनजाति वर्ग का होना होगा। हालाँकि, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्य उन सीटों से भी चुनाव लड़ सकते हैं जो उनके लिए आरक्षित नहीं है।

निरर्हताएँ

संविधान के अनुच्छेद-191 में यह निर्धारित किया गया है कि, कोई व्यक्ति विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा-

I. यदि वह विकृतचित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है।
II. यदि वह अनुन्मोचित दिवालिया है।
III. यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति वफादारी रखता हो।
IV. यदि वह संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित कर दिया जाता है।
V. यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन ऐसे पद को छोड़कर, जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना संसद ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है।

ऊपर वर्णित निरर्हताओं के अलावा संसद ने **'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951'** द्वारा निम्नलिखित अन्य निरर्हताएँ भी निर्धारित की हैं-

1. अगर वह चुनावी अपराध व चुनाव में भ्रष्ट आचरण का दोषी करार दिया गया हो।
2. अगर उसे किसी अपराध में 2 वर्ष या उससे अधिक की सजा हुई हो। परन्तु, प्रतिबंधात्मक निषेध विधि के अंतर्गत बंद या बंद रहे किसी व्यक्ति का बंदीकरण निरर्हता की श्रेणी में नहीं आता।
3. अगर वह निर्धारित समय के अंदर चुनावी खर्च का ब्योरा देने में असफल रहा हो।
4. अगर उसे सरकारी ठेके, कामों और सेवाओं में कोई दिलचस्पी हो।
5. अगर वह ऐसे निगम में लाभ के पद, निदेशक या प्रबंध निदेशक के पद पर हो, जिसमें सरकार की 25% भागीदारी हो।
6. अगर उसे भ्रष्टाचार या निष्ठाहीन होने के कारण सरकारी सेवाओं से बर्खास्त किया गया हो।
7. अगर उसे विभिन्न समूहों में शत्रुता बढ़ाने या रिश्वतखोरी के लिए दंडित किया गया हो।
8. अगर वह छुआछूत, दहेज तथा सती प्रथा जैसे सामाजिक अपराधों के प्रसार में संलिप्त रहा हो।

निरर्हता संबंधित प्रश्न पर अंतिम निर्णय

यदि ऐसा कोई प्रश्न उठता है कि, विधानमंडल का कोई सदस्य अनुच्छेद-191 के अधीन निरर्ह हो गया है, तो इस प्रश्न को राज्यपाल के पास निर्णय के लिए भेजा जाता है और इस संबंध में उनका निर्णय अंतिम होता है। हालांकि ऐसे किसी प्रश्न पर निर्णय लेने से पहले राज्यपाल भारत के निर्वाचन आयोग से परामर्श लेता है।

दल-बदल के आधार पर निरर्हता

संविधान के अनुसार, किसी व्यक्ति को विधानमंडल की सदस्यता के अयोग्य ठहराया जा सकता है, अगर उसे 10वीं अनुसूची के उपबंधों के अनुसार, दल-बदल का दोषी पाया गया हो। सदस्यों को दल-बदल विधि के निम्नलिखित उपबंधों के तहत अयोग्य करार दिया जा सकता है।

- किसी सदस्य द्वारा किसी दल के टिकट पर निर्वाचित होना तथा उसे छोड़कर अन्य किसी दल में शामिल होना।
- मौलिक सिद्धांतों पर अपने पार्टी के व्हीप के विरुद्ध मतदान करना।
- निर्दलीय निर्वाचित होने के पश्चात किसी दल में शामिल होना।

10वीं अनुसूची के तहत निरर्हता के सवालों का निपटारा

10वीं अनुसूची के तहत, निरर्हता के सवालों का निपटारा विधान परिषद में सभापति और विधानसभा में विधानसभा का अध्यक्ष करता है, न कि राज्य का राज्यपाल।

1992 में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि, 10वीं अनुसूची के तहत निरर्हता के सवालों के सम्बन्ध में विधान परिषद के सभापति एवं विधानसभा के अध्यक्ष का निर्णय भी न्यायिक समीक्षा के दायरे में आता है।

शपथ या प्रतिज्ञान

राज्य के विधानमंडल के सदस्यों को अपना स्थान ग्रहण करने के पूर्व राज्यपाल अथवा उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ ग्रहण करना पड़ता है। बिना शपथ ग्रहण किए कोई भी व्यक्ति किसी भी राज्य के विधानमंडल का सदस्य नहीं बन सकता। यदि किसी व्यक्ति ने विधानमंडल के सदस्य के रूप में शपथ नहीं ग्रहण की है या विधानमंडल की सदस्यता के लिए अयोग्य घोषित किया गया है या विधानमंडल से निष्कासित कर दिया गया है, तो वह विधानमंडल की किसी भी कार्रवाई में भाग नहीं ले सकता है और यदि वह विधानमंडल की कार्रवाई में भाग लेता है तो प्रत्येक दिन के लिए, उसे 500 रुपये का जुर्माना भरना होगा।

सदस्यता धारण करने के पहले वह शपथ लेता है कि-

- भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं निष्ठा रखूँगा।
- भारत की संप्रभुता एवं अखंडता अक्षुण्ण रखूँगा।
- प्रदत्त कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।

सदस्यों के वेतन एवं भत्ते

अनुच्छेद-195 के अनुसार, राज्य की विधानसभा और विधान परिषद के सदस्य के वेतन और भत्ते, उस राज्य का विधानमंडल समय-समय पर विधि द्वारा अवधारित करे और जब तक इस संबंध में इस प्रकार उपबंध नहीं किया जाता है, तब तक ऐसे वेतन और भत्ते, ऐसी दरों से और ऐसी शर्तों पर, जो संबंधित राज्य/संघशासित क्षेत्र की विधानसभा के सदस्यों को इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले लागू थीं, प्राप्त करने के हकदार होंगे।

राज्य विधानमंडल के सदस्यों द्वारा स्थान की रिक्ति

निम्नलिखित परिस्थितिओं में विधानमंडल के सदस्यों को अपना पद छोड़ना पड़ता है-

दोहरी सदस्यता का प्रतिषेध

- कोई व्यक्ति एक समय में विधानमंडल के किसी एक सदन का ही सदस्य हो सकता है।
- यदि कोई व्यक्ति विधानमंडल के दोनों सदनों के लिए चुना जाता है तो राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई विधि के तहत उसे विधानमंडल के किसी एक सदन की सदस्यता छोड़नी होगी।

निरर्हता

- यदि राज्य विधानमंडल का कोई सदस्य विद्यमान प्रावधानों के तहत अयोग्य करार दिया जाता है, तो उसे अपनी सदस्यता छोड़नी होगी।

त्यागपत्र द्वारा पदत्याग

- राज्य विधानमंडल का कोई सदस्य, विधानसभा के मामले में विधानसभा के अध्यक्ष को और विधान परिषद के मामले में विधान परिषद के सभापति को, अपना त्यागपत्र देकर अपना स्थान रिक्त कर सकता है।

बिना बताए अनुपस्थिति होना

- अगर कोई सदस्य विधानमंडल को बिना सूचित किये और उसकी बिना अनुमति मिले, 60 दिन की अवधि से अधिक समय के लिए विधानमंडल की सभी बैठकों में अनुपस्थित रहता है तो विधानमंडल से उसका पद रिक्त घोषित किया जा सकता है।

अन्य स्थितियाँ

निम्नलिखित परिस्थितियों में भी किसी सदस्य की विधानमण्डल सदस्यता रिक्त हो जाती है-

- यदि न्यायालय उसके चुनाव को अमान्य या शून्य करार दे दे।
- यदि उसे सदन द्वारा निष्कासित कर दिया जाए।
- यदि वह राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति चुन लिया जाए।
- यदि उसे किसी राज्य का राज्यपाल बना दिया जाए।

अध्यक्ष का प्रमाण पत्र

जब कभी यह प्रश्न उठता है कि, कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर विधानसभा अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होता है। जब कोई धन विधेयक विधान परिषद को प्रेषित (हस्तांतरित) किया जाता है या राज्यपाल को अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो विधानसभा अध्यक्ष द्वारा वह पृष्ठांकित किया जाएगा कि वह धन विधेयक है [अनुच्छेद- 199(3) एवं (4)]।

विनियोग विधेयक

सभी विनियोग विधेयक धन विधेयक होते हैं। उन्हें केवल विधानसभा में पुर:स्थापित किया जा सकता है और विधान परिषद उनमें संशोधन की सिफारिश कर सकती है, जिसके लिए परिषद् के पास 14 दिन का समय होता है। जो प्रक्रिया धन विधेयक में लागू होती है, वही विनियोग विधेयक में लागू होती है। इसके अतिरिक्त एक बंधन और लगाया जाता है, वह यह कि विनियोग विधेयक में कोई ऐसा संशोधन प्रस्तावित नहीं किया जाएगा, जो किसी अनुदान की रकम में परिवर्तन करेगा या अनुदान के लक्ष्य को बदलेगा। इसके बारे में पीठासीन अधिकारी का विनिश्चय अंतिम होगा।

सामान्य विधेयक

सामान्य विधेयक में जो प्रक्रिया लागू होती है, वह लगभग वैसी ही है, जिसका अनुसरण संसद में किया जाता है। सामान्य विधेयक (ऐसे विधेयक जो धन विधेयक या वित्त विधेयक नहीं है) राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन में आरंभ किए जा सकते हैं। विधान परिषद को धन विधेयक की तुलना में सामान्य विधेयक के संबंध में अधिक शक्तियाँ हैं। विधान परिषद में विधेयक पर विचार किया जाता है और उसे पारित किया जाता है। विधान परिषद उसे बिना संशोधन के या संशोधन सहित पारित कर सकती है।

यदि विधान परिषद को प्रेषित कोई विधेयक-

- परिषद द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है।
- परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से तीन माह से अधिक समय बीत गया है और परिषद् ने उसे पारित नहीं किया है।
- विधान परिषद द्वारा संशोधन सहित पारित किया जाता है और विधानसभा संशोधन से सहमत नहीं होती है।

ऐसी दशा में विधानसभा, विधान परिषद द्वारा किए गए संशोधनों से सहमत होकर या बिना सहमत हुए विधेयक को दुबारा पारित करके विधान परिषद को प्रेषित करेगी।

जब विधानसभा द्वारा दुबारा पारित किया विधेयक परिषद को प्राप्त होता है तो विधान परिषद-

- फिर से विधेयक को अस्वीकार कर सकती है।
- विधेयक को बिना पारित किए एक माह तक रख सकती है।
- विधेयक को ऐसे संशोधनों सहित पारित कर सकती है, जिनसे विधानसभा सहमत नहीं होती है।

इन तीनों दशाओं में यह समझा जाएगा कि, विधेयक दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित किया गया, जिसमें वह विधानसभा में दुबारा पारित किया गया था और उसमें विधान परिषद द्वारा किए गए ऐसे संशोधन होंगे, जिनसे विधानसभा सहमत हो गई है।

विधानपरिषद की शक्तियाँ

सामान्य विधेयक के संबंध में विधान परिषद की भूमिका प्रभावी पुनरीक्षणकर्ता की नहीं है। उसे सलाहकारी सदन कहा जा सकता है, जिसे विलंब करने की शक्ति है। पहले प्रक्रम पर विधान परिषद विधेयक को पारित करने में तीन माह का विलंब कर सकती है, जब विधेयक विधानसभा द्वारा दुबारा पारित किया जाता है तो विधान परिषद उसे एक मास तक रोक सकती है। किंतु यह निश्चित है कि, अंत में विधानसभा का विनिश्चय अभिभावी होगा।

गतिरोध दूर करना

लोकसभा और राज्यसभा के बीच सामान्य विधि के संबंध में असहमति होने पर संयुक्त बैठक का उपबंध है। राज्य के विधानमंडल के दोनों सदनों के बीच मतभेद को सुलझाने के लिए संविधान में संयुक्त बैठक के लिए कोई उपबंध नहीं है। किंतु शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया गया है कि, अंत में जाकर विधानसभा की बात ही स्वीकार्य होती है।

संसद और राज्य विधानमंडलों में सामान्य विधेयक

यदि लोकसभा द्वारा पारित सामान्य विधेयक, जो राज्यसभा को प्रेषित किया गया है-

- राज्यसभा द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है।
- दोनों सदन विधेयक में किए जाने वाले संशोधनों के बारे में असहमत हो जाते हैं।
- विधेयक लौटाया नहीं गया है और छः माह से अधिक बीत गए हों।

राष्ट्रपति विधेयक पर विचार करने और उसे पारित करने के प्रयोजन के लिए सदनों की संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है। दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विधेयक दोनों सदनों में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा पारित किया जाता है और यह समझा जाता है कि, विधेयक दोनों सदनों द्वारा ऐसे संशोधनों सहित पारित किया गया है, जिस पर बहुमत की सहमति थी। विधेयक को इस प्रकार संयुक्त बैठक में पारित करके राष्ट्रपति को अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है **(अनुच्छेद-108)**।

राज्य विधानमंडल में, जब कोई सामान्य विधेयक विधानसभा द्वारा पारित होकर विधान परिषद को भेजा जाता है तब विधान परिषद-

- विधेयक को अस्वीकार कर देती है।
- विधेयक को अपने पास रखती है और जिस तारीख को परिषद् के समक्ष रखा गया था उस तारीख से 3 माह के भीतर उसे पारित नहीं करती है।
- उसे ऐसे संशोधनों के साथ पारित करती है, जिससे विधानसभा सहमत नहीं होती है तो विधानसभा विधेयक को संशोधनों सहित या बिना संशोधनों के दुबारा पारित कर सकती है और पुनः परिषद को प्रेषित कर सकती है।

जब विधेयक दूसरी बार विधानपरिषद में पहुँचता है तो विधानपरिषद-

- विधेयक को अस्वीकार कर देती है।
- विधेयक को लंबित रखती है और विधान परिषद के समक्ष विधेयक के रखे जाने की तारीख से एक मास तक लंबित रखती है।
- संशोधन प्रस्तावित करती है।

इन सभी परिस्थितियों में यह समझा जाएगा कि, विधेयक दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित किया गया, जिस रूप में उसे विधानसभा ने दूसरी बार पारित किया था।

इस प्रकार, यदि विधान परिषद सामान्य विधेयक का विरोध करती है तो विधेयक विधानसभा से विधान परिषद की यात्रा दो बार करेगा। पहली यात्रा में विधान परिषद विलंब कर सकती है और विधेयक को अधिक से अधिक तीन माह तक लंबित रख सकती है। दूसरी यात्रा में विधेयक को एक माह तक रोक सकती है। इस अवधि की समाप्ति पर विधेयक विधि बन जाएगा चाहे विधान परिषद ने उसकी उपेक्षा करके उस प्रावधान को लंबित रखा हो।

अनुच्छेद-197 उन सामान्य विधेयकों पर लागू होता है, जो विधानसभा में आरंभ होते हैं और विधान परिषद को प्रेषित किए जाते हैं। यदि कोई सामान्य विधेयक विधान परिषद् में प्रारंभ होता है, विधान परिषद द्वारा पारित किया जाता है और विधानसभा को प्रेषित किया जाता है तथा विधानसभा द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है तो विधेयक समाप्त हो जाता है। विधान परिषद ऐसे विधेयक को दुबारा पारित नहीं कर सकती।

संसद और राज्य विधानमंडल दोनों सदनों की स्थिति की तुलना करने से उनके कृत्यों को समझने के लिए अंतर्दृष्टि मिलेगी।

गतिरोध को दूर करने के लिए प्रक्रिया में अन्तर के कारण

संघ और राज्य विधानमंडलों के बारे में गतिरोध दूर करने के लिए प्रक्रियाएँ अलग-अलग हैं। इस अंतर के पीछे कारण यह है कि, राज्यसभा और विधान परिषद की प्रकृति भिन्न है। राज्यसभा, राज्यों की प्रतिनिधि है और उसके सृजन का आधार संविधान की परिसंघीय प्रकृति है। राज्यसभा के सदस्य अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। किसी विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्र का नहीं। उन्हें संविधान के परिसंघीय चरित्र का संरक्षण करने के लिए पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए। इसलिए वह मात्र विलंब करने वाली संस्था नहीं हो सकती। राज्यसभा की परिसंघीय भूमिका को मान्यता देते हुए संविधान में दोनों की संयुक्त बैठक

के लिए उपबंध है। जब भी किसी विधेयक के संशोधनों के बारे में दोनों सदन अंतिम रूप से असहमत हो जाते हैं, तो संयुक्त बैठक की जा सकती है। लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की सदस्य संख्या से दोगुनी से भी अधिक है, इसलिए इस बात की संभावना रहती है कि संयुक्त बैठक में लोकसभा का बोलबाला होगा।

विधानपरिषदें, परिसंघीय प्रणाली के लिए आवश्यक संस्था नहीं है। विधान परिषद के सदस्य विभिन्न निर्वाचकगणों से अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। ये निर्वाचकगण हैं-शिक्षक, स्नातक, विधानसभा के सदस्य आदि। इस बात को ध्यान में रखते हुए विधानपरिषदों को जो शक्तियाँ दी गई हैं वे इंग्लैंड के हाउस ऑफ लार्ड्स की शक्तियों के समान हैं। इंग्लैंड में पार्लियामेंट एक्ट, 1911 और 1948 के पश्चात हाउस ऑफ लॉर्ड्स की शक्तियाँ घटा दी गई हैं। यह इस सिद्धांत पर आधारित है कि विधानसभा, हाउस ऑफ कॉमन्स के समान, जनता का प्रतिनिधित्व करती है। वह प्रत्यक्षत: निर्वाचित सदन है। विधान परिषद को विधानसभा का विरोध करने और उसे रोकने की भी शक्ति नहीं है। वह विधेयक को पारित करने में विलंब कर सकती है, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकती। इस विलंब के समय हो सकता है कि विधानसभा उस विषय पर पुनर्विचार करना चाहे और कुछ मामलों में विधान परिषद द्वारा प्रस्थापित संशोधनों से सहमत होकर उन्हें स्वीकार कर ले। इन दोनों सदनों की भूमिका में जो अंतर है, वह लोकतंत्र और गणराज्य के सिद्धांतों के अनुरूप है।

राज्य विधानमण्डलों की शक्तियों पर प्रतिबंध
संविधान के अंतर्गत राज्यों के विधानमण्डलों पर निम्नांकित प्रतिबंध आरोपित किए गए हैं-
1. कुछ विषयों से संबंधित राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधेयक संबंधित राज्य के राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेजे जाते हैं। राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात ही यह विधेयक कानून का रूप ले सकते हैं।
2. राज्य सूची में उल्लिखित कुछ विषयों पर राज्यों के विधानमण्डल राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना कानून नहीं बना सकते।
3. समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार तो विधानमण्डलों को है किंतु संसद द्वारा निर्मित कानून के विरोधी होने की स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होगा।
4. आपातकालीन परिस्थितियों में संसद राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने के लिए स्वतंत्र है।
5. राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के किसी भी विषय पर संसद को कानून निर्माण हेतु सौंप सकती है। ऐसे विषय पर संसद एक वर्ष हेतु कानूनों का निर्माण कर सकती है और इस अवधि में वृद्धि भी राज्यसभा द्वारा की जा सकती है।
6. किसी कारणवश राज्य का संवैधानिक तंत्र विफल होने की स्थिति में राष्ट्रपति उक्त राज्य की विधानसभा को भंग कर सकते हैं ताकि वहाँ नए चुनाव कराए जा सकें।

कोई मार्गदर्शक नियम नहीं

संविधान में राज्यपाल को इस बात पर कोई मार्गदर्शन नहीं दिया गया है कि किन मामलों में उसे अनुमति देनी चाहिए या नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार (अनुच्छेद-200 में उपबंधित एक मामले को छोड़कर) संविधान में इस बात का कोई मार्गदर्शन नहीं है कि, राज्यपाल कौन-सा विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करे। इन सब बातों की न्यायालय समीक्षा नहीं कर सकता है। इस प्रकार विधेयक को अनुमति देने या निर्धारित करने के बारे में राज्यपाल और राष्ट्रपति को व्यापक विवेकाधिकार हैं।

आरक्षण के कारण

राज्य विधेयकों पर राष्ट्रपति द्वारा विचार के लिए आरक्षण का उपबंध संघ और राज्य के बीच बेहतर समझ और सहकार्य उत्पन्न करने के लिए है। इनका उद्देश्य यह है कि, पूरा तंत्र समग्र देश की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील बने। इसका आशय एक राष्ट्रीय नीति की रचना करना है। केंद्र सरकार, आरक्षित विधेयकों के बारे में राज्यों को उपयोगी सलाह और मार्गदर्शन देती है। राज्य सामान्यत: सलाह को मानते हैं और आवश्यकतानुसार विधेयकों में संशोधन करते हैं। केंद्र सरकार ने इस शक्ति का प्रयोग बहुत सावधानी से और आवश्यकतानुसार ही किया है। इस बारे में राज्यों से शिकायतें सुनने को नहीं मिलतीं।

राज्यपाल की विधानमंडल में शक्ति और भूमिका

6 राज्यों की विधानमंडल, राज्यपाल और दो सदनों से मिलकर बनी है और शेष राज्यों में, राज्यपाल और एक सदन से मिलकर बनी है। कोई विधेयक अधिनियम तभी बनता है, जब उसे राज्यपाल की अनुमति मिल जाए। राज्यपाल, राज्य विधानमंडल का अंग है। जब कोई विधेयक राज्य विधानमंडल द्वारा पारित कर दिया जाता है तो उसे राज्यपाल को प्रस्तुत किया जाता है। राज्यपाल के पास 4 विकल्प होते हैं-

1. वह विधेयक पर अपनी अनुमति की घोषणा कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो विधेयक तुरंत अधिनियम बन जाता है। कुछ दशाओं में वह किसी पश्चातवर्ती तारीख को प्रवृत्त किया जाता है, किंतु अधिनियम उसी दिन अस्तित्व में आ जाता है जिस दिन अनुमति की घोषणा होती है। अनुमति की घोषणा करने के लिए कोई समय सीमा नियत नहीं है **(अनुच्छेद- 200)**।
2. यदि किसी विधेयक पर राज्यपाल अपनी अनुमति रोक लेता है तो वह विधेयक अधिनियम नहीं बन पाता है **(अनुच्छेद-200)**।
3. वह इस संदेश के साथ विधेयक लौटा सकता है कि, सदन विधेयक पर पुनर्विचार करे, यदि दो सदन हैं तो दोनों पुनर्विचार करें। धन विधेयक पुनर्विचार के लिए नहीं लौटाया जा सकता। किंतु यदि विधेयक को संशोधनों सहित या बिना संशोधनों के दुबारा पारित किया जाता है और राज्यपाल को अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो राज्यपाल को अनुमति देना ही पड़ेगा। **(अनुच्छेद-200)**।
4. वह विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है। यदि विधेयक के पारित हो जाने से संविधान के अधीन उच्च न्यायालय को दी गई शक्तियाँ कम हो जाएंगी तो राज्यपाल विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने के लिए बाध्य है। अन्य सभी मामलों में राज्यपाल किसी विधेयक को अपने विवेकानुसार आरक्षित कर सकता है। राज्यपाल की राष्ट्रपति के विचार के लिए विधेयक को आरक्षित करने की शक्ति को न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता।

सरकारिया आयोग के मत

सरकारिया आयोग ने यह मत प्रकट किया कि, अनुच्छेद-200 के अधीन (विधेयकों पर अनुमति) विधेयक को अनुमति समय राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सलाह के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए। इस सिफारिश से मंत्रिपरिषद को शक्ति मिलती है। मंत्रिमंडल के हाथों में विधानमंडल का नियंत्रण होता है और वे सभी विधेयक जो मंत्रिमंडल प्रारंभ करता है विधानमंडल द्वारा आज्ञानुसार पारित कर दिए जाते हैं। राष्ट्रपति और राज्यपाल संवैधानिक पद धारण करते हैं तथा मंत्रिपरिषद के अधीन नहीं होते। यह धारणा की जानी चाहिए कि, वे उन शक्तियों को धारण करने के लिए विश्वासपात्र हैं, जो उन्हें सौंपी गई हैं। पिछले 50 वर्षों में इन शक्तियों का कोई ऐसा दुरुपयोग नहीं हुआ है कि सुधार की आवश्यकता समझी जाए। मुख्यमंत्री को यह शक्ति देना उचित नहीं होगा, क्योंकि तब तो वह अधिनायक बन जाएगा, जिसके आदेशों का पालन करना विधानमंडल और राज्य के अध्यक्ष का कर्तव्य है। इतने उच्च अधिकारी को

स्वतंत्र रूप से अपने विवेक के अनुसार काम करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि आयोग की सिफारिश मान ली जाए तो विधानमंडल एक ऐसा मशीन बन जाएगा, जिसे एक व्यक्ति या एक दल की इच्छा के अनुसार परिणाम देने के लिए प्रोग्राम किया गया है।

राष्ट्रपति और राज्यपाल की वीटो शक्तियों की तुलना

राष्ट्रपति	राज्यपाल
1. संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी अनुमति की घोषणा कर सकता है।	1. राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी अनुमति की घोषणा कर सकता है।
2. अपनी अनुमति विधारित कर सकता है।	2. अपनी अनुमति विधारित कर सकता है।
3. किसी भी विधेयक को (धन विधेयक से भिन्न) संसद को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि विधेयक दोनों सदनों द्वारा पुन:पारित किया जाता है और राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है। जो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पुन:पारित किया जाता है उस पर वह अनुमति रोक नहीं सकता (अनुच्छेद-111)।	3. किसी भी विधेयक को (धन विधेयक से भिन्न) विधानमंडल को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि विधेयक सदन या सदनों द्वारा पुन: पारित किया जाता है और राज्यपाल की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो राज्यपाल अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है। जो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पुन:पारित किया जाता है, उस पर वह अनुमति रोक नहीं सकता (अनुच्छेद-200। ***नोट:***- राज्य विधेयक- राज्यपाल, राज्य विधेयकों को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है (अनुच्छेद-201।
4. यदि राज्य विधेयक धन विधेयक है तो राष्ट्रपति अपनी अनुमति की घोषणा कर सकता है या अनुमति विधारित कर सकता है।	4. राज्यपाल अपनी अनुमति की घोषणा नहीं करता है और न उसे लौटाता है, किंतु उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है, यदि विधेयक उच्च न्यायालय को संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है तो राज्यपाल विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने के लिए बाध्य है। अन्य सभी मामलों में राज्यपाल को अपने ववेक का प्रयोग करना होगा। यदि वह ठीक समझे तो वह वधेयक को आरक्षित कर सकता है।
5. यदि राज्य विधेयक सामान्य विधेयक (धन विधेयक नहीं है) हो, तो राष्ट्रपति- (i) अनुमति दे सकता है। (ii) अनुमति विधारित कर सकता है। (iii) विधेयक को पुनर्विचार के लिए राज्य को जब विधेयक इस प्रकार लौटाया जाता है तो राज्य का विधानमंडल छ: माह के भीतर उस पर पुनर्विचार करेगा। यदि वह दुबारा पारित किया जाता है तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए पुन: प्रस्तुत किया जाएगा। राष्ट्रपति चाहे तो अनुमति दे या विधारित करे। यद्यपि विधेयक दुबारा पारित किया गया है फिर भी राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य नहीं है।	5. जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लिया गया है तो उसे अनुमति देने या विधारित करने की घोषणा केवल राष्ट्रपति ही कर सकता है। विधेयक को अनुमति के लिए आरक्षित करने के पश्चात राज्यपाल की शक्ति समाप्त हो जाती है। यदि विधेयक लौटा दिया जाता है और पुन: विधेयक को पारित किया जाता है तो उसे पुन: राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रस्तुत करना होगा। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह अनुमति दे या न दे।

राष्ट्रपति के लिए अन्य विकल्प

राष्ट्रपति के पास विधेयक को अनुमति देने या निर्धारित करने के अतिरिक्त एक और विकल्प है- वह उच्चतम न्यायालय की राय जानने के लिए अनुच्छेद-143 के अधीन न्यायालय को निर्दिष्ट कर सकता है। केरल शिक्षा विधेयक को इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया था। जब न्यायालय ने विधेयक पर अपनी राय दी, तब विधेयक आवश्यक परिवर्तन करने के लिए राज्य को लौटाया गया, जिससे कि वह अंश सुधारे जा सकें, जो असंवैधानिक हैं। इसी प्रकार दिल्ली विधि-अधिनियम-1950 और विशेष न्यायालय विधेयक-1977, अनुच्छेद-143 के अधीन निर्दिष्ट किए गए थे।

राज्य विधानमंडल के विशेषाधिकार

राज्य के विधानमंडल के विशेषाधिकार संघ की संसद के विशेषाधिकार के समान हैं। इनका संवैधानिक उपबंध भी बिल्कुल एक जैसा है (अनुच्छेद-105 और 194। विधानमंडल के विशेषाधिकार का प्रश्न जनता के ध्यान में विशेषकर विधानमंडल की अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति और उसकी बाबत न्यायालय की अधिकारिता के संबंध में आया है। इस प्रश्न के सभी पहलू अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाए हैं, किन्तु उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के अनुसार, निम्नलिखित प्रस्थापनाएँ सूत्रबद्ध की जा सकती हैं-

- विधानमंडल के प्रत्येक सदन को ऐसे विशेषाधिकारों को भंग करने के लिए या अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति है।
- प्रत्येक सदन इस प्रश्न का एकमात्र निर्णायक है कि, उसके क्या विशेषाधिकार हैं और क्या किसी विशिष्ट मामलों में उनका उल्लंघन हुआ है तथा न्यायालयों को इस बात पर सदन के विनिश्चय में हस्तक्षेप करने की अधिकारिता नहीं होगी।

न्यायालय अवमानना के लिए किसी कार्यवाही में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा, जब तक विधानमंडल या उसके द्वारा प्राधिकृत कोई अधिकारी किसी ऐसे विशेषाधिकार का दावा न कर रहा हो, जो संसदीय विधि को अज्ञात है, या निकाली गई सूचना या की गई कार्यवाही अधिकारिता के बिना हो।

- विधानमंडल के किसी सदन को यह शक्ति नहीं है कि वह कोई ऐसा नया विशेषाधिकार सृजित कर ले जो विधि को अज्ञात है और न्यायालयों को यह अवधारित करने की शक्ति है कि क्या किसी सदन को कोई विशिष्ट विशेषाधिकार है या नहीं।
- उच्च न्यायालय अनुच्छेद-226 के अधीन या उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद-32 के अधीन विधानमंडल के अवमानना के लिए अधिरोपित दंडादेश की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप करते हुए कि वह याची के मूल अधिकार का उल्लंघन करता है। बंदी प्रत्यक्षीकरण के लिए याचिका ग्रहण करने के लिए और याचिका के निपटने तक बंदी को जमानत पर छोड़ने के लिए सक्षम है।
- जब एक बार यह अवधारित हो जाता है कि, विशेषाधिकार विद्यमान है तो सदन ही यह निर्णय करेगा कि उसका कब और किस प्रकार प्रयोग किया जाए। विशेषाधिकार के भंग के समय यदि सदन या उसके अध्यक्ष ने कोई गलत विनिश्चय किया है तो न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

विधानपरिषद की उपयोगिता

विधान परिषद की स्थिति विधानसभा की अपेक्षा कम महत्व की है-

- विधान परिषद की संरचना ही उसे निर्बल बनाती है। विधान परिषद मुख्यत: निर्वाचित और नामनिर्दिष्ट होने के कारण विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करती है।
- इसकी उपस्थिति विधानसभा की इच्छा पर निर्भर होती है, क्योंकि विधानसभा को यह शक्ति है कि वह संसद के अधिनियम द्वारा द्वितीय सदन के उत्सादन के लिए संकल्प पारित कर सकती है।
- मंत्रिपरिषद केवल विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।
- विधान परिषद धन विधेयक को न तो अस्वीकार कर सकती है और न ही

उसमें कोई संशोधन कर सकती है। वह उस विधेयक को **14 दिन** की अवधि तक के लिए रोक सकती है या उसमें संशोधनों की सिफारिश कर सकती है।

- विधान के संबंध में भी विधान परिषद की स्थिति विधानसभा के नीचे है। वह विधानसभा में प्रारंभ होने वाले विधेयक के पारित होने में अधिक से अधिक **चार माह** का विलंब (दो यात्राओं में) कर सकती है और असहमति की दशा में विधानसभा की ही बात मानी जाएगी।
- परिषद में प्रारंभ होने वाले विधेयक की दशा में विधानसभा को यह शक्ति है कि, वह उस विधेयक को अस्वीकार करके उसे तुरंत समाप्त कर दे।

स्पष्ट है कि, राज्य में द्वितीय सदन केवल विलम्बकारी शक्ति रखता है। यह संघ की संसद के द्वितीय सदन में समान पुनरीक्षण करने वाला निकाय नहीं है, जो अपनी विसम्मति द्वारा गतिरोध उत्पन्न करके धन विधेयक से भिन्न विधेयकों की दशा में विधेयक के पारित होने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक करना अनिवार्य कर दे। यह सब होते हुए भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन और विशेष ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के नाम-निर्देशन से विधान परिषद की संरचना होने के कारण परिषद से अधिक मेधावी व्यक्ति होते हैं और अपनी विलंबकारी शक्ति से भी वह जल्दी में विधान बनाने की प्रवृत्ति पर रोक लगाती है, जिससे विधेयकों की कमियां या दोष सामने आ जाते हैं। विधान परिषद एक स्थायी सदन होता है और राज्यपाल इसको भंग नहीं कर सकता है। संविधान के **अनुच्छेद-172** के अनुसार, विधान परिषद का चुनाव एक ही समय नहीं होता, बल्कि हर दो **वर्ष** पश्चात इसके एक-तिहाई सदस्य (1/3) अवकाश ग्रहण करते हैं और उनके स्थान पर नये सदस्य चुन लिए जाते हैं। अत: विधान परिषद का हर सदस्य **छ: साल** तक अपने पद पर आसीन रहता है।

मंत्रिमंडलीय समितियाँ

- ***गठन***- मंत्रिमंडल, विभिन्न समितियों के माध्यम से कार्य करती है। इन समितियों का गठन आवश्यकतानुसार मुख्यमंत्री द्वारा किया जाता है।
- ***संख्या***- इनकी संख्या निर्धारित नहीं है और आवश्यकतानुसार नई समितियों का गठन अथवा विद्यमान समितियों का पुनर्गठन मुख्यमंत्री द्वारा किया जा सकता है।
- ***मंत्रिमंडलीय समितियों में सदस्य संख्या***- मंत्रिमंडलीय समितियों में सदस्य की संख्या परिस्थितियाँ और समयानुसार अलग-अलग होती हैं, जिसका निर्धारण मुख्यमंत्री करता है।

मंत्रिमंडलीय समितियों के प्रकार

मंत्रिमंडलीय समितियाँ दो तरह की होती हैं-

1. ***स्थायी समिति***- ये समितियाँ स्थायी रूप से कार्य करती हैं।
2. ***तदर्थ समिति***- ये समितियाँ अस्थायी होती हैं और आवश्यकतानुसार मुख्यमंत्री द्वारा इनका गठन किया जाता है एवं प्रयोजन की समाप्ति के बाद उनका विघटन कर दिया जाता है।

मंत्रिमंडलीय समितियों का कार्य

मंत्रिमंडलीय समितियों के निम्न कार्य हैं-

- मंत्रिमंडल के विचार के लिए प्रस्ताव बनाना।
- प्रस्तावित एवं विचाराधीन मुद्दों का हल तलाशना।
- संबंधित समस्याओं पर निर्णय लेना, जिसकी समीक्षा मंत्रिमंडल कर सकती है।
- मंत्रिमंडल के कार्य की अधिकता को कम करना।
- नीतिगत मुद्दों का गहन अध्ययन करना।
- प्रभावकारी समन्वय करना।

जम्मू एवं कश्मीर
(Jammu & Kashmir)

परिचय

जम्मू-कश्मीर यद्यपि भारत का एक अभिन्न अंग है तथापि स्वतंत्रता के पश्चात कुछ राजनैतिक और परिस्थितिजन्य कारणों से इसे भारतीय संघ में एक विशेष राज्य का दर्जा दिया गया था। इस राज्य के संदर्भ में संसद की विधि निर्माण की शक्ति सीमित थी। संसद जम्मू-कश्मीर के विषय में संघ सूची व समवर्ती सूची के उन्हीं विषयों पर विधि का निर्माण कर सकती थी, जिस पर राष्ट्रपति इस राज्य की सरकार से परामर्श करके उन विषयों के समान विषय के रूप में घोषित कर दे, जो स्वतंत्रता के समय भारत डोमिनियन में जम्मू-कश्मीर के अधिमिलन को शासित करने वाले अधिमिलन पत्र में उन विषयों के रूप में निर्दिष्ट थे, जिन पर डोमिनियन व्यवस्थापिका इस राज्य के लिए विधान बना सकती थी। संसद इस राज्य के संदर्भ में अन्य विषयों पर तभी कानून बना सकती थी, जब राष्ट्रपति, जम्मू- कश्मीर राज्य की सरकार की सहमति से इस विषय पर आदेश विनिर्दिष्ट करें।

यद्यपि संविधान के अनुच्छेद-1 के समस्त उपबन्ध जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू होते हैं तथापि भारतीय संविधान के मूल प्रारूप में **अनुच्छेद-370** द्वारा इसे प्राप्त विशेष संवैधानिक दर्जा वर्तमान में अस्तित्व में नहीं है। वर्तमान में पूर्ण संविधान जम्मू एवं कश्मीर पर लागू होता है।

भारत में विलय

यह समझने के लिए कि, क्यों जम्मू-कश्मीर राज्य भारत के संविधान की पहली अनुसूची में सम्मिलित राज्य होते हुए भी इस प्रकार अलग रखा गया था। उस राज्य से भारत के संवैधानिक संबंधों के विकास का अवलोकन करना आवश्यक हो जाता है। ब्रिटिश शासन में जम्मू-कश्मीर राज्य एक देशी रियासत थी, जिस पर शासन एक आनुवांशिक महाराजा हरि सिंह कर रहे थे। 26अक्टूबर, 1947 को, पाकिस्तान की सहायता से कबायली आक्रमणकारियों की सेनाओं ने उस राज्य पर आक्रमण किया। तब महाराजा हरि सिंह को अन्य देशी रियासतों के शासकों द्वारा निष्पादित अंगीकार पत्र के समान अंगीकार पत्र निष्पादित करके भारत से सहायता माँगनी पड़ी थी। इसे अंगीकार किए जाने से भारत को उस रियासत पर प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और संचार की अधिकारिता प्राप्त हो गई। अन्य देशी रियासतों की भांति जो संविधान के निर्माण के समय राजनीतिक इकाइयों के रूप में बनी रहीं, जम्मू-कश्मीर राज्य को 1950 में यथा प्रख्यापित भारत के संविधान की पहली अनुसूची में भाग-ख राज्य में सम्मिलित किया गया।

अंगीकार करने के परिणाम

भारत की उदारता को कुछ लोगों ने गलत समझा है और उसका गलत अर्थ लगाया। उन्होंने भारत में इस राज्य के विलय के विधिक परिणामों पर ध्यान नहीं दिया। अतएव हमें उन विधिक परिणामों को स्पष्ट करना चाहिए, जिससे उस विलय के तथ्य पर भ्रम फैलाने वाली राजनीतिक घटनाओं के कारण वे ओझल न हो जाएँ। ध्यान देने योग्य बात यह है कि, महाराजा हरि सिंह द्वारा 26अक्टूबर, 1947 को हस्ताक्षरित अंगीकार पत्र उसी प्रारूप में था, जिसमें अन्य रियासतों के शासकों ने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अधिनियमित होने के पश्चात भारत में विलय के लिए निष्पादित किया था। जम्मू-कश्मीर राज्य के शासक द्व ारा अंगीकार पत्र के निष्पादन के विधिक परिणाम अन्य देशी रियासतों की दशा में उसी तथ्य से उत्पन्न होने वाले परिणामों से भिन्न नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 की धारा-7(1)(ख) के अधीन सर्वोच्चता के व्यपगत हो जाने के कारण देशी रियासतों को आत्यंतिक प्रभुता प्राप्त हो गई थी। उन्हें यह स्थिति ब्रिटिश सम्राट द्वारा प्रभुता ग्रहण करने के पहले भी थी। देशी रियासतों के शासक इस बात के लिए सहमत हो गए थे कि वे अपनी प्रभुता का प्रयोग करते हुए नवनिर्मित भारत में या पाकिस्तान की डोमिनियन में अपना विलय कर दें। जिन रियासतों ने पाकिस्तान में या भारत में विलय किया उनकी दशा में अंगीकार पत्र और उसके विधिक आधार एक से थे। इसलिए इस बारे में कोई संदेह नहीं कि विलय के कार्य के द्वारा जम्मू-कश्मीर राज्य भारत के राज्यक्षेत्र का विधिक रूप से और अप्रतिसंहरणीय रूप से अंग हो गया और भारत सरकार अंगीकार पत्र में लिखित विषयों की बाबत राज्य की अधिकारिता का प्रयोग करने की हकदार हो गई। यदि इसके होते हुए भी भारत सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि भारत होगा तो कोई तीसरा पक्षकार किसी भी परिस्थिति में इस विधि बाध्य आश्वासन का लाभ उठाकर यह दावा नहीं कर सकता कि विधिक कार्य को पूरा नहीं किया जाना चाहिए।

जम्मू-कश्मीर का संविधान

जम्मू-कश्मीर के संविधान को 17 नवंबर, 1956 को अंतिम रूप से स्वीकार किया गया तथा इसे 26 जनवरी, 1957 को कानूनी रूप से लागू कर दिया गया। यह संविधान जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत का अविभाज्य अंग घोषित करता था। इस राज्य का राज्यक्षेत्र उन सभी प्रदेशों से मिलकर बनता था, जो 15 अगस्त, 1947 को उस रियासत के शासन के अधीन था।

जम्मू-कश्मीर राज्य की कार्यपालिका के प्रधान को 'सदर-ए-रियासत' कहा जाता था और वह राज्य की विधानसभा द्वारा निर्वाचित होता था। इस विषमता को जम्मू-कश्मीर के संविधान (छठा संविधान संशोधन अधिनियम, 1956 द्वारा हटा दिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका प्रधान का नाम **सदर-ए- रियासत** के स्थान पर **राज्यपाल** हो गया है और वह अन्य राज्यों की भांति राष्ट्रपति की अपनी मुद्रा एवं हस्ताक्षर द्वारा नियुक्त होता था।

भारत के संविधान में जम्मू-कश्मीर की स्थिति

जम्मू-कश्मीर को भारतीय संघ के भाग-ख राज्य में सम्मिलित किया गया, किंतु भाग-ख राज्यों में लागू संविधान के सभी उपबंध जम्मू-कश्मीर राज्य पर विस्तारित नहीं किए गए। यह अनोखी स्थिति इस तथ्य के कारण थी कि, उस राज्य के भारत में विलय के समय की परिस्थितियों को देखते हुए भारत सरकार ने यह घोषित किया कि, जम्मू-कश्मीर राज्य के लोग अपनी संविधान सभा के माध्यम से कार्य करते हुए यह अंतिम रूप से अवधारित करेंगे कि राज्य का संविधान क्या होगा और भारत-संघ की अधिकारिता क्या होगी। तदनुसार उस राज्य के बारे में संविधान के उपबंधों का लागू होना एक अंतिम व्यवस्था के रूप में था (यह बात सारवान रूप में भारत के संविधान के अनुच्छेद-370 में उपबंधित की गई थी)।

अनुच्छेद-370

भारतीय संविधान में **अनुच्छेद-370** के अंतर्गत, जम्मू-कश्मीर को एक विशेष राज्य का दर्जा प्रदान किया गया था, जो विलय के समय की विशेष परिस्थितियों और ऐतिहासिक कारणों का परिणाम था। भारतीय संविधान ने जम्मू-कश्मीर राज्य को विशेष राज्य का दर्जा दिया हुआ था और इसकी विस्तृत व्याख्या संविधान के अनुच्छेद-370 और **'इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेसन'** में की गई थी। अनुच्छेद-370 के अनुसार, भारतीय संसद जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए संघ

सूची तथा समवर्ती सूची में अंकित उन संबंधित विषयों पर ही कानून बना सकती थी, जो कि 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेसन' में उल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों पर उस राज्य की सहमति से राष्ट्रपति द्वारा जारी आदेश से ही कानून बनाना संभव था।

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-370 (3)** के अनुसार, राष्ट्रपति आम विज्ञप्ति के द्वारा इस अनुच्छेद-370 को समाप्त कर सकते थे। परन्तु यह तभी संभव है, जब जम्मू-कश्मीर राज्य की संविधान सभा राष्ट्रपति को ऐसा करने की सलाह दे। हाल के वर्षों में विभिन्न, राजनीतिक दलों के द्वारा अनुच्छेद-370 को समाप्त करने की माँग जोर पकड़ रही थी। संवैधानिक तौर पर, जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा **1954** में ही विलय को अपना अनुमोदन दे चुकी थी, इसीलिए भारतीय संविधान के संघ सूची में अंकित विषयों का कार्यक्षेत्र जम्मू-कश्मीर राज्य पर भी लागू होता है, जो पहले केवल प्रतिरक्षा, विदेश तथा संचार, जैसे तीन महत्वपूर्ण विषयों तक ही सीमित था।

भारतीय संविधान के वे अनुच्छेद हैं, जो इस राज्य पर स्वत: ही लागू हो जाते हैं- भारतीय संविधान में यह उपबन्ध किया गया था कि, अनुच्छेद-1 और 370 स्वत: जम्मू-कश्मीर पर लागू होंगे। जबकि संविधान के अन्य उपबन्धों को जम्मू-कश्मीर में लागू होने का एक प्रायोगिक आधार प्रदान किया गया है तथा इसे इस राज्य के संविधान सभा के अन्तिम अनुमोदन के अधीन रखा गया था।

जम्मू-कश्मीर स्वायत्तता विधेयक

एक ऐतिहासिक घटनाक्रम में जम्मू- कश्मीर विधानसभा ने राज्य स्वायत्तता समिति की सिफारिशों (26 जून, 2000) को ध्वनि मत से स्वीकार कर लिया। अपनी रिपोर्ट में समिति ने राज्य को और ज्यादा स्वायत्तता देने की सिफारिश की, जो निम्न प्रकार है-

- संविधान के **अनुच्छेद-370** में उल्लिखित शब्द 'अस्थायी' के स्थान पर 'स्थायी' शब्द रखा जाए।
- केंद्र के पास केवल प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, संचार एवं सहायक विषयों पर ही कानून बनाने का अधिकार हो।
- **अनुच्छेद-356** को जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं किया जाए।
- भारत के निर्वाचन आयोग की राज्य में कोई भूमिका न हो।
- बाह्य आक्रमण या आंतरिक आपातकाल के संदर्भ में जम्मू-कश्मीर विधानसभा का निर्णय ही अंतिम निर्णय होगा।
- जम्मू-कश्मीर में अखिल भारतीय सेवाओं (आई.ए.एस, आई.पी.एस और आई.एफ.एस) का कोई स्थान न हो।
- राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री को क्रमश: सदर-ए-रियासत एवं वजीर-ए-आजम कहा जाए।
- जम्मू-कश्मीर के लिए मूल अधिकारों का एक अलग अध्याय हो।
- जम्मू-कश्मीर पर संसद एवं राष्ट्रपति की भूमिका को अत्यंत संक्षिप्त किया जाए।
- उच्चतम न्यायालय में राज्य संबंधी कोई विशेष सुनवाई न हो।
- अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़े वर्ग के लिये कोई विशेष प्रावधान न हो।
- अंतरराज्यीय नदियों एवं नदी घाटियों के संबंध में केंद्र के न्याय निर्णयन अधिकार राज्य पर न हो।
- राज्य के उच्च न्यायालय के दीवानी एवं फौजदारी मुकदमों के निर्णय के विरूद्ध, उच्चतम न्यायालय को सुनवाई करने का अधिकार न हो।
- संसद को जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान और प्रक्रिया में संशोधन का अधिकार नहीं होना चाहिए।

14 जुलाई, 2000 को केंद्रीय मंत्रिमंडल ने, 26 जून के जम्मू- कश्मीर राज्य स्वायत्तता प्रस्ताव की सिफारिशों को नामंजूर कर दिया। लेकिन इस अवसर पर उसने राज्य को और अधिक स्वायत्तता दिए जाने का आश्वासन अवश्य दिया। मंत्रिमंडल ने कहा कि, इस समिति की सिफारिशों को इसलिए स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि यह राज्य में 1953 से पहले की स्थिति को वापस स्थापित करना चाहता था।

मंत्रिमंडल ने एकमत से कहा कि, इस प्रस्ताव को आंशिक या पूर्ण किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह राज्य के लोगों की सहिष्णुता एवं देश की एकता एवं अखंडता के सिद्धांत के बिल्कुल विपरीत है।

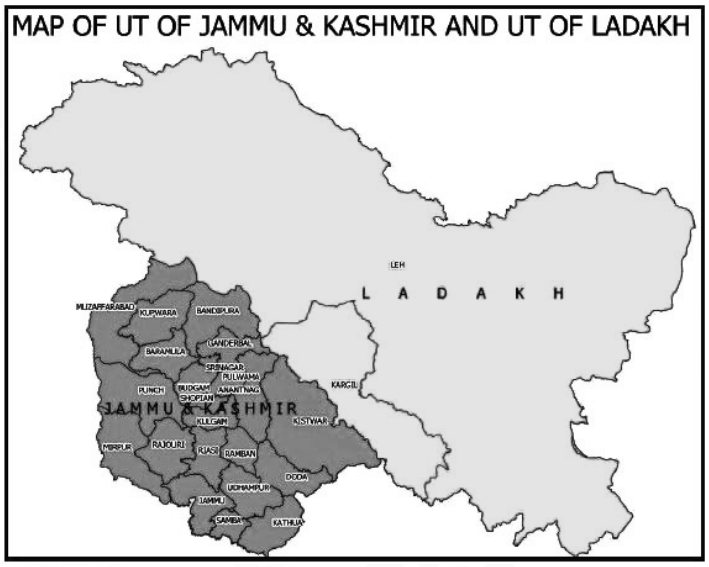

जम्मू-कश्मीर राज्य के लोगों एवं राज्य सरकार के मामले में मंत्रिमंडल का मानना था कि राज्य के लोगों को देश की मुख्य धारा से जुड़ना चाहिए तथा देश की समस्याओं के समाधान में मिलकर प्रयास करना चाहिए। इस समय देश में सीमापार से आतंकवाद एवं उग्रवाद की समस्याएँ काफी चुनौती प्रस्तुत कर रही हैं तथा देश के सभी लोगों को मिलकर इसका मुकाबला करना चाहिए।

राज्य के संविधान संशोधन की प्रक्रिया

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद-368** के उपबंध जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होते थे। जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान के उपबंध (जम्मू-कश्मीर तथा भारत के बीच संबंधों से संबंधित उपबंधों को छोड़कर) राज्य की विधानसभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पारित करके संशोधित किए जा सकते थे, परंतु ऐसे संशोधन, जिससे राज्यपाल या निर्वाचन आयुक्त की शक्तियों पर प्रभाव पड़ता हो तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता होती थी।

संविधान के **अनुच्छेद-370 (1)** के अंतर्गत राष्ट्रपति के आदेश के द्वारा भारत के संविधान संशोधन को जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू किया जा सकता था।

अनुच्छेद-370 की समाप्ति के लिए प्रावधान

- **अनुच्छेद-370** के खंड (3) में यह व्यवस्था की गई है कि इस अनुच्छेद के पूर्व में वर्णित उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति लोक अधिसूचना द्वारा घोषणा कर सकेगा कि **अनुच्छेद-370** प्रवर्तन में नहीं रहेगा या ऐसे अपवादों और उपांतरणों सहित ही और ऐसी तारीख से, प्रवर्तन में रहेगा, जो विनिर्दिष्ट करे।
- परंतु राष्ट्रपति द्वारा ऐसे अधिसूचना निकाले जाने से पहले खंड (3) में निर्दिष्ट उस राज्य की संविधान सभा की सिफारिश आवश्यक होगी।

जम्मू एवं कश्मीर और लद्दाख संघ राज्य क्षेत्र में नई व्यवस्था

संसद की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 को प्रभावी तौर से निराकरित करने और जम्मू और कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 जारी करने के उपरांत भूतपूर्व जम्मू और कश्मीर राज्य, 31 अक्टूबर 2019 को, नए जम्मू कश्मीर संघ राज्य क्षेत्र तथा नए लद्दाख संघ राज्य क्षेत्र के रूप में पुनर्गठित हो गया है।

नए लद्दाख संघ राज्य क्षेत्र में कारगिल तथा लेह - दो जिले हैं और भूतपूर्व जम्मू एवं कश्मीर राज्य का बाकी हिस्सा नए जम्मू एवं कश्मीर राज्य संघ क्षेत्र में है।

1947 में भूतपूर्व जम्मू-कश्मीर राज्य में निम्न 14 जिले थे-कठुआ, जम्मू, ऊधमपुर, रियासी, अनंतनाग, बारामूला, पुँछ, मीरपुर, मुजफ्फराबाद, लेह और लद्दाख, गिलगित, गिलगित वजारत, चिल्हास और ट्राइबल टेरिटॉरी।

2019 तक भूतपूर्व जम्मू और कश्मीर की राज्य सरकार ने इन 14 जिलों के क्षेत्रों को पुनर्गठित करके 28 जिले बना दिए थे। नए जिलों के नाम निम्न प्रकार से हैं - कुपवारा, बान्दीपुर, गंडेरबल, श्रीनगर, बड़गाम, पुलवामा, शूपियान, कुलगाम, राजौरी, रामबन, डोडा, किश्तजवार, साम्बा और कारगिल। इनमें से कारगिल जिले को लेह और लद्दाख़ जिले के क्षेत्र में से अलग करके बनाया गया था।

राष्ट्रपति ने जम्मू और कश्मीर पुनर्गठन (कठिनाइयों को हटाना) दूसरे आदेश, 2019 द्वारा नए लद्दाख़ संघ राज्य क्षेत्र के लेह जिले को, कारगिल जिला बनने के बाद, 1947 के लेह और लद्दाख़ जिले के बाकी क्षेत्र में 1947 के गिलगित, गिलगित वजारत, चिल्हास और ट्राइबल टेरिटॉरी जिलों के क्षेत्रों को समावेशित करते हुए परिभाषित किया है।

संघ एवं जम्मू कश्मीर राज्य के बीच संबंध

- ***संसद का अधिकार***- जम्मू-कश्मीर राज्य का अपना एक अलग संविधान था, जो कि उस राज्य की संविधान सभा द्वारा बनाया गया था। भले ही केंद्र सरकार समवर्ती सूची में से कुछ विषयों पर ही कानून बना सकती थी, जिसका उल्लेख **'इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेसन'** में किया गया था, परन्तु यह अधिकार अत्यंत सीमित था। **1986** में एक संवैधानिक आदेश द्वारा **अनुच्छेद-249** को जम्मू- कश्मीर राज्य पर भी लागू कर दिया गया था, जिसमें राष्ट्रीय हित से संबंधित विषयों पर राज्यसभा के संकल्प द्वारा संसद को राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। लेकिन संविधान के अनुच्छेद-22(1) के अनुसार, निवारक निरोध से संबंधित विधान बनाने की शक्तियाँ संसद के स्थान पर जम्मू-कश्मीर विधानमंडल को दी गई थी अर्थात संसद द्वारा बनाई गई निवारक निरोध की विधि का अधिकार-क्षेत्र जम्मू-कश्मीर पर लागू नहीं होता था। साथ ही अवशिष्ट शक्तियों पर कानून निर्माण की शक्ति राज्य विधानमण्डल को प्राप्त थी।
- ***राज्य की स्वायत्तता***- जम्मू-कश्मीर को अपने राज्य कार्यों के सम्बन्ध में काफी स्वायत्तता मिली हुई थी और भारतीय संसद निम्न विषय पर बिना राज्य के विधानमंडल की सहमति के कानून नहीं बना सकता था-
  - संसद **अनुच्छेद-3** के अंतर्गत, राज्य के नाम या राज्यक्षेत्र परिवर्तन नहीं कर सकती थी।
  - **अनुच्छेद-253** के अंतर्गत, राज्य के राज्यक्षेत्र के किसी भाग को प्रभावित करने वाली कोई अंतर्राष्ट्रीय संधि संसद लागू नहीं कर सकती थी।

इसी प्रकार, जम्मू-कश्मीर राज्य को कुछ विशेषाधिकार दिए गए हैं, जो कि भारत के अन्य राज्यों को प्राप्त नहीं था-

- संविधान के **अनुच्छेद-352** के अंतर्गत, राष्ट्रपति द्वारा आंतरिक अशांति के आधार पर आपातकाल की घोषणा जम्मू-कश्मीर राज्य सरकार की सहमति के बिना नहीं की जा सकती थी।
- भारत सरकार, राज्य सरकार की सहमति के बिना राज्य को प्रभावित करने वाला कोई निर्णय नहीं ले सकती थी।
- संविधान के **अनुच्छेद-365** के अंतर्गत, केंद्र सरकार अपने आदेशों के पालन न होने की जिम्मेदारी के आधार पर राज्य के संविधान को निलंबित नहीं कर सकती थी।
- संवैधानिक तंत्र के निलंबन से सम्बन्धित अनुच्छेद-356 -357 को संशोधन आदेश, 1964 के द्वारा जम्मू-कश्मीर राज्य तक विस्तृत किया गया था; किंतु यहाँ **'विफलता'** का अर्थ जम्मू-कश्मीर के संविधान द्वारा स्थापित संवैधानिक तंत्र की विफलता के रूप में समझा जाएगा न कि भारत के संविधान के भाग-IV के अधीन स्थापित तंत्र की।
- संविधान के **अनुच्छेद-360** के अधीन केंद्र सरकार जम्मू-कश्मीर राज्य में वित्तीय आपातकाल की घोषणा नहीं कर सकती थी।

इसके साथ ही अन्य राज्यों की अपेक्षा जम्मू-कश्मीर को अन्य प्रकार के विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। नौकरी, सम्पत्ति और निवास संबंधी मूल अधिकार राज्य के स्थायी निवासियों को ही प्राप्त था। सम्पत्ति का अधिकार यहाँ के नागरिकों के लिए मूल अधिकार के रूप में बना हुआ था। संविधान के भाग-4 में उल्लेखित नीति निदेशक तत्वों से सम्बन्धित उपबंध इस राज्य में लागू नहीं होते थे।

इसके अलावा जम्मू-कश्मीर का अपना अलग संविधान इसे अन्य राज्यों से अलग श्रेणी में रखता था। **अनुच्छेद-368** के संविधान संशोधन के उपबंध भी जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होते थे।

यद्यपि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, निर्वाचन आयोग और सर्वोच्च न्यायालय की विशेष अनुमति के अधिकार क्षेत्र को जम्मू कश्मीर राज्य पर भी विस्तृत कर दिया गया था तथापि यह कहा जा सकता है कि जम्मू-कश्मीर को एक विशिष्ट राज्य के रूप में अन्य राज्यों से अधिक स्वायत्तता दी गई थी।

कार्यपालिका (Executive)

भारत के अन्य राज्यों की भाँति ही जम्मू-कश्मीर राज्य की कार्यपालिका शक्ति भी राज्यपाल में निहित थी। **राज्यपाल** की नियुक्ति **राष्ट्रपति** द्वारा की जाती थी तथा उसका कार्यकाल **5 वर्ष** का होता है। राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होती है, जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता था। मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति कार्य करता था और मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती था। उल्लेखनीय है कि **1965** के **पूर्व जम्मू-कश्मीर** राज्य के कार्यपालिका प्रधान को **'सदर-ए-रियासत'** कहा जाता था, तथा उनकी नियुक्ति जम्मू-कश्मीर विधानसभा द्व ारा किया जाता था, किन्तु जम्मू-कश्मीर के संविधान के छठे संशोधन अधिनियम, 1956 द्वारा 'सदर-ए-रियासत' पदनाम को परिवर्तित कर **राज्यपाल** कर दिया गया, तथा उसकी नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया।

विधानमंडल (Legislature)

जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए द्विसदनीय विधानमण्डल यथा-'विधानसभा एवं विधानपरिषद' का प्रावधान किया गया था। प्रारम्भ में जम्मू-कश्मीर विधानसभा के लिए कुल 100 सीटों का प्रावधान किया गया था, जिसे 1988 में (जम्मू-कश्मीर के संविधान के 12वें संशोधन द्वारा) बढ़ाकर 111 कर दिया गया। इसमें 24 सीटें पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर (POK) के लिए थी। अत: जम्मू-कश्मीर विधानसभा की कुल सीटों की संख्या 87 थी, जिन्हें राज्य के विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से **प्रत्यक्ष मतदान** द्वारा भरा जाता था। उल्लेखनीय है कि, राज्य का राज्यपाल, विधानसभा में दो महिला सदस्यों को मनोनीत (Nominate) करते थे। जम्मू-कश्मीर विधानसभा का कार्यकाल 6 वर्ष का होता था। राज्य में चुनाव का उत्तरदायित्व भारत के चुनाव आयोग पर है।

विधानपरिषद की कुल सदस्य **संख्या 36** था, जिनमें 11 सदस्यों का चुनाव विधानसभा के सदस्यों द्वारा, ऐसे व्यक्तियों में से किया जाता था, जो जम्मू-कश्मीर राज्य के निवासी हैं। इन 11 सदस्यों में से कम-से-कम एक सदस्य **लद्दाख का** और एक सदस्य कारगिल क्षेत्र का होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त अन्य 11 सदस्यों का चुनाव भी विधानसभा के सदस्यों द्वारा ही किया जाता था, किन्तु ये जम्मू क्षेत्र के होते थे। शेष 14 सदस्य स्थानीय निकायों द्वारा चुने जाते थे। वर्तमान में जम्मू एवं कश्मीर केन्द्रशासित प्रदेश में विधान परिषद का अस्तित्व समाप्त कर दिया गया है।

उच्च न्यायालय (High Court)

जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय के गठन का भी प्रावधान किया गया था, जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो या दो से अधिक अन्य न्यायाधीश हो सकते हैं। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके की जाती है तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति उक्त दोनों के साथ-साथ उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करके करते हैं। वर्तमान में यह उच्च न्यायालय जम्मू एवं कश्मीर और लद्दाख केंद्रशासित प्रदेश दोनों के उच्च न्यायालय के रूप में कार्य करता है।

राजभाषा

राज्य की राजभाषा उर्दू है, किन्तु जब तक विधानमण्डल विधि द्वारा अन्यथा प्रावधान न करें, तब तक राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए **अंग्रेजी** का प्रयोग किया जा सकता है। हाल ही में कानून बनाकर इस केंद्रशासित प्रदेश में कश्मीरी, डोगरी तथा हिन्दी को भी राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया है।

लोक सेवा आयोग

राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग है। इसके अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल करता था।

राज्य का स्थायी निवासी (Permanent Resident of State)

भारत के अन्य राज्यों के विपरीत यहाँ दोहरी नागरिकता का प्रावधान था। एक नागरिकता वहाँ के स्थायी निवासियों के लिए था जो व्यक्ति भारत का नागरिक है, उसे राज्य का स्थायी निवासी समझा जाएगा, यदि वह **14 मई, 1954** को राज्य का प्रजा था या राज्य में अचल सम्पत्ति अर्जित करके **14 मई, 1954** से कम से कम दस वर्ष पूर्व तक राज्य का सामान्य निवासी रहा हो। जबकि पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के लिए दूसरी नागरिकता है। ये शरणार्थी भारत के नागरिक तो हैं, लेकिन ये जम्मू-कश्मीर के निवासी नहीं समझे जाते थे। केन्द्र सरकार ने आवश्यक संशोधन करके जम्मू-कश्मीर राज्य में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों को वहाँ का स्थायी अधिवास प्रदान करने का प्रावधान किया है।

अनुच्छेद-35A

संविधान के अनुच्छेद-370 (1) (D) के तहत जारी राष्ट्रपति के आदेश द्वारा 1954 में अनुच्छेद-35(1) को संविधान में शामिल किया गया था।

संविधान का अनुच्छेद-35(A) राज्य के ''स्थायी निवासियों'' और उनके विशेष अधिकारों को परिभाषित करने के लिए जम्मू-कश्मीर विधानमंडल को शक्ति प्रदान करता था। साथ ही इस शक्ति को समानता का अधिकार या संविधान के अंतर्गत प्रदत्त किसी अन्य अधिकार के उल्लंघन के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी।

इसी अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1956 के जम्मू-कश्मीर के संविधान में 'स्थायी निवासी' को परिभाषित करते हुए यह कहा गया कि वे लोग जो 14 मई, 1954 को राज्य का हिस्सा थे या फिर पिछले 10 वर्षों से राज्य में रह रहे थे और कानूनी रूप से राज्य में अचल संपत्ति का मालिक है, जम्मू-कश्मीर राज्य के स्थायी निवासी माने जाएंगे।

अनुच्छेद-35A जम्मू-कश्मीर के संविधान के कुछ प्रावधानों को संरक्षण प्रदान करता था, जिसके तहत राज्य के बाहर विवाह करने वाली महिलाओं को संपत्ति के अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था। इन अधिकारों से उनके बच्चे भी वंचित रहेंगे।

हालांकि, ये विशेष अधिकार और सुविधाएँ केवल निम्नलिखित चार श्रेणियों में प्रदान किए जा सकते थे-

1. राज्य सरकार के अंतर्गत रोजगार।
2. राज्य में अचल संपत्ति का अधिग्रहण।
3. राज्य में निवास।
4. छात्रवृत्ति और राज्य-सरकार द्वारा प्रदत्त इसी प्रकार की अन्य सहायता का अधिकार।

अनुच्छेद- 35A के तहत, बने कानूनों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि वे अन्य भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकारों को प्रभावित करते थे या समानता के अधिकार का उल्लंघन करते थे।

कानून में परिवर्तन- जम्मू-कश्मीर की विधानसभा को यह शक्ति प्राप्त थी कि, वह दो-तिहाई बहुमत के साथ 'स्थायी निवासी' उपरोक्त परिभाषा में संशोधन कर सके।

संविधान का विस्तार- अनुच्छेद- 370(1) के तहत् राष्ट्रपति को जम्मू-कश्मीर राज्य पर संविधान के किसी भी प्रावधान का विस्तार करने के लिए इस तरह के 'अपवाद और संशोधन' के साथ शक्ति प्रदत्त थी, जिसे वह राज्य सरकार से परामर्श या सहमति के आधार पर उचित समझें।

पक्षपातपूर्ण- इसे महिलाओं के प्रति भी पक्षपातपूर्ण माना गया था। 24 सितंबर, 2004 से पहले राज्य के वाणिज्य विभाग द्वारा जम्मू-कश्मीर की महिलाओं को जो 'स्थायी निवास प्रमाण पत्र' (PRC) जारी किया जाता था, उसमें यह लिखा होता था कि उनकी यह स्थिति 'शादी होने तक' (Valid Till Marriage) ही मान्य है, जिसका अर्थ था कि अगर वो/वह महिला किसी गैर-स्थायी निवासी से शादी कर लेती हैं तो वे/वह स्थायी निवासी वाले अपने सारे अधिकार खो देंगी। जबकि मूल कानून में ऐसे किसी भी विभेद की बात नहीं की गई थी।

अनुच्छेद-35A को समाप्त क्यों किया गया

यह अनुच्छेद भारतीय नागरिकों के मूलभूत अधिकारों को सीमित करता था।

अनुच्छेद-35A के संविधान में समाविष्टि की प्रक्रिया ही पूर्णत: असंवैधानिक था।

राज्य को 'स्थायी निवासी' की पहचान करने संबंधी पूर्ण अधिकार दे देने से कश्मीर के अनेक वर्गों को भेदभाव का सामना करना पड़ रहा था, जिनमें गोरखा, सिक्ख और सफाई कर्मचारी का एक बड़ा वर्ग भी शामिल था। करीब 1 लाख गोरखा लोग, जो महाराजा रणजीत सिंह के समय से ही कश्मीर में रह रहे हैं, 'स्थायी निवासी प्रमाण पत्र' प्राप्त करने की लड़ाई लड़ रहे थे। इस वजह से वे राज्य की अनेक सुविधाओं से वंचित थे।

अनुच्छेद-35A कश्मीर के नागरिकों को शेष भारत के नागरिकों से विशिष्ट स्थान प्रदान करता था जिससे मानसिक अलगाव का भाव मजबूत होता था।

जम्मू-कश्मीर

5 अगस्त, 2019 को केंद्र सरकार ने जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन बिल लाकर राज्य को दो केंद्र शासित प्रदेशों में बाँट दिया था। यह बिल 30 अक्टूबर से लागू हो गया। इसके तहत जम्मू-कश्मीर में विधानसभा होगी, जबकि लद्दाख बिना विधानसभा या विधान परिषद के केंद्र शासित प्रदेश बना। जम्मू-कश्मीर में 20 और लद्दाख में 2 जिले होंगे। अब केंद्र के 106 कानून भी इन दोनों केंद्र शासित प्रदेशों में लागू हो गए, जबकि राज्य के पुराने 153 कानून खत्म हो गए।

- ***प्रशासन***- संविधान के अनुच्छेद 239ए के तहत, जम्मू-कश्मीर को केंद्र शासित प्रदेश बनाया गया है। यही अनुच्छेद पुदुचेरी पर लागू है। इसके तहत जम्मू-कश्मीर की अपनी विधानसभा होगी। हालांकि, प्रदेश की पुलिस

उपराज्यपाल के अधीन होगी। उपराज्यपाल के जरिए कानून-व्यवस्था का मामला केंद्र सरकार के पास होगा। जबकि, जमीन से जुड़े मामले विधानसभा के पास ही होंगे। वहीं, लद्दाख अनुच्छेद 239 के तहत, केंद्र शासित प्रदेश बना है। इसके तहत लद्दाख की न ही कोई विधानसभा होगी और न ही कोई विधान परिषद। यहाँ उपराज्यपाल ही प्रशासन का प्रधान होगा। उपराज्यपाल की नियुक्ति केंद्र सरकार की सिफारिश पर राष्ट्रपति करते हैं।

- ***विधानसभा की स्थिति***- जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन विधेयक के मुताबिक, चुनाव आयोग और सरकार मिलकर जम्मू-कश्मीर का नए सिरे से परिसीमन करवाएंगे, जिसके बाद यहाँ विधानसभा सीटें बढ़ेंगी। अभी जम्मू-कश्मीर में 83 और लद्दाख में 4 विधानसभा सीट हैं। 24 सीटें पीओके में भी हैं, जिनपर चुनाव नहीं होते हैं। इस तरह से जम्मू-कश्मीर में कुल विधानसभा सीटों की संख्या अभी तक 107 हैं। वहीं, जम्मू-कश्मीर में 5 लोकसभा और लद्दाख में 1 लोकसभा सीट होगी।
- ***न्याय व्यवस्था***- जम्मू-कश्मीर और लद्दाख का एक ही हाईकोर्ट होगा, जिसके न्यायिक क्षेत्र में ये दोनों केंद्र शासित प्रदेश आएंगे। दिल्ली और पुदुचेरी भी केंद्र शासित प्रदेश हैं और दोनों प्रदेशों में विधानसभा हैं, फिर भी दिल्ली का अपना हाईकोर्ट है जबकि, पुदुचेरी के मामले मद्रास हाईकोर्ट के क्षेत्र में आते हैं। हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस, जज, वकील और स्टाफ का खर्चा और सैलरी दोनों प्रदेशों की जनसंख्या के आधार पर वहन होगी।
- ***केंद्रीय कानूनों की स्थिति***- आधार एक्ट, शत्रु संपत्ति एक्ट, हिंदू मैरिज एक्ट और आरटीआई एक्ट जैसे केंद्र के 106 कानून दोनों केन्द्र शासित प्रदेशों में लागू होंगे। इसके अलावा अनुच्छेद 370 की वजह से जम्मू-कश्मीर को मिले विशेष राज्य के दर्जे से यहाँ 153 कानून लागू थे, जो अब खत्म हो जाएंगे। हालांकि, राज्य के 166 कानून अभी भी लागू रहेंगे।

जम्मू-कश्मीर और लद्दाख का विभाजन

जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन एक्ट की धारा-84 और 85 के अनुसार, दोनों राज्यों के बीच परिसंपत्तियों के बँटवारे के लिए केंद्र सरकार ने 3 सदस्यों की एक समिति बनाई है। इस समिति के अध्यक्ष पूर्व रक्षा सचिव संजय मित्रा हैं, जबकि सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी अरुण गोयल और सेवानिवृत्त भारतीय नागरिक लेखा सेवा (आईसीएएस) अधिकारीगिरिराज प्रसाद गुप्ता इसके सदस्य हैं। बिल के मुताबिक, यह समिति 6 महीने के अंदर रिपोर्ट सौंपेगी, जिसके आधार पर संपत्ति और देनदारी का बँटवारा होगा। इस प्रक्रिया में 6 महीने से लेकर 1 साल तक का वक्त लगेगा।

सुप्रीम कोर्ट के अनुसार, मार्च 2017 के आँकड़ों के मुताबिक, जम्मू-कश्मीर के पुराने राज्य में लगभग 82,000 करोड़ रुपए की संपत्ति थी। इसमें लगभग 30,000 करोड़ की पब्लिक अकाउंट संपत्ति शामिल है, जिसमें प्रोविडेंट फंड आदि की राशि और लगभग 35,755 करोड़ रुपए की उधारी शामिल थी। इसके पहले भी देश के कई राज्यों में विभाजन हुआ है, जिसमें बँटवारे का मौलिक सिद्धांत यह होता है कि संपत्तियों के अनुसार ही लोन और कर्ज का भी बँटवारा होता है। संपत्ति के अलावा राज्य सरकार के कर्मचारियों और इंफ्रास्ट्रक्चर का भी बँटवारा होगा। जम्मू-कश्मीर राज्य की 6 बड़ी संपत्तियाँ दिल्ली, अमृतसर, चंडीगढ़ और मुंबई में स्थित हैं, जिनका अब दोनों नई केंद्रशासित प्रदेशों के बीच बँटवारा होगा। संपत्तियों के बँटवारे में लगभग 10,000 सरकारी गाड़ियाँ, पुलिस के शस्त्र और गोला बारूद जैसी चीजें भी शामिल हैं। इनके अलावा पब्लिक सेक्टर अंडरटेकिंग्स विश्वविद्यालय, शैक्षणिक संस्थान तथा अनेक अन्य संस्थाओं का भी दोनों राज्यों के बीच बँटवारा होगा तथा 14वें वित्त आयोग के आधार पर मिलने वाले फंड को दोनों राज्यों की आबादी और अन्य मानकों के आधार पर बाँटा जाएगा।

संबंधित करेंट अफेयर्स

जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन (संशोधन) विधेयक, 2021

राज्यसभा ने जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन (संशोधन) विधेयक, 2021 पारित कर दिया है। यह 2021 के जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन (संशोधन) अध्यादेश की जगह लेगा, जिसमें भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और भारतीय वन सेवा के जम्मू-कश्मीर कैडर को अरुणाचल प्रदेश, गोवा, मिजोरम और केंद्र शासित प्रदेश कैडर (AGMUT Cadre) के साथ मिला दिया था। राष्ट्रपति ने जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 में संशोधन करने के लिए अध्यादेश को लागू किया था।

इस दौरान गृह राज्य मंत्री जी. किशन रेड्डी ने कहा कि पिछले दो वर्षों में जम्मू-कश्मीर में तेजी से विकास हुआ है। उन्होंने कहा, सरकार ने जम्मू-कश्मीर के विकास के लिए क्रांतिकारी और ऐतिहासिक फैसले लिए हैं। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता के बाद पहली बार ब्लॉक डेवलपमेंट काउंसिल के चुनाव आयोजित किए गए, जहाँ 98 प्रतिशत मतदाताओं ने हिस्सा लिया। गाँवों के विकास के लिए, मनरेगा के तहत एक हजार करोड़ प्रदान किए गए।

उन्होंने आगे कहा कि कश्मीर को दिसंबर 2022 तक ट्रेन से जोड़ा जाएगा। दुनिया का सबसे ऊँचा रेल पुल 'चिनाब पुल' इस साल पूरा हो जाएगा। जम्मू-कश्मीर में एलिवेटेड लाइट रेल सिस्टम को चार साल में पूरा किया जाएगा। उन्होंने कहा कि सीमावर्ती गाँवों सहित जम्मू-कश्मीर में 100 प्रतिशत विद्युतीकरण हासिल किया गया है। 2022 तक सभी के लिए पाइप द्वारा पानी प्रदान किया जाएगा।

जम्मू-कश्मीर पंचायती राज अधिनियम, 1989 में संशोधन

21 अक्टूबर, 2020 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता में केंद्रीय मंत्रिमंडल ने जम्मू-कश्मीर पंचायती राज अधिनियम को अपनाने को मंजूरी दी।

पंचायती राज अधिनियम को अपनाने से अब जम्मू-कश्मीर में जमीनी स्तर के लोकतंत्र के त्रिस्तरीय व्यवस्था स्थापित होंगे। अभी तक केंद्र शासित प्रदेश में त्रिस्तरीय व्यवस्था नहीं चल रही थी।

अनुच्छेद 370 के निरस्त होने के बाद, जम्मू-कश्मीर के लोगों को अब देश के बाकी हिस्सों की तरह अपने स्थानीय प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार होगा। आजादी के बाद 73 साल में यह पहला मौका है जब जम्मू-कश्मीर क्षेत्र में जमीनी स्तर पर लोकतंत्र लागू किया जा रहा है।

भारत सरकार अनुच्छेद 370 के निरस्त होने के बाद देश के बाकी हिस्सों की तरह ही जम्मू-कश्मीर क्षेत्र में सामान्य स्थिति लाने के लिए कई सुधार और योजनाएं लागू कर रही है।

संघ-शासित प्रदेश
(Union Territories)

संघ-शासित प्रदेशों का गठन

भूमिका

भारतीय संघ के ऐसे क्षेत्र जिन पर सीधा संघ का नियंत्रण होता है और संघीय संसद द्वारा निर्मित नियम-कानूनों के द्वारा उनका प्रशासन होता है, केंद्रशासित प्रदेश कहलाते हैं। ब्रिटिश शासनकाल में कुछ अनुसूचित जिले बनाए गए। बाद में इसे मुख्य आयुक्तिय/आयुक्त क्षेत्र के नाम से जाना जाने लगा। स्वतंत्रता के बाद इन्हें **भाग-ग** तथा **घ** राज्यों की श्रेणी में रखा गया। **1956** में **7वें** संविधान संशोधन अधिनियम व राज्य-पुनर्गठन अधिनियम के तहत इन्हें केंद्रशासित प्रदेशों के रूप में गठित किया गया। धीरे-धीरे, कुछ केंद्रशासित प्रदेशों को पूर्ण राज्य का दर्जा मिल गया। हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश व गोवा शुरूआत में केंद्रशासित प्रदेश थे। लेकिन अब ये सभी पूर्ण राज्य हैं। दूसरी ओर पुर्तगालियों से लिए गए क्षेत्र (दमन- दीव और दादरा और नागर हवेली) तथा फ्रांसीसियों से लिया गया क्षेत्र (पुदुचेरी) केंद्रशासित प्रदेश बनाए गए। में जम्मू-कश्मीर राज्य को पुर्नगठित करके दो केंद्रशासित प्रदेश यथा जम्मू कश्मीर और लद्दाख बनाए गए।

वर्तमान में **8** केंद्रशासित प्रदेश हैं। **अंडमान एवं निकोबार** द्वीप समूह का गठन **1956** में, **दिल्ली** का **1956** में, **लक्षद्वीप** का **1956** में, **दादरा और नागर हवेली** का **1961** में, **दमन व दीव** का **1987** में, पुदुचेरी (1956) तथा चंडीगढ का गठन **1966** में किया गया। अक्टूबर 2019 में जम्मू-कश्मीर राज्य को दो केंद्रशासित प्रदेश जम्मू-कश्मीर एवं लद्दाख क्षेत्र में विभाजित किया गया तथा 26 जनवरी, 2020 से दादरा और नागर हवेली तथा दमन व दीव को मिलाकर एक केंद्रशासित प्रदेश बना दिया गया है। इस प्रकार केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या वर्तमान में 8 हैं। **1973** तक **लक्षद्वीप** को **लकादीव, मिनीकॉय** एवं **अमिनदिवी द्वीप** के नाम से जाना जाता था। **1992** में दिल्ली को **'राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली'** के रूप में जाना जाने लगा। **2006** तक **पुदुचेरी** को **पांडिचेरी** के नाम से जाना जाता था।

केंद्रशासित प्रदेशों का गठन अनेक कारणों से किया गया ये कारण निम्नलिखित हैं-

- ***राजनीतिक व प्रशासनिक कारण***- दिल्ली, चंडीगढ एवं लद्दाख।
- ***सांस्कृतिक भिन्नताएँ***- पुदुचेरी, दादरा और नागर हवेली।
- ***सामरिक महत्व***- अंडमान निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप तथा जम्मू-कश्मीर।
- ***पिछड़े एवं अनुसूचित लोगों के लिए विशेष बर्ताव व देखभाल।*** (जैसे- मिजोरम, त्रिपुरा व अरुणाचल प्रदेश जो बाद में पूर्ण राज्य बन गए)।

भारतीय संविधान के **भाग-8** में **अनुच्छेद-239** से **242** तक संघ-शासित प्रदेशों के प्रशासन से संबंधित प्रावधानों की व्याख्या की गयी हैं। इन क्षेत्रों के प्रशासन का दायित्व राष्ट्रपति को सौंपा गया है।

संघ-शासित प्रदेशों का प्रशासन

संघ-शासित क्षेत्रों के प्रशासन का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति को सौंपा गया है। **अनुच्छेद-239(1)** की शक्तियों का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति यह कार्य विभिन्न संघ-शासित क्षेत्रों में प्रशासक की नियुक्ति करके करता है। चंडीगढ़, दमन और दीव, दादरा और नागर हवेली तथा लक्षद्वीप के लिए प्रशासक होते हैं। संविधान के **अनुच्छेद-239(2)** में यह भी प्रावधान है कि, राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल को किसी निकटवर्ती संघ-शासित प्रदेश का प्रशासक नियुक्त कर सकता है। संघ-शासित प्रदेशों का प्रशासक राज्यपाल के समकक्ष राज्य का अधिपति नहीं होता, अपितु वह राष्ट्रपति का **अभिकर्ता** (Agent) होता है, और अपने दायित्वों एवं कार्यों का निर्वहन (मंत्रिपरिषद् नहीं है तो) स्वतंत्र रूप में करता है।

दिल्ली के लिए प्रशासनिक उपबंध

संविधान के 69वें संशोधन अधिनियम- 1991 के द्वारा-

- दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र को 'दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र' (Delhi National Capital Region-Delhi NCR) कहा गया और अनुच्छेद-239 (कक) के उपबंध (1) के अधीन नियुक्त उसके प्रशासक का पद नाम 'उपराज्यपाल' रखा गया।
- अनुच्छेद-239 (कक) (2 क) में यह प्रावधान भी किया गया है कि, राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र के लिए एक विधानसभा होगी और इस विधानसभा में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा, राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में से सदस्य चुने जाएँगे।
- अनुच्छेद-239 (कक)-(2 ख) में यह प्रावधान भी किया गया है कि, विधानसभा में स्थानों की कुल संख्या, अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन तथा विधानसभा के कार्यकरण से संबंधित सभी अन्य विषयों का विनियमन, संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा होगा।
- इसके साथ-साथ अनुच्छेद-239 (कक)-(2ग) में यह प्रावधान भी किया गया कि, अनुच्छेद-324 से अनुच्छेद-327 और राजधानी राज्य क्षेत्र की विधानसभा और उसके सदस्यों के संबंध में वैसे ही लागू होंगे, जैसे वह किसी राज्य की विधानसभा और उसके सदस्यों के संबंध में लागू होते हैं। अनुच्छेद-326 व 329 में समुचित विधानमंडल के प्रति निर्देश के बारे में यह समझा जाएगा कि वह संसद के प्रति निर्देश है।

दिल्ली के लिए विधायी उपबंध

- ***विधानसभा की विधायी शक्ति***- अनुच्छेद-239 (कक), (3क) के अनुसार, इस संविधान के उपबंधों के अधीन होते हुए दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र की विधानसभा को संपूर्ण राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए, राज्य सूची में प्रविष्टि 1, 2 व 18 तथा प्रविष्टि 64, 65 और 66 अगर वह प्रविष्टि 1, 2 व 18 से जुड़े हैं, के अलावा राज्य सूची के अन्य विषयों और समवर्ती सूची में रखे गए किसी भी विषय के लिए विधि बनाने की शक्ति होगी।
- ***राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र के संबंध में संसद की विधायी शक्ति***- अनुच्छेद-239(कक), (3ख) के अनुसार, इस प्रावधान की किसी भी बात से संघ-राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए किसी भी विषय के संबंध में संविधान के अधीन विधि बनाने की संसद की शक्ति को कम नहीं किया जा सकेगा।
- ***संसद की विधि या पूर्व में बनी विधि से मतभेद होने पर***- अनुच्छेद-239(कक) (3ग) के अनुसार, विधानसभा द्वारा किसी विषय के संबंध में बनाई गई विधि का कोई उपबंध अगर संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के विरुद्ध है तो संसद द्वारा बनाई गई विधि ही प्रभावी होगी, भले ही संसद द्वारा बनायी गई विधि विधानसभा द्वारा बनाई गई विधि के पहले या बाद में पारित की गई हो।

विधानसभा द्वारा किसी विषय के संबंध में बनाई गई विधि का कोई उपबंध उसी

विधानसभा द्वारा पूर्व में बनाई गई किसी विधि के विरुद्ध है, तब उस विधानसभा द्वारा पूर्व में बनाई गई विधि ही प्रभावी होगी।

- ***राष्ट्रपति के विचाराधीन या स्वीकृत विधि***- अनुच्छेद-239(कक) (3ग) के अनुसार, अगर विधानसभा द्वारा बनाई गई कोई विधि राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित है और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई है, तब ऐसी विधि राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में प्रभावी होगी।
- ***संसद द्वारा अधिनियमन का अधिकार***- अनुच्छेद-239(कक) (3ग) के अनुसार, हालांकि इस उपबंध की कोई बात, संसद को उस विषय के संबंध में कोई विधि, जिसके अंतर्गत ऐसी विधि है जो विधानसभा द्वारा इस प्रकार बनाई गई विधि का परिवर्धन, संशोधन, परिवर्तन या निरसन करती है, किसी भी समय अधिनियमित करने से नहीं रुकेगी।

राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र में उप-राज्यपाल और मंत्रिपरिषद

- ***उपराज्यपाल का कर्त्तव्य और मंत्रिपरिषद***- अनुच्छेद-239 (कक) (4) के अनुसार, उपराज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि, वह अपने विवेकानुसार कार्य करेगा और उन कार्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसकी संख्या विधानसभा के कुल सदस्यों की संख्या के 10% से अधिक नहीं होगी और उनका प्रधान मुख्यमंत्री होगा। उपराज्यपाल उन विषयों के संबंध में अपने विवेक का उपयोग नहीं करेगा, जिनके संबंध में विधानसभा को विधि बनाने की शक्ति है।
- ***उप राज्यपाल और मंत्रिपरिषद में मतभेद होने पर***- अनुच्छेद-239 (कक) (4) के अनुसार, अगर उपराज्यपाल और मंत्रियों के बीच किसी विषय पर किसी तरह का मतभेद होता है तब उप-राज्यपाल उस विषय को राष्ट्रपति के निर्णय के लिए निर्देशित करेगा और राष्ट्रपति द्वारा उस पर किए गए निर्णय के अनुसार कार्य करेगा। अगर राष्ट्रपति के निर्णय होने तक कोई ऐसा विषय, जो उप-राज्यपाल की राय में इतना आवश्यक है कि, इस पर तुरंत कार्यवाई करना आवश्यक हो, तो वह उस विषय में कार्यवाई करने के लिए सक्षम होगा।
- ***मुख्यमंत्री एवं अन्य मंत्रियों की नियुक्ति***- अनुच्छेद-239 (कक) (5) के अनुसार, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मुख्यमंत्री के सलाह से होगी तथा मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत अपने पद पर बने रहेंगे।
- ***मंत्रिपरिषद का सामूहिक उत्तरदायित्व***- अनुच्छेद-239 (कक) (6) के अनुसार, मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।
- ***संसद का अधिकारी और विधि का लागू होना***- संसद ऊपर लिखे गए खंडों को प्रभावी करने या उसमें वर्णित उपबंधों की अनुपूर्ति करने या प्रभावी बनाने के लिए विधि द्वारा उपबंध कर सकेगी।

इस उपबंध में निर्धारित विधि को अनुच्छेद-368 के प्रयोजन के लिए इस संविधान का संशोधन इस बात के होते हुए भी नहीं समझा जाएगा कि, इसमें कोई ऐसा उपबंध अंतर्विष्ट है जो संविधान का संशोधन करता है या संशोधित करने का प्रभाव रखता है। साथ-साथ इस खंड के उपबंध, जहाँ तक संभव हो, राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र, उप-राज्यपाल और विधानसभा के संबंध में वैसे ही लागू होंगे, जैसे वे पुडुचेरी संघ-राज्य क्षेत्र, प्रशासक और उसके विधानमंडल के संबंध में लागू होते हैं।

राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में उपबंध

अनुच्छेद-239(कख) के अनुसार, यदि उप-राज्यपाल के प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा भी, यदि राष्ट्रपति आश्वस्त हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का प्रशासन अनुच्छेद-239(कक) या उस अनुच्छेद के पालन के लिए बनाये गए उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है या राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र के उचित प्रशासन के लिए ऐसा करना आवश्यक है, तो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अनुच्छेद-239(कक) के किसी उपबंध के अलावा उस अनुच्छेद के पालन के लिए बनाये गए किसी विधि के सभी या किन्हीं उपबंधों के प्रवर्तन को निलंबित कर ऐसी आकस्मिक और महत्वपूर्ण परिणाम देने वाले उपबंध कर सकेगा, जो अनुच्छेद-239 और अनुच्छेद-239 (कक) के उपबंधों के अनुसार, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के प्रशासन के लिए उसे आवश्यक और व्यवहारिक लगे।

अनुच्छेद-239 (ख)

अनुच्छेद-239(ख) में प्रशासक द्वारा अध्यादेश जारी करने की शक्ति का उल्लेख किया गया था और यह अनुच्छेद गोवा, दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम-1987 के पहले 'निर्दिष्ट संघ-राज्य क्षेत्रों' के लिए था। लेकिन इस अधिनियम के बाद इस अनुच्छेद में 'निर्दिष्ट संघ राज्य क्षेत्रों' की जगह 'पुडुचेरी संघ-राज्य क्षेत्र' कर दिया गया था।

पुदुचेरी के प्रशासक द्वारा अध्यादेश जारी करने की शक्ति

इस अनुच्छेद-239 के खंड (1) के अनुसार, जब पुदुचेरी का विधानमंडल सत्र में न हो और प्रशासक को यह लगता है कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, जिनके कारण तुरंत कार्यवाही करना उसके लिए आवश्यक है तो वह ऐसे अध्यादेश जारी कर सकेगा, जो उन परिस्थितियों में अपेक्षित हों।

परंतु प्रशासक ऐसा अध्यादेश राष्ट्रपति से अनुमति मिलने के बाद ही जारी कर सकेगा अन्यथा नहीं। लेकिन अगर पुदुचेरी की विधानमंडल विघटित अवस्था में हो या अनुच्छेद-239 के खंड (1) में वर्णित किसी विधि के अधीन की गई किसी कार्यवाही के तहत निलंबित अवस्था में हो, तब प्रशासक इस विघटन या निलंबन की अवधि के दौरान कोई अध्यादेश जारी नहीं करेगा।

इसी अनुच्छेद के खंड (2) के अनुसार, राष्ट्रपति के अनुदेशों के पालन में, इस अनुच्छेद के अधीन जारी किए गए अध्यादेश अनुच्छेद-239 (क) के खंड-1 में निर्देशित तरीके से संघ-राज्य क्षेत्र के विधानमंडल द्वारा पारित अधिनियमों की तरह ही समझे जाएँगे। परंतु ऐसा अध्यादेश संघ-राज्य क्षेत्र के विधानमंडल के पटल पर रखा जाएगा और विधानमंडल के पुनः आरंभ होने से 6 सप्ताह की समाप्ति पर या समाप्ति से पहले विधानमंडल उसके अनुमोदन का संकल्प पारित कर दे, तो यह अधिनियम प्रवर्तन में रहेगा, अन्यथा नहीं।

राष्ट्रपति से आदेश प्राप्त करने के बाद प्रशासक किसी भी समय इस अध्यादेश को वापस ले सकता है।

विनियम बनाने की शक्ति

राष्ट्रपति को निम्नलिखित संघ-राज्यक्षेत्रों की शांति, प्रगति और सुशासन के लिए विनियम बनाने की शक्ति है, अर्थात्-

- अंडमान और निकोबार द्वीप समूह
- लक्षद्वीप
- दादरा और नागर हवेली तथा दमन और दीव
- लद्दाख

इन राज्यक्षेत्रों में विधानमंडल नहीं है, इसलिए विधायी कार्य राष्ट्रपति को सौंप दिए गए हैं। पुडुचेरी और जम्मू-कश्मीर की दशा में भी यदि विधानसभा का विघटन हो गया है या वह निलंबित है तो राष्ट्रपति विनियम बना सकता है। किंतु जब विधानसभा कार्य करती हो तो विनियम बनाने की शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए विनियमों का प्रभाव वैसा ही होता है जैसा उस राज्यक्षेत्र में लागू संसद के अधिनियमों का।

अर्जित राज्य क्षेत्र

भारतीय संविधान में, अर्जित राज्यक्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में पृथक् उपबंध नहीं है, किंतु संघ-राज्यक्षेत्र की परिभाषा के आधार पर इसके [अनुच्छेद-366(30)] अन्तर्गत, ''पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट कोई संघ-राज्यक्षेत्र है और इसके अन्तर्गत ऐसा अन्य राज्यक्षेत्र है, जो भारत के राज्यक्षेत्र में समाविष्ट हैं किंतु उस अनुसूची में विनिर्दिष्ट नहीं है''। इस प्रकार पुडुचेरी, करायकल, यनम और माहे का भारत के राष्ट्रपति द्वारा मुख्य आयुक्त के माध्यम से प्रशासन किया जा रहा था। यह तब तक चलता रहा, जब तक 1962 में वह संघ-राज्यक्षेत्र नहीं बन गया। संघ-राज्यक्षेत्रों के समान ही ऐसे संघ-राज्यक्षेत्र के बारे में संसद को विधान बनाने की व्यापक शक्ति है [अनुच्छेद-246(4)]।

संघीय क्षेत्रों (संघ-शासित प्रदेशों) के लिए सलाहकार समितियाँ

भारत सरकार (कार्यवाही आवंटन) नियमावली, 1961 के अंतर्गत गृह मंत्रालय संघीय क्षेत्रों में विधायन वित्त एवं बजट सेवाएं तथा उप-राज्यपाल एवं प्रशासकों की नियुक्ति से संबंधित सभी मामलों के लिए नोडल एजेन्सी है।

पाँचों संघीय क्षेत्रों (अंडमान और निकोबार द्वीप समूह, चंडीगढ़, दादरा और नागर हवेली तथा दमन और दीव, लद्दाख तथा लक्षद्वीप) जहाँ विधायिका नहीं है, वहाँ गृह मंत्री सलाहकार समिति/या प्रशासक सलाहकार समिति (AAC) का फोरम है। HMAC की बैठक अध्यक्षता केंद्रीय गृहमंत्री करते हैं, जबकि AAC की बैठक अध्यक्षता उस क्षेत्र के प्रशासक करते हैं। संसद तथा स्थानीय निकायों (जिला पंचायत तथा संबद्ध संघीय क्षेत्र की निमग परिषद्) के सदस्य इन समितियों के सदस्य होते हैं। समिति संघीय क्षेत्रों के सामाजिक-आर्थिक विकास से जुड़े सामान्य मुद्दों पर विचार करती है।

राज्य तथा संघ-शासित क्षेत्रों की शक्तियों में अंतर

केंद्रशासित प्रदेश

- केंद-सरकार द्वारा संघ-राज्य क्षेत्र के सभी परिप्रेक्ष्य में राज्य-सूची के सभी विषयों पर कार्यकारी एवं विधायी शक्ति का उपयोग करती है।
- अनुच्छेद-240(1) के अनुसार, राष्ट्रपति को कुछ UTs के लिए नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है, जब तक कि उस UTs के लिए कोई विधायिका कार्यरत न हो। यहां तक कि विधायिका होने की स्थिति में भी प्रशासक विधायिका द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षित रख सकता है, राष्ट्रपति इसे अस्वीकार (धन विधेयक को छोड़कर) कर सकता है।

राज्य

- जब पूर्ण राज्य सरकार के संदर्भ में संभव नहीं है।
- जब कि यहाँ इस प्रकार की शक्ति राष्ट्रपति को प्राप्त नहीं है।
- राज्यों में मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है।

विधानसभा और मंत्रिपरिषद

1962 में संविधान में **अनुच्छेद-239 (क)** अंत:स्थापित करके संघ-राज्य क्षेत्रों हेतु विधानमण्डल अथवा मंत्रिपरिषद अथवा दोनों का सृजन करने की शक्ति संसद को प्रदान की गयी है। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद ने संघ-राज्य क्षेत्र अधिनियम-1963 पारित करके कुछ संघ-राज्य क्षेत्रों हेतु विधानमण्डल एवं मंत्रिपरिषद का सृजन किया, जैसे- मिजोरम, गोवा, अरूणाचल प्रदेश आदि। इनमें से कुछ संघ-राज्य क्षेत्र राज्य बन गये और अत: अब इस वर्ग में केवल जम्मू कश्मीर, दिल्ली और पुडुचेरी संघ-राज्य क्षेत्र रह गए हैं।

संविधान के **69वें संविधान संशोधन अधिनियम**-1991 द्वारा अंत:स्थापित अनुच्छेद- 239(क) तथा 239(क)(ख) के उपबंधों के अनुसरण में **दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र अधिनियम-1991** को अधिनियमित किया गया। इसके फलस्वरूप दिल्ली संघ-शासित प्रदेश में विधानसभा एवं मंत्रिपरिषद हैं। दिल्ली सरकार को राज्य- सूची के **तीन** विषयों **लोक व्यवस्था, पुलिस** व **भूमि** को छोड़कर अन्य सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है।

संघ शासित प्रदेशों की विधायी शक्ति

संघ-शासित प्रदेशों की विधायी शक्तियों के संबंध में सर्वोच्च शक्ति संसद में निहित है। विधायी विषयों के अंतर्गत वह विषय भी सम्मिलित है, जो राज्य-सूची से संबंधित हैं। अर्थात संघ-शासित प्रदेशों में शांति, प्रगति और प्रशासन के लिए राष्ट्रपति को कानून बनाने की शक्ति है। परंतु ऐसे प्रदेशों में विधानसभा होने पर राष्ट्रपति इस तरह की शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता है, परन्तु जैसे ही विधानमंडल विघटित या निलंबित हो जाती है, राष्ट्रपति पुन: सर्वशक्तिमान बन जाता है।

संघ राज्य क्षेत्रों में उच्च न्यायालय

संविधान का **अनुच्छेद-241** यह प्रावधान करता है कि, संसद कानून द्वारा किसी संघ-शासित प्रदेश के लिए उच्च न्यायालय का गठन कर सकती है या किसी संघ-शासित प्रदेश को किसी राज्य के उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में रख सकती है। इन्हीं कानूनों के अंतर्गत, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय चंडीगढ़ संघ-शासित प्रदेश के उच्च न्यायालय के रूप में कार्य कर रहा है। इसी प्रकार लक्षद्वीप को केरल उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में, अंडमान निकोबार द्वीप समूह को कोलकाता उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार, पुडुचेरी, चेन्नई उच्च न्यायालय के क्षेत्रा अधिकार क्षेत्र में दादरा और नागर हवेली तथा दमन और दीव, तथा गोवा, मुंबई उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में रखे गये हैं। दिल्ली के लिए 1966 से एक पृथक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गयी है तथा जम्मू कश्मीर और लद्दाख के लिए एक उच्च न्यायालय है।

संबंधित करेंट अफेयर्स

दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र शासन (संशोधन) अधिनियम, 2021 [Government of National Capital Territory of Delhi (Amendment Act (GNCTD), 2021]

हाल ही में, दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र शासन (संशोधन) अधिनियम, 2021 या GNCTD (संशोधन) अधिनियम, 2021 पारित किया गया है।

- वर्ष 2021 के अधिनियम के माध्यम से GNCTD अधिनियम, 1991 में संशोधन किए गए हैं। इस अधिनियम के द्वारा दिल्ली विधान सभा एवं उपराज्यपाल (LG) को राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र के शासन की संवैधानिक योजना के अनुरूप कुछ शक्तियाँ एवं दायित्व प्रदान किए गए हैं।
- इसमें विधायिका और कार्यापालिका के मध्य सौहार्दपूर्ण संबंध को प्रोत्साहित किया गया है।
    - केंद्र सरकार ने तर्क दिया है कि, नियमों का समयबद्ध कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए वर्ष 1991 के अधिनियम में कोई संरचनात्मक व्यवस्था नहीं थी।
    - GNCTD अधिनियम, 1991 में इस उपबंध को लेकर भी कोई स्पष्टता नहीं थी कि किस प्रकार के प्रस्ताव को कोई आदेश जारी करने से पूर्व उपराज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करना है।

- केंद्र ने यह भी तर्क दिया है कि, यह संशोधन "माननीय उच्चतम न्यायालय की उस व्याख्या को प्रभावी बनाने के लिए किया गया है, जो उसने दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र बनाम भारत संघ वाद, 2018 निर्धारित की थी।"

GNCTD (संशोधन) अधिनियम, 2021 के बारे में	
विनिर्देश	ळछब्ज्क (संशोधन) अधिनियम, 2021
"सरकार" (ळवअमतदउमदज) का अर्थ	विधान सभा द्वारा बनाए गए किसी भी कानून में "सरकार" शब्द का अर्थ उपराज्यपाल (LG) होगा।
कार्यकारी आदेशों पर उपराज्यपाल की सहमति	मंत्रिमडल या किसी मंत्री द्वारा व्यक्तिगत रूप से लिए गए निर्णयों पर किसी भी कार्यकारी कार्रवाई से पूर्व उपराज्यपाल का मत प्राप्त किया जाएगा।
निर्वाचित सरकार द्वारा नियम निर्माण	विधान सभा, दिल्ली के प्रशासन से संबंधित दिन-प्रतिदिन के मामलों पर विचार करने या प्रशासन के संबंध में जाँच इत्यादि करने के लिए स्वयं को या अपनी किसी समिति को सक्षम करने हेतु कोई नियम नहीं बनाएगी। GNCTD (संशोधन) अधिनियम, 2021 के प्रभावी होने से पूर्व इस प्रावधान का उल्लंघन करके बनाया गया कोई भी नियम अमान्य होगा।
विधान सभा द्वारा पारित विधेयकों को स्ळ की स्वीकृति	उन विधेयक पर स्वीकृति को लंबित करने या उन्हें राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु सुरक्षित रखने की शक्ति उपराज्यपाल को प्रदान की गई है, जो संयोगवश किसी ऐसे मामले को शामिल करते हैं, जो विधान की प्रदत्त शक्तियों के दायरे से बाहर हैं। अनुच्छेद 239(क)(क) (4) के अंतर्गत यदि LG की किसी विषय पर पर निर्वाचित सरकार से असहमति है, तो उसे उस मामले को राष्ट्रपति को प्रेषित करने की शक्ति प्राप्त है।

- यह केंद्र सरकार और दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र की सरकार के मध्य पूर्ण समन्वय सुनिश्चित करेगा तथा विधायी विषयों में कोई अतिक्रमण नहीं होगा।
- राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का प्रशासनिक कार्य सुचारू रूप से संपन्न होना चाहिए। साथ ही, इसके हितधारकों की भूमिकाओं एवं उत्तरदायित्वों में अस्पष्टता से किसी भी प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए।
- यह दिल्ली सरकार के हितधारकों के लिए एक रचनात्मक नियम आधारित फ्रेमवर्क उलपब्ध कराएगा, ताकि केंद्र सरकार के साथ मिलकर कार्य किया जा सके।
- उपराज्यपाल की शक्तियाँ: इस अधिनियम में शक्ति के केंद्रीकरण की प्रवृत्ति मौजूद है, क्यों कि इसमें निर्वाचित सरकार की बजाय नामनिर्दिष्ट LG को वास्तविक शक्तियाँ करने का समर्थन किया गया है।
- सरकार के प्रतिनिधित्व रूप में काम करना है: LG (जो सरकार का पर्याय होगा) के लिए विधान सभा द्वारा पारित किसी अधिनियम को लागू करने या सदन निर्देशों का पालन करने की बाध्यता नहीं है, क्योंकि वह विधान सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं है।
- सहकारी संघवाद के विरुद्ध: यह कानून न केवल सहकारी संघवाद के विरुद्ध है, बल्कि वर्ष 2018 में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्धारित मूल सिद्धांतों के भी खिलाफ है।
- उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध: पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज वाद, 2020 में, उच्चतम न्यायालय के निर्णय दिया था कि, विधायिका के पास न्यायालय ने निर्णय की उपेक्षा करने की शक्ति नहीं है। यह केवल उस आधार में परिवर्तन कर सकती है, जिस पर न्यायालय द्वारा निर्णय लिया गया था और एक सामान्य कानून बना सकती है।
- विधायी अव्यवस्था: दिल्ली की निर्वाचित सरकार को LG की राय के लिए अंतहीन समय तक प्रतीक्षा करनी होगी और वह अपने निर्णयों को निष्पादित नहीं कर सकेगी। इस प्रकार से निर्वाचित सरकार निष्क्रिय हो जाएगी।
- अधिनियम का त्वरित रूप से पारित होना: इस अधिनियम को अति शीर्घतापूर्वक पारित किया गया है। इसे चयन समिति के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था।

उच्च न्यायालय
(High Court)

भूमिका

भारतीय संघ हेतु सर्वोच्च न्यायालय के साथ ही भारतीय संविधान द्वारा राज्यों के लिये उच्च न्यायालय का प्रावधान किया गया है, जो राज्य के न्यायिक प्रणाली की सर्वोच्च संस्था है। संविधान के **अनुच्छेद-214** के अनुसार, प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय का प्रावधान किया गया है। परन्तु प्रत्येक राज्य के लिए एक पृथक् उच्च न्यायालय की अनिवार्यता नहीं है। संविधान के **अनुच्छेद-231** के अनुसार, संसद कानून द्वारा **दो या दो से अधिक** राज्यों या दो राज्यों और केंद्रशासित प्रदेश के लिए एक संयुक्त उच्च न्यायालय की व्यवस्था कर सकती है। उच्च न्यायालय राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय है तथा राज्य के अन्य न्यायालय उसके अधीन कार्य करते हैं। संसद अनुच्छेद-230 के अन्तर्गत, किसी भी उच्च न्यायालय के न्यायिक क्षेत्र का विस्तार कर सकती है। किसी संघ-राज्य क्षेत्र को किसी उच्च न्यायालय के न्याय क्षेत्र के अधीन कर सकती है तथा किसी संघ-राज्य क्षेत्र को उच्च न्यायालय से बाहर भी कर सकती है।

उच्च न्यायालय का गठन

संविधान के **अनुच्छेद-216** में प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और ऐसे अन्य न्यायाधीश होते हैं, जिनको राष्ट्रपति भिन्न-भिन्न समय पर आवश्यकता अनुसार नियुक्त करता है। साथ ही **अनुच्छेद-224** में यह भी प्रावधान है कि, नियमित न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी दो वर्ष के लिए नियुक्त किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति की स्वीकृति से उच्च न्यायालय के किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्य करने के लिए आग्रह कर सकता है।

नियुक्ति

संविधान के **अनुच्छेद-216** के अनुसार, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। **अनुच्छेद-217** के उपबन्धों के अनुसार, मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा संबंधित राज्य के राज्यपाल का परामर्श लेता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा संबंधित राज्य के राज्यपाल के अतिरिक्त उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का परामर्श लेना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य है, परंतु संविधान में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति के लिए सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को मानने की अनिवार्यता का प्रावधान नहीं है। 1993 के सर्वोच्च न्यायालय के एक महत्त्वपूर्ण निर्णय ने यह निश्चय कर दिया है कि भारत के मुख्य न्यायाधीश की सहमति के बिना किसी उच्च न्यायालय में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति नहीं हो सकती है। यदि उच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश का स्थान किसी कारणवश अस्थायी रूप से रिक्त हो जाए तो राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है।

न्यायमंडल द्वारा नियुक्ति की आलोचना

न्यायाधीशों द्वारा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रणाली सफल नहीं हुई। डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में यह कहा था कि नियुक्तियों के लिए मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति अनिवार्य करने से उसे भारत के राष्ट्रपति के निर्णय पर वीटो की शक्ति मिल जाएगी। इसलिए मुख्य न्यायमूर्ति को यह शक्ति नहीं दी गई।

न्याय मंडल प्रक्रिया की असफलता के अनेक कारण हैं-

- उपयुक्त व्यक्तियों की खोज करने के लिए कोई तंत्र नहीं है।
- अभ्यर्थियों के चयन के लिए कोर्ट वस्तुपरक मानक नहीं है।
- न्याय मंडल के पास कोई ऐसी रीति या सुविधा नहीं है, जिसमें वह विभिन्न उच्च न्यायालयों में कार्यरत लाखों अधिवक्ताओं से परिचित हो सके।

इसका परिणाम यह है कि न्याय मंडल निम्नलिखित प्रवर्गों में से सिफारिश करता है-

- न्यायाधीशों की संतान या निकट के नातेदार।
- न्यायाधीशों के अन्य नातेदार और राजनेताओं के नातेदार।
- न्यायाधीशों की जाति के व्यक्ति।
- वे अधिवक्ता जिनकी न्यायाधीशों से मित्रता है।
- वे अधिवक्ता जो न्यायाधीशों के कनिष्ठ रह चुके हैं।

1971 में तथा उसके पश्चात न्यायपालिका को यह आशंका थी कि शासक वर्ग अपने गुट के लोगों से न्यायालय भर देगा। यदि ऐसा हो जाता तो न्यायपालिका की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आशंका की प्रतिक्रिया में न्यायपालिका ने नियुक्ति करने का अधिकार अपने अधीन कर लिया। किंतु इस परिवर्तन से दक्षता कम हो गई, जाति का महत्त्व बढ़ गया, वादों का निपटारा कम हो गया, भाई-भतीजावाद और अन्य तत्त्वों को प्रश्रय मिला।

चर्चा में क्यों?

सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय में नियुक्ति से जुड़े कुछ पहलुओं पर स्पष्टीकरण दिया है।

सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत की गयी, जिसमें राजस्थान उच्च न्यायालय में नियुक्त किए गए दो अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति को सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व के निर्णयों के आधार पर चुनौती दी गई थी। न्यायालय ने निम्नलिखित आधारों पर इसे खारिज कर दिया-

सेवानिवृत्त न्यायिक अधिकारियों को उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है, क्योंकि इसमें यह अनिवार्य नहीं किया गया है कि नियुक्त होने वाला व्यक्ति, नियुक्ति की अधिसूचना जारी किए जाने के समय किसी न्यायिक पद को धारण करता हो।

उच्च न्यायालयों के अपर न्यायाधीशों को 2 वर्षों से कम के कार्यकाल के लिए भी नियुक्त किया जा सकता है (अनुच्छेद- 224 के संदर्भ में), भले ही मामलों की विचाराधीनता (PENDENCY) 2 वर्षों से अधिक की हो (जो कि एस पी गुप्ता बनाम भारत संघवाद में मतभेद और विवाद का विषय था)

इसके साथ यह भी कहा गया है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया को शीघ्रता से संपन्न किया जाना चाहिए।

न्यायालय	स्थापना	क्षेत्राधिकार	सीट	बेंच
1. इलाहाबाद उच्च न्यायालय	1866	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद	लखनऊ
2. हैदराबाद उच्च न्यायालय	1954	तेलगांना	हैदराबाद	

3.	बंबई उच्च न्यायालय	1862	महाराष्ट्र, गोवा, दादरा नागर हवेली, दमन एवं द्वीप	महाराष्ट्र-मुम्बई	नागपुर, पणजी, औरंगाबाद
4.	कलकत्ता उच्च न्यायालय	1862	प. बंगाल, अंडमान निकोबार	कोलकाता	पोर्ट ब्लेयर (सर्किट बेंच)
5.	छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय	2000	छत्तीसगढ़	बिलासपुर	
6.	दिल्ली उच्च न्यायालय	1966	दिल्ली	नयी दिल्ली	
7.	गुवाहाटी उच्च न्यायालय	1948	अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मिजोरम	गुवाहाटी	कोहिमा, आइजॉल, इम्फाल, ईटानगर
8.	गुजरात उच्च न्यायालय	1960	गुजरात	अहमदाबाद	
9.	हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय	1971	हिमाचल प्रदेश	शिमला	
10.	जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय	1928	जम्मू-कश्मीर	श्रीनगर एवं जम्मू एवं लद्दाख	
11.	झारखंड उच्च न्यायालय	2000	झारखंड	राँची	
12.	कर्नाटक उच्च न्यायालय	1884	कर्नाटक	बैंगलोर	सर्किट बेंच-हुबली, धारवाड़ गुलबर्ग
13.	केरल उच्च न्यायालय	1956	केरल, लक्षद्वीप	कोच्चि	
14.	मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय	1956	मध्य प्रदेश	जबलपुर	ग्वालियर, इंदौर
15.	चेन्नई उच्च न्यायालय	1862	तमिलनाडु, पुडुचेरी	चेन्नई	मदुरई
16.	ओड़िसा उच्च न्यायालय	1948	उड़ीसा	कटक	
17.	पटना उच्च न्यायालय	1916	बिहार	पटना	
18.	पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय	1947	पंजाब, हरियाणा, चंडीगढ़	चंडीगढ़	
19.	राजस्थान उच्च न्यायालय	1949	राजस्थान	जोधपुर	जयपुर
20.	सिक्किम उच्च न्यायालय	1975	सिक्किम	गंगटोक	
21.	उत्तराखंड उच्च न्यायालय	2000	उत्तराखंड	नैनीताल	
22.	मणिपुर उच्च न्यायालय	2013	मणिपुर	इम्फाल	
23.	मेघालय उच्च न्यायालय	2013	मेघालय	शिलांग	
24.	त्रिपुरा उच्च न्यायालय	2013	त्रिपुरा	अगरतला	
25.	आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय	1 जनवरी 2019	आंध्र प्रदेश	कुरनूल	

योग्यताएँ

संविधान के **अनुच्छेद-217(2)** में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं-

- वह भारत का नागरिक हो।
- भारत में कम से कम **10 वर्ष** तक किसी न्यायिक पद पर आसीन रहा हो।
- किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय में या एक से अधिक राज्य के उच्च न्यायालयों में कम से कम **10 वर्ष** तक अधिवक्ता रहा हो।

शपथ

राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ ली जाती है। न्यायाधीशों द्वारा निम्न शपथ ली जाती है-

- भारतीय संविधान के प्रति सच्ची निष्ठा और श्रद्धा का पालन करेगा।
- भारत की संप्रभुता और अखंडता को अक्षुण्ण रखेगा।
- ज्ञान, योग्यता एवं विवेक से पद का पालन करेगा।
- संविधान एवं विधि की मर्यादा बनाये रखेगा।

शर्तें

यदि कोई व्यक्ति किसी उच्च न्यायालय में स्थायी न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका है तो वह उच्चतम न्यायालय तथा अन्य उच्च न्यायालयों के सिवाय किसी अन्य न्यायालय या प्राधिकारी के समक्ष वकालत या कार्य नहीं करेगा (अनुच्छेद-220)।

कार्यकाल

संविधान के **अनुच्छेद-217(1)** के अनुसार, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश **62 वर्ष** की आयु तक अपने पद पर आसीन रह सकते हैं। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का पद इस निश्चित आयु से पूर्व भी निम्नलिखित कारणों के आधार पर रिक्त हो सकता है-

- यदि त्याग-पत्र देने पर।
- यदि संसद के दोनों सदन सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के आधार पर महाभियोग लगाकर पृथक-पृथक अपनी सदस्य संख्या के बहुमत से एवं उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति को भेज दें तथा राष्ट्रपति संबंधित न्यायाधीश को अपदस्थ करने का आदेश जारी कर दे। इस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने का ढंग वही होगा, जो सर्वोच्च न्यायलय के न्यायाधीशों का है।
- यदि राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर दे या उसे किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में स्थानांतरित कर दे।

वेतन तथा भत्ते

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों को क्रमश: **2.5 लाख** एवं **2.25 लाख रुपए** प्रतिमाह वेतन दिया जाता है। मासिक वेतन के अतिरिक्त कई प्रकार के भत्ते तथा सेवानिवृत्ति के पश्चात पेंशन भी दी जाती है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा नौकरी से संबंधित शर्तें संसद कानून द्वारा निश्चित करती है। कार्यकाल की सुरक्षा व उनकी स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते राज्य की संचित निधि में से दिये जाते हैं तथा उनके कार्यकाल में उन्हें कम नहीं किया जा सकता है।

न्यायाधीशों को हटाने की प्रक्रिया

सिद्ध कदाचार और अक्षमता के आधार पर राष्ट्रपति, न्यायाधीशों को निम्नलिखित प्रक्रिया के अनुसार हटा सकता है-

- लोकसभा के 100 सदस्यों अथवा राज्यसभा के 50 सदस्यों के हस्ताक्षर पत्र को सदन के अध्यक्ष अथवा सभापति को प्रस्ताव सौंपना होगा।
- यक्ष/सभापति प्रस्ताव को स्वीकृत/ अस्वीकृत कर सकता है।
- यदि प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है, तो अध्यक्ष/सभापति आरोपों की जाँच के लिये तीन सदस्यीय समिति का गठन करेगा।
- समिति में निम्न सदस्य होंगे-
  - भारत के मुख्य न्यायाधीश (CJI) या उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीश।
  - उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश।
  - एक प्रख्यात न्यायविद्।
- यदि समिति यह पाती है कि, न्यायाधीश कदाचार का दोषी है, वह अयोग्य है, तो सदन प्रस्ताव पर विचार कर सकता है।
- फिर संसद के दोनों सदनों द्वारा विशेष बहुमत से प्रस्ताव पारित कर राष्ट्रपति के पास न्यायाधीश की संस्तुति के लिए भेजी जाती है।
- अंतत: राष्ट्रपति, न्यायाधीश को हटा सकता है।

न्यायाधीशों का स्थानांतरण

- उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के स्थानांतरण हेतु सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश द्वारा उच्चतम न्यायलय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीश तथा 2 उच्च न्यायालय के न्यायाधीश से परामर्श लिया जाता है एवं मुख्य न्यायाधीश अकेले यह परामर्श, राष्ट्रपति को नहीं दे सकता है। कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश, अपर न्यायाधीशों की भी राष्ट्रपति के द्वारा आवश्यकतानुसार नियुक्ति की जा सकती है।
- सेवानिवृत, न्यायाधीश की भी अस्थायी नियुक्ति, राष्ट्रपति की सलाह से की जा सकती है।

प्रमाणपत्र जारी करने की शक्ति

अनुच्छेद-134(क) के तहत, उच्च न्यायालय को उच्चतम न्यायालय में अपील के लिए प्रमाण पत्र देने की शक्ति है। ध्यातव्य है कि, अनुच्छेद-132, 133 तथा 134 के तहत उच्चतम न्यायालय में अपील के लिए उच्च न्यायालय का प्रमाण पत्र आवश्यक होता है।

न्यायाधीशों की स्वतंत्रता

संविधान में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए कई प्रावधान किए गए हैं-

- राज्य स्तर पर न्यायपालिका को वित्तीय मामलों में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त है। इसका मूल उद्देश्य न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखना है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते, अन्य अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन आदि तथा प्रशासनिक व्यय राज्य की संचित निधि से दिये जाते हैं और कार्यकाल के दौरान इनमें कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
- **अनुच्छेद-220** के अंतर्गत यह प्रावधानित है कि, उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायाधीश अपनी सेवानिवृत्ति के पश्चात सर्वोच्च न्यायालय एवं अन्य उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में कहीं भी किसी भी न्यायालय अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता।

उच्च न्यायालयों पर संघ का नियंत्रण

भारत में उच्च न्यायालयों पर संघ अपना नियंत्रण निम्नलिखित रूपों में रखता है-

- **अनुच्छेद-217** के प्रावधानों के अनुसार, उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।
- न्यायाधीशों को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में हस्तांरित करने **(अनुच्छेद-222)** तथा उन्हें पदच्युत करने **[अनुच्छेद-217(1)]** की शक्तियाँ संघ के पास हैं।
- उच्च न्यायालयों की संरचना एवं गठन, दो अथवा अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय स्थापित करने की शक्ति तथा उच्च न्यायालय की अधिकारिता का किसी संघ-राज्य क्षेत्र पर विस्तार करने अथवा किसी संघ-राज्य क्षेत्र को उसकी अधिकारिता से अपवर्जित करने की शक्ति आदि संघ की शक्तियां हैं।

संचित निधि पर भारित व्यय

उच्च न्यायालय के प्रशासनिक खर्चे, न्यायालय के न्यायाधीश एवं अन्य कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि पर संसद में मतदान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह भारत के संचित निधि पर भारित होते हैं। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, छुट्टी एवं पेंशन संसद एवं विधि द्वारा निर्धारित किए जाते हैं तथा उनके कार्यकाल के दौरान उनके वेतन, भत्ते, छुट्टी एवं पेंशन में (वित्तीय-आपात की अवधि को छोड़कर) कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, शक्ति तथा कार्य

संविधान द्वारा राज्यों के उच्च न्यायालयों को कई प्रकार की शक्तियां एवं उन्मुक्तियां प्रदान की गई हैं। संविधान लागू होने से पूर्व ही उच्च न्यायालय अस्तित्व में थे। अत: उच्च न्यायालय अपने पहले के क्षेत्राधिकार बनाए हुए हैं। उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार एवं शक्तियां वहीं होंगी, जो संविधान के प्रारम्भ होने से पहले थीं।

आरंभिक या मूल अधिकार क्षेत्र

संविधान में उच्च न्यायालय की शक्तियों का वर्णन स्पष्ट रूप में न करते हुए यह कहा गया है कि, उच्च न्यायालय को वही अधिकार क्षेत्र प्राप्त होगा, जो संविधान के लागू होने से पूर्व प्राप्त था। अत: उच्च न्यायालयों का मूल अधिकार क्षेत्र लगभग वही है, जो वर्तमान संविधान के लागू होने से पूर्व उन्हें प्राप्त था। निम्नलिखित संदर्भों में उच्च न्यायालय को आरम्भिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त हैं-

- संविधान के **अनुच्छेद-226** के अनुसार, मौलिक अधिकार से सम्बन्धित कोई भी अभियोग सीधा उच्च न्यायालय में लाया जा सकता है। मौलिक अधिकारों को लागू करवाने के लिए उच्च न्यायालयों को सर्वोच्च न्यायालय के समान ही निम्नलिखित पाँच प्रकार की रिट लेख जारी करने का अधिकार प्राप्त हैं-

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण आदेश।
2. परमादेश लेख।
3. प्रतिषेध लेख।
4. अधिकार पृच्छा लेख।
5. उत्प्रेषण लेख।

- उच्च न्यायालय न केवल मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए उपर्युक्त लेख जारी कर सकते हैं, बल्कि अन्य कार्यों के लिए भी उन्हें ऐसे लेख जारी करने का अधिकार प्राप्त है।
- तलाक, वसीयत, जल, सेना विभाग, न्यायालय का अपमान, कम्पनी कानून आदि से संबंधित अभियोग भी उच्च न्यायालय के आरम्भिक अधिकार क्षेत्र में आते हैं।
- मुंबई, कोलकाता तथा चेन्नई के उच्च न्यायालयों को दो हजार रुपए या इससे अधिक राशि या इस मूल्य की सम्पत्ति से संबंधित अभियोग सुनने का मूल अधिकार क्षेत्र प्राप्त है। परंतु अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों को आरम्भिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त नहीं है।

अपीलीय अधिकार

उच्च न्यायालयों को निम्नलिखित दीवानी तथा फौजदारी मुकदमों के अधीनस्थ न्यायालयों के विरूद्ध अपीलें सुनने का अधिकार प्राप्त हैं। निम्नलिखित मामलों में यह अपीलें उच्च न्यायालय में लायी जा सकती हैं–

- पाँच हजार या इससे अधिक रकम या इतने मूल्य की सम्पत्ति के संदर्भ में उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध उन दीवानी मुकदमों में अपील सुन सकता है।
- फौजदारी मुकदमों की ऐसी अपील की सुनवाई उच्च न्यायालय में हो सकती है, जिनमें अधीनस्थ न्यायालयों ने अपराधी को चार वर्ष अथवा इससे अधिक समय के लिए कैद या कारावास की सजा दी हो।
- जिला तथा सेशन जज हत्या के मुकदमों में दोषी को मृत्यु दण्ड दे सकते हैं, परंतु जज द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड की पुष्टि उच्च न्यायालयों की ओर से करवानी अनिवार्य है। उच्च न्यायालय की पुष्टि के बिना अपराधी को फांसी नहीं दी जा सकती है।
- कोई ऐसा मुकदमा जिसमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न हो, उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

उच्च न्यायालय की अवमानना

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-215 के अन्तर्गत, उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि, वह अपनी अवमानना पर, अवमानना करने वाले को दंडित कर सके। वह सिविल और आपराधिक, दोनों तरह की अवमाननाओं में अवमानना करने वाले को सख्त दंडित कर सकता है। सिविल मामलों के अंदर वे मामले आते हैं, जिसमें किसी फैसले, आदेश या न्यायालय की अवहेलना की जाती हो, जबकि आपराधिक मामलों के अंदर-

- ऐसा कार्य करना अथवा ऐसी सामग्री का प्रकाशन करना, जिससे न्यायालय की स्थिति में अवमूल्यन हो या न्यायालय की बदनामी हो।
- न्यायिक प्रक्रिया में बाधा पहुँचाना।
- प्रशासन को किसी भी तरीके से रोकने का कार्य करने जैसे मामले आते हैं। अगर ये प्रकाशन निष्पक्ष एवं उचित हैं अथवा प्रशासनिक कारणों से इन पर कोई टिप्पणी की गई हो, तब इसे न्यायालय की अवमानना नहीं माना जाता।

उच्च न्यायालय ने 1991 में कहा है कि, अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालय, अधीनस्थ न्यायालय और पंचायतों को भी प्राप्त है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार

संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की तरह राज्य के उच्च न्यायालयों को भी कानून संबंधी न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार दिया गया है। उच्च न्यायालय, संसद तथा राज्य विधानमंडल द्वारा बनाये गये किसी ऐसे कानून को असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं, जो संविधान के किसी अनुच्छेद के विरूद्ध हों, परंतु उच्च न्यायालय के ऐसे निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

प्रमाण-पत्र देने का अधिकार

उच्च न्यायालय के निर्णयों के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। परंतु इसके लिए संबंधित उच्च न्यायालय की आज्ञा आवश्यक है। इसके बावजूद संविधान के **अनुच्छेद- 136** के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालयों की आज्ञा के बिना उसके निर्णयों के विरूद्ध स्वेच्छा से भी अपील करने की आज्ञा दे सकता है।

रिट अधिकारिता-उच्चतम न्यायालय बनाम उच्च न्यायालय

जैसा हम पहले देख चुके हैं कि उच्चतम न्यायालय को भी अनुच्छेद-32 के अधीन इसी के समानांतर रिट अधिकारिता है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय जो रिटें निकालते हैं, वह एक ही प्रकृति की हैं। उच्चतम न्यायालय की रिट संपूर्ण भारत में मान्य है। उच्च न्यायालय की रिट इस बात पर आश्रित होती है कि न्यायालय की राज्यक्षेत्रीय सीमाएँ क्या हैं और दूसरे इस बात पर कि वाद-विवाद न्यायालय के राज्यक्षेत्र के भीतर उत्पन्न हुआ है या नहीं। उच्चतम न्यायालय की रिट अधिकारिता स्वयं एक मूल अधिकार है। यदि राज्य ने किसी व्यक्ति के मूल अधिकार का हनन किया है तो उसे उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का मूल अधिकार है। वह सीधे उच्चतम न्यायालय पहुँच सकता है। अनुच्छेद-226 में जो उपचार दिया गया है वह किसी व्यक्ति का मूल अधिकार नहीं है, इसलिए अनुतोष देना न्यायालय के विवेक पर आधारित है। किंतु साथ ही यह नहीं भूलना चाहिए कि विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसंगत होता है, मनमाने ढंग से नहीं। इन शब्दों से उच्च न्यायालय को यह शक्ति मिलती है कि, वह किसी भी विधिक अधिकार को प्रवृत करने के लिए रिट निकाल सकता है। अनुच्छेद-32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता केवल मूल अधिकारों के संबंध में है।

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के बीच संबंध

उच्च न्यायालय, उच्चतम न्यायालय का अधीनस्थ न्यायालय नहीं है। दोनों अभिलेख न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों और अधिकरणों पर अपनी अधीक्षण की शक्ति का प्रयोग करता है (अनुच्छेद-227)। उच्चतम न्यायालय को ऐसी कोई शक्ति नहीं दी गई है। उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अधिक विस्तार है, किंतु उच्चतम न्यायालय ज्येष्ठ भ्राता है। उच्चतम न्यायालय को उच्च न्यायालय के ठीक ऊपर रखा गया है। संविधान के कुछ उपबंध उच्चतम न्यायालय को वरिष्ठ या उच्चतर स्थान प्रदान करते हैं।

मुकदमों को स्थानांतरित करने का अधिकार

यदि उच्च न्यायालय के विचार में किसी अधिनस्थ न्यायालय में चल रहे किसी मुकदमें में किसी कानून की व्याख्या का कोई विशेष प्रश्न हो तो वह उस मुकदमे को अपने पास मंगवा सकता है। उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमों का निर्णय स्वयं भी कर सकता है अथवा संबंधित कानून की व्याख्या करके अधीनस्थ न्यायालय को मुकदमा वापस भेज सकता है। यदि उच्च न्यायालय कानून की व्याख्या करके मुकदमा अधीनस्थ न्यायालय को वापस कर दे तो अधीनस्थ न्यायालय मुकदमे का निर्णय उच्च न्यायालय की व्याख्या के अनुसार ही करता है।

अधीक्षण शक्तियाँ

राज्यों के उच्च न्यायालयों को सैन्य न्यायालयों के अतिरिक्त अपने अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत स्थापित सभी न्यायालयों पर नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त है। इसके संबंध में उच्च न्यायालय कई प्रशासकीय कार्य करते हैं। उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों की कार्यवाही का विवरण माँग सकते हैं तथा अपने अधीनस्थ न्यायालयों की कार्यवाही के संबंध में नियम बना सकते हैं। उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों की कार्य प्रणाली का रिकॉर्ड, रजिस्टर तथा हिसाब-किताब आदि रखने के संबंध में नियम निर्धारित कर सकते हैं।

उच्च न्यायालय किसी मुकदमें को अपने किसी अधीनस्थ न्यायालय से किसी दूसरे अधीनस्थ न्यायालय में स्थानांतरित कर सकते हैं। उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों के रिकॉर्ड, कागज-पत्र आदि निरीक्षण के लिए मंगवा सकते हैं। उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों के कर्मचारियों के वेतन, भत्ते तथा सेवा आदि के नियम निर्धारित कर सकते हैं। उच्च न्यायालयों का मुख्य न्यायाधीश, न्यायालय के कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकता है। इस संबंध में राज्यपाल उसे लोक सेवा आयोग का परामर्श लेने के लिए कह सकता है।

प्रशासनिक अधिकरणों पर अधिकारिता

प्रशासन द्वारा किए जाने वाले काम की जटिल एवं तकनीकी प्रकृति के कारण प्रशासनिक निकायों को प्रशासन संबंधी विवादों के संदर्भ में न्याय-निर्णयन की शक्ति दी गई है। सामान्य न्यायालयों के पास समयाभाव एवं प्रशासन की तकनीकी प्रकृति का ज्ञान न होने के कारण ऐसे विवादों का विनिश्चय ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है, जिन्हें उससे संबंधित अधिनियम के कार्यकरण का विशेष ज्ञान है। इस प्रकार प्रशासनिक अधिकरण ऐसे विशेष अधिकरण हैं, जो न्यायिक प्रशासन के अंग नहीं हैं, किन्तु उन्हें न्यायालय के जैसा बनाया गया है। वे सभी अर्थ में न्यायालय नहीं है, क्योंकि वे प्राकृतिक न्याय की प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं। इन सभी अधिकारियों का एक सामान्य लक्षण है, वे नागरिकों के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों पर निर्णय देते हैं और उनके निर्णय नागरिकों पर आबाध्यकारी होते हैं।

इन अधिकरणों के निर्णयों का पक्षकारों पर न्यायिक निर्णयों के समान ही प्रभाव है, जबकि ये अधिकरण न्यायालय द्वारा अंगीकृत प्रक्रिया का ठीक-ठीक अनुसरण नहीं करते हैं, इसलिए इस बात की आवश्यकता उत्पन्न होती है कि उन्हें वरिष्ठ न्यायालय के नियंत्रण के अधीन रखा जाए। जिससे वे अपनी अधिकारिता की उच्च सीमाओं के भीतर रहे और उनके न्यायनिर्णयन से उत्पन्न होने वाले अनुचित प्रभावों को रोका जा सके।

अभिलेख न्यायालय के रूप में शक्तियाँ

संविधान के **अनुच्छेद-215** के अनुसार, प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात इनके सभी निर्णय एवं कार्यवाहियों को प्रमाण के रूप में प्रकाशित किया जाता है और उसके निर्णय संबंधित राज्य के सभी न्यायालयों में भी माने जाते हैं। इसके निर्णय अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, परंतु अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों के लिए इस निर्णय को मानने की अनिवार्यता नहीं है। जब किसी न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्तर प्रदान किया जाता है तो वह न्यायालय किसी भी व्यक्ति को न्यायालय का अवमानना करने के अपराध में दण्ड दे सकता है। राज्य के उच्च न्यायालयों के संबंद्ध में वे सभी सिद्धांत अपनाये गये हैं, जो स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए अनिवार्य हैं।

अधीनस्थ न्यायालय

उच्च न्यायालयों के अधीन कई श्रेणी के न्यायालय होते हैं। इन्हें संविधान में अधीनस्थ न्यायालय कहा गया है। इनका गठन राज्य अधिनियम कानून के आधार पर किया गया है। प्रत्येक राज्य जिलों में बंटा हुआ है और प्रत्येक जिले में एक जिला अदालत होती है। इस जिला अदालत का उस जिले भर में अपील संबंधी क्षेत्राधिकार होता है। इन जिला अदालतों के अधीन कई निचली अदालतें होती हैं, जैसे- अतिरिक्त जिला अदालत, सब-कोर्ट, मुंसिफ मजिस्ट्रेट अदालत, कारखाना कानून और श्रम कानूनों के लिए विशेष मुंसिफ मजिस्ट्रेट अदालत आदि। जिला अदालत का मुख्य कार्य अधीनस्थ न्यायालयों से आई अपीलों को सुनना है, लेकिन अदालत विशेष परिस्थितियों में मूल मामलों को भी अपने हाथ में ले सकती है। जैसे भारतीय उत्तराधिकार कानून, अभिभावक और आश्रित कानून तथा भूमि अधिग्रहण कानून आदि से संबंधित मामलों की सुनवाई कर सकती है।

अधीनस्थ न्यायालयों में एक जिला न्यायाधीश और दूसरा मुंसिफ न्यायाधीश का न्यायालय होता है। जिला स्तर पर न्यायालय को जिला न्यायालय या सत्र न्यायालय के नाम से जाना जाता है। इस स्तर के न्यायालय में अतिरिक्त न्यायाधीश, संयुक्त न्यायाधीश और सहायक न्यायाधीश की अदालतें सम्मिलित होती हैं। जिला न्यायाधीश और सत्र न्यायाधीश का न्यायालय, जिला स्तर पर आंरभिक क्षेत्राधिकार का मुख्य न्यायालय होता है। संविधान के प्रावधानों के अनुसार, एक ही अधिकारी दीवानी और फौजदारी कानूनों के तहत कार्य करता है, वह जिला एवं सत्र न्यायाधीश के नाम से जाना जाता है। इन न्यायालयों का वित्तीय अधिकार क्षेत्र सीमित नहीं होता है। ये न्यायालय उन मामलों की भी सुनवाई कर सकते हैं, जिसमें अधिकतम सजा एक वर्ष से अधिक न हो।

जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति

संविधान के अनुच्छेद-233 (i) में यह प्रावधान किया गया है कि, किसी राज्य का राज्यपाल जिला न्यायाधीश की नियुक्ति के संबंध में उच्च न्यायालय के परामर्श से करता है। **अनुच्छेद- 233(ii)** के अनुसार, जो व्यक्ति केंद्र या राज्य की सेवा में पहले से नहीं हैं, वैसी स्थिति में उस व्यक्ति को कम से कम सात वर्ष का अधिवक्ता का अनुभव हो, साथ ही उच्च न्यायालय ने उसकी नियुक्ति की सिफारिश की हो। संविधान के **अनुच्छेद-234** के अनुसार, राज्यपाल जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्ति को भी जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कर सकता है, किंतु वैसे व्यक्ति, राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा अथवा उच्च न्यायालय के परामर्श के बाद ही राज्यपाल द्वारा जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जा सकते हैं।

अधीनस्थ न्यायालयों की स्वतंत्रता

संविधान में अधीनस्थ न्यायालयों की स्वतंत्रता की व्यवस्था की गई है। जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, स्थानांतरण, पदोन्नति आदि राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श के बाद की जाती है।

लोक अदालत

लोक अदालत का अभिप्राय, जनता के न्यायालय से है। लोक अदालत की स्थापना दो महत्वपूर्ण कारणों से की गयी है।

देर से मिला न्याय, न्याय न मिलने के समान है। भारत जैसे देश में लाखों विवाद न्यायालयों में वर्षों से पड़े हुए है। कई ऐसे भी विवाद हैं जिनके वादी- प्रतिवादी दोनों की मृत्यु हो चुकी है, परंतु न्याय नहीं मिल पाया। छोटे विवादों में सबसे ज्यादा नुकसान उठाना पड़ता है, जैसे- पारिवारिक समस्याओं से संबंधित विवाद। अत: लोक अदालत, शीघ्र न्याय की धारणा पर स्थापित न्याय व्यवस्था है, जिसमें आपसी सौहार्द और समझौते को मूल उद्देश्य के रूप में प्रयोग किया जाता है, जिससे त्वरित न्याय की व्यवस्था हो सके।

न्याय मिलने में जितना अधिक समय लगेगा, उतना ही खर्च भी बढ़ता जायेगा। इसमें दो तरफा खर्चे बढ़ते हैं एक ओर सरकारी खर्चे और दूसरी ओर संबंधित व्यक्तियों

के खर्चे। इसीलिए यदि लोक अदालत शीघ्र निर्णय करती है तो उससे खर्चे में कमी हो जाती है। भारत में त्वरित एवं मितव्ययी न्याय की आवश्यकता को देखते हुए 1982 में प्रथम लोक अदालत का गठन गुजरात में हुआ था। लोक अदालत का प्रथम विचार मुख्य न्यायाधीश पी.एन. भगवती ने दिया था। न्यायिक सेवा प्राधिकार अधिनियम- 1987 ने लोक अदालत के अभियान को महत्वपूर्ण योगदान किया है। इस अधिनियम के अनुसार, केंद्र-सरकार या राज्य-सरकार या जिला प्रशासन समय- समय पर और निर्धारित स्थानों पर लोक- अदालत का आयोजन कर सकती हैं। **न्यायिक सेवा प्राधिकार संशोधन अधिनियम-2002** के अंतर्गत स्थायी लोक अदालतों की स्थापना का प्रावधान किया गया है।

ग्राम न्यायालय

भारत गाँवों का देश है और ग्रामीण व्यक्तियों के लिये शहरों में स्थित न्यायालयों तक पहुंच पाना एक कठिन कार्य है, इसलिए गाँव-गाँव त्वरित एवं सस्ता न्याय पहुँचाने के उद्देश्य हेतु संसद ने दिसंबर 2008 में ग्राम न्यायलय विधेयक को मंजूदी प्रदान की। इसके अंतर्गत खण्ड स्तर पर 5,067 न्यायालय स्थापित किए जाएंगे। 2 अक्टूबर, 2009 से प्रभावी इस अधिनियम को जम्मू- कश्मीर, नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम एवं जनजाति क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारत पर प्रभावी किया गया है।

राज्य सरकार, संबद्ध उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात्, अधिसूचना के द्वारा पंचायत समिति स्तर पर एक या अधिक ग्राम न्यायालय का गठन कर सकेगी, लेकिन जिन राज्यों में पंचायत समिति का मध्यम स्तर नहीं है, वहां पर ग्राम पंचायत के समूहों के लिए उसके सन्निकट ग्राम न्यायालय स्थापित कर सकेगी। इसका मुख्यालय पंचायत समिति के मुख्यालय में होगा या वहां जहां राज्य सरकार निर्देशित करे। राज्य सरकार, उच्च न्यायालय के परामर्श से, प्रत्येक ग्राम न्यायालय के लिए एक न्यायाधिकारी नियुक्त करेगी एवं ऐसे न्यायाधिकारी के पास प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश नियुक्त होने की योग्यता होनी चाहिए। ऐसे न्यायाधिकारी की नियुक्ति में अनुसूचित जाति, जनजाति, महिलाओं एवं ऐसे अन्य वर्गों एवं समुदायों को जिन्हें राज्य सरकार समय-समय पर अधिसूचना में उल्लेखित करे, पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। न्यायाधिकारी के वेतन-भत्ते एवं सेवाकाल तथा शर्तें प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश के समान होंगी।

न्यायाधिकारी अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले गाँवों का दौरा करेगा एवं घटना स्थल के आस-पास कार्यवाही आरंभ कर सकेगा। ग्राम न्यायालय को ऐसे आपराधिक, दीवानी मामले, दावों एवं विवादों को स्वीकार करने का अधिकार है, जिनमें मृत्युदंड, आजीवन कारावास एवं दो वर्ष से अधिक की सजा का प्रावधान न हो। चोरी एवं संपत्ति संबंधी मामले ग्राम न्यायालय में स्वीकार किए जा सकते हैं। ग्राम न्यायालय को दीवानी न्यायालय की सभी शक्तियां प्राप्त होंगी। ग्राम न्यायालय की स्थापना एवं संचालन संबंधी सभी खर्चे केंद्र- सरकार वहन करेगी।

वस्तुत: ग्राम न्यायालय के अस्तित्व में आने से दूरस्थ भारतीयों एवं ग्रामीणों तक न्याय की पहुंच संभव हो सकेगी, जो न्यायिक व्यवस्था के विकेंद्रीकरण को सशक्त करेगा।

जनहित याचिका

जनहित याचिका को न्यायाधीश **पी.एन. भगवती** एवं **वी. के. कृष्णा अय्यर** ने प्रारम्भ किया। सामाजिक कल्याण के मुद्दों से प्रेरित यह याचिका उन मुद्दों के लिये है, जिनसे जनता का एक बड़ा भाग प्रभावित हो रहा हो। उसके लिए न्यायालय द्व ारा यह व्यवस्था की गयी है कि, कोई भी व्यक्ति या संगठन चाहे वह पीड़ित न भी हो न्यायालय में न्याय हेतु आवेदन कर सकता है। इस प्रकार जनहित याचिका का अभिप्राय यह है कि पीड़ित व्यक्तियों के बदले अन्य व्यक्ति या संगठन न्याय की माँग कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति पीड़ित है, परंतु उसमें न्यायालय में न्याय के लिए जाने की क्षमता नहीं है, वैसी स्थिति में अन्य व्यक्तियों तथा स्वैच्छिक संगठनों को यह अधिकार है कि वे पीड़ित व्यक्ति के बदले न्याय के लिए न्यायालय में याचिका पेश कर सकते हैं। यह व्यवस्था देश के आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए उपलब्ध कराई गई है, जिससे उन्हें न्याय मिल सके। उदाहरण के लिए, बंधुआ मजदूरों, देश की आम समस्याओं, जैसे- भ्रष्टाचार आदि के संदर्भ में जनहित याचिका ने ऐतिहासिक निर्णय दिलवाया है। जनहित को लेकर कोई भी व्यक्ति न्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है। न्यायालयों ने **अखबारी खबरों के आधार** पर भी जनहित याचिका को स्वीकार किया है और उस पर अपने महत्वपूर्ण निर्णय देते रहे हैं। कोई व्यक्ति जनहित याचिका एक साधारण पोस्टकार्ड द्वारा भी सर्वोच्च न्यायालय में दायर कर सकता है।

समालोचना

जनहित याचिका द्वारा कई महत्वपूर्ण विवादों पर निर्णय दिया गया है, परंतु साथ ही इसकी आलोचना भी हो रही है कि भारी बोझ से दबे न्यायालयों ने अपने बोझ में और वृद्धि कर ली है। जिससे लंबित विवादों को निपटाने में और अधिक समय लग जाता है। आलोचकों का कहना है कि, जनहित याचिकाओं का निपटारा मजिस्ट्रेट तथा निम्न अदालतों के स्तर पर होना चाहिए न कि उच्च स्तरीय न्यायालयों में, जबकि दूसरे पक्ष का विचार है कि, सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय की भूमिका जनहित याचिका के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि निम्न स्तर के निर्णय भय से प्रभावित हो सकते हैं, परंतु यह उच्च स्तर पर सम्भव नहीं है। एक स्वस्थ तथा स्वच्छ न्यायिक व्यवस्था का निर्माण तथा न्याय को सर्व-सुलभ बनाने में जनहित याचिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

नि:शुल्क विधिक सहायता

संविधान के भाग-4 के नीति निदेशक तत्वों के अंतर्गत, **अनुच्छेद-39(क)** द्व ारा यह प्रावधान किया गया है कि, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि, विधिक तंत्र इस प्रकार काम करे कि, समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान द्वारा किसी अन्य रीति से नि:शुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण द्वारा गरीब एवं असहाय व्यक्तियों को नि:शुल्क विधिक सहायता प्रदान की जाती है। इसके अंतर्गत अनुसूचित जाति एवं जनजाति, महिला, बच्चे, विकलांग, प्राकृतिक आपदा एवं देह व्यापार पीड़ित व्यक्ति, बेरोजगार व्यक्ति तथा जिसकी अधिकतम वार्षिक आय 25,000 (उच्च न्यायलय हेतु), एवं 50,000 (उच्चतम न्यायालय हेतु) है, नि:शुल्क कानूनी सहायता पाने का पात्र होगा।

केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो को निर्देश देने की उच्च न्यायालय की शक्ति

पश्चिमी बंगाल बनाम कमेटी फॉर प्रोटेक्शन ऑफ डेमोक्रेटिक राइट्स में उच्चतम न्यायालय की एक संविधान पीठ ने इस प्रश्न पर विचार किया कि, क्या कोई उच्च न्यायालय अनुच्छेद-226 के अधीन केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो (सी. बी.आई) को किसी संज्ञेय अपराध का अन्वेषण करने का निर्देश, राज्य-सरकार की सहमति के बिना दे सकता है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि, अनुच्छेद-32 और 226 के अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गई है। यह शक्ति संविधान की आधारिक संरचना का भाग है। संसद का कोई अधिनियम, संवैधानिक न्यायालयों की शक्ति को न तो अपवर्जित कर सकता है और न सीमित कर सकता है।

उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय संविधान की मर्यादा बनाए रखने के लिए जब कोई निर्देश देता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि, इससे परिसंघ संरचना

का उल्लंघन होता है। संविधान में जो संसद पर निर्बंधन लगाए गए हैं या संसद जो निर्बंधन कार्यपालिका पर लगाती है, उससे अनुच्छेद-32 और 226 द्वारा प्रदत्त शक्तियां समिति नहीं होती हैं।

विशेष पुलिस स्थापना अधिनियम की धारा-6 उच्च न्यायालय की शक्ति को छोटा नहीं कर सकती। उच्च न्यायालय, संयुक्त राज्य सरकार की सहमति के बिना सी.बी.आई को किसी भी संज्ञेय अपराध के अन्वेषण के लिए निदेश दे सकता है। यह निदेश परिसंघ की संरचना पर आघात नहीं करता। यह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है। ऐसा निदेश विधिमान्य है।

संबंधित करेंट अफेयर्स

ई-लोक अदालत (E-Lok Adalats)

- महामारी के कारण उत्पन्न विक्षोभपूर्ण अवधि में न्यायिक सेवा प्राधिकारियों ने वर्तमान स्थिति के साथ स्वयं को रचनात्मक रूप से अनुकूलित करते हुए लोक अदातल को वर्चुअल प्लेटफॉर्म पर आयोजित किया, जिसे ऑनलाइन लोक अदालत या ई-लोक अदातल कहा गया है।
- 15 राज्यों में 27 ई-लोक अदलतों (E-Lok Adalats) का आयोजन किया गया, जिसकी मदद से जून से अक्टूबर माह तक **2.51** लाख मामलों का निपटान किया गया है।
- लोक अदालत की स्थापना वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र के रूप में की गई है। इसके तहत न्यायालयों में लंबित विवादों या पूर्व मुकदमेबाजी चरण (Pre-Litigation Stage) में फंसे मामलों को वादियों द्वारा बिना किसी व्यय के सौहार्दपूर्ण रीति से निपटाया जाता है।
- इसमें सामान्यत: अध्यक्ष के रूप में एक न्यायिक अधिकारी तथा सदस्यों के रूप में एक अधिवक्ता और एक सामाजिक कार्यकर्ता शामिल होते हैं।
- ये पक्षों के मध्य दीर्घकाल से लंबित मुकदमों के निपटाने के माध्यम से न्यायालय पर इन मुकदमों के बोझ को कम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।
- लोक अदालतों द्वारा दिए गए निर्णय को दीवानी न्यायालय के निर्णय के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा इनके आदेश सभी पक्षों के लिए अंतिम और बाध्यकारी होते हैं।

वैकल्पिक विवाद समाधान (Alternative Dispute Resolution: ADR) तंत्र

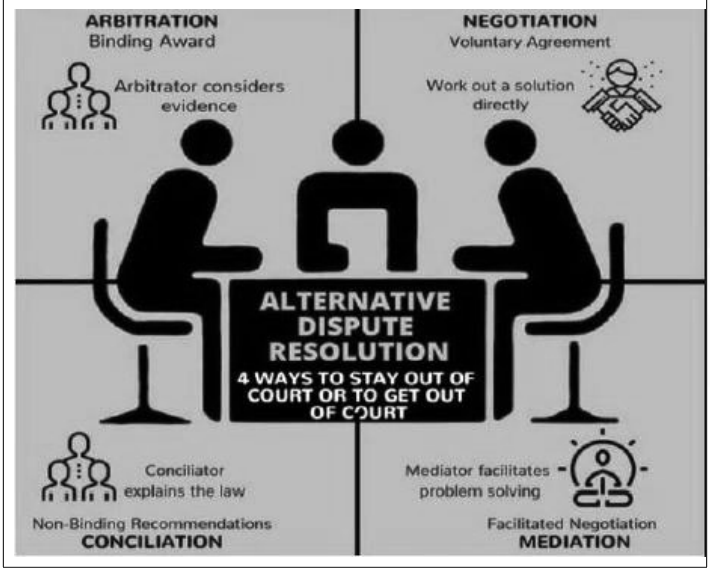

ADR विवाद समाधान का एक तंत्र है, जो गैर-विरोधात्मक (Non-Adversarial) है, अर्थात् इसमें सभी के लिए सर्वोत्तम समाधान तक पहुँचने हेतु सहकारी रूप से एक साथ कार्य किया जाता है।

ADR, इसमें शामिल पक्षकारों को एक पूर्ण विकसित और संतोषजनक अनुभव प्रदान करते हुए अदालतों पर मुकदमेबाजी के बोझ को कम करने में सहायक हो सकता है।

विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम को वर्ष 1987 में अदालत के बाहर समझौतों को प्रोत्साहित करने के लिए पारित किया गया था, घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थता से निपटने के लिए वर्ष 1966 में नया माध्यस्थम् सुलह अधिनियम (Arbitration and Conciliation Act) अधिनियमित किया गया था।

भारत में, ADR की स्थापना भारत के संविधान के तहत अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समता का अधिकार) और अचुच्छेद 21 (प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण) के आधार पर की गई है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39(क) में उपबंधित नि:शुल्क विधिक सहायता तथा समान न्याय के राज्य की नीति के निदेशक तत्व (Directive Principles of State Policy: DPSP) के उद्देश्य को भी ADR द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

एक साथ चुनाव (Simultaneous Elections)

हाल ही में प्रधान मंत्री ने लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के चुनाव एक साथ कराने पर बल दिया।

- इसका अर्थ है कि भारतीय निर्वाचन चक्र को इस तरह से व्यवस्थित कराना कि लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के लिए चुनाव एक साथ करवाया जा सके, जिसके तहत निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाता एक ही साथ दोनों के लिए मतदान कर सकें।
- एक साथ चुनाव की व्यवस्था वर्ष 1967 तक जारी रही थी। लेकिन वर्ष 1968 और वर्ष 1969 में कुछ विधान सभाओं और वर्ष 1970 में लोक सभा के विघटन के बाद राज्य विधान सभाओं और संसद के एक साथ चुनाव का क्रम टूट गया और दोनों के चुनाव अलग-अलग समय में होने लगे।
- बाद में, निर्वाचन आयोग ने वर्ष 1983 में एक साथ चुनाव का सुझाव प्रस्तावित किया था। इसे विधि आयोग और नीति आयोग द्वारा भी समर्थन प्राप्त हुआ है। साथ ही, दिनेश गोस्वामी समिति द्वारा भी इस संदर्भ में अनुशंसा की गई है।
- एक साथ चुनाव का अर्थ यह नहीं है कि लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के लिए देश भर में मतदान एक ही दिन या एक ही चरण में हो। इसे चरण-वार तरीके से आयोजित किया जा सकता है तथा किसी निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं द्वारा एक ही दिन राज्य विधान सभा और लोक सभा दोनों के लिए मतदान किया जा सकता है।

एकल मतदाता सूची (निर्वाचक नामावली) / एक राष्ट्र एक मतदाता सूची (Common Election Roll/One Nation One Election Roll)

सरकार ने पंचायत, नगरपालिका, राज्य विधान सभा और लोक सभा निर्वाचनों के लिए एकल मतदाता सूची तैयार करने पर चर्चा आरंभ की है।

राज्य निर्वाचन आयोग {State Election Commissions (SECs) वस्तुत: नगरपालिका और पंचायत चुनावों के संचालन हेतु उत्तरदायी होते हैं तथा ये स्थानीय निकायों के चुनावों के लिए अपने स्वयं की मतदाता सूची तैयार करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। इस हेतु SECs को भारत निर्वाचन आयोग (ECI) के साथ समन्वय की आवश्यकता नहीं होती है।

हालांकि, प्रत्येक SEC पृथक राज्य अधिनियम द्वारा शासित होता है। कुछ राज्यों के कानून SEC को नगरपालिका और पंचायत चुनावों के लिए भारत निर्वाचन आयोग (ECI) की मतदाता सूचियों (निर्वाचक नामावली) का पूर्णत: उपयोग करने या स्वयं (अर्थात् SEC) द्वारा मतदाता सूचियों को तैयार एवं उसमें संशोधन करने के आधार पर उपयोग करने की अनुमति देते हैं।

वर्तमान में, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, ओडिशा, असम, मध्य प्रदेश, केरल, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड तथा जम्मू और कश्मीर संघ राज्यक्षेत्र को छोड़कर सभी राज्यों द्वारा स्थानीय निकायों के चुनावों के लिए ECI की मतदाता सूची को अपनाया गया है।

हालांकि यह तर्क दिया गया है कि ECI और SEC द्वारा पृथक मतदाता सूची तैयार करने से दो पृथक-पृथक एजेंसियों के मध्य अनिवार्य रूप से एक ही कार्य का दोहराव होता है। इससे अंततः मतदाता सूची तैयार करने संबंधी प्रयास और व्यय की भी दोहराव होता है।

ज्ञातव्य है कि वर्ष 2015 में जारी विधि आयोग की 255वीं रिपोर्ट में तथा भारत निर्वाचन आयोग (वर्ष 1999 और वर्ष 2004 में) द्वारा भी एकल मतदाता सूची की अनुशंसा की गई थी।

एकल मतदाता सूची को लागू करने के लिए तथा देश में सभी चुनावों के लिए मतदाता सूची तैयार करने के लिए अनुच्छेद 243K और 243Z। में संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता होगी।

अनुच्छेद 243K (पंचायत) और 243Z। (नगरपालिका) वस्तुतः चुनावों के लिए निर्वाचक नामावली तैयार कराने और चुनावों के संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण की शक्ति राज्य निर्वाचन आयोगों (SECs) को प्रदत्त करता है।

उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश (वेतन और सेवा शर्तें) संशोधन विधेयक, 2021

संसद ने 13 दिसंबर, 2021 को "उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश (वेतन और सेवा की शर्तें) संशोधन विधेयक, 2021" पारित किया।

मुख्य बिंदु

इस विधेयक को राज्यसभा में पारित किया गया और चर्चा के बाद इसे लोकसभा में वापस कर दिया गया। धन विधेयक होने के कारण इस विधेयक को लोकसभा में वापस कर दिया गया।

यह विधेयक "सुप्रीम कोर्ट जज (वेतन और सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1958" के साथ-साथ "उच्च न्यायालय के न्यायाधीश (वेतन और सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1954" में संशोधन करना चाहता है। ये अधिनियम भारत में उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवाओं और वेतन की शर्तों को विनियमित करते हैं।

इस विधेयक में पेंशन या पारिवारिक पेंशन की अतिरिक्त बढ़ोत्तरी का प्रावधान है। इसके तहत उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के सभी सेवानिवृत्त न्यायाधीशों सहित उनके परिवार के सदस्यों को पेंशन या पारिवारिक पेंशन के लिए अधिकृत किया जाता है।

एक निर्दिष्ट पैमाने के अनुरूप एक निश्चित आयु प्राप्त करने के बाद, उन्हें पेंशन या पारिवारिक पेंशन की अतिरिक्त बढ़ोत्तरी के लिए भी अधिकृत किया गया है। निर्दिष्ट पैमाने में पांच आयु वर्ग शामिल हैं, जिनकी न्यूनतम आयु 80, 85, 90, 95 और 100 वर्ष है। बढ़ती उम्र के साथ अतिरिक्त राशि पेंशन या पारिवारिक पेंशन के 20% से बढ़कर 100% हो जाती है।

इस बिल के अनुसार, एक व्यक्ति को उस महीने के पहले दिन से अतिरिक्त पेंशन या पारिवारिक पेंशन के लिए अधिकृत किया जाएगा, जिसमें वे संबंधित आयु वर्ग के तहत न्यूनतम आयु पूरी करते हैं।

न्यायपालिका को मजबूत करने के लिए केंद्र सरकार द्वारा उठाए गए कदम

सरकार ने 9000 करोड़ रुपये की कुल लागत पर 1 अप्रैल, 2021 से 31 मार्च, 2026 तक अतिरिक्त पांच वर्षों के लिए "न्यायपालिका के लिए बुनियादी सुविधाओं के विकास के लिए केंद्र प्रायोजित योजना" के विस्तार को मंजूरी दी है। यह योजना जिला और अधीनस्थ न्यायालयों के परिसरों के न्यायिक अधिकारियों के लिए वकील हॉल, कोर्ट हॉल और आवासीय इकाइयों के निर्माण में मदद करेगी।

ट्रिब्युनल सुधार बिल

हाल ही में, उच्चतम न्यायालय ने देश में कई महत्त्वपूर्ण अर्ध-न्यायिक निकायों या अधिकरणों में कर्मचारियों की भारी कमी को लेकर इसके काम काज पर असंतोष व्यक्त किया था। साथ ही, लोकसभा में भी न्यायाधिकरण सुधार विधेयक, 2021 पारित किया गया है।

राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 123 के खंड (1) के अधीन 4 अप्रैल, 2021 को 'अधिकरण सुधार (सुव्यवस्थीकरण और सेवा शर्तें) अध्यादेश, 2021 जारी किया था। इसमें अपीलीय निकायों के रूप में कार्य करने वाले आठ अधिकरणों को भंग करने और उसके कार्यों को मौजूदा न्यायिक मंचों, जैसे- सिविल कोर्ट या उच्च न्यायालय में स्थानांतरित करने का प्रस्ताव था।

वित्त मंत्री ने 'अधिकरण सुधार (सुव्यवस्थीकरण और सेवा शर्तें) विधेयक' के स्थान पर 'अधिकरण सुधार विधेयक, 2021' पेश किया है। यह विधेयक इससे संबंधित अध्यादेश का स्थान लेगा।

विधेयक के अनुसार, भंग किये जाने वाले अधिकरणों के अध्यक्ष और सदस्य तीन महीने के वेतन के बराबर मुआवजे और भत्ते के हकदार होंगे। इसमें कुछ अन्य न्यायाधिकरणों की नियुक्ति प्रक्रिया में बदलाव का भी प्रस्ताव है।

न्यायाधिकरण सुधार विधेयक, 2021 के माध्यम से चलचित्र अधिनियम 1952, सीमा शुल्क अधिनियम 1962, भारतीय विमानपत्तन प्राधिकरण अधिनियम 1994, व्यापार चिह्न अधिनियम 1999 तथा कुछ अन्य अधिनियमों में संशोधन का प्रस्ताव किया गया है।

इस विधेयक में न्यायाधिकरणों में खोज और चयन समितियों के लिये एकसमान वेतन व नियमों का प्रावधान है। इसमें न्यायाधिकरण के सदस्यों को हटाने का भी प्रावधान है। कुछ शर्तों के अधीन खोज-सह-चयन समिति की सिफारिश पर केंद्र सरकार किसी भी अध्यक्ष या सदस्य को हटा सकती है। अधिकरणों के अध्यक्ष और न्यायिक सदस्य उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश होते हैं। इन न्यायिक निकायों की स्वतंत्रता और कामकाज को लेकर अधिक जवाबदेही की आवश्यकता है।

इस संदर्भ में राज्य अधिकरणों के लिये खोज-सह-चयन समिति में राज्य के मुख्य सचिव तथा संबंधित राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष शामिल होंगे और इनके पास मतदान का अधिकार होगा। साथ ही, राज्य के सामान्य प्रशासनिक विभाग के सचिव या प्रधान सचिव भी समिति में शामिल होंगे, किंतु उनके पास मतदान का अधिकार नहीं है।

इससे चयन प्रक्रिया में सरकार की भूमिका में वृद्धि होगी। समिति का नेतृत्व करने वाले उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पास निर्णायक मत का अधिकार नहीं होगा।

स्थानीय प्रशासन
(Local Government)

पंचायती राज(Panchayati Raj)

पंचायती राज शब्द का तात्पर्य, ग्रामीण स्थानीय स्वशासन पद्धति से है। अपने वर्तमान स्वरूप से पहले भी पंचायतें किसी न किसी रूप में भारत के विभिन्न राज्य क्षेत्रों में विद्यमान रहीं हैं। वास्तव में पंचायतें हमारे समाज में निहित आत्मनिर्भरता, स्वावलंबन तथा स्वतंत्रता के प्रति निष्ठा व लगाव की सूचक हैं। पंचायत पद्धति भारत में मुगल काल तक निर्बाध रूप से चली आ रही, किन्तु अंग्रेजों के आगमन के बाद इस स्वायत्त इकाई में छेड़छाड़ शुरू हुई। इस व्यवस्था के पुनः स्थापन का प्रयास सर्वप्रथम 1786 में ब्रिटिश (Parliament) के द्वारा किया गया। 1830 में चार्ल्स मेटकॉफ द्वारा पुनः पंचायत पद्धति को बनाये रखने के प्रयास किये गये।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अंतरिम सरकार के गठन के साथ ही स्थानीय स्वशासन को सशक्त बनाने के प्रयास शुरू कर दिये गये। 1948 में संविधान सभा में पंचायती राज की भूमिका पर चर्चा के साथ समय-समय पर विभिन्न समितियों के गठन के द्वारा पंचायती राज की स्थापना के प्रयास किये गये। संविधान में अनुच्छेद 40 के अंतर्गत, पंचायती राज व्यवस्था को राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अंतर्गत रखा गया और अन्ततः 1992 के 73वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा इसे संविधान में शामिल कर लिया गया।

आधुनिक समय में पंचायती राज व्यवस्था का प्रारम्भ

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गाँधीजी के प्रभाव के कारण पंचायती राज व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया और इसके बाद 2 अक्टूबर, 1952 को इसी उद्देश्य के साथ 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' को प्रारम्भ किया गया कि सामान्य जनता को विकास प्रणाली से अधिक से अधिक सहयुक्त किया जाये।

इस कार्यक्रम के द्वारा सामान्य जनता को विकास की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया गया, लेकिन जनता को अधिकार नहीं दिया गया, जिस कारण यह सरकारी अधिकारियों तक सीमित रह गया और असफल हो गया। इसके बाद 2 अक्टूबर, 1953 को राष्ट्रीय प्रसार सेवा को प्रारम्भ किया गया, जो असफल हुआ।

बलवंत राय मेहता समिति (Balawant Rai Mehta Committee)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा द्वारा किये गये कार्यों की जाँच तथा उनके बेहतर ढंग से निष्पादन के लिए जनवरी, 1957 में बलवंत राय मेहता समिति का गठन किया गया।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सिफारिश करने वाली इस समिति ने नवंबर, 1957 में अपनी रिपोर्ट सौंपी, जिसके आधार पर 1959 में पंचायती राज अधिनियम पारित किया गया।

इस समिति के द्वारा निम्न सिफारिशें दी गईं-

- तीन स्तरीय पंचायती राज पद्धति की स्थापना की जाये, ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लॉक स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद।
- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की मूल इकाई प्रखंड या समिति के स्तर पर होनी चाहिए।
- ग्राम पंचायत की स्थापना प्रत्यक्ष रूप से चुने प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए जबकि पंचायत समिति और जिला परिषद का गठन अप्रत्यक्ष रूप से चुने सदस्यों द्वारा होना चाहिए।
- पंचायत समिति को कार्यकारी निकाय तथा जिला परिषद को सलाहकारी, समन्वयकारी और पर्यवेक्षण निकाय होना चाहिए।
- जिला परिषद का अध्यक्ष, जिलाधिकारी होना चाहिए।
- इन लोकतांत्रिक निकायों में शक्ति तथा उत्तरदायित्व का वास्तविक स्थानांतरण होना चाहिए।
- इन निकायों को पर्याप्त स्रोत मिलने चाहिए ताकि ये अपने कार्यों और जिम्मेदारियों को संपादित करने में समर्थ हो सकें।
- भविष्य में अधिकारों को और अधिक विस्तारित करने के लिए एक पद्धति विकसित की जानी चाहिए।

इस अधिनियम के प्रावधानों के आधार पर 2 अक्टूबर, 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज का उद्घाटन किया गया। इसके बाद 1959 में आंध्र प्रदेश, 1960 में असम, तमिलनाडु एवं कर्नाटक, 1962 में महाराष्ट्र, 1963 में गुजरात तथा 1964 में पश्चिम बंगाल में विधानसभाओं द्वारा पंचायती राज अधिनियम पारित करके पंचायती राज व्यवस्था को प्रारम्भ किया गया।

अशोक मेहता समिति (1977–78) (Ashok Mehta Committee)

बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशों के आधार पर स्थापित पंचायती राज व्यवस्था में कई कमियां उत्पन्न हो गयीं, जिन्हें दूर करने के लिए 1977 में अशोक मेहता समिति का गठन किया गया। जिसने 1978 में अपनी सिफारिशें दी। इन्होंने कुल 132 सिफारिशें दी जिनमें इनकी प्रमुख सिफारिशें निम्न है-

- त्रिस्तरीय पंचायती राज पद्धति को द्विस्तरीय पद्धति में बदलना चाहिए जिला स्तर पर जिला परिषद और ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायतों की स्थापना की जाये।
- लोक निरीक्षण में विकेन्द्रीकरण लिए प्रथम बिन्दु जिला होना चाहिए।
- जिला परिषद एक कार्यकारी निकाय के रूप में होना चाहिए और उसे राज्य स्तर पर योजना और विकास के लिए जिम्मेदार बनाया जाना चाहिए। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों हेतु स्थानों का आरक्षण।
- पंचायती चुनावों में सभी स्तर पर राजनीतिक पार्टियों की भागीदारी हो।
- आर्थिक स्त्रोतों के लिए पंचायती राज संस्थाओं के पास कराधान की आवश्यक शक्ति होनी चाहिए।
- न्याय पंचायत को विकास पंचायत से अलग निकाय बनाना चाहिए। पंचायती राज को संवैधानिक मान्यता मिलनी चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाओं में स्वैच्छिक संगठनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

ये सिफारिशें लोक सभा भंग हो जाने के कारण लागू नहीं हो सकीं, तथापि तीन राज्यों पश्चिम बंगाल, कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश में इन सिफारिशों को लागू करने का प्रयास किया।

पंचायती राज से संबंधित प्रमुख समितियाँ	
बलवंत राय मेहता समिति	1957
वी. टी. कृष्णामाचारी समिति	1960
तजतमल जैन स्टडी ग्रुप	1966
अशोक मेहता समिति	1977-1978
जी. वी. के. राव समिति	1985
एल. एम. सिंघवी समिति	1986
पी. के. थुंगन समिति	1988

डॉ. जी.वी.के. राव समिति (Dr. GVK Rao Committee)

1985 में डॉ. जी.वी.के. राव की अध्यक्षता में एक समिति का गठन करके, उसे यह कार्य सौंपा गया कि वह ग्रामीण विकास तथा गरीबी को दूर करने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था पर सिफारिश करें। इस समिति की सिफारिशें निम्न हैं–

- जिला स्तरीय निकाय, अर्थात् जिला परिषद को लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए।
- जिला एवं स्थानीय स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं को विकास कार्यों के नियोजन, क्रियान्वयन एवं निगरानी में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की जानी चाहिए।
- एक जिला विकास आयुक्त के पद का सृजन किया जाना चाहिए। इसे जिला परिषद के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में कार्य करना चाहिए तथा उसे जिला स्तर के सभी विकास विभागों का प्रभारी होना चाहिए।
- समिति का निष्कर्ष रहा कि, विकास नौकरशाही युक्त होने की वजह से पंचायती राज से दूर होता जा रहा है तथा पंचायती राज संस्थायें कमजोर होती जा रहीं हैं।
- प्रभावी जिला नियोजन, विकेन्द्रीकरण के लिए राज्य स्तर के कुछ नियोजन कार्यों को जिला स्तर पर हस्तांतरित किया जाना चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाओं में नियमित निर्वाचन होने चाहिए। यह पाया गया कि, 11 राज्यों में एक अथवा अधिक स्तरों के लिए ये चुनाव समय से संपन्न नहीं कराये गये हैं।
- इस समिति ने विभिन्न स्तरों पर अनुसूचित जाति तथा जनजाति एवं महिलाओं के लिए आरक्षण की भी सिफारिश की, लेकिन समिति की सिफारिश को अमान्य कर दिया गया।

डॉ. एल.एम. सिंघवी समिति (Dr. LM Singhavi Committee)

1986 में राजीव गाँधी सरकार ने 'लोकतंत्र व विकास के लिए पंचायती राज संस्थाओं का पुनरूद्धार' पर एक समिति का गठन एल.एम. सिंघवी की अध्यक्षता में किया। इसने निम्न सिफारिशें दीं–

- पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक रूप से मान्यता देने और उनके संरक्षण की आवश्यकता है।
- इस कार्य के लिए भारत के संविधान में एक नया अध्याय जोड़ा जाये। इससे उनकी पहचान और विश्वसनीयता अनुलंघनीय होने में महत्त्वपूर्ण मदद मिलेगी।
- गाँवों के समूह के लिए न्याय पंचायतों की स्थापना की जाये।
- ग्राम पंचायतों को अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए गाँवों का पुनगर्ठन किया जाये तथा ग्राम सभा की स्थापना की जाये।
- ग्राम पंचायतों का आर्थिक सशक्तिकरण किया जाये।
- इसने पंचायती राज विकास के नियमित स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराने के संवैधानिक उपबंध की सलाह भी दी। समिति की सिफारिशों के आधार पर संविधान संशोधन विधेयक पेश कया गया जो जो लोकसभा में पारित हो गया, किंतु राज्यसभा में पारित नहीं।

थुंगन समिति (Thungan Committee)

1988 में, संसद की सलाहकार समिति की एक उप-समिति पी. के. थुंगन की अध्यक्षता में राजनीतिक और प्रशासनिक ढांचे की जांच करने के उद्देश्य से गठित की गयी। इस समिति ने पंचायती राज व्यवस्था को मजबूत बनाने के लिए सुझाव दिया। इस समिति ने निम्नलिखित अनुशंसाएं की थीं–

- पंचायती राज्य संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्राप्त होनी चाहिए।
- गांव प्रखंड तथा जिला स्तरों पर त्रि-स्तरीय पंचायती राज की स्थापना की जानी चाहिए।
- जिला परिषद को पंचायती राज व्यवस्था की धुरी होना चाहिए। इसे जिले में योजना निर्माण एवं विकास की एजेंसी के रूप में कार्य करना चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाओं का पांच वर्ष का निश्चित कार्यकाल होना चाहिए।
- एक संस्था के सुपरसत्र की अधिकतम अवधि छह माह तक होनी चाहिए।
- राज्य स्तर पर योजना मंत्री की अध्यक्षता में एक योजना निर्माण तथा समन्वय समिति गठित होनी चाहिए।
- पंचायती राज पर केंद्रित विषयों की एक विस्तृत सूची तैयार करनी चाहिए तथा उसे संविधान में समाहित करना चाहिए।
- पंचायती राज के तीन स्तरों पर जनसंख्या के हिसाब से आरक्षण होना चाहिए। महिलाओं के लिए भी आरक्षण होना चाहिए।
- राज्य में एक राज्य वित्त आयोग का गठन होना चाहिए। यह आयोग पंचायती राज संस्थाओं को वित्त के वितरण के पात्रता-बिन्दु तथा विधियाँ तय करेगा।
- जिला परिषद का मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी जिले का कलेक्टर होगा।
- इस समिति के सुझावों के आधार पर 1989 में संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया, परंतु बहुमत न होने के कारण राज्यसभा में पारित नहीं हो सका।

गाडगिल समिति (Gadgil Committee)

1988 में वी. एन. गाडगिल की अध्यक्षता में एक 'नीति एवं कार्यक्रम समिति' का गठन कांग्रेस पार्टी ने किया था। इस समिति से इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कहा गया कि '' पंचायती राज संस्थाओं को प्रभावकारी कैसे बनाया जा सकता।'' इस संदर्भ में समिति ने निम्न अनुशंसाएँ (Recommendations) की थीं।

- पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा दिया जाए।
- प्रखंड तथा जिला स्तर पर त्रि-स्तरीय पंचायती राज होना चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल पाँच वर्ष सुनिश्चित कर दिया जाए।
- पंचायत के सभी तीन स्तरों के सदस्यों का सीधा निर्वाचन होना चाहिए।
- अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा महिलाओं के लिए आरक्षण होना चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाओं की यह जिम्मेदारी होगी कि, वे पंचायत क्षेत्र के सामाजिक आर्थिक विकास के लिए योजनाएँ बनाएंगें तथा उन्हें कार्यान्वित करेंगे।
- पंचायती राज संस्थाओं को कर (Taxes) तथा शुल्क (Duties) लगाने, वसूलने तथा जमा करने का अधिकार होगा।
- एक राज्य वित्त आयोग की स्थापना हो, जो पंचायतों को वित्त का आवंटन करें।
- एक राज्य चुनाव आयोग की स्थापना हो जो पंचायतों के चुनाव संपन्न करवाए।

गाडगिल समिति की ये अनुशांसाएँ एक संशोधन विधेयक के निर्माण का आधार बनी। इस विधेयक का लक्ष्य था पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा तथा सुरक्षा देना।

73वाँ संविधान संशोधन

(73rd Constitutional Amendement)

पंचायत को अधिक सुचारू रूप से चलाने के लिए संविधान के 73वें संशोधन द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई और संविधान में एक नया भाग 'भाग 9' जोड़ा गया। भाग 9 द्वारा संविधान में 16 अनुच्छेद और एक अनुसूची 'ग्यारहवीं अनुसूची', जोड़ी गयी है। 24 अप्रैल, 1993 से 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1993 लागू किया गया।

संविधान के भाग 9 के अंतर्गत, **अनुच्छेद 243 (ख)** के द्वारा त्रिस्तरीय पंचायती

राज व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, ग्राम तथा जिला के बीच का स्तर, जिला स्तर पर (क्रमशः ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद) पंचायती राज संस्थाओं का गठन किया जाएगा, किंतु 20 लाख से कम जनसंख्या वाले राज्यों में मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गठन करना आवश्यक नहीं होगा।

73वाँ संविधान संशोधन का कतिपय क्षेत्रों पर लागू न होना

- **अनुच्छेद 243(ड)** के अनुसार, इस भाग की कोई बात **अनुच्छेद 244(1)** में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और **244(2)** में निर्दिष्ट जनजाति क्षेत्रों में लागू नहीं होगी।
- इस भाग की कोई बात नागालैंड, मेघालय, मिजोरम एवं मणिपुर राज्य में ऐसे पर्वतीय क्षेत्र, जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन जो जिला परिषदें विद्यमान हैं, पर लागू नहीं होगी।
- इस भाग की कोई बात जिला स्तर पर पंचायतों के संबंध में पश्चिम बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में लागू नहीं होगी जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद विद्यमान है। किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह ऐसी विधि के अधीन गठित दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद के कृत्यों और शक्तियों पर प्रभाव डालती है।
- इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी संसद, विधि द्वारा, इस भाग के उपबंधों का विस्तार खण्ड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों पर, ऐसे अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए कर सकेगी, जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएं और ऐसी किसी विधि को अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा।

पंचायत व्यवस्था से संबंधित प्रावधान

इस अधिनियम की प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं:-

पंचायतों की संरचना- पंचायतों की संरचना के लिए उपबंध करने की शक्ति राज्य विधानमंडल को प्रदान की गई है, परन्तु किसी भी स्तर पर पंचायत के प्रादेशिक क्षेत्र की जनसंख्या और ऐसी पंचायत में निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की संख्या के बीच अनुपात समस्त राज्य में यथासंभव एक ही रखने की अपेक्षा की गयी है। पंचायतों के सभी स्थान पंचायत राज्य क्षेत्र के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए व्यक्तियों से भरे जाएंगे। इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक पंचायत क्षेत्र को इस प्रकार निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाएगा कि, प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या और उसको आवंटित स्थानों की संख्या के बीच अनुपात समस्त पंचायत क्षेत्र में यथासम्भव एक ही हो। प्रत्येक पंचायत का अध्यक्ष राज्य द्वारा पारित विधि के अनुसार निर्वाचित होगा। इस विधि में यह निश्चित किया जाएगा कि ग्राम पंचायत और अंतर्वर्ती पंचायत के अध्यक्षों का जिला पंचायत में प्रतिनिधित्व किस प्रकार होगा। इस विधि में संघ और राज्य के विधानमण्डलों के सदस्यों के सम्मिलित होने के बारे में नियम होगा। इस अधिनियम में सभी राज्यों के लिए त्रिस्तरीय प्रणाली का प्रावधान किया गया है, अर्थात् ग्राम, माध्यमिक और जिला स्तर पर पंचायत। अतः यह अधिनियम पूरे देश में पंचायती राज की संरचना में समरूपता लाता है, ऐसा राज्य जिसकी जनसंख्या 20 लाख से ऊपर न हो, तो माध्यमिक स्तर पर पंचायतों को गठन न करने की छूट देता है।

सदस्यों एवं अध्यक्ष का चुनाव- गाँव, माध्यमिक तथा जिला स्तर पर पंचायतों के सभी सदस्य, लोगों द्वारा सीधे चुने जाएगे। माध्यमिक एवं जिला स्तर पर पंचायत के अध्यक्ष का चुनाव निर्वाचित सदस्यों द्वारा उन्हीं में से अप्रत्यक्ष रूप से होगा, जबकि गांव स्तर पर पंचायत के अध्यक्ष का चुनाव राज्य के विधानमंडल द्वारा निर्धारित तरीके से किया जाएगा। स्मरणीय रहे कि, अध्यक्ष, संसद सदस्य और विधान सभा के सदस्यों को पंचायत की बैठकों में मत देने का अधिकार होता है।

आरक्षण- स्थानीय प्रशासन में सभी लोगों की सहभागिता के समान अवसर प्रदान करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 243(घ) के अंतर्गत, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के अंतर्गत, सत्ता में महिलाओं की सहभागिता के अवसर उपलब्ध कराने हेतु प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन से भरे जाने वाले कुल स्थानों में से **1/3** स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाने का प्रावधान किया गया है। राज्य विधि द्वारा किसी भी स्तर की पंचायत में नागरिकों के पिछड़े वर्गों के पक्ष में स्थानों का आरक्षण कर सकेगा।

अवधि- पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल **5 वर्ष** होगा। किसी पंचायत के गठन के लिए निर्वाचन 5 वर्ष की अवधि के पूर्व विघटन की तिथि से **6 माह** की अवधि की समाप्ति से पूर्व करा लिया जायेगा।

सदस्यता के लिए अर्हता- **अनुच्छेद 243(च)** में यह उपबंध है कि, वे सभी व्यक्ति जो राज्य विधानमण्डल के लिए निर्वाचित होने की अर्हता रखते हैं, पंचायत का सदस्य होने के लिए अर्ह होंगे। केवल एक अंतर है, 21 वर्ष की आयु की पूरा करने वाला व्यक्ति सदस्य बनने के लिए अर्ह होगा। किसी सदस्य की निरर्हता का प्रश्न ऐसे प्राधिकारी को विनिर्दिष्ट किया जाएगा, जो राज्य विधानमण्डल विधि द्वारा उपबंधित करे।

वित्त आयोग- राज्य का राज्यपाल 73वें संशोधन के प्रारम्भ से एक वर्ष के भीतर और उसके बाद प्रत्येक अवसान पर (पाँचवे वर्ष) पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनरीक्षण करने के लिए एक वित्त आयोग का गठन करेगा। वित्त आयोग निम्नलिखित विषय में राज्यपाल को अपनी सिफारिश करेगा:-

- ऐसे करों, पथ करों और फीसों को दर्शाना, जो पंचायतों को प्रदान की जा सकें;
- राज्य की संचित निधि में पंचायतों के लिए सहायता अनुदान की संस्तुति करना;
- पंचायतों की वित्तीय स्थिति के सुधार के लिए उपाय बताना।

राज्य निर्वाचन आयोग- **अनुच्छेद 243(ट)** में पंचायतों के लिए राज्य निर्वाचन आयोग के गठन का उपबंध है, जिसमें एक राज्य निर्वाचन आयुक्त होगा, जिसकी नियुक्ति राज्यपाल करेगा। निर्वाचक नामावली तैयार कराने और पंचायतों के निर्वाचन के संचालन का अधीक्षण निदेशन और नियंत्रण इस राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा। आयोग स्वतंत्र बना रहे, यह सुनिश्चित करने के लिए यह उपबन्धित है कि राज्य निर्वाचन आयुक्त को उन्हीं आधारों पर और उसी प्रक्रिया से हटाया जा सकता है, जिस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है।

न्यायालयों के हस्तक्षेप का रोका जाना- **अनुच्छेद 329** में यह कहा गया है कि, निर्वाचन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाने पर न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार न्यायालयों को **अनुच्छेद 243(ट)** के अधीन निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन या स्थानों के आवंटन से संबंधित किसी विधि की वैधानिकता का परीक्षण करने से प्रतिबन्धित किया गया है। पंचायत का निर्वाचन, निर्वाचन-अर्जी पर ही प्रश्नगत किया जा सकेगा, जो ऐसे प्राधिकारी को और ऐसी रीति से प्रस्तुत की जाएगी, जो राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके, अधीन विहित किया जाए।

पंचायती राज की संरचना (Structure of Panchayati Raj)

ग्राम पंचायत

प्रत्येक ग्राम सभा क्षेत्र में ग्राम पंचायत का प्रावधान किया गया है, ये ग्राम सभा की निर्वाचित कार्यपालिका है। ग्राम पंचायत का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से 5 वर्ष के

लिए किया जाता है। यदि ग्राम पंचायत का विघटन 5 वर्ष पूर्ण होने से पहले (6 माह या ज्यादा) हो जाता है, शेष अवधि के लिए पुनः चुनाव कराना आवश्यक है। ग्राम पंचायत की बैठक माह में 1 बार होना आवश्यक है, ये बैठक प्रधान द्वारा तथा उसकी अनुपस्थिति में उप प्रधान द्वारा आयोजित की जाती है। इसके अलावा ग्राम पंचायत के 1/3 सदस्य किसी भी समय हस्ताक्षर द्वारा बैठक बुलाने की मांग कर सकते है।

ग्राम सभा

यह अधिनियम पंचायती राज के अंतर्गत, ग्राम सभा का प्रावधान करता है। इस निकाय में गांव स्तर पर गठित पंचायत क्षेत्र में निर्वाचक सूची में पंजीकृत व्यक्ति होते है जिसे ''ग्राम सभा'' कहा जाता है, अर्थात् ग्राम सभा में गाँव स्तर पर गठित पंचायत क्षेत्र में निर्वाचक सूची में पंजीकृत सभी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। अतः इस प्रकार यह देश में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की महत्त्वपूर्ण संस्था है।
ग्राम सभा की प्रत्येक वर्ष कम से कम दो बार बैठकें होती हैं। इन बैठकों में, लोगों की आम सभा के रूप में पंचायतों के वार्षिक लेखा विवरण या प्रशासनिक रिपोर्ट पर चर्चा होती है।

क्षेत्र पंचायत

यह गाँव व जिले के मध्य संपर्क स्थापित करती है, इसमें क्षेत्र की समस्त पंचायत प्रधान के अतिरिक्त उस क्षेत्र के लोकसभा व विधानसभा के सदस्य भी शामिल होते है। इनका कार्यकाल 5 वर्ष है तथा इन्हें 5 वर्ष के पूर्व भी सरकार द्वारा विघटित किया जा सकता है।

जिला पंचायत

यह पंचायती राज व्यवस्था का शीर्ष स्तर है। इसका कार्यकाल भी 5 वर्ष होता है तथा इसका अध्यक्ष अप्रत्यक्ष विधि से निर्वाचित किया जाता है। जिला पंचायत जिले में क्षेत्र पंचायतों तथा पंचायतों के कार्यों में तालमेल उत्पन्न करती है, उनको परामर्श देती है तथा उनके कार्यों की देखभाल करती है।

पंचायतों की शक्तियाँ व कार्य
(Powers and Functions of Panchayat)

11वीं अनुसूची में **29** विषय हैं, जिन पर पंचायतें विधि बनाकर उन कार्यों का सुधार कर सकेंगी। ये हैं- कृषि तथा कृषि क्षेत्र में विकास, भू-सुधार, चकबंदी एवं भू-संरक्षण (मृदा-संरक्षण), लघु सिंचाई, जल-प्रबंधन पशुपालन, कुक्कुटपालन एवं दुग्ध उद्योग, लघु वन उत्पाद आदि।
राज्य विधानमंडल पंचायतों को आवश्यकतानुसार ऐसी शक्तियाँ और अधिकार दे सकती है, जिससे कि वह स्वशासन संस्थाओं के रूप में कार्य करने में सक्षम हों। इस तरह की योजना में उपयुक्त स्तर पंचायतों के अंतर्गत, शक्तियाँ और जिम्मेदारियों को प्रस्थापित की जाएँ, जो निम्नलिखित से संबंधित हैं-

- आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के कार्यक्रमों को तैयार करने से।
- आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के सौंपे गए कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना, जिसमें 11वीं अनुसूची के 29 मामलों के विषय भी सम्मिलित हैं।

वित्त- राज्य विधानमंडल निम्न अधिकार रखता है-

- पंचायतों को उपयुक्त कर, चुंगी, शुल्क लगाने और उनके संग्रहण के लिए प्राधिकृत कर सकता है।
- राज्य विधानमंडल राज्य सरकार द्वारा आरोपित और संगृहित करों, चुंगी, मार्ग कर और शुल्क पंचायतों को सौंपे जा सकते हैं।
- राज्य की समेकित निधि से पंचायतों को अनुदान सहायता देने के लिए उपबंध करता है।
- निधियों के गठन का उपबंध करेगा, जिसमें पंचायतों को दिया गया सारा धन जमा होगा।

पंचायतों के अनिवार्य एवं स्वैच्छिक प्रावधान
(Mandatary and Voluntary provisions of Panchayat)

- संविधान के भाग 9 में पंचायतों के स्वैच्छिक तथा बाध्यकारी कार्यों का वर्णन किया गया है, जो निम्न है-

अ. अनिवार्य कार्य

- एक गांव या गाँवों के समूह में ग्राम सभा का गठन।
- गाँव स्तर, माध्यमिक स्तर एवं जिला स्तर पर पंचायतों की स्थापना।
- तीनों स्तरों पर सभी सीटों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव।
- माध्यमिक और जिला स्तर के प्रमुखों के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव।
- पंचायतों में चुनाव लड़ने के लिए न्यूनतम आयु 21 वर्ष होनी चाहिए।
- सभी स्तरों पर अनुसूचित जाति एवं जनजातियों (सदस्य एवं प्रमुख दोनों के लिए) के लिए आरक्षण।
- सभी स्तरों पर (सदस्य एवं प्रमुख दोनों के लिए) एक-तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित।
- पंचायतों के साथ ही मध्यवर्ती क्षेत्र एवं जिला निकायों का कार्यकाल पाँच वर्ष होना चाहिए तथा किसी पंचायत का कार्यकाल समाप्त होने के छह माह की अवधि के भीतर नये चुनाव हो जाने चाहिए।
- पंचायती राज संस्थानों में चुनाव कराने के लिए राज्य निर्वाचन आयोग की स्थापना करना।
- पंचायतों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करने के लिए प्रत्येक पाँच वर्ष बाद एक राज्य वित्त आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।

ब. स्वैच्छिक कार्य

- विधानसभाओं एवं संसदीय निर्वाचन क्षेत्र विशेष के अंतर्गत आने वाले सभी पंचायती राज संस्थानों में संसद और विधानमंडल (दोनों सदन) के प्रतिनिधित्व को शामिल किया जाना।
- पंचायत के किसी भी स्तर पर विधि बनाकर (सदस्य एवं प्रमुख दोनों के लिए) स्थानों का आरक्षण।
- पंचायतें स्थानीय सरकार के रूप में कार्य कर सकें, इस हेतु उन्हें अधिकार एवं शक्तियां देना।
- पंचायतों को सामाजिक न्याय एवं आर्थिक विकास के लिए योजनाएँ तैयार करने के लिए शक्तियों और दायित्वों का प्रत्यायन और संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची के 29 कार्यों में से सभी अथवा कुछ को संपन्न करना।
- पंचायतों को वित्तीय अधिकार देना, अर्थात् उन्हें उचित कर, पथकर और शुल्क आदि के आरोपण और संग्रहण के लिए प्राधिकृत करना।

11वीं अनुसूची (11th Schedule)

इसमें पंचायतों के कानून क्षेत्र के साथ 29 प्रकार्यात्मक विषय-वस्तु समाहित है-

1. कृषि, जिसमें कृषि विस्तार सम्मिलित है।
2. भूमि विकास, भूमि सुधार लागू करना, भूमि संगठन एवं भूमि संरक्षण।
3. लघु सिचांई, जल प्रबंधन और नदियों के मध्य भूमि विकास।
4. पशुपालन, दुग्ध व्यवसाय तथा मत्स्यपालन।
5. मत्स्य उद्योग
6. वन जीवन तथा कृषि खेती (वनों में)।

7. लघु वन उत्पत्ति।
8. लघु उद्योग, जिसमें खाद्य उद्योग सम्मिलित है।
9. खादी, ग्राम एवं कुटीर उद्योग।
10. ग्रामीण विकास।
11. पीने के पानी का प्रबंधन।
12. ईंधन तथा पशुचारा।
13. सड़कें, पुलों, तटों, जलमार्ग तथा अन्य संचार के साधन।
14. ग्रामीण विद्युत जिसमें विद्युत विभाजन समाहित है।
15. गैर परंपरागत ऊर्जा स्त्रोत।
16. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम।
17. प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा संबंधी विद्यालय।
18. यांत्रिक प्रशिक्षण एवं व्यावसायिक शिक्षा।
19. वयस्क एवं गैर वयस्क औपचारिक शिक्षा।
20. पुस्तकालय।
21. सांस्कृतिक कार्य।
22. बाजार एवं मेले।
23. स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य संबंधी संस्थाएँ जिनमें अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र तथा दवाखाने शामिल है।
24. पारिवारिक समृद्धि।
25. महिला एवं बाल विकास।
26. सामाजिक समृद्धि, जिसमें विकलांग व मानसिक रोगी की समृद्धि निहित है।
27. कमजोर वर्ग की समृद्धि, जिसमें विशेषकर अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति वर्ग शामिल है।
28. लोक विभाजन पद्धति।
29. सार्वजनिक संपत्ति की देख-रेख।

ग्राम न्यायालय

देश में ग्रामीण अंचलों के निवासियों को पंचायत स्तर पर ही न्याय उपलब्ध कराने के लिए प्रत्येक पंचायत स्तर पर एक ग्राम न्यायालय की स्थापना की गई। ये न्यायालय त्वरित अदालतों की तर्ज पर स्थापित है। ग्राम न्यायालयों की स्थापना से अधीनस्थ अदालतों में लंबित मुकदमों की संख्या कम करने में मदद मिलेगी।

राज्य निर्वाचन आयोग

चुनावी प्रक्रियाओं की तैयारी की देख-रेख, मतदाता सूची तैयार करने पर नियंत्रण और पंचायतों के सभी चुनावों को संपन्न कराने की शक्ति राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगी। इसमें राज्यपाल द्वारा नियुक्त राज्य चुनाव आयुक्त सम्मिलित है। उसकी सेवा शर्तें और पदावधि भी राज्यपाल द्वारा निर्धारित की जाएगी।

वित्त आयोग

राज्य का राज्यपाल प्रत्येक 5 वर्ष के पश्चात् पंचायतों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा के लिए वित्त आयोग का गठन करेगा। यह आयोग राज्यपाल को राज्य सरकार द्वारा लगाये गये कुल करो चुंगी मार्ग कर एवं एकत्रित शुल्कों के निर्धारण व बंटवारे की सिफारिश करेगा तथा पंचायतों की वित्तीय स्थिति में सुधार के उपाय करेगा।

वर्तमान कानून की निरंतरता एवं पंचायतों का अस्तित्व

पंचायतों से संबंधित राज्य के सभी कानून प्रभावी रूप से इस अधिनियम के आरंभ होने से 1 वर्ष की अवधि खत्म होने तक लागू रहेंगे। दूसरे शब्दों में, कोई भी राज्य नए पंचायती राज कार्यक्रम को 24 अप्रैल, 1993 के बाद अधिकतम 1 वर्ष की अवधि के अंदर अपनाए, जो कि इस अधिनियम के शुरूआत की तारीख है। फिर भी यह कानून लागू होने से पूर्व बनी पंचायत अपनी अवधि समाप्त होने तक कार्यकाल पूरा कर सकती है, यदि वह उससे पूर्व शीघ्र ही विघटित न कर दी जाए।

पंचायती राज की सीमाएँ (Limitations of Panchayati Raj)

- ***उत्तरदायित्व का अभाव***- ग्राम पंचायत के स्तर पर अधिकांश कार्मिक मामलों में लोक सेवक ग्राम पंचायत तथा ग्राम सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होते है। हालाँकि वे उस स्तर पर शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आजीविका सृजन करने जैसी महत्त्वपूर्ण सेवाएँ प्रदान करते है।
- ***क्षमताओं का अभाव***- इनमें बहु कार्य करने या अन्य दायित्वों के निर्वहन संबंधी क्षमताओं का विकास एक निश्चित समयावधि में नहीं किया जा सकता है। ग्राम पंचायत स्तर पर कार्यवाहियों के क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर समन्वय का अभाव विद्यमान है तथा विभिन्न विभागों और योजनाओं के तहत उन्हें विशिष्ट अधिदेश के साथ नियुक्त करने के कारण ऊर्ध्वाधर एकीकरण सुनिश्चित नहीं किया जा सका है।
- ***निगरानी का अभाव***- मौजूदा नियमों के उल्लंघन की जाँच हेतु सुव्यवस्थित निगरानी तंत्र का अभाव है। विशेष रूप से ग्राम पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों में प्रशासनिक अनुभव के अभाव की स्थिति में सरकारी कर्मचारियों पर निर्भरता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इस कारण कर्मचारियों द्वारा इस स्थिति का अनुचित दोहन किया जा सकता है अथवा निर्वाचित प्रतिनिधियों एवं अधिकारियों के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो सकता है।
- ***राज्यों के मध्य भिन्नता***- नियुक्ति के संदर्भ में विभिन्न राज्यों के मध्य व्यापक विविधता पायी जाती है, जैसे योग्यता एवं भर्ती के तरीके, अवधि, पारिश्रमिक, यात्रा-भत्ते तथा एक समान कैडरों के लिए अन्य भिन्न परिस्थितियां। इसके अतिरिक्त, अधिकांश राज्यों में मानव संसाधन नीति का अभाव है।
- ***पारिश्रमिक में भिन्नता***- अन्य विभागों द्वारा अतिरिक्त कार्य के लिए अतिरिक्त पारिश्रमिक का भुगतान नहीं किया जाता, परिणामस्वरूप कर्मचारियों का एक राज्य से दूसरे राज्य में तथा कभी-कभी एक योजना से दूसरी योजना में स्थानान्तरण हो जाता है।
- ***कार्यों का अवैज्ञानिक वितरण***- पंचायती राज व्यवस्था के तहत विभिन्न स्तरों की संरचनाओं के बीच कार्यों के वैज्ञानिक वितरण के मामले में दोषपूर्ण पद्धति को अपनाने के आरोप लगते रहते हैं। विकास तथा स्थानीय स्वशासन के कार्यों के मिश्रण ने पंचायती राज संस्थानों की स्वायत्तता अत्यंत कम कर दी है और इसे सरकारी एजेंसियों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। पंचायत व पंचायत समितियों के कार्यों में दोहराव, भ्रम की स्थिति तथा सुनिश्चित जवाबदेही एवं उत्तरदायित्व का अभाव पाया जाता है।
- ***तीनों स्तरों के बीच असंगत संबंध***- तीनों स्तर एक कार्यात्मक प्राधिकरण के रूप में कार्य नहीं करते, ऊपरी स्तर द्वारा निचले स्तर को अपने अधीन समझने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। प्राय: यह आरोप लगाया जाता है कि, इनमें श्रेणीक्रम वर्चस्व का मुद्दा आम है, जो जिला परिषद से पंचायत समिति और तत्पश्चात ग्राम पंचायत तक श्रेणीबद्ध रूप में दिखती है। इस प्रकार के पारस्परिक संबंध लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में असंगतता रखते हैं।
- ***अधिकारियों तथा प्रतिनिधियों में सौहार्दपूर्ण संबंधों की कमी***- पंचायती राज को अपनाने का मुख्य उद्देश्य लोगों की प्रभावी सहभागिता सुनिश्चित करना था, परन्तु यह संभव नहीं हुआ। इन संस्थाओं में तकनीकी पदों पर सरकार द्वारा नियुक्तियां की जाती है। यहां पर खंड विकास अधिकारी, जिलाधिकारी तथा जनता के मध्य सहयोग व समन्वय का अभाव पाया जाता है तथा अधिकारी अपने कर्तव्यों का निर्वाह अपेक्षित कुशलता के साथ नहीं करते हैं।
- ***पंचायती राज संस्थाओं का अलोकतांत्रिक संघटन***- विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं का गठन लोकतांत्रिक मानदंडों व सिद्धांतों के आधार पर किया जाता है। पंचायत समिति के प्रमुख का अप्रत्यक्ष चुनाव भ्रष्टाचार

व रिश्वतखोरी की संभावना को बढ़ाता है। जिला परिषद में पदेन सदस्यों का सम्मिलित होना (जिनमें अधिकांशतः सरकारी कर्मचारी होते हैं) लोकतांत्रिक सिद्धांतों के विपरीत है।

- ***पंचायती राज संस्थाओं का राजनीतिकरण***- यह अनुभव किया जा रहा है कि, पंचायती राज संस्थाएं, राजनीतिक दलों, विशेष रूप से राज्य में सत्तासीन दल का संगठनात्मक अंग बनती जा रही हैं। कई राज्यों में राज्य सरकारें पंचायती राज संस्थाओं को अपनी सुविधा के आधार पर कार्य करने की अनुमति देती है, न कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के दर्शन के आधार पर।

राज्य सरकारों द्वारा पंचायतों पर नियंत्रण के साधन

संविधान के **अनुच्छेद 40** में यह स्पष्ट कहा गया है कि, राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो। इसके अलावा राज्य सरकारें सुनिश्चित करती है कि, सभी वर्गों को समान प्रतिनिधित्व मिल सके। इसके अलावा राज्य विधानमंडल पंचायत के लेखाओं की सम्परीक्षा करता है एवं पंचायत को कार्य करने के लिए इच्छित धनराशि का आवंटन राज्य वित्त आयोग के जरिए करता है। इसके अलावा राज्य यह सुनिश्चित करता है कि, पंचायतें कर आरोपित करें और कर से प्राप्त धन जमा करने के लिए निधियों का गठन करे एवं उसके धन निकालने का प्रबंध करे। राज्य सरकारें राज्य निर्वाचन आयोग की मदद से निर्वाचक नामावली तैयार कराती है, जो पंचायत के चुनाव को सुनिश्चित कर सके। इन सब उपबंधों के माध्यम से राज्य सरकारें पंचायतों पर नियंत्रण करती है।

पंचायती राज हेतु सुझाव (Suggestions for Panchayati Raj)

- पंचायती राज मंत्रालय की स्थापना वर्ष 2004 को 73वें संविधान संशोधन के प्रावधानों के क्रियान्वयन की निगरानी तथा पंचायती राज संस्थाओं को अधिकारों के हस्तांतरण में गति देने के लिए की गयी थी।
- इस मंत्रालय ने मंत्रिस्तरीय तथा निम्न स्तरीय सम्मेलनों का आयोजन किया, जिससे अधिकारों के हस्तांतरण को बढ़ावा मिले। इन प्रयासों में देश में पंचायती राज संस्थाओं के कार्य निष्पादन में सुधार के लिए रोडमैप तैयार करना शामिल था, जिसके कुछ महत्वपूर्ण पहलू इस प्रकार हैं।
- ***वित्त***- राज्य सरकारों द्वारा पंचायतों को प्रदान की जाने वाली समग्र अनुदान राशि बढ़ाई जानी चाहिए तथा केन्द्र व राज्य सरकारों पर निर्भरता कम करने के लिए पंचायतों को कर वसूलने व एकत्र करने का अधिक स्पष्ट अधिकार दिया जाना चाहिए।
    - धन के इस हस्तांतरण को प्रदर्शन से जोड़ा जाना चाहिए। इस संदर्भ में पंचायत सशक्तिकरण और जवाबदेही प्रोत्साहन योजना (Panchayat Empowerment and Accountability Incentive Scheme: PEAIS) महत्वपूर्ण है। यह योजना पंचायतों के सशक्तिकरण के लिए तैयार की गई है, जिससे पंचायतों में पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने का तंत्र लाया जा सके।
    - कार्य प्रदर्शन को हस्तांतरण सूचकांक (Devolution Index) द्वारा मापा जा सकता है। इस सूचकांक में उच्च स्थान पर रहने वाले राज्यों को टोकन पुरस्कार दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, PEAIS के तहत राज्यों का मूल्यांकन दो चरणों में होता है। पहला चरण (जिसे फ्रेमवर्क मापदंड कहा जाता है) निम्नलिखित चार मौलिक संवैधानिक आवश्यकताओं पर आधारित हैं-
- राज्य निर्वाचन आयोग की स्थापना,
- पंचायती राज के चुनावों का आयोजन,
- राज्य वित्त आयोग की स्थापना तथा
- जिला योजना समितियों का गठन।
- जो राज्य इन आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, वे हस्तांतरण सूचकांक पर मूल्यांकित किये जाने की योग्यता रखते है। इन्हें 3Fs: कार्य, कार्यान्वयन अधिकारी और कोष (Function, Funcitionaries and Fund) के अनुसरण में मापा जाता है। हालाँकि PEAIS के लिए विकसित हस्तांतरण सूचकांक अभी तक पंचायती राज व्यवस्था की जवाबदेही व प्रदर्शन को स्पष्ट करने में सक्षम नहीं हो सका है।
- ***सशक्तिकरण***- पंचायती राज संस्थाओं हेतु प्रगतिशील हस्तांतरण को 3Fs के माध्यम से सुनिश्चित किया जाना चाहिए। पंचायतों में महिलाओं के लिए आरक्षण बढ़ाया जाना चाहिए। (Panchayats Extension to schedule Areas Act 1996 PESA) कानून को प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए।
- ***जवाबदेही***- रिपोर्ट की अनुशंसा है कि, ग्रामसभा को स्थानीय संस्थाओं व अधिकारियों पर प्रभावी नियंत्रण दिया जाना चाहिए तथा इसे योजनाओं, कार्यों, लाभार्थियों, लाभार्थी प्रमाणपत्रों की मंजूरी के लिए अधिकृत किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, ग्रामसभा की सभी योजनाओं के लिए सामाजिक अंकेक्षण Social Audit अनिर्वाय बनाया जाना चाहिए। पंचायतों के खातों, योजनाओं आदि को ऑनलाइन पब्लिक डोमेन में रखा जाना चाहिए।
- ***ई-गवर्नेंस***- ई पंचायत का संचालन एक मिशनमोड के अंतर्गत प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए। सभी ग्राम पंचायतों को (Information and communication technology ICT) अवसंरचना तथा कुशल मानव श्रम प्रदान किया जाना चाहिए। उन्हें ब्रॉडबैण्ड से जोड़ा जाना चाहिए। साथ ही, सबसे निचले स्तर तक ई-गवर्नेंस व्यवस्था को विस्तारित करने हेतु अन्य उपाय करना चाहिए।
- ***विकेन्द्रीकृत नियोजन***- एकीकृत बॉटम-अप (नीचे से ऊपरी स्तर की ओर) सहभागी योजना लागू की जानी चाहिए। क्षेत्रवार योजनाओं (Sectoral Plans) को जिला योजनाओं के साथ एकीकृत किया जाना चाहिए। विकेन्द्रीकृत योजना के लिए तकनीकी तथा व्यवसायिक पेशेवर प्रदान किये जाने चाहिए। पंचायती राज प्रतिनिधियों तथा अधिकारियों को पर्याप्त प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

ग्राम पंचायतों के लिए मानव संसाधन की रिपोर्ट (Human Resource Report for Gram Panchayat)

सुमित बोस की अध्यक्षता वाली एक विशेषज्ञ समिति द्वारा **'ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में बेहतर परिणामों के लिए प्रदर्शन आधारित भुगतान'** नामक अपनी रिपोर्ट सौंपी।

समिति की सिफारिशें

समिति के अनुसार, कार्यान्वयन के ढाँचे के भीतर निर्णय लेने की स्वायत्तता को स्थानीय प्राथमिकताओं जैसे प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों का ऊपर की ओर प्रवाह, नवाचार को बढ़ावा, उत्कृष्ट अभ्यासों (Practices) को प्रोत्साहित करने आदि को ध्यान में रखते हुए निर्वहित किया जाना चाहिए, जिससे मूल स्तर के कर्मचारियों के बेहतर प्रदर्शन में योगदान सुनिश्चित किया जा सकें।

इसके अतिरिक्त कार्यक्रम दक्षता को संसाधनों तथा सेवाओं के क्षैतिज तथा ऊर्ध्वाधर समन्वय द्वारा बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित अनुशंसाएँ की गई हैं-

मानव संसाधन उपयोग के संदर्भ में-

- स्टाफिंग, भर्ती, पारिश्रमिक, कैरियर की उन्नति और **उचित योग्यता आधारित क्षमता निर्माण** के लिए स्पष्ट मानदंडों के साथ मानव संसाधन के लिए एक अधिक व्यवस्थित **नीति आधारित दृष्टिकोण** होना चाहिए।
- ग्राम पंचायतों द्वारा विभिन्न विभागों के अंतर्गत मानव संसाधनों को एक साथ एकजुट किया जा सकता है। मनरेगा के तहत विविधतापूर्वक कार्यों हेतु, विभिन्न विभागों के मानव संसाधनों का औपचारिक रूप से प्रयोग किया जा सकता है।

सूचना एवं प्रौद्योगिकी

- विद्यमान ग्राम रोजगार सेवक को औपचारिक रूप से बेयर फुट तकनीशियनों के रूप में इंजीनियरिंग कार्यों जैसे पानी की आपूर्ति और स्वच्छता संबंधी कार्यों को पूर्ण करने के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।
- सभी कर्मचारियों को अपने कार्य के लिए अनिवार्य रूप से कम्प्यूटर ज्ञान का होना आवश्यक है।
- आईटी स्तर पर, पंचायतों को आई.सी.टी. का उपयोग लेन-देन आधारित सॉफ्टवेयर के रूप में करने के लिए प्रोत्साहित करना, अकाउटिंग की डबल एंट्री सिस्टम को अपनाना, सुरक्षित सॉफ्टवेयर को सार्वभौमिक बनाना।

वित्तपोषण

ग्रामीण विकास मंत्रालय, पंचायती राज मंत्रालय तथा पेयजल और स्वच्छता मंत्रालय संयुक्त रूप से यह सुनिश्चित करेंगे कि प्रशासनिक लागतों के लिए निर्धारित धनराशि योजनाओं में संलग्न नहीं है (Funds are untied from the schemes)।

ग्राम पंचायत (GP), स्वयं-सहायता समूह (SHG) तथा गैर सरकारी संगठन (NGO)

ग्राम पंचायत द्वारा स्वयं सहायता समूह तंत्र के मानव संसाधन का उपयोग निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है:-

- विशिष्ट कार्यों के लिए प्रशिक्षित गतिविधि समूहों के रूप में, तथा
- विशिष्ट कार्य करने और ग्राम सभाओं के दौरान भागीदारी बढ़ाने के लिए स्वयं सहायता समूह में से प्रशिक्षित समुदाय संसाधन व्यक्तियों (सीआरपी) के रूप में।

गैर सरकारी संगठनों द्वारा निम्नलिखित मामलों में ग्राम पंचायतों की सहायता की जा सकती है:-

- स्थानीय नियोजन प्रक्रिया में,
- लाभार्थियों की पहचान में,
- सर्वेक्षणों और अध्ययनों का संचालन करने में,
- सामाजिक जवाबदेही में सुधार करने में,
- करों और शुल्कों का भुगतान करने हेतु समुदाय को एकजुट करने में,
- Forest Right Act. FRA, PESA के तहत दावों और विधिक मामलों में विवादों के समाधान में,
- ग्राम पंचायत एवं अन्य संस्थानों के बीच गठजोड़ में।
- सुगम कार्यप्रणाली हेतु **जिला ग्रामीण विकास प्राधिकरणों** (DRDA) का उन राज्यों में जिला पंचायतों के साथ विलय किया जा सकता है, जहां ये अब तक नहीं हो सका है।
- अन्य अनुशंसाओं के अंतर्गत, ग्रामीण क्षेत्रों में नई तथा लघु पंचायतों का निर्माण न करना, **लोक शिकायत निवारण तंत्र** की व्यवस्था करना, कर्मचारियों को बेहतर प्रशिक्षण, सुव्यवस्थित भर्ती प्रक्रिया की स्थापना इत्यादि सम्मिलित हैं।

ग्राम पंचायत में महिलाओं की भागीदारी

भारत सरकार के ग्रामीण विकास मंत्रालय के अनुसार, पंचायत स्तर पर महिलाओं की भागीदारी लगातार बढ़ रही है। सरकार की ओर से प्रारंभ में महिलाओं के लिये पंचायत में मात्र 33% आरक्षण की व्यवस्था की गई थी, जिसे 110वें संविधान संशोधन विधेयक 2009 द्वारा बढ़ाकर 50% करने का प्रयास किया गया था। व्यवहार में देखा गया है कि, आरक्षित सीटों के अलावा कई स्थानों पर सामान्य सीटों पर भी महिलायें जीतने में सफल रहीं है। राज्यवार महिला प्रतिनिधियों की स्थिति देखें तो केरल में सर्वाधिक 57.24 फीसदी महिला जन प्रतिनिधि हैं। आंध्र प्रदेश में 33.75%, गुजरात में 49.30% तथा प. बंगाल में 35.15% है। इस तरह महिलाओं की औसत भागीदारी करीब 40 फीसदी है।

पेसा अधिनियम, 1996 (PESAACT1996)

1996 का पेसा (विस्तार अधिनियम) पंचायतों से संबंधित संविधान का भाग 9 पाँचवीं अनुसूची में वर्णित क्षेत्रों पर लागू नहीं होता। हालाँकि संसद इन प्रावधानों को कुछ अपवादों तथा संशोधनों सहित उक्त क्षेत्रों पर लागू कर सकती है। इस प्रावधान के अंतर्गत, संसद ने पंचायत के प्रावधान (अनुसूची क्षेत्रों तक विस्तारित) अधिनियम 1996 पारित किया, जिसे पेसा एक्ट अथवा विस्तार अधिनियम कहा जाता है।

वर्तमान में 10 राज्यों पाँचवीं अनुसूची क्षेत्र आते के अंतर्गत है- आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, तेलगांना और राजस्थान। इन 10 राज्यों अपने पंचायती राज अधिनियमों में संशोधन कर अपेक्षित अनुपालन कानून अधिनियमित किए है।

अधिनियम के उद्देश्य

पेसा अधिनियम के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

- संविधान के भाग 9 के पंचायतों से जुड़े प्रावधानों को जरूरी संशोधनों के साथ अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तारित करना।
- जनजातीय जनसंख्या को स्वशासन प्रदान करना।
- सहयात्री लोकतंत्र के तहत ग्राम प्रशासन स्थापित करना तथा ग्राम सभा को सभी गतिविधियों का केन्द्र बनाना।
- पारंपरिक परिपाटियों की सुसंगतता में उपयुक्त प्रशासनिक ढाँचा विकसित करना।
- जनजातीय समुदायों की परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों की सुरक्षा तथा संरक्षण करना।
- जनजातीय लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप उपयुक्त स्तरों पर पंचायतों को विशिष्ट शक्तियों से युक्त करना।
- उच्च स्तर पर पंचायतों को निचले स्तर की ग्राम सभा की शक्तियों एवं अधिकारों से वंचित करने से रोकना।

वन अधिकार अधिनियम (Forest Right Act)

यह अधिनियम 2006 में पारित हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य, वनों में निवास करने वाले समुदायों के भूमि सहित अन्य संसाधनों पर अधिकार को सुनिश्चित करना है। इस अधिनियम के अंतर्गत, सदियों पूर्व पारंपरिक रूप से वनों में रहने वाले समुदायों के साथ विभिन्न वन कानूनों के कारण हुए अन्याय को आंशिक रूप से ही सही समाप्त करने का बेहतर प्रयास किया गया है। साथ ही, इन समुदायों के पारंपरिक वनाधिकारों को मान्यता प्रदान की गई है। यह अधिनियम, कई दशकों तक विभिन्न जनजातियों, उनके संगठनों, जनजातीय मुद्दों से संबंधित असंख्य सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं बुद्धिजीवियों के अथक प्रयास एवं संघर्ष का परिणाम है।

- ***वन अधिकार अधिनियम के द्वारा प्रदत्त प्रमुख अधिकार***- स्वामित्व संबंधी अधिकार- 4 हेक्टेयर तक की उस भूमि पर जनजातियों, वनवासियों या वन में रहने वाले समुदायों के स्वामित्व को मान्यता, जिस पर वे कृषि संबंधित कार्य कर रहे हैं। इसके अंतर्गत, नई भूमि को आवंटित नहीं किया जाएगा। बल्कि, जिस भूमि पर संबंधित परिवार द्वारा खेती की जा रही है, केवल उसी पर अधिकार के दावे को स्वीकार किया जाएगा।
- ***पुनर्वास एवं विकासात्मक अधिकार***- इसमें पारंपरिक वनवासियों को गैर कानूनी ढंग से तथा बलपूर्वक कराए गए विस्थापन की स्थिति में पुनर्वास की व्यवस्था का प्रावधान है। साथ ही, वनों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए इन वनवासियों को मूलभूत सुविधाएँ प्रदान की जाएगी।
- ***उपयोग संबंधी अधिकार***- वन में रहने वाले इन समुदायों के लघु वन उत्पादों, पशुचारण हेतु विभिन्न क्षेत्रों एवं चारा आदि के उपयोग से संबंधित अधिकारों को सुनिश्चित किया गया है।
- ***वन प्रबंधन अधिकार***- वन एवं वन्य जीवों को सुरक्षित करने एवं संरक्षित करने संबंधी प्रबंधन कार्यों में इन वनवासियों की सहभागिता को स्वीकार किया गया है।
- ***अर्हता***- इस अधिनियम के अंतर्गत, प्रदत्त अधिकारों हेतु उन्हीं को योग्य माना जाएगा-
- जो अपनी आजीविका के लिए 'वन' या 'वन भूमि' पर आश्रित हैं एवं 'प्राथमिक रूप से वनों में ही निवास' करते हों, अथवा
- जो उस क्षेत्र में अनुसूचित जनजाति के सदस्य हो, अथवा
- 75 वर्षों से उस वन में ही निवास कर रहे हों।

पंचायती राज का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

सन् 1993 में संसद ने **73वें एवं 74वें** संविधान संशोधन को पारित किया। इससे ग्रामीण एवं शहरी लोगों की स्थानीय स्वशासन में सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जा सकी। संविधान के **अनुच्छेद 243** में निहित निर्देशों के अनुरूप नये अधिनियमों के प्रावधानों के अनुसार, इन निकायों को अधिक शक्ति, उत्तरदायित्व, कार्य, वित्तीय स्वायत्तता, नियमित चुनाव तथा संगठनात्मक एवं सांविधानिक/ संवैधानिक मान्यता प्रदान की गयी।

इन अधिनियमों के पारित होने के पश्चात् ग्रामीण एवं शहरी स्वशासन निकायों को राज्य विधानमंडल एवं संसद की तरह सांविधानिक/ संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो गयी। प्राथमिक स्तर पर प्रजातांत्रिक संस्था को इसके तहत संवैधानिक मान्यता प्रदान की गयी।

इस अधिनियम के तहत, पंचायतों को समय पर अथवा नियमित आधार पर चुनाव कराना अनिवार्य कर दिया गया।

इसके तहत सभी तीन स्तरों पर महिलाओं, अनुसूचित जनजाति तथा अनुसूचित जाति के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया है।

पंचायतों को स्थानीय स्तर पर योजना बनाने तथा अपना संसाधन जुटाने की शक्ति एवं उत्तरदायित्व प्रदान किया गया है।

इसके साथ ही पंचायतों को राज्य सरकारों द्वारा बनाए गये प्रावधानों के अनुरूप कर चुंगी एवं दंड के रूप में राशि प्राप्त करने एवं उसका उपयोग करने का अधिकार प्रदान किया गया है। पुनः पंचायतों को ग्याहरवीं अनुसूची में उल्लिखित विषयों के संबंध में आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय हेतु योजना निर्माण एवं कार्यान्वयन के अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्रदान किए गये हैं।

केन्द्र शासित राज्यों में वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप किंचित संशोधन के साथ पंचायती राज अधिनियम के प्रावधानों को लागू किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त कारकों के कारण भारतीय राजनीति में संरचनागत परिवर्तन आया है।

सीमांत क्षेत्र

स्थानीय प्रशासन के अंतर्गत आने वाले ऐसे क्षेत्र जो पंचायत और जिला परिषद दोनों के अधिकार एवं कार्य क्षेत्र में आ जाते हैं, सीमांत क्षेत्र कहलाते हैं।

शहरी स्थानीय शासन (Urban Local Government)

भारत में 'शहरी स्थानीय शासन' का अर्थ शहरी क्षेत्र के लोगों द्वारा चुने प्रतिनिधियों से बनी सरकार से है। शहरी स्थानीय शासन का अधिकार क्षेत्र उन निर्दिष्ट शहरी क्षेत्रों तक सीमित है, जिसे राज्य सरकार द्वारा इस उद्देश्य के लिए निर्धारित किया गया है।

नगरीय प्रशासन की उपस्थिति का उल्लेख प्राचीन भारत में मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है, जिसके अनुसार, नगरीय शासन 5-5 सदस्यों की 6 समितियों में विभाजित था। भारत में नगरीय प्रशासन व्यवस्था प्राचीन काल से ही प्रचलन में रही है, लेकिन इसे कानूनी रूप सर्वप्रथम 1687 में दिया गया, जब ब्रिटिश सरकार द्वारा मद्रास शहर के लिए नगर निगम संस्था की 29 सितंबर, 1688 को स्थापना की गयी। 1726 में बंबई तथा कलकत्ता में नगर निगम स्थापित किये गये।

1870 में लॉर्ड मेयो द्वारा वित्तीय विकेन्द्रीकरण के तहत स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का विकास किया गया। 1882 में लॉर्ड रिपन द्वारा स्थानीय स्वशासन की पुनः बात की गयी, जिसे स्थानीय स्वशासन का मैग्नाकार्टा कहा गया। रिपन को 'स्थानीय स्वशासन का पिता' कहा जाता है। शाही विकेन्द्रीकरण आयोग(रॉयल कमीशन ऑन डी सेन्ट्रलाइजेशन) की नियुक्ति 1907 में हुई, जिसने 1909 में रिपोर्ट दी, जिसके आधार पर 1919 के अधिनियम में नगरीय प्रशासन के संबंध में स्पष्ट प्रावधान किया गया।

1919 का अधिनियम प्रांतों में लागू द्वैध शासन पद्धति के तहत, स्थानीय स्वशासन आंतरिक विषय बना, जिसका प्रभारी **भारत मंत्री** था। 1924 में कैंटोनमेंट एक्ट केन्द्रीय विधायिका द्वारा पारित किया गया। 1935 के भारत शासन अधिनियम में स्थानीय स्वशासन को प्रांतीय विषय घोषित किया गया।

भारत में **8 प्रकार** के शहरी स्थानीय शासन हैं- **नगरपालिका परिषद, नगरपालिका, अधिसूचित क्षेत्र समिति, शहरी क्षेत्र समिति, छावनी बोर्ड, पत्तन न्यास** और **विशेष उद्देश्य** के लिए **गठित एजेंसी।**

74वाँ संशोधन अधिनियम (74th Constitutional Amendement)

इस अधिनियम ने भारत के संविधान में नया भाग **9क** शामिल किया। इसे **'नगरपालिकाएँ'** नाम दिया गया और **अनुच्छेद 243-त** से ***243-यछ*** के उपबंध शामिल किए गए। इस अधिनियम के कारण संविधान में एक नई **12वीं** अनुसूची को भी जोड़ा गया। इसमें नगरपालिकाओं की **18** कार्यकारी विषय वस्तुओं का उल्लेख है एवं इस अधिनियम ने नगरपालिकाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया।

इस अधिनियम का उद्देश्य, शहरी शासन को पुनर्जीवित करना एवं शक्तिशाली बनाना है, जिससे कि वे स्थानीय शासन की इकाई के रूप में प्रभावशाली ढंग से कार्य करें।

शहरी स्थानीय शासन से संबंधित प्रावधान

यह अधिनियम, प्रत्येक राज्य में निम्न तरह की नगरपालिकाओं की संरचना का उपबंध करता है:-

- ***नगर पंचायत (किसी भी नाम से):***- परिवर्तित क्षेत्र के लिए, जैसे वह क्षेत्र जो ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र में परिवर्तित हो रहा हो।
- ***नगरपालिका परिषद:***- छोटे शहरी क्षेत्रों के लिए।
- बड़े शहरी क्षेत्रों के लिए नगरपालिका निगम।

संरचना– नगरपालिका के सभी सदस्य सीधे नगरपालिका क्षेत्र के लोगों द्वारा चुने जाएंगे। इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक नगरपालिकाओं को निर्वाचन क्षेत्रों (वार्ड) में बांटा जाएगा। राज्य विधानमंडल नगरपालिका के अध्यक्ष के निर्वाचन का तरीका प्रदान कर सकता है। यह नगरपालिका में निम्न व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व की भी व्यवस्था करता है–

- वह व्यक्ति, जिसे नगरपालिका के प्रशासन का विशेष ज्ञान अथवा अनुभव हो लेकिन उसे नगरपालिका की सभा में वोट डालने का अधिकार नहीं होगा।
- निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोकसभा या राज्य विधानसभा के सदस्य, जिनमें नगरपालिका का पूर्ण या अंशत: क्षेत्र आता हो।
- राज्यसभा और राज्य विधानपरिषद के सदस्य, जो नगरपालिका क्षेत्र में मतदाता के रूप में पंजीकृत हों।
- समिति के अध्यक्ष (वार्ड समितियों के अतिरिक्त)।

वार्ड समितियाँ 243 (S)

तीन लाख या अधिक जनसंख्या वाली नगरपालिका के क्षेत्र के तहत एक या अधिक वार्डों को मिलाकर वार्ड समिति होगी। वार्ड समिति की संरचना, क्षेत्र और वार्ड समिति में पदों को भरने के संबंध में राज्य विधानमंडल उपबंध बना सकता है। यह वार्ड समिति के साथ-साथ समिति की बनावट के लिए भी उपबंध बना सकता है।

पदों का आरक्षण 243 (T)

यह अधिनियम, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति को उनकी जनसंख्या और कुल नगरपालिका क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात में प्रत्येक नगरपालिका में आरक्षण प्रदान करता है। इसके अलावा यह महिलाओं को कुल सीटों के **एक-तिहाई** (इसमें अनुसूचित जाति व जनजाति महिलाओं से संबंधित आरक्षित सीटें भी हैं) सीटों पर आरक्षण प्रदान करता है।

राज्य विधानमंडल अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं हेतु नगरपालिकाओं में अध्यक्ष पद के आरक्षण हेतु विधि निर्धारित कर सकता है। यह किसी भी नगरपालिका या अध्यक्ष पद पर पिछड़ी जातियों के आरक्षण के समर्थन में कोई भी उपबंध बना सकता है।

नगरपालिकाओं का कार्यकाल 243 (U)

यह अधिनियम, प्रत्येक नगरपालिका की कार्यकाल अवधि 5 वर्ष निर्धारित करता है। यद्यपि इसे इसकी अवधि से पूर्व समाप्त किया जा सकता है। उसके बाद एक नई नगरपालिका का गठन किया जाएगा–

- इसकी 5 वर्ष की अवधि समाप्त होने से पूर्व या, विघटित होने की दशा में इसे विघटन होने की तिथि से 6 महीने की अवधि तक।

निरर्हताएँ 243 (V)

नगरपालिका के चुने हुए सदस्य निम्न स्थितियों में निर्ह घोषित किए जा सकते हैं–

- किसी व्यक्ति को 25 वर्ष से कम आयु की शर्त पर निर्ह घोषित नहीं किया जा सकेगा, यदि वह 21 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। इसके बाद निर्हता संबंधित सारे विवाद, राज्य विधान द्वारा नियुक्त अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत किए जा सकेंगे।

वित्त- राज्य विधायिका

- नगरपालिका को वसूली, उपयुक्त कर निर्धारण, चुंगी, यात्री कर, शुल्क लेने का अधिकार प्रदान कर सकती है।
- यह नगरपालिकाओं को करों, चुंगी, पथकर और शुल्क एकत्र करने का काम सौंप सकती है।
- राज्य की संचित निधि से नगरपालिकाओं को सहायता के रूप में अनुदान प्रदान करती है।
- नगरपालिकाओं में जमा होने वाली सभी राशि संग्रहण की विधियाँ तैयार कर सकती है।

वित्त आयोग 243 (Y) पंचायत की भाँति

वित्त आयोग (जो पंचायतों के लिए गठित किया गया है) भी प्रत्येक **5 वर्ष** में नगरपालिकाओं की वित्तीय स्थिति का पुनरावलोकन करेगा और राज्यपाल को निम्न सिफारिशें करेगा–

- सिद्धांत जो नियंत्रित होंगे–
  - राज्य और नगरपालिकाओं में राज्य सरकार द्वारा एकत्र किए गए कुल करों, चुंगी, मार्ग कर एवं संग्रहित शुल्कों का बंटवारा।
  - करों, चुंगी पथकर और शुल्कों का निर्धारण नगरपालिकाओं को दिए जाने वाले सहायता अनुदान से।
- नगरपालिका को वित्तीय स्थिति के सुधार के लिए आवश्यक उपाय सुझाना।
- राज्यपाल द्वारा आयोग को दिया जाने वाला कोई भी मामला, जो कि पंचायतों के मजबूत वित्त के पक्ष में हो।
- राज्यपाल आयोग द्वारा की गई सिफारिशों और कार्यवाही रिपोर्ट को राज्य विधानमंडल के समक्ष प्रस्तुत करेगा।

केंद्रीय वित्त आयोग भी राज्य में नगरपालिकाओं के पूरक स्रोतों की राज्य की संचित निधि में वृद्धि के लिए (राज्य वित्त आयोग द्वारा दी गई सिफारिशों के आधार पर) आवश्यक उपायों के बारे में सलाह देगा।

शहरी शासनों के प्रकार (Types of Urban Governments)

नगर निगम

नगर निगम का निर्माण बड़े शहरों जैसे दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, हैदराबाद, बंगलुरू तथा अन्य शहरों के लिए है। यह संबंधित राज्य विधानमंडल की विधि द्वारा राज्यों में स्थापित हुई तथा भारत की संसद के अधिनियम द्वारा केंद्रशासित क्षेत्र में, राज्य के सभी नगर निगमों के लिए एक समान अधिनियम हो सकता है या प्रत्येक नगर निगम के लिए पृथक अधिनियम भी हो सकता है।

नगर निगम में तीन प्राधिकरण हैं- जिनमें परिषद, स्थायी समिति तथा आयुक्त आते हैं।

परिषद निगम की वैचारिक व विधायी शाखा है। इसमें लोगों द्वारा सीधे निर्वाचित काउंसलर शामिल हैं।

परिषद का प्रधान मेयर होता है। उपमेयर उसका सहायक होता है। वह परिषदों की सभा की अध्यक्षता करता है। स्थायी समिति परिषद के कार्य को सुगम बनाने के लिए गठित की जाती है, जो कि आकार में बहुत बड़ी है। वह लोक कार्य, शिक्षा, स्वास्थ्य का निर्धारण, वित्त व अन्य को देखती है। वह अपने क्षेत्रों में निर्णय लेती है।

नगर निगम आयुक्त परिषद और स्थायी समिति द्वारा लिए गये निर्णयों को लागू करने के लिए जिम्मेदार है, अत: वह नगरपालिका का मुख्य कार्यकारी अधिकारी है। वह राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है और साधारणत: आई.ए.एस. समूह का एक सदस्य होता है।

नगरपालिका

नगरपालिकाएं कस्बों और छोटे शहरों के प्रशासन के लिए स्थापित की जाती

हैं। निगमों की तरह, यह भी राज्य में राज्य विधानमंडल से संबंधित अधिनियम द्वारा गठित की गई हैं। यह अन्य नामों, जैसे नगरपालिका परिषद, नगरपालिका समिति, नगरपालिका बोर्ड, उपनगरीय नगरपालिका, शहरी नगरपालिका तथा अन्य से भी जानी जाती हैं।

नगर निगम की तरह, नगरपालिका के पास भी परिषद, स्थायी समिति तथा मुख्य कार्यकारी अधिकारी नामक अधिकार क्षेत्र आते हैं।

परिषद नगरपालिका की वैचारिक एवं विधायी शाखा है। इसमें लोगों द्वारा सीधे निर्वाचित काउंसलर शामिल हैं।

परिषद का प्रधान अध्यक्ष होता है। उपाध्यक्ष उसका सलाहकार है। वह परिषद की सभा की अध्यक्षता करता है।

स्थायी समिति परिषद के कार्य को सुगम बनाने के लिए गठित की जाती है। वह लोक कार्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, कर निर्धारण, वित्त तथा अन्य को देखती है।

अधिसूचित क्षेत्र समिति

अधिसूचित क्षेत्र समिति का गठन दो प्रकार के क्षेत्र के प्रशासन के लिए किया जाता है- प्रथम विकासशील कस्बा, औद्योगिकीकरण के कारण और दूसरा वह कस्बा, जिसने अभी तक नगरपालिका के गठन की आवश्यक शर्तें पूरी नहीं की हों, लेकिन राज्य सरकार द्वारा वह महत्त्वपूर्ण माना जाए। चूँकि इसे सरकारी राजपत्र में प्रकाशित कर अधिसूचित किया जाता है, इसलिए इसे अधिसूचित क्षेत्र समिति के रूप में जाना जाता है। यद्यपि यह राज्य नगरपालिका अधिनियम के ढाँचे के अंतर्गत कार्य करता है। अधिनियम के केवल वही प्रावधान इसमें लागू होते हैं, जिन्हें सरकारी राजपत्र में अधिसूचित किया गया है। इसे किसी अन्य अधिनियम के तहत, शक्ति प्रयोग के लिए भी उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता है। इसकी शक्तियाँ लगभग नगरपालिका की शक्तियों के समान हैं। यह पूरी तरह नामित इकाई है, जिसमें राज्यसरकार द्वारा मनोनीत अध्यक्ष के साथ अधिसूचित क्षेत्र के समिति के सदस्य हैं। अत: न तो यह निर्वाचित इकाई है और न ही सांविधिक निकाय है।

नगर क्षेत्रीय समिति

नगर क्षेत्रीय समिति छोटे कस्बों में प्रशासन के लिए गठित की जाती है। यह एक उपनगरपालिका आधिकारिक इकाई है और इसे सीमित नागरिक सेवाएं; जैसे- जल निकासी, सड़कें, मार्गों में प्रकाश व्यवस्था और संरक्षण की जिम्मेदारी दी जाती है। यह राज्य विधानमंडल के एक अलग अधिनियम द्वारा गठित किया जाता है। इसका गठन, कार्य और अन्य मामले अधिनियम द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। इसे पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य सरकार द्वारा निर्वाचित या नामित किया जा सकता है।

छावनी परिषद (केंद्रीय इकाई)

छावनी क्षेत्र में सिविल जनसंख्या के प्रशासन के लिए छावनी परिषद की स्थापना की जाती है। इसे 2006 के छावनी अधिनियम के उपबंधों के तहत गठित किया गया है। यह विधान केंद्र सरकार द्वारा निर्मित किया गया है। यह केंद्रीय सरकार के रक्षा मंत्रालय के प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन कार्य करता है। (अत: ऊपर दी गई स्थानीय शहरी इकाइयों के विपरीत जो कि राज्य द्वारा प्रशासित और गठित की गई हैं), छावनी परिषद केंद्र सरकार द्वारा गठित और प्रशासित की जाती है। इस समय, देश में **62** छावनी परिषदें हैं। एक छावनी परिषद में आंशिक रूप से निर्वाचित या नामित सदस्य शामिल होते हैं। निर्वाचित सदस्य **3 वर्ष** की अवधि के लिए, जबकि नामित सदस्य (पदेन सदस्य) उस स्थान पर लंबे समय तक रहते हैं। सेना अधिकारी, जिसके प्रभाव में वह स्टेशन हो, परिषद का अध्यक्ष होता है और सभा की अध्यक्षता करता है। परिषद के उपाध्यक्ष का चुनाव उन्हीं में से निर्वाचित सदस्यों द्वारा 3 वर्ष की अवधि के लिए होता है।

छावनी परिषद द्वारा किए गए कार्य नगरपालिका के समान होते हैं। यह अनिवार्य कार्यों एवं वैचारिक कार्यों में वैधानिक रूप से श्रेणीबद्ध है। आय के साधनों में दोनों, कर एवं गैर-कर राजस्व शामिल हैं।

छावनी परिषद के कार्यकारी अधिकारी की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा होती है। यह परिषद और इसकी समिति के सारे प्रस्तावों एवं निर्णयों को लागू करता है और इस प्रयोजन हेतु गठित केंद्रीय कैडर से संबद्ध होता है

नगरीय क्षेत्र

इस तरह का शहरी प्रशासन वृहत सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा स्थापित किया जाता है। जो उद्योगों के निकट बनी आवासीय कॉलोनियों में रहने वाले अपने कर्मचारियों को सुविधाएँ प्रदान करता है। यह उपक्रम नगर के प्रशासन की देखरेख के लिए एक नगर प्रशासक नियुक्त करता है। उसे कुछ इंजीनियर एवं अन्य तकनीकी और गैर-तकनीकी कर्मचारियों की सहायता प्राप्त होती है। अत: शहरी प्रशासन के नगरीय रूप में कोई निर्वाचित सदस्य नहीं होते हैं। वास्तव में, यह उपक्रमों की नौकरशाही संरचना का विस्तार है।

न्यास पत्तन

न्यास पत्तन की स्थापना बंदरगाह क्षेत्रों जैसे- मुंबई, कोलकाता, चेन्नई और अन्य मुख्य रूप से दो उद्देश्यों के लिए की जाती है-

- बंदरगाहों की सुरक्षा व व्यवस्था।
- नागरिक सुविधाएं प्रदान करना।

न्यास पत्तन का गठन संसद के एक अधिनियम द्वारा किया गया है। इसमें निर्वाचित और गैर-निर्वाचित दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित हैं। इसका एक अधिकारिक अध्यक्ष होता है। इसके नागरिक कार्य काफी हद तक नगरपालिका की तरह होते हैं।

विशेष उद्देश्य हेतु अभिकरण

इन 7 क्षेत्रीय आधार वाली शहरी इकाइयों (या बहुद्देशीय इकाइयां) के साथ, राज्यों ने विशेष कार्यों के नियंत्रण हेतु विशेष प्रकार के अभिकरणों का गठन किया है, जो नगर निगमों या नगरपालिकाओं या अन्य स्थानीय शासनों के समूह से संबंधित हों। दूसरे शब्दों में, यह कार्यक्रम पर आधारित हैं न कि क्षेत्र पर। इन्हें **'एकउद्देशीय', 'व्यापक उद्देशीय'** या **'विशेष उद्देशीय इकाई'** या **'स्थानीय कार्यकारी ईकाई'** के रूप में जाना जाता हैं-

- नगरीय सुधार न्यास।
- शहरी सुधार प्राधिकरण।
- एवं मल निकासी बोर्ड।
- आवासीय बोर्ड।
- प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड।
- विद्युत आपूर्ति बोर्ड।
- शहरी यातायात बोर्ड।

यह कार्यकारी स्थानीय इकाइयाँ, सांविधिक इकाइयों के रूप में राज्य विधानमंडल या विभागों के अधिनियम द्वारा स्थापित की जाती हैं। यह स्वायत्त इकाई के रूप में कार्य करती हैं और स्थानीय शहरी प्रशासन द्वारा सौंपे कार्यों को स्वतंत्र रूप से करती है, अर्थात् नगर निगम, नगरपालिकाएं आदि। अत: ये स्थानीय नगरपालिका इकाइयों के अधीनस्थ नहीं हैं।

नगरीय निकायों की सीमाएँ

- नगर निकाय के सदस्यों की अयोग्यता के संबंध में सैद्धांतिक रूप से उन्हीं

प्रक्रियाओं का पालन किया जाता है, जिनका राज्य विधानमंडल के सदस्यों की अयोग्यता के निर्धारण के संबंध में होता है। परंतु, ये राज्य विधायिकों द्वारा शासित होते हैं, जो इनसे संबंधित कानून बना सकती है। सभी राज्यों में इनसे संबंधित अलग-अलग कानून हैं, जो सदस्यों के मध्य असमानता तथा असुरक्षा में वृद्धि करते हैं।

- चुनाव खर्च तथा आचार-संहिता को और बेहतर तरीके से विनियमित करने की आवश्यकता है। अत: इसके संबंध में राज्य चुनाव आयोग को और अधिक शक्तियां दी जानी चाहिए।
- नगर निगमों की तुलना में नगरपालिकाओं की स्वायत्तता को प्रतिबंधित किया गया है तथा इन पर राज्य का अत्यधिक नियंत्रण है। यह प्राय: चरम स्थितियों में नगरपालिकाओं को भंग करने के रूप में सामने आता है।
- राज्य और केन्द्रीय विधायिकाओं की अनिच्छा के कारण वित्त के अभाव की समस्या है, क्योंकि वे अपनी कराधान की शक्तियों को छोड़ना नहीं चाहते और अपनी शक्तियों को खोने के डर से नगरीय निकायों को वर्तमान स्थिति की तुलना में और अधिक शक्तियाँ नहीं प्रदान करना चाहते। वहीं दूसरी ओर, नगर निकाय लोगों के बीच लोकप्रियता खोने के भय से न तो टैक्स बढ़ाना चाहते हैं, न ही नया टैक्स लगाना चाहते है।
- स्थानीय निकायों का निर्माण राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है तथा उनके अनुसार नहीं चलने की स्थिति में राज्य सरकार द्वारा इन्हें भंग भी किया जा सकता है, राज्य सरकारें इस अधिकार का राजनीतिक फायदा/लाभ उठाती है।
- केन्द्र व राज्यों के द्वारा गठित कई समितियों द्वारा नगरीय निकायों को अधिक वित्तीय तथा प्रशासनिक स्वायत्तता देने की सिफारिश के बावजूद, दोनों ही स्तर की विधायिकाओं द्वारा इन सिफारिशों को लागू करने का कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया है।
- शहरी विकास नीतियों में नियमितता तथा सुसंगता का अभाव है। दोषपूर्ण और अनुपयुक्त शहरी नियोजन के साथ-साथ खराब कार्यान्वयन और विनियमन नगरपालिकाओं के लिए एक बड़ी चुनौती है।
- अकुशल तथा अनुपयुक्त शहरी निकाय उपयुक्त निगरानी प्रणाली के अभाव का परिणाम हैं।

शहरी निकायों पर प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट (ARC Report on Urban Bodies)

27 नवम्बर, 2007 को वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता वाले दूसरे प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी छठीं रिपोर्ट सौंपी, जो स्थानीय प्रशासन के सुधार से संबंधित है। रिपोर्ट में स्थानीय प्रशासन में लोकतंत्र को नागरिक केन्द्रित बनाने का सुझाव दिया गया है।

- प्रशासन में स्थानीय लोकतंत्र के प्रोन्नयन को विकेन्द्रीकरण से कहीं ऊपर बातते हुए साउथ अफ्रीकन एक्ट के तर्ज का ऐसा कानून संसद में पारित कराने को कहा गया है, जिससे स्थानीय निकायों को अधिक शक्तियां एवं दायित्व सौंपे जा सके।
- रिपोर्ट में जिला स्तर पर लोकतांत्रिक सरकार का एक तीसरा स्तर सृजित करने का सुझाव दिया गया है।
- आयोग ने अपनी रिपोर्ट में संसद से प्रत्येक राज्य में विधान परिषद के गठन के लिए कदम उठाने को कहा है।
- आयोग का विचार है कि, विधान परिषद के गठन से स्थानीय शासन को राज्य शासन व्यवस्था में प्रतिनिधित्व मिल सकेगा।
- रिपोर्ट में चुनाव सुधारों के लिए निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन व इनके आरक्षण संबंधी कार्य को राज्य स्तरीय चुनाव आयोग पर छोड़ने को कहा गया है।
- राज्य आयोगों का गठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि, केन्द्रीय वित्त आयोग कि सिफारिशों को ध्यान में रख सकें।
- आयोग के अनुसार, स्थानीय सरकारों को संविधान के तहत प्रदत्त दायित्वों का पूर्ण निर्वाह करना चाहिए तथा विद्युत बोर्ड व जल प्राधिकरण जैसे निकायों को स्थानीय सरकारों के प्रति उत्तरदायित्व होना चाहिए।

12वीं अनुसूची (12th Schedule)

- नगरीय योजना (इसमें शहरी योजना भी सम्मिलित है)।
- भूमि उपयोग का विनियम और भवनों का निर्माण।
- आर्थिक और सामाजिक विकास की योजना।
- सड़कें और पुल।
- घरेलू, औद्योगिक और वाणिज्यिक प्रायोजनों के निमित्त जल की आपूर्ति।
- लोक स्वास्थ्य, स्वच्छता सफाई तथा कूड़ा-करकट का प्रबंधन।
- अग्निशमन सेवाएं।
- नगरीय वानिकी, पर्यावरण का सरंक्षण और पारिस्थितिक पहलुओं की अभिवृद्धि।
- समाज के कमजोर वर्गों (जिसके अंतर्गत विकलांग और मानसिक रूप से मन्द व्यक्ति सम्मिलित हैं।) के हितों का संरक्षण।
- गन्दी बस्तियों में सुधार।
- नगरीय निर्धनता में सुधार।
- नगरीय सुख सुविधाओं, जैसे पार्क, उद्यान, खेल का मैदान इत्यादि की व्यवस्था करना।
- सांस्कृतिक शैक्षणिक और सौन्दर्यपरक पहलुओं की अभिवृद्धि।
- कब्रिस्तान, शव गाड़ना, श्मशान और शवदाह तथा विद्युत शवदाह।
- पशु-तालाब तथा जानवरों के प्रति क्रूरता को रोकना।
- जन्म-मरण सांख्यिकी (जन्म-मरण पंजीकरण सहित)।
- लोक सुख सुविधाएं (पथ-प्रकाश, पार्किंग स्थल, बस स्टाप, लोक सुविधा सहित)।
- वेधशालाओं तथा चर्म शोधनशालाओं का विनिमय।

प्रमुख सरकारी कार्यक्रम (Major Government Programmes)

ग्राम उदय से भारत उदय अभियान

राज्यों और पंचायतों के सहयोग से केन्द्र सरकार द्वारा 14 अप्रैल से 24 अप्रैल तक 2016 में 'ग्राम उदय से भारत उदय अभियान' (ग्राम स्वशासन अभियान) शुभारंभ करने का फैसला किया गया। 'ग्राम उदय से भारत उदय अभियान' (अर्थात् गाँवों के उदय एवं विकास से भारत का उदय एवं विकास) डॉक्टर बी. आर. अंबेडकर की जन्मतिथि 14 अप्रैल, 2016 से प्रारंभ होकर 'राष्ट्रीय पंचायती राज दिवस' 24 अप्रैल, 2016 तक देश भर में आयोजित किया गया।

अभियान की मुख्य विशेषताएं

- अभियान का उद्देश्य, गाँवों में सामाजिक सद्भाव बढ़ाने, पंचायती राज को मजबूत बनाने, ग्रामीण विकास को बढ़ावा देने और किसानों की प्रगति हेतु देशव्यापी प्रयास करना है।
- सभी ग्राम पंचायतों में एक 'सामाजिक सद्भाव कार्यक्रम' आयोजित किया जाएगा। यह पंचायती राज मंत्रालय और सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय के संयुक्त तत्त्वाधान में आयोजित होगा।
- इस कार्यक्रम में ग्रामीण, डॉ. अंबेडकर के प्रति सम्मान व्यक्त करेंगे और समाजिक सद्भाव को मजबूत करने के लिए प्रतिबद्धता व्यक्त करेंगे।

- सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने वाली विभिन्न सरकारी योजनाओं के बारे में जानकारी प्रदान की जाएगी।
- 'ग्राम किसान सभाओं' का आयोजन किया जाएगा, जहाँ कृषि योजनाओं के बारे में किसानों को जानकारी उपलब्ध करायी जाएगी, जैसे फसल बीमा योजना, सामाजिक स्वास्थ्य कार्ड आदि।
- इसके अलावा समय-समय पर पांचवीं अनुसूची वाले क्षेत्रों के राज्यों में आदिवासी महिला अध्यक्षों की एक राष्ट्रीय बैठक को आयोजित किया जाता है, जिसका केन्द्रीय विषयवस्तु पंचायत और आदिवासी विकास होता है।

अमृत:अटल मिशन फॉर रेजुवेनेशन एंड अर्बन ट्रांसफॉर्मेशन

AMRUT: Atal Mission for Rejuvenation and urban transfromation

उद्देश्य

- शहरी घरों को बुनियादी सेवाएं, (जैसे जल की आपूर्ति, सीवेज, शहरी परिवहन) प्रदान करना।
- शहरों में सुविधाओं का निर्माण करना, जो सभी लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने के साथ ही गरीबों और वंचितों पर विशेष ध्यान केन्द्रित करेगी।

मुख्य विशेषताएं

- यह जल की आपूर्ति, सीवेज, परिवहन और बच्चों के लिए विशेष प्रावधान युक्त, हरित स्थलों के विकास जैसी अवसंरचना सुविधाओं को सुनिश्चित करने हेतु एक 'परियोजना दृष्टिकोण (Project approach)' को अपनाता है।
- गत वर्ष किए गए सुधारों की उपलब्धि के आधार पर राज्यों/केन्द शासित प्रदेशों को प्रोत्साहन के रूप में बजट का 10 प्रतिशत दिया जाएगा।
- इसके अंतर्गत, राज्यों को JNNURM (Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission) की तुलना में अधिक लचीलापन प्रदान किया गया है, क्योंकि इस योजना के तहत, प्रस्तुत राज्य कार्य योजना में केवल केन्द्र सरकार के साथ 'व्यापक सहमति' की आवश्यकता है।
- 10 लाख तक की आबादी वाले शहरों और कस्बों के लिए केन्द्रीय सहायता परियोजना की कुल लागत का 50 प्रतिशत होगी। वहीं 10 लाख से ऊपर की आबादी वाले शहरों के लिए यह परियोजना लागत का एक तिहाई होगी।
- State Annual Action प्लान में बताई गई उपलब्धि के आधार पर 20:40:40 के अनुपात में तीन किस्तों में केन्द्रीय सहायता जारी की जाएगी।
- अमृत मिशन के तहत, 50% भारांश किसी भी राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश को उनके वैधानिक कस्बों की संख्या के आधार पर दिया जाता है, ताकि उनमें निधियों का आवंटन हो सके।
- केन्द्र द्वारा धन हस्तांतरण के 7 दिनों के भीतर ही राज्य स्थानीय शहरी निकायों को धन का हस्तांतरण कर देंगे और इस धन का किसी भी प्रकार से लीकेज नहीं होगा।

स्मार्ट सिटीज मिशन

उद्देश्य

- आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए।
- उत्पादन, दक्षता और उपभोग को बढ़ाने के लिये।
- निवास योग्य सतत स्थान (अपशिष्ट प्रबंधन आदि)
- क्षेत्रीय असमानताओं को दूर करने के लिए।
- क्षेत्र आधारित विकास में मिश्रित भूमि उपयोग को बढ़ावा देने के लिए।
- आवास निर्माण और समावेशन।

मुख्य विशेषताएँ

- योजना में राज्यों को 'सिटी चैलेंज कम्पटीशन' हेतु शहरों का नामांकन करने के लिए कहा जाता है। चयनित शहरों को 5 वर्ष के लिए प्रत्येक वर्ष 100 करोड़ रुपये के हिसाब से केन्द्रीय निधियन प्रदान किया जाएगा।
- 'स्मार्ट सिटी प्लान' एक स्पेशल पर्पज व्हीकल (SPV) द्वारा कार्यान्वित किया जाएगा। इस SPV में राज्यों/संघ शासित प्रदेशों और ULBs (Urban Local Bodies) की 50:50 की इक्विटी होगी।
- क्षेत्र आधारित विकास-
  - जल की पर्याप्त आपूर्ति,
  - बिजली की सुनिश्चित आपूर्ति,
  - ठोस अपशिष्ट प्रबंधन सहित स्वच्छता
  - (सैनिटेशन) व्यवस्था।
- मॉडल स्मार्ट शहरों की प्रतिकृति (Replicability) और स्केलेबिलिटी सोपनीयता/मापनीयता (Scalability)।
- विशिष्ट जरूरतों के अनुरूप ढालते हुए स्थानीयकृत (Localised) बनाया गया है, जैसे- रोजगार, विनिर्माण क्षेत्र को बढ़ावा देने के लिए (Dlehi-Mumbai Industrial corridor project DMIC) के आसपास विकास, वित्तीय सेवाओं आदि के लिए (Gujarat International Finance Tec-City GIFT) सिटी, कोच्चि स्मार्ट सिटी।
- नवीकरणीय ऊर्जा, कुशल और इंटेलीजेंट ट्रांसपोर्टेशन। उदाहरण- अहमदाबाद नगरपालिका और गुजरात सरकार द्वारा निर्मित जनमार्ग।
- माझा स्वप्न (Maza Swapna), पुणे में जन भागीदारी दृष्टिकोण।
- PPP: विशेषज्ञता, प्राइवेट प्लेयर्स तथा दक्षता।
- शहरी प्रशासन में सुधार-मल्टी चैनल नागरिक सेवाएँ (कॉमन सर्विस सेंटर, ई-गवर्नेंस, एम-गवर्नेंस आदि।) एकीकृत परिसंपत्ति प्रबंधन, नियोजन आदि।
- सुभेद्यता में कमी: जलवायु परिवर्तन कार्यवाही योजनाएं तथा अनुकूलन रणनीतियाँ।

स्वच्छ भारत मिशन

उद्देश्य

- 2019 तक स्वच्छ भारत के निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर अभियान चलाकर खुलें में शौच को समाप्त करना था।
- अस्वास्थ्यकर शौचालयों का फ्लश शौचालयों में रूपातंरण, हाथ से मैला ढोने की प्रथा (मैनुअल स्केवेंजिंग) का उन्मूलन।
- नगर निगम के ठोस कचरे का 100% संग्रहण और वैज्ञानिक प्रसंस्करण/निपटान, पुन: उपयोग/पुनर्चक्रण।
- स्वस्थ व स्वच्छता प्रथाओं के संबंध में लोगों में एक व्यवहारिक परिवर्तन लाना।
- स्वच्छता तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य पर स्वच्छता के प्रभावों के बारे में नागरिकों के बीच जागरूकता पैदा करना।
- डिजाइन, निष्पादन और व्यवस्था को संचालित करने हेतु शहरी स्थानीय निकायों को सुदृढ़ बनाना।
- पूँजी व्यय और संचालन एवं रख-रखाव की लागतों में निजी क्षेत्र की भागीदारी के लिए समर्थ वातावरण बनाना।

मुख्य विशेषताएँ

मिशन के निम्नलिखित घटक हैं-

- घरेलू शौचालयों का निर्माण,
- सार्वजनिक शौचालय,
- ठोस अपशिष्ट प्रबंधन,
- सूचना, शिक्षा और संचार तथा जन जागरूकता,
- क्षमता निर्माण तथा प्रशासनिक और कार्यालय व्यय

केन्द्र सरकार और राज्य सरकार/ शहरी स्थानीय निकायों के बीच फंडिंग पैटर्न है- 75%, 25% (उत्तर पूर्वी और विशेष श्रेणी राज्यों के लिए 90%, 10%)।

उक्त घटकों के वित्त पोषण में अंतराल की पूर्ति लाभार्थी योगदान, निजी वित्त पोषण, कॉर्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व (CSR) के तहत, निजी कंपनियों से प्राप्त धन और **वित्त मंत्रालय के स्वच्छ भारत कोष** से की जा सकती है।

पिछड़ा क्षेत्र अनुदान निधि

उद्देश्य

- पिछड़े राज्यों में पहले से जारी विकास कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए आर्थिक संसाधन मुहैय्या कराकर क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त करना, जिसमें निम्नलिखित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके-
  - मौजूदा विकास कार्यक्रमों और स्थानीय संरचना के बीच जटिल अंतर को समाप्त करना।
  - स्थानीय लोगों की जरूरतों को प्रतिबिंबित करने के लिए उपयुक्त क्षमता निर्माण के साथ पंचायतों और नगर निकायों को सशक्त करना, सहभागी योजनाओं को आसान बनाना, निर्णय लेना, क्रियान्वयन और निगरानी करना

मुख्य विशेषताएँ

- इसके तहत, योजना को ऊपर से नीचे की बजाए जमीनी स्तर से ऊपर की ओर बढ़ने की पद्धति पर तैयार किया गया है।
- इसके दिशा-निर्देश ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतों, शहरी क्षेत्रों में नगरपालिका तथा जिला स्तर पर जिला योजना समितियों को योजना बनाने और कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु केन्द्रीय भूमिका प्रदान करते हैं।
- पंचायती राज मंत्रालय द्वारा उस योजना के लिए 'नेशनल कैपेसिटी बिल्डिंग फ्रेमवर्क' (NCBF) को अपनाया गया है। इस योजना में पंचायती राज संस्थानों के निर्वाचित प्रतिनिधियों तथा अधिकारियों के क्षमता निर्माण के साथ ही साथ जमीनी स्तर पर लोकतंत्र के सशक्तिकरण की परिकल्पना की जाती है।
- 2015-16 के बाद पिछड़ा क्षेत्र अनुदान निधि को किसी भी अतिरिक्त केन्द्रीय सहयोग से पृथक कर दिया गया है। BRGF (backward Regional Grant Fund) को भी केन्द्र के बजटीय सहायता से पृथक कर दिया गया है।

सहकारी समितियाँ (Co-operative Committees)

सहकारी समिति लोगों का ऐसा संघ है, जो अपने पारस्परिक लाभ (सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक) के लिए स्वेच्छा से सहयोग करते हैं। अन्य शब्दों में, सहकारी समिति, संगठन का एक प्रकार है, जिसमें व्यक्ति (खासकर महिलाएं) अपनी इच्छा से समानता के आधार पर अपने आर्थिक हितों के लिए मिलकर कार्य करते है। 2011 में 97वां संशोधन अधिनियम, सहकारी समितियों को संवैधानिक स्थिति और संरक्षण प्रदान करता है। इसके लिए संविधान में निम्नलिखित तीन बदलाव किये गये हैं-

- इसने सहकारी समितियाँ बनाने के अधिकार को मौलिक अधिकार बनाया। (अनुच्छेद 19)
- सहकारी समितियों को बढ़ावा देने के लिए एक नये नीति निदेशक सिद्धांत को जोड़ा गया। (अनुच्छेद 43ख)
- संविधान में एक नया भाग 9 'ख' जोड़ा गया, जिसका नाम 'सहकारी समितियाँ' है। (अनुच्छेद 243 'जेड एच से 243 जेड टी')

संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provision)

संविधान में सहकारी समितियों से संबंधित निम्न प्रावधान हैं:-

सहकारी समितियों का संस्थापन- स्वैच्छिक गठन, सदस्यों के लोकतांत्रिक नियंत्रण, सदस्यों की आर्थिक सहभागिता तथा स्वायत्त कार्यप्रणाली के सिद्धांतों के आधार पर राज्य विधानमंडल सहकारी समितियों के संस्थापना, नियमन एवं बंद करने संबंधी नियम बनाएगा।

बोर्ड के सदस्यों एवं इसके पदाधिकारियों की संख्या एवं शर्तें- राज्य विधानमंडल द्वारा तय किए गए संख्या के अनुसार, बोर्ड के निदेशक होंगे, लेकिन किसी सहकारी समिति के निदेशकों की अधिकतम संख्या 21 से ज्यादा नहीं होगी।

जिस सहकारी समिति में अनुसूचित जाति या जनजाति के लोग और महिला सदस्य होंगे, वैसे प्रत्येक सहकारी समिति के बोर्ड में अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के लिए एक सीट और महिलाओं के लिए दो सीटों के आरक्षण का प्रावधान राज्य विधानमंडल करेगा।

बोर्ड के सदस्यों एवं पदाधिकारियों का कार्यकाल निर्वाचन की तिथि से पांच साल के लिए होगा।

राज्य विधानमंडल बोर्ड के सदस्य के रूप में बैंकिंग, प्रबंधन, वित्त या किसी भी अन्य संबंधित क्षेत्र में विशेषज्ञता रखने वाले व्यक्ति के सहयोजन का नियम बना सकता है। लेकिन ऐसे सह-योजित सदस्यों की संख्या दो से अधिक नहीं होगी (21 निदेशकों के अतिरिक्त)। सह-योजित सदस्यों को सहकारी समिति के किसी चुनाव में वोट देने या बोर्ड के पदाधिकारी के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार नहीं होगा।

सहकारी समिति के क्रियाशील निदेशक बोर्ड के भी सदस्य होंगे और ऐसे सदस्यों की गिनती निदेशकों की कुल संख्या (जो 21 है) में नहीं होगी।

बोर्ड के सदस्यों का चुनाव- यह सुनिश्चित करने के लिए कि बर्हिगामी बोर्ड के सदस्यों का कार्यकाल समाप्त होने के तुरंत बाद नव-निर्वाचित सदस्य पदभार ग्रहण कर ले, बोर्ड का चुनाव कार्यावधि पूरा होने के पहले कराया जाएगा।

मतदाता सूची बनाने के काम की देखभाल, निर्देशन एवं नियंत्रण तथा सहकारी समिति का चुनाव कराने का अधिकार विधानमंडल द्वारा तय किए गए निकाय का होगा।

बोर्ड का विघटन, एवं निलंबन तथा अंतरिम प्रबंधन- किसी भी बोर्ड को छह माह से अधिक समय तक विघटित या निलंबित नहीं रखा जाएगा। बोर्ड को निम्न स्थितियों में विघटित या निलंबित रखा जा सकता है:-

- लगातार काम पूरा नहीं करने पर, या
- काम करने में लापरवाही बरते जाने पर, या
- बोर्ड द्वारा सहकारी समिति या इसके सदस्यों के हित के खिलाफ कोई काम करने पर, या
- बोर्ड के गठन या कामकाज में गतिरोध की स्थिति बनने पर, या
- राज्य के कानून के अनुसार, चुनाव कराने में निर्वाचन निकाय के विफल होने पर।

बोर्ड को विघटित किए जाने की स्थिति में ऐसी सहकारी समिति के कामकाज

को देखने के लिए नियुक्त किए गए प्रशासक छह माह के अंदर चुनाव कराने की व्यवस्था करेंगे तथा निर्वाचित बोर्ड को प्रबंधन सौंप देंगे।

आमसभा की बैठक बुलाना– राज्य विधानमंडल प्रत्येक सहकारी समिति की आमसभा की बैठक वित्तीय वर्ष की समाप्ति के छह माह के अंदर बुलाने का प्रावधान बना सकता है।

सूचना पाने का सदस्यों का अधिकार– राज्य विधानमंडल सहकारी समिति के प्रत्येक सदस्यों को सहकारी समिति के कागजातों, सूचनाओं एवं खाता उपलब्ध कराने का प्रावधान कर सकता है। यह सहकारी समिति के प्रबंधन में सदस्यों की भागीदारी का प्रावधान भी कर सकता है।

अपराध एवं दंड– राज्य विधानमंडल सहकारी समितियों के अपराधों के लिए कानून बना सकता है और ऐसे अपराधों के लिए सजा तय कर सकता है। ऐसे कानूनों में निम्नलिखित तरह की कार्रवाई को अपराध माना जाएगा।

- सहकारी समिति द्वारा गलत रिर्टन दाखिल करना या गलत सूचना उपलब्ध कराना।
- किसी व्यक्ति द्वारा जानबूझकर राज्य के कानून के तहत जारी किए गए किसी सम्मन, मांगी गई जानकारी या जारी किए गए आदेश की अवज्ञा करना।
- कोई भी नियोजक, जो बगैर किसी पर्याप्त कारण के अपने कर्मचारियों से ली गई रकम को चौदह दिनों के अंदर सहकारी समिति में जमा नहीं करेगा।
- कोई भी अधिकारी, जो सहकारी समिति के दस्तावेजों, कागजातों, लेखा, अभिलेखों, नकदी, गिरवी रखे गए सामानों को जानबूझकर अधिकृत अधिकारी को नहीं सौंपेगा।
- कोई भी व्यक्ति जो बोर्ड के सदस्यों या पदाधिकारियों के चुनाव के दौरान या चुनाव के बाद गलत तरीकों का इस्तेमाल करेगा।

बहुराज्यीय सहकारी समितियों में इन कानूनों का कार्यान्वयन– इस खंड के प्रावधान बहुराज्यीय सहकारी समितियों में लागू होंगे। यह कार्यान्वयन राज्य विधानमंडल, राज्य के कानून, या राज्य सरकार द्वारा क्रमशः संसद, केन्द्रीय कानून या केन्द्र सरकार के हवाले से किए गए बदलावों के अनुसार होगा।

केन्द्र शासित क्षेत्रों में कानूनों का कार्यान्वयन– इस खंड के कानून केन्द्र शासित क्षेत्रों में लागू होंगे, लेकिन राष्ट्रपति निर्देश दे सकते हैं कि, उनके द्वारा निर्देशित कानून का कोई खास प्रावधान या अंश वहाँ लागू नहीं होगा।

मौजूदा कानूनों का बना रहना– 2011 के 97वें संविधान संशोधन के ठीक पहले राज्यों में लागू सहकारी समितियों से जुड़े कानून, जो इस खंड से मेल नहीं खाते हैं, संशोधन किए जाने या निरस्त किए जाने या लागू होने के बाद एक साल की अवधि बीत जाने में से जो सबसे कम होगा, तक लागू रहेंगे।

97वाँ संशोधन के कारण (Reason behind 97th Amendment)

- देश के आर्थिक विकास में अपना योगदान देने तथा सदस्यों एवं लोगों के हितों की रक्षा करने तथा अपनी स्वायत्तता, लोकतांत्रिक तरीका तथा प्रोफेशनल प्रबंधन सुनिश्चित करने के लिए इन संस्थाओं को नई ताकत देने के लिए मूलभूत सुधार की जरूरत थी।
- सहकारी समितियों को अनावश्यक बाहरी दखलंदाजी से मुक्त रखने तथा इनका स्वायत्त ढाँचा एवं कामकाज का लोकतांत्रिक तरीका सुनिश्चित करने के लिए संविधान में संशोधन की अत्यधिक जरूरत महसूस की गई।
- यह सुनिश्चित करने के लिए कि देश में सहकारी समितियां लोकतांत्रिक, पेशेवर (प्रोफेशनल), स्वायत्त तरीके से एवं आर्थिक रूप से अच्छी तरह काम करें। सहकारी समितियों के लोकतांत्रिक, स्वायत्त एवं पेशेवर कामकाज सुनिश्चित करने तथा सदस्यों एवं दूसरे स्टॉकहोल्डरो के प्रति प्रबंधन की जवाबदेही भी सुनिश्चित करेंगे तथा कानूनों के उल्लंघन पर रोक लगाएंगे।

Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

केन्द्र-राज्य संबंध
(Centre State Relation)

हमारे देश के शासन के आधारभूत ढाँचे के रूप में संविधान ने परिसंघीय प्रणाली अपनाई है। आज भारत संघ में 28 राज्य हैं। संघ तथा राज्य दोनों ही संविधान से प्राधिकार प्राप्त करते हैं। संविधान द्वारा उनके बीच सभी शक्तियों विधायी, कार्यपालिका और वित्तीय शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है, परन्तु न्यायिक शक्तियों को एकीकृत व्यवस्था के अंतर्गत रखते हुए संघ और राज्य दोनों के लिए एक ही न्यायपालिका का प्रावधान किया गया है। परिणामत: राज्य और संघ संविधान की शक्तियों के अधीन अपना प्रशासन स्वतंत्र रूप से चलाते हैं। यद्यपि संघ के पास बहुत से अभिकरण है, जिनके द्वारा अनेक विषयों में राज्य पर नियंत्रण किया जा सकता है, परन्तु इन अपवादों के अधीन रहते हुए राज्य अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। संघ और राज्य दोनों समान रूप से संविधान की मर्यादाओं के अधीन हैं।

संघ विधानमंडल (संसद) और राज्य विधान मंडल दोनों ही "प्रभुत्व सम्पन्न" संस्थाऐं न होकर संविधान के उपबन्धों द्वारा बनाई गई परिसीमाओं के अंतर्गत कार्य करते हैं। ये उपबन्ध उनके बीच विधायी शक्तियों का वितरण करते हैं। इसके अतिरिक्त मूल अधिकार और कुछ अन्य विनिर्दिष्ट उपबन्ध भी कुछ विषयों में विधायिका की शक्ति को नियमित करते हैं। यदि इन संवैधानिक मर्यादाओं में से किसी का अतिक्रमण किया जाता है तो विधान मंडल की विधि को न्यायालय द्वारा अविधिमान्य घोषित किया जा सकता है।

भारतीय संविधान की संघात्मक प्रणाली के अनुसार, भारत में एक केंद्र सरकार तथा ***31 राज्य सरकारें*** (28 राज्य संघ राज्य क्षेत्र दिल्ली, जम्मू-कश्मीर तथा पांडिचेरी) स्थापित की गई हैं। जहां संघात्मक प्रणाली होती है। वहाँ केंद्र तथा राज्यों के परस्पर संबंधों की स्पष्ट व्यवस्था होती है, जो विधायी संबंध, प्रशासनिक संबंध और वित्तीय संबंधों के रूप में होती है।

केंद्र-राज्य विधायी संबंध (Centre State Legislative Relations)

केंद्र तथा राज्यों के बीच विधायी संबंधों की व्याख्या संविधान के भाग 11 के अनुच्छेद 245-255 में की गई है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 245 के अनुसार, संसद भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकती है और किसी राज्य का विधान मंडल सम्पूर्ण राज्य या उसके एक भाग के लिए कानून बना सकता है।

केंद्र तथा राज्य सरकारों में विधायी शक्तियों के विभाजन के संबंध में ***अनुच्छेद 246*** के अंतर्गत, संविधान में ***तीन*** सूचियाँ अंकित की गई हैं, जिसकी प्रविष्टियाँ सातवीं अनुसूची में निर्दिष्ट की गयी हैं।

संघ-सूची (100 विषय)- संघ- सूची में अंकित सभी विषय राष्ट्रीय महत्व के हैं और इन विषयों पर केवल संघीय संसद ही कानून बना सकती है। इस सूची में रक्षा, विदेशी मामले, डाक-तार, रेलवे, टेलीफोन, सिक्के, बंदरगाह, हवाई-मार्ग, बैंक, बीमा, खानें एवं खनिज, युद्ध व संधि, देशीयकरण व नागरिकता, विदेशियों का आना-जाना आदि विषय सम्मिलित हैं।

राज्य-सूची (61 विषय)- इस सूची में साधारणत: क्षेत्रीय महत्त्व के विषयों को रखा गया है। इस सूची में अंकित विषयों पर साधारण स्थिति में कानून निर्माण का अधिकार राज्य विधानमण्डल को सौंपा गया है। किंतु, कुछ विशेष परिस्थितियों में (जैसे- आपातकाल) में इस सूची के विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त हो जाता है। राज्य-सूची में अंकित प्रमुख विषय हैं- पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय-स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई एवं सड़कें आदि।

समवर्ती-सूची (52 विषय)- समवर्ती-सूची में अंकित विषयों के संबंध में केंद्रीय संसद तथा राज्य विधान मंडल दोनों ही कानून बना सकते हैं, परंतु यदि इस सूची में अंकित किसी विषय पर राज्य विधान मंडल द्वारा निर्मित कानून एवं संघीय संसद द्वारा बनाए गए कानून में विरोध उत्पन्न हो जाए तो राज्य विधान मंडल का कानून उस सीमा तक रद्द समझा जाता है, जिस सीमा तक राज्यों का कानून संघीय कानून का विरोध करता है। फौजदारी विषय एवं प्रक्रिया, औद्योगिक विवाद, निवारक निरोध, सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक बीमा, विवाह एवं विवाह-विच्छेद, श्रमिक संघ कारखाने, पुनर्वास एवं पुरातत्व, आर्थिक एवं सामाजिक योजना, आदि इस सूची के प्रमुख विषय हैं।

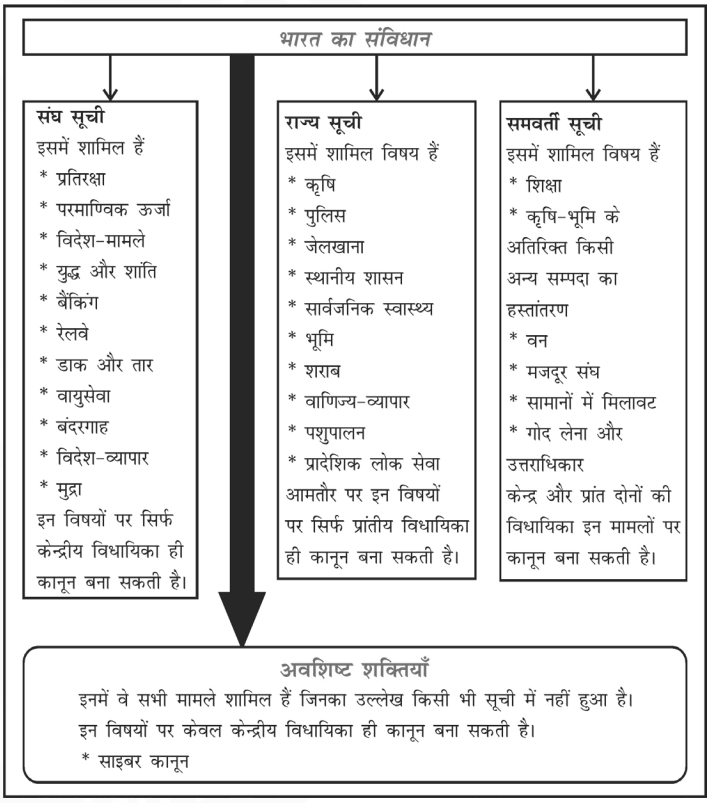

केन्द्र राज्य विधायी सम्बन्धों के अंतर्गत कानून निर्माण की शक्तियों का विभाजन स्पष्ट करते हुये संविधान में सातवीं अनुसूची रखी गयी है। इस अनुसूची में संघ सूची में कुल 100 विषय, राज्य सूची में 61 विषय तथा समवर्ती सूची में 52 विषय रखे गये हैं।

समय-समय पर तात्कालिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये संविधान संशोधन द्वारा विभिन्न सूचियों में प्रविष्ट विषयों का परिवर्तन भी किया जाता रहा है। जैसे संविधान के मूल ढ़ाँचे में राज्य सूची में 66 विषय अंकित थे, किन्तु 42वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा इसमें से 4 विषय शिक्षा, वन, जंगली जानवरों एवं पक्षियों की रक्षा तथा माप-तौल विषय समवर्ती सूची में स्थानान्तरित कर दिये गये, जिससे समवर्ती सूची के विषयों की संख्या 52 हो गयी।

अवशिष्ट शक्तियां

संविधान के अनुच्छेद 248(1) में यह प्रावधान है कि, ऐसे विषय जिनका वर्णन

उपर्युक्त तीन सूचियों में से किसी में भी अंकित नहीं किया गया है, उनके संबंध में कानून बनाने का अधिकार संघीय संसद को होगा।

संविधान द्वारा यद्यपि विभिन्न विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति को अलग-अलग सूचियों के रूप में स्पष्ट कर दिया गया है, परन्तु अपनी संघवादी प्रवृत्ति के कारण संघीय संसद को राज्य सूची के विषयों पर कुछ विशिष्ट अधिकारों का प्रावधान भी किया गया है।

विधायी सम्बन्धों में संघ व राज्य की तुलना

संविधान द्वारा यद्यपि केन्द्र व राज्य की विधायी शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर दिया गया परंतु, कई परिस्थितियों में केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्धों में केन्द्र की स्थिति मजबूत दिखायी देती है। संविधान के अनुच्छेद-249 के उपबन्धों के अनुसार, राज्य सभा में उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा राष्ट्रीय हित से संबंधित राज्य-सूची के विषयों पर कानून बनाने के लिए संसद को अधिकृत कर सकती हैं, परंतु यह प्रस्ताव एक वर्ष से अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रहता है, परन्तु इसको पुनः बढ़ाया जा सकता है।

संसद द्वारा राज्य विषयों पर विधि-निर्माण की परिस्थितियाँ

- राज्य सभा द्वारा अनु॰ 249 के अंतर्गत, राज्य सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर देने पर।
- अनुच्छेद 352 के अंतर्गत राष्ट्रीय आपात की स्थिति में।
- अनु. 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति शासन लागू होने पर।
- समवर्ती सूची के विषयों पर।
- अंतर्राष्ट्रीय संधियों के संदर्भ में।
- केन्द्रीय सम्पत्तियों की सुरक्षा के संदर्भ में।

संविधान के अनुच्छेद 250 के अनुसार, आपातकाल की स्थिति में केंद्रीय संसद को राज्य-सूची में अंकित किसी भी विषय के संबंध में भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कानून बनाने की शक्ति होती है, परंतु आपातकाल की समाप्ति के 6 महीने की अवधि के बाद ऐसे कानून प्रभावी नहीं रहते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 252 के अनुसार, दो या दो से अधिक राज्यों के विधान मंडल एक प्रस्ताव पारित कर, यदि संसद से यह अनुरोध करते हैं कि राज्य-सूची के विषयों पर संसद द्वारा कानून बनाया जाए, तो संसद उन विषयों पर कानून बना सकती है। ऐसे कानूनों को राज्य विधान मंडल न तो संशोधित कर सकती है और न ही समाप्त कर सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 253 के अनुसार संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथ संधि अथवा समझौते को लागू करने के उद्देश्य से किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार है।

केंद्र-राज्य प्रशासनिक संबंध (Centre State Administrative Relations)

भारतीय संविधान के भाग 11 में अनुच्छेद 256 से 263 तक प्रशासनिक संबंधों की व्याख्या की गई है। सामान्य रूप में संघ तथा राज्य सरकारों के बीच प्रशासनिक शक्तियों का विभाजन किया गया है, परंतु प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन में संघीय सरकार अधिक शक्तिशाली है और राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखते हुए राज्य सरकारों के प्रशासन पर संघ सरकार का पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया गया है।

संविधान के अनुच्छेद 256 के प्रावधानों के अनुसार, प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करना होगा, जिससे संसद द्वारा बनाए गए कानून का पालन हो सके। इस संबंध में संघीय कार्यपालिका राज्य सरकारों को आदेश भी जारी कर सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 257 के अनुसार, प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए, जिससे संघ की कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग में कोई बाधा उत्पन्न न हो। संघ सरकार राज्य सरकारों को उसकी सीमाओं में केंद्रीय सम्पत्ति और रेलगाड़ियों की रक्षा के लिए आदेश दे सकती है। साथ ही यह भी उपबन्धित है कि, यदि केंद्रीय सरकार यह अनुभव करे कि किसी राज्य में केंद्रीय सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है तो उस राज्य में केंद्रीय पुलिस सुरक्षा बल भेज सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 258 के अनुसार, राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि, वे किसी राज्य सरकार को उसकी सहमति से किसी विषय से संबद्ध कार्य सौंप सकते हैं। ऐसे कार्य सशर्त अथवा शर्त रहित भी हो सकते हैं। मुख्य रूप से ऐसे विषयों पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का नियंत्रण रहता है।

यदि राष्ट्रपति, युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण आपात स्थिति की घोषणा कर दें तो ऐसी अवस्था में सम्पूर्ण देश का प्रशासन केंद्र सरकार के अधीन आ जाता है और देश का संघात्मक स्वरूप एकात्मक रूप धारण कर लेता है।

यदि कोई राज्य सरकार संघ सरकार की ओर से दिए गए आदेशों का पालन न करे तो राष्ट्रपति उस राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा करके उस राज्य का प्रशासन अपने हाथों में ले सकता है।

राज्य सरकारों के उच्च पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी कार्य करते हैं। अखिल भारतीय सेवाएं संघ तथा राज्य सरकारों की सेवाएं हैं, जिनकी नियुक्ति केंद्र सरकार द्वारा की जाती है, परंतु उनका एक बड़ा भाग राज्य सरकारों की सेवा के लिए सौंपा जाता है।

राज्यों के राज्यपाल, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, उसी प्रकार पदमुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है।

संविधान के अनुच्छेद 261 में यह प्रावधान किया गया है कि, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र संघ की तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरी मान्यता दी जाएगी। इनकी प्राथमिकता सिद्ध करने के नियम और शर्तें तथा उनके प्रभाव का निर्धारण संसद द्वारा बनायी गयी विधि के अनुसार होगा। यह भी कहा गया है कि, भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के दीवानी न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय तथा आदेश उस राज्य क्षेत्र के अंदर सभी स्थानों पर निष्पादित किये जाएंगे।

जल संबंधी विवाद

संविधान के **अनुच्छेद 262** के अनुसार, दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य बहने वाली नदियों के पानी के विभाजन के संबंध में या उनके संबंध में किन्हीं अन्य विवादों का निर्णय करने के लिए संसद को कानून बनाने की शक्ति प्रदान की गई है।

क्र.सं.	नाम स्थापना वर्ष		संबंधित राज्य
1.	कृष्णा जल विवाद न्यायाधिकरण	1969	महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं आंध्र प्रदेश
2.	गोदावरी जल विवाद न्यायाधिकरण	1969	महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं ओडीशा
3.	नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण	1969	राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश एवं महाराष्ट्र
4.	रावी तथा व्यास जल विवाद न्यायाधिकरण	1986	पंजाब एवं हरियाणा
5.	कावेरी जल विवाद न्यायाधिकरण	1990	कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु एवं पुडुचेरी

6.	द्वितीय कृष्णा जल विवाद न्यायाधिकरण	2004	महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं आंध्र प्रदेश
7.	वंशधारा जल विवाद न्यायाधिकरण	2009	ओडिशा एवं आंध्र प्रदेश
8.	महादयी जल विवाद न्यायाधिकरण	2010	गोवा, कर्नाटक
9.	महानदी जल विवाद न्यायाधिकरण	2018	छत्तीसगढ़ एवं ओडिशा

- नदी जल विवाद- संविधान का अनुच्छेद 262, अंतर्राज्यीय नदियों व नदी घाटियों के जल से संबंधित विवादों के निर्णय के बारे में व्यवस्था करता है। इसके अनुसार, संसद कानून बनाकर किसी भी अंतर्राज्यीय नदी या नदी घाटी के पानी के उपयोग/ विवरण/नियंत्रण पर चल रहे विवाद को सुलझाने के लिए प्रावधान कर सकती है। 262(1) तथा संसद कानून बनाकर सर्वोच्च न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय ऐसे विवादों पर अपना अधिकार इस्तेमाल करने से रोक सकती है। [अनुच्छेद 262 (1)]
- अंतर्राज्यीय नदी जल विवाद अधिनियम 1956- यह अधिनियम पूरे भारत पर लागू होता है। इसके अनुसार, यदि किसी नदी विवाद को ट्रिब्यूनल को सौंप दिया जाता है, तो यह सर्वोच्च न्यायायल के इन अधिकार के ऊपर रोक लगा देता है।
- अंतर्राज्यीय नदी जल विवाद ट्रिब्यूनल- इस ट्रिब्यूनल का गठन तब किया जाता है, जब दो राज्य सरकार अनुरोध करती है और केन्द्र सहमत होता है कि ऐसा मामला बातचीत से सुलझाना संभव नहीं है। ट्रिब्यूनल के गठन के संदर्भ में 2002 में एक अधिनियम द्वारा संशोधन किया गया है कि, यदि कोई राज्य सरकार ट्रिब्यूनल के गठन का अनुरोध करता है तो केन्द्र सरकार को एक वर्ष के भीतर इसका गठन करना होगा तथा वो विवाद जो किसी ट्रिब्यूनल द्वारा 2002 से पहले निपटाया जा चुका है, उस विवाद के लिए फिर से ट्रिब्यूनल का गठन नहीं किया जा सकता है।

ट्रिब्यूनल- किसी विशेष मामले से निपटने के लिए स्थापित एक विशेष अदालत या समिति को ट्रिब्यूनल कहते हैं। ये न्यायाधिकरण प्रकृति में अर्द्ध न्यायिक है।
उदाहरण- राष्ट्रीय ग्राम न्यायाधिकरण, अंतर्राज्यीय जल विवाद न्यायाधिकरण।

प्रमुख नदी जल विवाद

- महादयी नदी- इस नदी की श्रेणी में कर्नाटक तथा गोवा राज्य शामिल हैं। यह पश्चिम की ओर बहने वाली नदी है, जो अरब सागर में गिरती है। यह वर्षा पर निर्भर रहने वाली नदी है, जिसका उद्गम कर्नाटक से होता है।

विवाद- कर्नाटक महादयी नदी को मालप्रभा नदी के साथ, कालसा, मंडूरी परियोजना के अंतर्गत जोड़ना चाहता है। जिस पर गोवा को आपत्ति है, क्योंकि गोवा मुख्य रूप से महादयी और जुआरी नदियों पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में महादयी नदी के जल को मोड़ देना गोवा के हित को प्रभावित करेगा।
ट्रिब्यूनल- महादयी नदी जल विवाद के हल के लिए सर्वप्रथम 2010 में एक ट्रिब्यूनल का गठन किया गया, जिसका अंतिम निर्णय अभी आना बाकी है। ट्रिब्यूनल में महादयी नदी के 7.56 टीएमसी फीट पानी को मोड़ने की कर्नाटक की मांग को अस्वीकार कर दिया था।

- महानदी विवाद- महानदी का उद्गम छत्तीसगढ़ राज्य से होता है। यह नदी पूर्व की ओर बहते हुए बंगाल की खाड़ी में गिरती है। यह नदी छत्तीसगढ़ और ओडिशा में वृत्ताकार घाटी बनाते हुए बहती है।

विवाद- इस विवाद में ओडिशा को आपत्ति है कि, छत्तीसगढ़ या तो महानदी का पानी रोक लेता है या बिना पूर्व सूचना के अतिरिक्त जल बहा देता है। इसी संदर्भ में ओडिशा ने 2016 में सर्वोच्च न्यायालय से संपर्क किया तथा 2018 में केन्द्र सरकार द्वारा इस मुद्दे पर एक ट्रिब्यूनल की स्थापना को मंजूरी दी है।

- वंशधारा नदी- वंशधारा नदी का उद्गम ओडिशा से होता है, यह ऋषिकुल्या और गोदावरी नदी के बीच से बहती हुई, पूर्व में बंगाल की खाड़ी में गिरती है। ओडिशा और आंध्र प्रदेश राज्यों के बीच एक समझौता किया गया।

विवाद- आंध्र प्रदेश ने ओडिशा द्वारा बिना अनुमति निर्मित हरभांगी बांध पर आपत्ति जताई है, क्योंकि ये वंशधारा नदी के जल को ऋषिकुल्या नदी में मोड़ देगा तथा आंध्र प्रदेश द्वारा निर्मित नेरेडी बैराज का ओडिशा द्वारा विरोध किया गया है, क्योंकि यह ओडिशा में भूमि को डुबा देगा।
ट्रिब्यूनल- इस विवाद के निपटारे के लिए वर्ष 2010 में मुकंद शर्मा की अध्यक्षता में एक ट्रिब्यूनल स्थापित किया गया। 2017 में ट्रिब्यूनल ने अपना अंतिम निर्णय दिया, जिसमें आंध्र प्रदेश को नेरेडी बैराज परियोजना के साथ आगे बढ़ने की अनुमति दी गई तथा ट्रिब्यूनल ने दोनों राज्यों के मध्य हुई 1962 की संधि को सही ठहराया।

- नर्मदा नदी- यह मध्य भारत में पश्चिम की ओर बहने वाली नदी है, जिसका उद्गम मध्य प्रदेश से होता है। यह नदी मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात में बहते हुए अरब सागर में जाकर मिल जाती है।

विवाद- नर्मदा नदी के जल के बंटवारे को लेकर मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात व राजस्थान राज्यों के मध्य विवाद है।
ट्रिब्यूनल- 1969 में नर्मदा जल विवाद ट्रिब्यूनल का गठन किया गया, 1979 में ट्रिब्यूनल ने अपना निर्णय दिया, जिसमें मध्य प्रदेश में इंदिरा सागर परियोजना को मंजूरी दी गई, सरदार सरोवर बांध की ऊंचाई 455 फीट तय की गई। इस ट्रिब्यूनल के फैसले पर कोई विवाद नहीं थे, हालाँकि परियोजना से पीड़ित लोगों के मुआवजे व पुनर्वास पर विवाद था। वर्ष 2017 में प्रधानमंत्री द्वारा इस परियोजना का उद्घाटन हुआ।

- रावी और ब्यास नदियाँ- इन नदियों का उद्गम हिमाचल प्रदेश से होता है तथा हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा व राजस्थान राज्यों को इन नदियों द्वारा लाभ होता है।

ट्रिब्यूनल- रावी और ब्यास नदी जल ट्रिब्यूनल का गठन 1986 में किया गया। 1993 में ट्रिब्यूनल ने पंजाब और हरियाणा के बीच 1.3:1 के अनुपात में जल आवंटन का निर्देश दिया। पंजाब इस निर्णय से संतुष्ट नहीं था और उसने 2004 में पंजाब टर्मिनेशव ऑफ वाटर एग्रीमेंट्स एक्ट को अपनाया, यह अधिनियम रावी और ब्यास नदियों के जल के बंटवारे से संबंधित सभी समझौतों को समाप्त करता है, जिसे राष्ट्रपति द्वारा 2016 में सलाह मांगे जाने पर सर्वोच्च न्यायालय ने असंवैधानिक घोषित कर दिया। यह मुद्दा अभी समाप्त नहीं हुआ है। पंजाब व हरियाणा के मध्य सतलज, यमुना लिंक एक अन्य मुद्दा है।

- कृष्णा नदी- इस नदी का उद्गम महाराष्ट्र से होता है तथा ये नदी महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलगांना और आंध्र प्रदेश से होकर प्रवाहित होती है।

ट्रिब्यनूल- कृष्णा जल विवाद ट्रिब्यूनल, भारत में नदी जल विवाद का गठित पहला ट्रिब्यूनल था, जिसका गठन 1969 में हुआ तथा 1973 में ट्रिब्यूनल ने अपना निर्णय दिया, जिसमें महाराष्ट्र को 560 ज्डब फीट, आंध्र प्रदेश के 800 ज्डब फीट तथा कर्नाटक को 700 ज्डब फीट जल आवंटित किया गया। वर्ष 2004 में तीनों राज्यों की मांग पर एक अन्य ट्रिब्यूनल का गठन किया गया, जिसमें कृष्णा नदी के जल के अत्यधिक दोहन को स्वीकारा गया तथा 2010 में निर्णय दिया कि, घाटी के संरक्षण के लिए कृष्णा घाटी प्राधिकरण, की स्थापना की जाये। ट्रिब्यूनल द्वारा अंतिम निर्णय 2013 में दिया गया है जिसमें आंध्र प्रदेश को 10385 ज्डब फीट, कर्नाटक को 1016 ज्डब फीट तथा महाराष्ट्र को 701 ज्डब फीट जल आवंटित किया गया।

- तुंगभद्रा नदी- यह कृष्णा की सहायक नही है। इसका उद्गम तुंगा व भद्रा

नदियों के संगम द्वारा होता है। यह नदी कर्नाटक व आंध्र प्रदेश राज्यों से होकर बहती है। ध्यातव्य है कि, तेलंगाना इसका तटीय राज्य नहीं है। 1950 के दशक के बाद से तुंगभद्रा बोर्ड द्वारा कर्नाटक और आंध्र प्रदेश को छोड़े जाने वाले जल की निगरानी की जाती है। तुंगभद्रा पर हॉस्पेट बांध स्थित है।

- गोदावरी नदी- यह नदी महाराष्ट्र राज्य से प्रवाहित होती है तथा इसकी नदी द्रोणी महाराष्ट्र, तेलगांना, आंध्र प्रदेश, ओडिशा, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ तथा यनम तक विस्तृत हैं तथा इन्हीं राज्यों के मध्य गोदावरी के जल के बंटवारे को लेकर विवाद है।

ट्रिब्यूनल- गोदावरी नदी जल विवाद के निपटारे के लिए एक ट्रिब्यूनल का गठन किया गया, जिसने 1980 में अपना अंतिम निर्णय दिया, जिसमें राज्यों को कुछ हद तक नदी और इसकी सहायक नदियों के प्रवाह का उपयोग करने की स्वतंत्रता दी गई थी।

पोलावरम परियोजना- यह आंध्र प्रदेश द्वारा प्रारंभ एक सिंचाई परियोजना है, जिसमें गोदावरी को पोलावरम तथा कृष्णा को विजयवाड़ा अनीकूट से जोड़ता है। इस परियोजना को केन्द्र सरकार द्वारा 2014 में राष्ट्रीय परियोजना का दर्जा दिया गया है।

इस परियोजना पर तेलगांना, छत्तीसगढ़ और ओडिशा को आपत्तियां है। जहां ओडिशा को बांध की डिजाइन पर आपत्ति है, वहीं तेलगांना और छत्तीसगढ़ को राज्य के कई गांवों के डूबने के आंशका है।

इकमपल्ली परियोजना- यह परियोजना गोदावरी नदी पर स्थिति है, जिसका प्रारंभ मध्य प्रदेश (अब छत्तीसगढ़), महाराष्ट्र व आंध्र प्रदेश के मध्य एक संयुक्त उपक्रम के रूप में हुआ।

नोट:- इकमपल्ली व पोलावरम पहले संयुक्त परियोजना थी लेकिन अब वे पृथक परियोजनाएं है।

- कावेरी नदी- कावेरी नदी कर्नाटक से प्रवाहित होती है। इस नदी की द्रोण ाी कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल व कराईकल (पुदुचेरी) तक विस्तृत है। कावेरी नदी पूर्व की ओर प्रवाहित होते हुए बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

विवाद- यहाँ विवाद कावेरी के जल के साझाकरण से संबंधित है, जिसमें कर्नाटक तथा तमिलनाडु प्रमुख दावेदार है। यद्यपि ब्रिटिश शासन के दौरान कावेरी जल के साझाकरण के मसले का निपटारा किया गया था। परन्तु समय के साथ सभी राज्यों की पानी की जरूरते बढ़ गई। अत: तमिलनाडु व कर्नाटक दोनों नदी के पानी में अधिक हिस्सेदारी मांग रहे है। 1924 में मैसूर व मद्रास प्रेसीडेंसी के मध्य समझौता हुआ, जिसमें मैसूर को कृष्ण राजासागर तथा मद्रास को मेट्टूर बांध बनाने की अनुमति दी गई। 1924 व 1892 के समझौतों के तहत नदी बेसिन में कोई भी ऊपरी राज्य बिना निचले राज्य की अनुमति के कोई निर्माण कार्य नहीं कर सकेगा। कर्नाटक द्वारा इस संधि का उल्लंघन किया गया।

आजादी के बाद कर्नाटक सरकार ने कावेरी नदी पर चार नये जलाशयों का निर्माण किया तथा कर्नाटक व तमिलनाडु दोनों सरकारों ने केन्द्रीय जल आयोग की अनुमति के बिना बांधों का निर्माण कर दिया। 1970 में तमिलनाडु सरकार ने विवाद के संदर्भ में केन्द्र सरकार से संपर्क किया, जिसके पश्चात् 1990 में कावेरी जल विवाद ट्रिब्यूनल की स्थापना की गई, जिसने 2007 में भारत सरकार को रिपोर्ट सौंपी, जिसमें केरल को 30 ज्डब्ए कर्नाटक को 270 ज्डब, तमिलनाडु को 419 ज्डब तथा पुदुचेरी को 7 ज्डब फीट पानी देने का निर्णय दिया गया तथा कहा गया कि, यदि कावेरी घाटी में पानी की मात्रा कम है तो आवंटित हिस्से का अनुपात सभी राज्यों में घट जायेगा, इसके अलावा निचले राज्यों की अनुमति के बिना ऊपरी राज्यों के नदी पर किसी भी तरह के निर्माण पर रोक लगा दी गई।

राज्यों ने ट्रिब्यूनल के इस निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी तथा 2008 में एक बेंच का गठन किया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने मामूली परिवर्तन के साथ इस फैसले को स्वीकार किया। कर्नाटक को तमिलनाडु से 14.75 ज्डब फीट अधिक जल देने की अनुमति दी गई। न्यायालय ने कहा कि, उपलब्ध पानी पर पहला हक मनुष्यों और जानवरों के पीने के लिये होना चाहिए। अत: राज्य मानवीय जरूरतों को पहले पूरा करेंगे। जल विद्युत के लिए कावेरी के पानी के प्रयोग करने की, केरल की मांग को नहीं माना गया।

फरवरी 2018 में सर्वोच्च न्यायालय ने चारों तटवर्ती राज्यों के बीच कावेरी जल के आवंटन पर अंतिम निर्णय सुनाया है, जिसमें ट्रिब्यूनल के फैसले को थोड़ा बदला गया है तथा तमिलनाडु के हिस्से से 14.75 ज्डब फीट पानी देने की अनुमति दी गई है।

अंतर्राज्यीय नदी जल विवाद (संशोधन) 2017

धीमे और अप्रभावी विवाद समाधान के कारण 2017 में नदी जल विवाद संशोधन विधेयक पेश किया गया। पूर्व स्थापित ट्रिब्यूनल न तो समय बद्ध थे, न ही उनके विस्तार की कोई सीमा भी है। कई बार राज्य सरकारें, ट्रिब्यूनल के निर्णय का पालन नहीं करती तथा ये स्थायी न्यायाधिकरण न होकर विशिष्ट मुद्दों के लिए गठित किये जाते है। नया विधेयक उपरोक्त कमियों को पूरा करेगा। नये विधेयक के अनुसार, एक स्थायी अंतर राज्य नदी जल विवाद ट्रिब्यूनल का प्रस्ताव किया गया है। प्रत्येक अंतर्राज्ययीय नदी जल विवाद को तीन सदस्यीय पीठ के पास भेजा जायेगा। जिसे, विवाद को निर्धारित समय में निपटाना होगा। शांतिपूर्वक हल के लिए विवाद पहले विवाद निवारण समिति के पास जायेगा। यह केन्द्र को डाटा-बैंक और सूचना प्रणाली के सृजन का आदेश देता है।

इस नये ट्रिब्यूनल में सर्वोच्च या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश समेत आठ सदस्य होंगे, जिनकी अधिकतम आयु सीमा 70 वर्ष होगी। ट्रिब्यूनल में एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होंगे।

अंतरराज्यीय परिषद

राज्यों के परस्पर विवादों का निर्णय करने और उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न करने के लिए राष्ट्रपति अंतर्राज्यीय परिषद की स्थापना कर सकता है। इसी प्रावधान के अनुसार, राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 263 के अंतर्गत 1990 में अंतर्राज्यीय परिषद की स्थापना की थी। अंतर्राज्यीय परिषद संघ तथा राज्य सरकारों की नीतियों में समन्वय उत्पन्न करने और राज्यों के परस्पर विवादों को निपटाने के लिए संघ सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है।

अंतर्राज्यीय वाणिज्य आयोग

संविधान के अनुच्छेद 301 से 307 में वर्णित स्वतंत्रताओं यथा भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वाधीनता से संबंधित संविधान के प्रावधानों को लागू करने के लिए संसद को अनुच्छेद 307 के द्वारा यह शक्ति दी गई है कि, वह अमेरिका के अंतर्राज्यीय वाणिज्य आयोग के समान कोई अभिकरण गठित करे और उसे ऐसी शक्तियाँ और कर्तव्य सौंपे जो राष्ट्रपति ठीक समझे।

केंद्र-राज्य वित्तीय संबंध (Centre State Financial Relation)

भारतीय संविधान द्वारा केन्द्र व राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों की भी स्पष्ट व्याख्या की गयी है, जो संविधान के भाग 12 के विभिन्न अनुच्छेदों में उल्लिखित है। वित्तीय क्षेत्र में भी संघ तथा राज्यों के मध्य वित्तीय साधनों का विभाजन किया गया है। भारतीय संविधान में यह विभाजन 1935 के अधिनियम में किए गए विभाजन पर आधारित है। संघ सरकार को संघ-सूची में अंकित सभी विषयों पर कर लगाने का अधिकार है और राज्य सरकारों को राज्य-सूची में अंकित विषयों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। राज्य सरकारें अपने द्वारा लगाए गए करों को स्वयं एकत्र करती हैं और स्वयं ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के

लिए उस धन को व्यय करती हैं, परंतु संघ सरकार द्वारा लगाए गए सभी कर संघीय सरकार न तो स्वयं एकत्रित करती है और न ही सभी करों के धन को स्वयं व्यय करती है। संविधान का अनुच्छेद 265 विधि द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति को ही कर लगाने का अधिकार प्रदान करता है।

संचित निधियाँ

अनुच्छेद 266 के अंतर्गत, भारत की संचित निधि तथा प्रत्येक राज्य की संचित निधि की स्थापना की गई हैं। आकस्मिक निधि तथा राज्यों को दिए जाने वाले करों तथा शुल्कों को छोड़कर, भारत सरकार को प्राप्त सभी राजस्व, उस सरकार द्वारा राज्य हुंडियां निर्गमित करके, अग्रिमों द्वारा लिए गए सभी उधार तथा उधारों से उस सरकार को प्राप्त सभी धनराशियों से एक संचित निधि बनती है, जिसे भारत की संचित निधि के रूप में जाना जाता है। उसी प्रकार किसी राज्य सरकार को प्राप्त सभी राजस्व, उस सरकार द्वारा हुंडिया निगर्मित करके, उधार अथवा अग्रिमों द्वारा लिए गए सभी उधार तथा उधारों से उस सरकार को प्राप्त सभी धनराशियों की एक संचित निधि बनती है, जिसे राज्य की संचित निधि के रूप में जाना जाता है। भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा उसकी ओर से प्राप्त सभी अन्य लोक धनराशियाँ भारत के लोक लेखों में या राज्य के लेखो में जमा की जाती हैं।

आकस्मिकता निधि

संविधान के अनुच्छेद 267 के अनुसार, संसद और राज्य विधानमंडल को भारत या राज्य की आकस्मिकता निधि स्थापित करने की शक्ति दी गई है। यह निधि भारत की आकस्मिकता निधि अधिनियम, 1950 द्वारा गठित की गई है। यह निधि कार्यपालिका के व्ययाधीन है।

सहायता अनुदान

संविधान के अनुच्छेद 273, 275 एवं 282 के अंतर्गत, केन्द्र द्वारा राज्यों को तीन प्रकार से सहायता प्रदान की जाती है। अनुच्छेद 273 के अनुसार, केंद्र सरकार द्वारा असम, बिहार, ओडिशा एवं पश्चिम बंगाल को जूट एवं उत्पादों के निर्यात शुल्क पर सहायता अनुदान दिया जा सकता है। अनुच्छेद 275 के अंतर्गत, यदि यह निश्चय हो जाए कि किसी राज्य को अपरिहार्य रूप से आर्थिक सहायता की जरूरत है तो उसे सहायता अनुदान दिया जा सकता है। अनुच्छेद 282 के अंतर्गत, केंद्र या राज्य सार्वजनिक उद्देश्य हेतु सहायता अनुदान जारी कर सकते हैं। यह अनुदान इसके अधीन नहीं होगा कि, वह केंद्र या राज्य के विधायी अधिकार क्षेत्र में आता है या नहीं।

वित्त आयोग (Finance Commission)

केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों को नियमित करने के लिए एक संवैधानिक संस्था के रूप में वित्त आयोग का गठन अनुच्छेद 280 के अधीन, राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। इसका कार्यकाल पांच वर्ष का होता है और इसमें सार्वजनिक कार्यों के बारे में विशेष अनुभव वाला अध्यक्ष और अन्य चार सदस्य निम्नलिखित में से नियुक्त किए जाते हैं; जिसमें–

- जिसे सार्वजनिक मामलों का अनुभव हो।
- एक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश अथवा ऐसी ही योग्यता रखने वाला व्यक्ति।
- एक व्यक्ति, जिसे सरकार के वित्त और लेखाओं का विशेष ज्ञान हो।
- एक व्यक्ति, जिसे वित्तीय विषयों और प्रशासन के बारे में व्यापक अनुभव हो।
- एक व्यक्ति जिसे अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान हो।

वित्त आयोग के प्रमुख कर्तव्य

- संघ और राज्यों के बीच करों के शुद्ध आगमों के वितरण के बारे में और राज्यों के बीच ऐसे आगमों के आबंटन के बारे में सुझाव देता है।
- भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वों में सहायता अनुदान को शासित करने वाले सिद्धातों के बारे में सुझाव देता है।
- राज्यों में पंचायत के संसाधनों की पूर्ति के लिए किसी राज्य की संचित निधि के संवर्द्धन के लिए आवश्यक उपायों के बारे में सिफारिश करता है।
- राज्य में नगरपालिकाओं के संसाधन की पूर्ति के लिए किसी राज्य की संचित निधि के संवर्द्धन के लिए आवश्यक उपायों के बारे में तथा सौंपे गए किसी अन्य विषय के बारे में वित्त आयोग राष्ट्रपति को सिफारिश करता है।

जीएसटी

क्या है जीएसटी

जीएसटी निर्माता और उपभोक्ता से वस्तु और सेवाओं की आपूर्ति पर एक गंतव्य- आधारित एकल कर व्यवस्था है। जिसने केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा लगाए गए कई अप्रत्यक्ष करों का स्थान लिया है। इससे देश को एक एकीकृत बाजार में परिवर्तित किया जा सकता है। अन्य लाभों के अतिरिक्त जीएसटी से व्यवसाय करने की स्थितियों में सुधार होने की अपेक्षा है, क्योंकि इससे कर अनुपालन बढ़ेगा, कर के ऊपर कर की व्यवस्था खत्म होगी, कर प्रशासन में सुधार होगा, कर चोरी कम होगी, अर्थव्यवस्था का संगठित क्षेत्र व्यापक बनेगा और सरकारी खजाने में अधिक राजस्व जमा होगा। इसमें औद्योगिक उत्पादों पर चुकाये जाने वाले करों की औसत दर को भी 25-28 प्रतिशत की बजाय 18 प्रतिशत कर दिया गया है।

जीएसटी में 17 अप्रत्यक्ष कर (8 केन्द्रीय, 9 राज्य स्तरीय) और 23 केन्द्रीय और राज्यीय उपकर समाहित हैं, अब कई रिटर्न भरने की जरूरत खत्म हो गयी है और उत्पादक से उपभोक्ताओं तक की आपूर्तिश्रृंखला के साथ वस्तुओं और सेवाओं के करों को तर्कसंगत बनाया गया है। जीएसटी में केन्द्रीय जीएसटी (सीजीएसटी) और राज्य जीएसटी (एसजीएसटी) शामिल हैं, जो इससे पहले से केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा चुंगी के रूप में वसूल की जाती थी।

राज्य की सीमाओं में वस्तुओं और सेवाओं की सहज गति को सुगम बनाकर जीएसटी ने अंतर्राज्यीय लेन-देन को बाधा रहित बनाया है। इसमें केन्द्र द्वारा एक एकीकृत जीएसटी (आईजीएसटी) को प्रस्तावित किया गया है, जिसमें अंतर्राज्यीय लेन-देन में दो की बजाय एक स्थान पर कर लगाने की व्यवस्था है।

व्यापार सुगमता पर जीएसटी का प्रभाव

जीएसटी के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए कर अनुपालन को सरल बनाया गया है। साथ ही वस्तुओं की अंतर्राज्यीय आवाजाही की दिक्कतों को दूर किया गया है और कर के बोझ को कम किया गया है। इसके अतिरिक्त कर रिर्टन को समय पर भर कर इन सभी समस्याओं का हल हो सकता है। इस प्रकार विश्व बैंक की 'ईज ऑफ डूइंग बिजनेस रिपोर्ट' में 'पे टैक्स' वर्ग में देश की वैश्विक रैंकिंग में तेजी से सुधार होगा।

सहज अनुपालन

जीएसटी ने सभी अप्रत्यक्ष करों को एकल कर में तब्दील करके, कर अनुपालन को आसान बनाया है। जीएसटी नेटवर्क (जीएसटीएन) के आईटी प्लेटफॉर्म का उपयोग करते हुए, जो केन्द्र और राज्यों के बीच साझा आईटी बुनियादी ढाँचा है, करदाता कर अधिकारियों से संपर्क किये बिना कहीं से भी ऑनलाइन पंजीकरण कर सकते हैं, रिटर्न फाइल कर सकते हैं, भुगतान कर सकते हैं और रिफंड का दावा

कर सकते हैं। यह जीएसटी के सहज कामकाज का भरोसेमंद और प्रभावी आधार है। इससे कर अनुपालन की प्रक्रिया आसान, पारदर्शी, तेज और कागज रहित होती है और उत्पादकता बढ़ाने एवं व्यवसाय की दक्षता के लिए मंच तैयार होता है।

आसान अंतर्राज्यीय आवागमन

जीएसटी प्रवेश कर और चुंगी सहित अनेक अप्रत्यक्ष करों को हटाकर इस समस्या को दूर करता है। इससे व्यापारियों की रसद की लागत (समय और धन दोनों) और उपभोक्ताओं के लिए कीमतें कम होने की उम्मीद है। जीएसटी के लागू होने के बाद सभी राज्यों की सीमाओं से चेक पोस्ट खत्म कर दिये गये हैं और इस बात के प्रमाण मिले हैं कि, ट्रकों के सफर का समय काफी कम हुआ है।

सभी के लिए एकल इंटरफेस

जीएसटीएन कर अधिकारियों को करदाताओं का इंटरफेस और विवादों से निपटने के लिए एक मंच प्रदान करता है। आपूर्तिकर्ताओं, खरीददारों और कर अधिकारियों को सभी प्रासंगिक जानकारियाँ प्राप्त होने से चालान को जोड़ना और मिलान करना आसान होगा। इसके अलावा, आगम कर क्रेडिट के लिए सभी चालानों को क्रेडिट का लाभ उठाने के लिए मिलान करने की आवश्यकता होती है, जो स्वत: खरीदारों को इस बात का जिम्मा देता है कि वे सुनिश्चित करें कि, आपूर्तिकर्ता रिटर्न फाइल करें और समय पर करों का भुगतान करें।

एकल बाजार का सृजन

मैन्यूफैक्चरर कच्चे वस्तु की सोर्सिंग, उत्पादन और भंडारण की सुविधा और उत्पादन की बिक्री के संबंध में अधिक तर्कसंगत निर्णय लेने में सक्षम होंगे, क्योंकि जीएसटी से भारत एक बड़ा बाजार बन जाएगा। कर प्रक्रियाओं में एकरूपता और केन्द्रीकृत पंजीकरण से राज्यों में व्यवसायों का विस्तार आसान बन जाएगा।

निर्यात प्रतिस्पर्धा में वृद्धि

कर के ऊपर का कर कम होने और कर अनुपालन के बोझ को कम करने से भारत में निर्यात को बढ़ावा मिलेगा, जैसा कि न्यूजीलैंड और ऑस्ट्रेलिया सहित कई देशों की अर्थव्यवस्थाओं में हुआ है। उदाहरण के लिए न्यूजीलैंड ने 1986 में जीएसटी लागू किये जाने के बाद अगले वर्ष में निर्यात 22 प्रतिशत से अधिक बढ़ा था।

संसाधनों के आवंटन में पक्षपात कम

बिना अप्रत्यक्ष लाभों पर ध्यान दिये, जिन राज्यों और क्षेत्रों में कर अनुपालन और दरें अनुकूल होती हैं, व्यापार जगत उन्हीं में संसाधनों का आवंटन करता है। इससे कंपनी की प्रतिस्पर्धा तो कम होती ही है, आपूर्तिशृंखला सहित संसाधनों का आवंटन भी विकृत होता है। जीएसटी के बाद देश में कर तटस्थ होगा और यहां व्यापार करना सहज होगा। बेशक, व्यापार का स्थान कोई भी हो। इससे क्षेत्र और राज्य की विभिन्नताओं, कर अनुपालन और कर दरों की समस्याएँ कमतर हो जाएंगी।

निष्कर्ष

जीएसटी को स्वतंत्र भारत का सबसे बड़ा कर सुधार कहा जा रहा है और यह उम्मीद करने के तमाम कारण हैं कि, इसके दूरगामी प्रभाव होंगे। हालांकि उपभोक्ता के नजरिए से कुछ अनिश्चतताएं हैं, जैसे जीएसटी किस प्रकार मूल्यों में बदलाव करेगा, क्योंकि इसमें दोनों पक्षों को प्रभावित करने वाले कारक हैं- कीमत कम करने वाले भी, बढ़ाने वाले भी वस्तुओं के एक बड़े समूह पर निम्न कर दरें लागू हुई हैं। आगम कर क्रेडिट और आपूर्ति शृंखला में सुधार से मूल्य गिर सकते हैं। दूसरी ओर, सेवाओं की कर दरों में बढ़ोत्तरी और अनुपालन लागत बढ़ने से, खास तौर से छोटे और मध्यम दर्जे के उद्यमों के लिए, कीमतें भी बढ़ सकती हैं। इस दोहरे प्रभाव से यह तय करना मुश्किल है कि, भविष्य में कीमतों पर जीएसटी का क्या असर होने वाला है। इसके अतिरिक्त जीएसटी को लागू कर चुके देशों से भारत की तुलना करना मुश्किल है, क्योंकि कोई भी देश इतना विविधतापूर्ण और बहुस्तरीय नहीं है। जीएसटी पूर्व की जटिल कर संरचना का उल्लेख करना भी जरूरी है। इसके मद्देनजर यह देखा जाना बाकी है कि, जीएसटी अंतत: उपभोक्ताओं को कैसे प्रभावित करता है।

कर राजस्व का वितरण

कर अधिरोपित करने हेतु कानून निर्माण की विधायी शक्ति संघ एवं राज्यों के मध्य सातवीं अनुसूची में अंकित संघ एवं राज्यों की विधायी सूचियों में विनिर्दिष्ट विषयों के माध्यम से विभाजित की गई है। उदाहरण के लिए, राज्य विधानमंडल को कृषि के सम्बन्ध में सम्पदा-शुल्क लगाने की शक्ति है, जबकि गैर-कृषि भूमि के सम्बन्ध में सम्पदा-शुल्क लगाने की शक्ति संसद को हैं। इसी प्रकार, राज्य का विधानमण डल कृषि आय पर उद्ग्रहण करने हेतु सक्षम है, जबकि संसद को कृषि आय से भिन्न समस्त आय पर आय-कर अधिरोपित करने की शक्ति प्राप्त है।

कराधान के सम्बन्ध में भी साधारण विधानों की तरह अवशिष्ट शक्ति संसद को प्राप्त है। उपहार-कर एवं व्यय-कर भी अवशिष्ट शक्तियों के अंतर्गत ही आते हैं। कर सम्बन्धी विधान के विषय में कोई समवर्ती क्षेत्र नहीं है। संघ तथा राज्यों के बीच कर-राजस्व का वितरण निम्नलिखित प्रकार से होता है:

संघ के अधिकार में कर राजस्व

- सीमा शुल्क।
- निगमकर।
- व्यक्तियों तथा कर्मचारियों की सम्पत्तियों के पूंजी मूल्य पर कर।
- आय कर पर अधिभार।
- संघ-सूची के विषयों से संबंधित फीस।

राज्यों के अधिकार में राजस्व

- भू-राजस्व,
- संघ-सूची में सम्मिलित दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेजों पर स्टाम्प शुल्क,
- उत्तराधिकार शुल्क, संविदा शुल्क और कृषि भूमि पर आय-कर,
- अंतर्देशीय जल मार्गों द्वारा ले जाये जाने वाला माल और यात्रियों पर कर,
- भूमि और भवनों पर कर, खनिज अधिकारों पर कर,
- जीव-जंतु और नौकाओं पर कर, वाहनों पर कर, विज्ञापनों पर कर, विद्युत के उपभोग पर कर, विलासिता वाली वस्तुओं और मनोरंजन पर कर आदि,
- स्थानीय क्षेत्रों में माल के प्रवेश पर कर,
- विक्रय कर,
- पथ-कर,
- वृत्ति, व्यापार आदि पर कर, जो 2,500 रुपए प्रतिवर्ष से अधिक नहीं होगा (राज्य-सूची)। संपत्ति शुल्क, चुंगी कर एवं सीमा कर स्थानीय संस्थाओं के राजस्व के मुख्य साधन हैं।

संघ द्वारा लगाए गए, किन्तु राज्यों द्वारा संगृहीत और विनियोजित किए जाने वाले शुल्क

विनिमय-पत्रों पर स्टाम्प शुल्क आदि, औषधीय और प्रसाधन पर उत्पाद-शुल्क, यद्यपि ये संघ-सूची में सम्मिलित हैं और संघ द्वारा लगाए जाते हैं। अनुच्छेद 268 के प्रावधानों के अनुसार, इनका संग्रहण राज्यों द्वारा अपने-अपने राज्यक्षेत्र में किया जाता है और वे उन राज्यों की निधि के भाग होते हैं, जो संग्रहण करते हैं।

संघ द्वारा लगाए गए, कर जो संगृहीत कर राज्य को दिए जाते हैं

- कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के उत्तराधिकार के संबंध में शुल्क,
- कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के संबंध में संपदा शुल्क,
- रेल, समुद्र या वायु मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाला माल या यात्रियों पर सीमा कर,
- रेल भाड़ों और माल भाड़ों पर कर,
- स्टॉक एक्सचेंजों तथा वायदा बाजारों के व्यवहारों पर स्टाम्प शुल्क से भिन्न कर,
- समाचार पत्रों के क्रय या विक्रय पर और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर,
- समाचार पत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर उस दशा में कर, जिसमें ऐसा क्रय या विक्रय अंतर्राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है,
- माल के अंतर्राज्यीय पारेषण पर कर (अनुच्छेद 269)।

अनुदान और ऋण

संघ, राज्यों को एक निश्चित अनुपात के अतिरिक्त भी दो रूप में अनुदान तथा ऋण प्रदान करती हैं-(प) राज्यों को सहायता अनुदान तथा अन्य अनुदान, (पप) राज्यों को ऋण। संविधान ने संघ तथा राज्य दोनों को ही अनुदान देने की शक्ति प्रदान की है। परंतु वास्तविक अर्थों में संघ इस संबंध में अधिक शक्तिशाली है। संघ अपने वैधानिक क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त भी सहायता अनुदान राज्यों को दे सकता है तथा इसी प्रावधान के अनुसार राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम के तहत बड़ी पूंजी वाला सहायता अनुदान दिया जाता है। सहायता अनुदान राज्यों को बजट घाटे को पूरा करने के लिए भी दिया जाता है।

संघ सरकार को उधार लेने की असीमित शक्ति है तथा यह उधार देश के अंदर या बाहर दोनों से लिया जा सकता है, परंतु संविधान के भाग-12 के अनुच्छेद 292 के अंतर्गत, संसद द्वारा इसकी स्वीकृति आवश्यक है। साथ ही अनुच्छेद 293 के अंतर्गत, संविधान ने उधार लेने के संबंध में राज्यों पर कुछ संवैधानिक निर्बन्धन आरोपित हैं– (प) राज्य भारत के बाहर से ऋण प्राप्त नहीं कर सकता, (पप) राज्य कार्यपालिका भारत के अंदर से ऋण प्राप्त कर सकती है, परंतु उसे इसके लिए कुछ सिक्योरिटी पेपर जमा करने पड़ते हैं। इसके लिए शर्तें हैं- (`) राज्य विधानमंडल द्वारा सीमाएं निर्धारित की जा सकती हैं; (इ) यदि संघ का राज्यों पर बकाया ऋण है तो राज्य विधानमंडल संघ की अनुमति के बिना ऋण के लिए आवेदन नहीं कर सकता है, तथा; (ब) संविधान के अनुसार, भारत सरकार स्वयं अपनी मर्जी से राज्यों को ऋण प्रदान कर सकती है, बशर्ते कि राज्यों पर ऋण बकाया न हो अन्यथा नये ऋण के लिए आवेदन नहीं किया जा सकता।

संघ द्वारा आरोपित तथा संगृहीत किए जाने और संघ एवं राज्यों के बीच वितरित किए जाने वाले कर

कुछ कर संघ द्वारा लगाए जाते हैं और वसूल भी किए जाते हैं, उसके बाद उस आगम को एक निश्चित अनुपात में वितरित किया जाता है। ये हैं-

- संविधान के अनुच्छेद-270 के अनुसार, कृषि आय से भिन्न आय पर कर,
- अनुच्छेद-272 के अनुसार, संघ-सूची में सम्मिलित उत्पाद शुल्क, यदि संसद विधि द्वारा वितरण के लिए प्रावधान करे। औषधीय और प्रसाधन उत्पाद पर उत्पाद शुल्क इसके अंतर्गत नहीं है।

केंद्र-राज्य संबंधों में सुधार (Reform in Centre State Relations)

स्वतंत्रता प्राप्ति से 1967 तक संघ-राज्य संबंध में टकराव की स्थिति नहीं थीं, क्योंकि केंद्र एवं राज्य स्तर पर कांग्रेस पार्टी की ही सरकार थी। 1967 के पश्चात्, जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के पश्चात्, विरोध मुखर हो उठे एवं केंद्र- राज्यों के मध्य शक्ति एंव स्वायत्तता की मांग उठने लगी फलस्वरूप इस दिशा में सुधार अपरिहार्य हो गया। प्रशासनिक सुधार आयोग ने केंद्र-राज्य संबंधों के अध्ययन एवं सुझाव हेतु एम.सी. सीतलवाड़ की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल का गठन किया।

सीतलवाड़ समिति 1966 में गठन

इस समिति ने संविधान में अधिक फेरबदल किए बिना राज्यों को अधिक 'स्वायत्तता' देने की संस्तुति की। इसने ऐसा करने के दो उद्देश्य बताए, एक तो इससे केंद्र-राज्य में मौजूद तनाव में कमी आएगी और दूसरे, केंद्र एवं राज्यों के प्रशासन में कर्मठता आएगी।

राजमन्नार समिति (Raj Mannar Committee)

तमिलनाडु सरकार ने 'केंद्र-राज्य संबंधों के मध्य तनाव' को हल करने के उद्देश्य से 1969 में इसका गठन किया। जिसकी मुख्य सिफारिशें थीं-

- प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों की सदस्यता वाली एक अंतर्राज्यीय परिषद का गठन किया जाना चाहिए।
- प्रतिरक्षा एवं वैदेशिक मामलों को छोड़कर कोई भी अन्य-विषय अंतर्राज्यीय परिषद की सहमति बिना निर्णय नहीं किया जाना चाहिए।
- अवशिष्ट विषय को समाप्त कर दिया जाना चाहिए, अन्यथा राज्यों को दिए जाने चाहिए।
- अखिल भारतीय सेवाओं को समाप्त किया जाना चाहिए।
- योजना आयोग का विघटन किया जाना चाहिए एवं इसके स्थान पर राज्यों का अपना 'नियोजन बोर्ड' होना चाहिए।
- वित्त आयोग का गठन स्थाई आधार पर होना चाहिए।
- कुछ विषयों को संघ एवं समवर्ती सूची से हटाकर राज्य सूची में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

इन सब समिति एवं आयोगों के पश्चात् जब 1977 में पश्चिम बंगाल सरकार ने केंद्र से संविधान में संशोधनों की मांग के साथ राज्यों में स्वायत्तता में वृद्धि की बात कही एवं इसी समय पंजाब के अकाली दल ने आनंदपुर साहिब प्रस्ताव पेश किया, जिसमें केंद्र के अधिकार क्षेत्र को वैदेशिक, प्रतिरक्षा, रेलवे, मुद्राएं एवं संचार तक सीमित रखने की मांग की गई, तो इन सब बातों के संदर्भ में केंद्र सरकार द्वारा केंद्र-राज्य संबंध के समग्र अवलोकन हेतु सरकारिया आयोग का गठन किया गया।

सरकारिया आयोग (Sarkaria Commission)

जून, 1983 में न्यायाधीश रणजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में सरकारिया आयोग का गठन किया गया था। इस आयोग का गठन केंद्र तथा राज्यों के बीच शक्ति के समान वितरण से संबंधित सुझाव देने के लिए किया गया था।

आयोग ने केंद्र-राज्य संबंधों की सुधार की दिशा में 247 सिफारिशें प्रस्तुत कीं। इनमें से महत्वपूर्ण सिफारिशें इस प्रकार हैं:

- एक स्थायी अंतर्राज्यीय परिषद हो, जिसे अंतर-सरकारी परिषद कहा जाना चाहिए। इसकी स्थापना अनुच्छेद, 263 के तहत होनी चाहिए।
- अनुच्छेद 356 (राष्ट्रपति शासन) को बहुत संभलकर इस्तेमाल किया जाए। इसका तभी इस्तेमाल हो, जब सभी उपलब्ध विकल्प समाप्त हो जाएं।
- अखिल भारतीय सेवाओं के संस्थान को और अधिक मजबूत बनाना चाहिए और ऐसी ही कुछ सेवाओं का निर्माण किया जाना चाहिए।
- कराधान की शक्ति संसद में ही निहित रहनी चाहिए, जबकि अन्य शक्तियों को समवर्ती सूची में शामिल किया जाना चाहिए।
- जब राष्ट्रपति राज्य के किसी विधेयक को स्वीकृति के लिए आरक्षित करें तो इसका कारण राज्य सरकार को बताया जाना चाहिए।
- क्षेत्रीय परिषदें बनानी चाहिए और इन्हें संघीयता के मामले में प्रोत्साहित करना चाहिए।
- केंद्र को बिना राज्य की स्वीकृति के सैन्य बलों की तैनाती की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए, यहां तक कि यह राज्यों की सहमति के बिना भी किया जा

सकता है। तथापि यह वांछनीय है कि, राज्यों से परामर्श किया जाए।

- समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बनाने से पहले केंद्र को राज्य से परामर्श करना चाहिए।
- राज्यपाल की नियुक्ति पर मुख्यमंत्री की सलाह की व्यवस्था को स्वयं संविधान में निर्दिष्ट किया जाना चाहिए।
- निगम कर की कुल प्राप्तियों को राज्यों के साथ निश्चित सीमा में बाँटा जाना चाहिए।
- राज्यपाल विधानसभा में बहुमत की स्थिति पर सरकार को भंग नहीं कर सकता है।
- राज्यपाल के 5 वर्ष के कार्यकाल को बिना ठोस कारणों के अतिरिक्त बाधित नहीं किया जाना चाहिए।
- त्रिभाषा, फार्मूला समान रूप से लागू करने की दिशा में कदम उठाना चाहिए।
- रेडियो एवं टेलीविजन के लिए स्वायत्तता नहीं होनी चाहिए, लेकिन इनमें कार्यों का विकेंद्रीकरण होना चाहिए।
- 180 सिफारिशें मांगी गयी थीं।
- आयोग ने राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के लिए मजबूत केंद्र का होना आवश्यक समझा।

पुंछी आयोग (Punchhi Commission)

केंद्र-राज्य संबंधों को फिर से व्याख्या करने के लिए अप्रैल, 2007 में एक नए आयोग का गठन किया गया। उच्चतम न्यायालय के पूर्व प्रधान न्यायाधीश न्यायमूर्ति मदन मोहन पुंछी को इस आयोग का अध्यक्ष बनाया गया है।

कुल मिलाकर आयोग ने 310 अनुशंसाएँ कीं, जिनमें से प्रमुख अनुशंसाएँ निम्नलिखित हैं:-

- समवर्ती सूची 3 में वर्णित विषयों पर बने कानूनों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि, समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर संसद में विधायन प्रस्तुत करने से पहले केन्द्र और राज्यों के बीच व्यापक सहमति बने।
- राज्यों को सुपुर्द किए गए मामलों पर केंद्र को संसदीय सर्वोच्चता स्थापित करने में अधिकतम संयम बरतना चाहिए। राज्य सूची तथा समवर्ती सूची को ''हस्तांतरित विषयों'' के मामलों में राज्यों के प्रति लचीला रूख रखना बेहतर केन्द्र-राज्य संबंधों की पूँजी है।
- केन्द्र को समवर्ती सूची के विषयों अथवा परस्पर व्यापी क्षेत्राधिकारों के संबंध में सिर्फ उन्हीं विषयों को हाथ में लेना चाहिए, जो कि राष्ट्र हित में नीतियों की समरूपता के लिए नितांत आवश्यक है।
- राष्ट्रपति द्वारा विधेयक लौटा दिए जाने की स्थिति में राज्य विधायिका के कार्य करने के लिए अनुच्छेद 201 में निर्धारित 6 माह की अवधि को राष्ट्रपति के लिए भी राज्य विधेयक पर सहमति देने अथवा रोकने के सम्बन्ध में निश्चय करने के लिए भी प्रयोज्य बनाया जा सकता है।
- संधियों एवं समझौतों के फलस्वरूप वित्तीय जिम्मेदारियों तथा राज्य की वित्तीय स्थिति पर इनके प्रभावों का ध्यान समय-समय पर गठित किए जाने वाले वित्तीय आयोगों को रखना चाहिए।
- राज्यपालों के लिए पाँच साल का कार्यकाल निर्धारित होना चाहिए और उनकी पदच्युति केन्द्र सरकार की इच्छा भर से नहीं होनी चाहिए।
- राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाने की जो भी प्रक्रिया है, आवश्यक परिवर्तन सहित वही प्रक्रिया राज्यपाल को महाभियोग द्वारा हटाने में प्रयुक्त होनी चाहिए।
- अनुच्छेद, 163 राज्यपाल को ऐसा विवेकाधिकार प्रदान नहीं करता कि वह मंत्री परिषद के विरुद्ध अथवा उसकी सलाह के बिना कार्य करे। वास्तव में विवेकाधिकार के उपयोग का दायरा सीमित है और इस समिति के दायरे में भी राज्पाल का कार्य एकपक्षीय अथवा अवास्तविक नहीं दिखना चाहिए। उसका कार्य विवेक द्वारा निर्देशित तथा सतर्कता द्वारा संतुलित होना चाहिए।
- किसी राज्य की विधानसभा द्वारा पारित विधेयक के संबंध में राज्यपाल को इस बारे में छह माह के अंदर निर्णय लेना चाहिए कि, वह इस पर सहमति दे अथवा राष्ट्रपति के विचारार्थ इसे सुरक्षित रखे।
- जहाँ त्रिशंकु विधानसभा बनने की स्थिति में मुख्यमंत्री की नियुक्ति में राज्यपाल की भूमिका का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि, इस बारे में संवैधानिक परंपराओं का पालन करते हुए स्पष्ट दिशा-निर्देश बनाए जाएँ।
- जहाँ तक किसी मुख्यमंत्री को हटाने का प्रश्न है, राज्यपाल को मुख्यमंत्री को अपना बहुमत सदन के पटल पर साबित करने के लिए बराबर कहते रहना चाहिए और इसके लिए एक समय सीमा निर्धारित करनी चाहिए।
- राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सलाह के खिलाफ जाकर किसी राज्यमंत्री पर अभियोग दर्ज करने की सहमति देने का अधिकार होना चाहिए, यदि मंत्रिमंडल का निर्णय राज्यपाल की दृष्टि में उपलब्ध सामग्री को देखते हुए पूर्वाग्रह से प्रेरित प्रतीत होता है।
- जब किसी बाहरी आक्रमण अथवा आंतरिक अव्यवस्था के कारण राज्य प्रशासन पंगु हो जाता है और इससे राज्य का संवैधानिक तंत्र ठप्प पड़ जाता है, तब अनुच्छेद 355 के अंतर्गत, संघ को अपने सर्वोपरि उत्तरदायित्वों के निर्वहन के तहत सभी उपलब्ध विकल्पों पर विचार करते हुए स्थिति को नियंत्रित करना चाहिए। साथ ही अनुच्छेद 356 के अंतर्गत, प्रदत्त शक्तियों का उपयोग ''राज्य की संवैधानिक तंत्र की विफलता'' को दुरुस्त करने तक ही सीमित रहना चाहिए।
- जहाँ तक संवैधानिक तंत्र की विफलता के मामले में अनुच्छेद 356 के अंतर्गत, कार्यवाही करने का प्रश्न है, एस.आर. बोम्मई बनाम भारतीय संघ (1994) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के आलोक में दिए गए नए दिशा-निर्देश को शामिल करते हुए उपयुक्त संशोधन किए जाने की जरूरत है। इससे राज्यों के मामले में संभावित संदेह एवं आशंका का निराकरण हो सकेगा। जिससे कि केन्द्र-राज्य संबंध को बेहतर बनाने में मदद मिलेगी।
- अंतर-राज्य परिषद को अंतर-राज्यीय एवं केन्द्र-राज्य मतभेदों को दूर करने का एक विश्वसनीय शक्तिशाली तथा निष्पक्ष प्रणाली बनाने के लिए अनुच्छेद 263 में समुचित संशोधनों की आवश्यकता है।
- क्षेत्रीय परिषदों की बैठक वर्ष में कम से कम दो बार होनी चाहिए तथा बैठकों का एजेंडा सम्बन्धित राज्यों द्वारा आपसी समन्वय बढ़ाने तथा नीतियों की सुसंगतता के लिए प्रस्तावित किया जाना चाहिए। एक मजबूत अंतर-राज्य परिषद का सचिवालय क्षेत्रीय परिषदों में कार्यालय के रूप में भी कार्य कर सकता है।
- स्वास्थ्य, शिक्षा, इंजीनियरिंग तथा न्यायपालिका आदि क्षेत्रों में नई अखिल भारतीय सेवाओं को सृजित करना चाहिए।
- स्थानीय निकायों को स्व-शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने देने के लिए शक्तियों के प्रतिनिधित्व का विषय-क्षेत्र उपयुक्त संशोधनों के माध्यम से संवैधानिक रूप से परिभाषित होना चाहिए।

जीएसटी परिषद (काउंसिल)

वस्तु एवं सेवा कर प्रणाली के तहत, जीएसटी परिषद एक मुख्य निर्णय लेने वाली संस्था है, जो की जीएसटी कानून के अंतर्गत होने वाले कार्यो के संबंध में सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेती है। जीएसटी काउंसिल कुछ राज्यों के लिए विशेष

दरों और प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए कर की दर, कर छूट, रूपों के नियत तारीख अथवा कर कानून और कर समय सीमा तय करती है। जीएसटी परिषद (काउंसिल) की मुख्य जिम्मेदारी पूरे भारत देश में वस्तुओं और सेवाओं के लिए एक समान कर की दर सुनिश्चित करना है।

गुड्स एंड सर्विसेज टैक्स कानून जीएसटी काउंसिल द्वारा शासित है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 279 (1) के अंतर्गत, कहा गया है कि अनुच्छेद 279(।) के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा जीएसटी परिषद का गठन किया गया है।

जीएसटी परिषद के तहत, केंद्र और राज्यों के लिए एक संयुक्त मंच होता है। इसमें निम्नलिखित सदस्य होते हैं:-

- केंद्रीय वित्त मंत्री, अध्यक्ष होंगे।
- सदस्य के रूप में, केंद्रीय राज्य मंत्री राजस्व के प्रभारी होंगे।
- या कराधान के प्रभारी मंत्री या सदस्य के रूप में प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा नामित कोई अन्य मंत्री।
- जीएसटी परिषद के पदेन सचिव के रूप में सचिव (राजस्व)।
- यक्ष, केंद्रीय उत्पाद और सीमा शुल्क बोर्ड (ब्ठम्ब), परिषद की सभी कार्यवाही के लिए एक स्थायी आमंत्रित (गैर-मतदान) के रूप में।
- जीएसटी काउंसिल सचिवालय में परिषद के अतिरिक्त सचिव का एक पद (भारत सरकार के अतिरिक्त सचिव के स्तर पर)।
- जीएसटी सचिवालय में आयुक्त के चार पद (भारत सरकार में संयुक्त सचिव के स्तर पर)

वस्तु एवं सेवा कर के तहत, अनुच्छेद 279। (4) निर्दिष्ट करता है कि परिषद संघ और राज्यों को जीएसटी से संबंधित महत्वपूर्ण मुद्दों पर सिफारिशें प्रदान करेगी।

जीएसटी विवाद

केंद्र और राज्यों की सरकारें जीएसटी के मद में मुआवजे में कमी की भरपाई को लेकर विवाद में उलझ पड़ी हैं। अच्छे समय में किए गए वादे में केंद्र सरकार ने कहा था कि, वह राज्यों को इस कमी की भरपाई करेगी। लेकिन केंद्र अब राज्यों से कह रहा है कि, वह इस भरपाई के लिए उधार ले। ज्यादातर राज्य, खासकर गैर-भाजपा सरकारों वाले राज्य विरोध कर रहे हैं कि यह तो अपने वादे से मुकरना हुआ।

राज्यों ने देशभर में जीएसटी लागू करने के लिए इस शर्त पर सहमति दी थी कि, पहले पाँच वर्षों में इसे लागू करने में अगर राजस्व में कमी आई तो केंद्र उसकी पूरी भरपाई करेगा। ऐसा इसलिए किया गया था, क्योंकि जीएसटी में ऐसे कई करों का विलय कर दिया गया, जिन्हें पहले राज्य वसूलते थे।

जीएसटी से राज्यों की कमाई में 2015-16 में आई रकम में सालाना 14 प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। सहमति यह बनी थी कि, अगर 14 प्रतिशत सालाना वृद्धि में कमी रह गई तो केंद्र उसकी भरपाई करेगा। यह भरपाई उस कोष से की जाएगी, जिसका निर्माण उन चीजों पर उपकर (सेस) लगाकर किया जाएगा, जिन पर 28 प्रतिशत जीएसटी लगाने का फैसला किया गया है।

चालू वर्ष में कोविड के कारण लगे लॉकडाउन से आर्थिक गतिविधियों को बाधा पहुँची। अर्थव्यवस्था पहली तिमाही में 23.9 प्रतिशत सिकुड़ गई। आगे की तिमाहियों में कुछ सुधार हो सकता है, लेकिन आशंका यह है कि इस वित्त वर्ष में गहरी सिकुड़न हो सकती है। इसके कारण जीएसटी और 'सेस' से उगाहियों में भारी गिरावट आई है। जीएसटी या सेस में अपेक्षित 14 प्रतिशत की वृद्धि इस साल तो मुमकिन नहीं लगती। इस कमी को पूरा करने के लिए केंद्र या राज्यों को उधार लेना पड़ सकता है।

इस संबंध में केंद्र ने कमी की भरपाई के दो विकल्प सुझाए हैं। पहला यह है कि, राज्य केंद्र की मध्यस्थता से रिजर्व बैंक की विशेष खिड़की से रियायती दर पर 97,000 करोड़ (जीएसटी लागू करने से कमाई में अनुमानित कमी) का उधार ले सकते हैं। मूलधन और ब्याज का भुगतान मुआवजा 'सेस' से किया जा सकता है, यानि राज्यों पर अतिरिक्त बोझ नहीं पड़ेगा।

दूसरा विकल्प यह है कि, राज्य कोविड-19 के कारण जीएसटी के मद में करों में कुल 2.35 लाख करोड़ रुपए की कमी रिजर्व बैंक से उधार लेकर पूरी करें। राज्यों का कहना है कि, केंद्र को उधार देना चाहिए, क्योंकि उसने राज्यों को करों से होने वाली कमाई में कमी की भरपाई करने का वादा किया है। अगर उसने ऐसा नहीं किया है तो यह वादे से मुकरना होगा। केंद्र का तर्क यह है कि, इससे कोई वादाखिलाफी नहीं होगी। उसने केवल जीएसटी के मामले में राजस्व की कमी की भरपाई का वादा किया था, सभी तरह के राजस्व में कमी की भरपाई का नहीं। वर्तमान दौर संकट का है, जिससे निकालने के लिए दोनों को मिलकर प्रयास करने होंगे।

आपातकालीन प्रावधान
(Emergency Provisions)

'आपात' शब्द की परिभाषा इस प्रकार है कि, वह 'ऐसी कठिन स्थिति है, जो अचानक पैदा हो गई है और जिसका तकाजा है कि, लोक प्राधिकारी ऐसी संकट की स्थिति का सामना करने के लिए संविधान द्वारा या अन्यथा उन्हें विशेष रूप से प्रदत्त शक्तियों के अधीन तुरंत कार्यवाही करे।'

हमारे संविधान निर्माताओं का विचार था कि, असाधारण परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं और उनमें संविधान की सामान्य योजना नहीं चल सकेगी और संविधान के कतिपय भागों या उपबंधों के प्रवर्तन का निलंबन जरूरी हो जाएगा, ताकि राष्ट्र की स्वाधीनता एवं सुरक्षा तथा संविधान एवं लोकतंत्र प्रणाली का संरक्षण किया जा सकता है।

***नोट:-* डॉ. अंबेडकर का दावा था कि, भारतीय संघ अनोखा है, क्योंकि किसी अन्य संघ के विपरीत, आपातकाल में वह अपना रूपांतर पूर्णतया एकात्मक राज्य के रूप में कर सकता है।**

आपातकालीन परिस्थितियों में भारतीय संघ की एकता व अखण्डता को बनाए रखने के लिए संविधान में आपातकालीन उपबन्धों का प्रावधान किया गया है। संविधान के **भाग-18** में **अनुच्छेद 352 से 360** के अंतर्गत तीन प्रकार की आपात स्थितियों की परिकल्पना की गई है-

- **युद्ध या बाह्य आक्रमण** या सशस्त्र विद्रोह के कारण **अनुच्छेद 352** के अधीन राष्ट्रीय आपात।
- राज्य विशेष में **संवैधानिक तंत्र के विफल** हो जाने की दशा में संविधान के **अनुच्छेद 356** के अंतर्गत, राज्य आपात या राष्ट्रपति शासन।
- राष्ट्र के **वित्तीय** स्थायित्व के संकट की स्थिति में **अनुच्छेद 360** के अंतर्गत वित्तीय आपात।

राष्ट्रीय आपात (National Emergency)

संविधान के मूल ढाँचे के **अनुच्छेद 352** में व्यवस्था थी कि, यदि राष्ट्रपति को अनुभव हो कि युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी भाग की शांति व्यवस्था नष्ट होने का भय है या यथार्थ रूप में इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात की उदघोषणा कर सकता था। राष्ट्रपति विभिन्न आधारों पर विभिन्न उदघोषणाएं जारी कर सकता है। आपात की हर उदघोषणा को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाता है और राष्ट्रपति द्वारा उसे जारी किए जाने की तिथि से एक माह की समाप्ति पर वह प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि इस बीच दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन न कर दिया गया हो। यह प्रस्ताव सदन द्वारा उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन में उपस्थित और मत देने वालों के दो-तिहाई बहुमत से पारित होना चाहिए।

इन संकटकालीन शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए **44वें** संविधान संशोधन द्वारा उपरोक्त व्यवस्था में परिवर्तन किया गया। वर्तमान स्थिति के अनुसार, राष्ट्रपति द्वारा **अनुच्छेद 352** के अंतर्गत आपातकाल तभी घोषित किया जा सकेगा, जब मंत्रिमंडल लिखित रूप से ऐसा परामर्श राष्ट्रपति को दे।

इस प्रकार का आपातकाल अब युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह होने या इस प्रकार की आशंका होने पर घोषित किया जा सकेगा। गौरतलब है कि, आंतरिक अशांति शब्द को 44वें संशोधन, 1978 में सशस्त्र विद्रोह शब्द द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया।

***नोट:-* प्रारंभ में संसदीय अनुमोदन के लिए दी गई समय सीमा दो माह थी, किन्तु 44वें संशोधन, 1978 द्वारा यह सीमा घटा कर एक माह की गई।**

संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन के बाद आपात काल 6 माह तक जारी रहता है तथा प्रत्येक 6 माह में संसद के अनुमोदन से इसे अनंतकाल तक बढ़ाया जा सकता है। (यह प्रावधान भी 44वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया, इसके पूर्व ये मंत्रिमंडल की इच्छानुसार प्रभावी रह सकता था।)

यदि आपात की उदघोषणा के समय लोकसभा विघटित है या आपात घोषणा अनुमोदन किए बिना लोकसभा विघटित हो जाती है, तब ऐसी स्थिति में आपातकाल नई लोकसभा के पुनर्गठन के पश्चात पहली बैठक से 30 दिनों तक प्रभावी रहेगी, यदि राज्यसभा द्वारा इसका अनुमोदन कर दिया गया है। यदि लोकसभा का विघटन, छह माह की अवधि में आपातकाल को जारी रखने के अनुमोदन के बिना हो जाता है, तब उदघोषणा लोकसभा के पुनर्गठन के बाद पहली बैठक से 30 दिन तक जारी रहती है, परन्तु इस अवधि में राज्यसभा द्वारा इसका अनुमोदन हो जाना चाहिए।

उदघोषणा की समाप्ति

राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उदघोषणा किसी भी समय एक दूसरी उद्घोषणा से समाप्त की जा सकती है। ऐसी उदघोषणा को संसदीय अनुमोदन की आवश्यकता नहीं होती।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को ऐसी उदघोषणा को तब समाप्त कर देना आवश्यक है, जब लोकसभा इसके जारी रहने के अनुमोदन का प्रस्ताव निरस्त कर दे। यह सुरक्षा उपाय भी 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा पेश किया गया था। संशोधन से पहले राष्ट्रपति किसी उदघोषणा को अपने विवेक से समाप्त कर सकता था तथा लोकसभा का इस संदर्भ में कोई नियंत्रण नहीं था।

44वें संशोधन अधिनियम, 1978 में यह भी व्यवस्था की गई है कि, यदि लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 1/10 सदस्य स्पीकर (अध्यक्ष) को (अथवा राष्ट्रपति को यदि सदन नहीं चल रहा हो) लिखित रूप से नोटिस दें तो 14 दिन के अंदर उदघोषणा के जारी रहने के प्रस्ताव को अस्वीकार करने के लिए सदन की विशेष बैठक विचार-विमर्श के उद्देश्य से बुलाई जा सकती है।

बोम्मई निर्णय में अधिकथित सिद्धांत

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए इस निर्णय में यह कहा गया कि, अनुच्छेद-356 के अधीन जारी उदघोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है। यदि केंद्र में कोई राजनीतिक दल सत्ता में आ जाता है तो उसे राज्यों में भिन्न दलों द्वारा बनाई गई सरकारों को पदच्युत करने का प्राधिकार नहीं मिल जाता। उदघोषणा के तुरंत पश्चात विधानसभा भंग नहीं की जानी चाहिए, संसद के अनुमोदन के पश्चात ऐसा होना चाहिए। यदि न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि उदघोषणा अविधिमान्य थी, तो न्यायालय विधानसभा को पुन:स्थापित कर सकता है और नए चुनावों को रोकने हेतु आदेश जारी कर सकता है।

बोम्मई मामले (1994) में, उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद-356 के अंतर्गत, राष्ट्रपति शासन लागू करने के संबंध में निम्नलिखित निर्णय दिए-

- राष्ट्रपति शासन लागू करने की तकनीकी रूप से राज्य का राज्यपाल न्यायिक समीक्षा योग्य है।
- राष्ट्रपति की संतुष्टि तर्कसंगत संसाधनों पर आधारित होनी चाहिए। राष्ट्रपति के कार्य पर न्यायालय द्वारा रोक लगाई जा सकती है, यदि यह अतार्किक अथवा आधार पर आधारित है अथवा यह दुर्भावना या तर्क विरूद्ध पाया जाए।

- केंद्र पर यह जिम्मेदारी होगी कि, वह राष्ट्रपति शासन को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए तर्क सम्मत कारणों को प्रस्तुत करे।
- न्यायालय यह नहीं देख सकता कि, संसाधन सही अथवा पर्याप्त हैं अपितु यह देखता है कि कार्य तर्क सम्मत है अथवा नहीं।
- यदि न्यायालय राष्ट्रपति की घोषणा को असंवैधानिक और अवैध पाता है तो उसे विघटित राज्य सरकार को पुन:स्थापित करने और निलंबित अथवा विघटित विधानसभा को पुन:बहाल करने का अधिकार है।
- राज्य विधानसभा को केवल तभी विघटित किया जा सकता है, जब राष्ट्रपति की घोषणा को संसद की अनुमति मिल जाती है। जब तक कोई ऐसी घोषणा को मंजूरी नहीं प्राप्त होती है, राष्ट्रपति विधानसभा को केवल निलंबित कर सकता है। यदि संसद इसे मंजूरी देने में असमर्थ होती है, तो विधानसभा पुनर्जीवित हो जाती है।
- धर्मनिरपेक्षता संविधान की 'मूल विशेषता' है। अत: यदि कोई राज्य सरकार सांप्रदायिक राजनीति करती है तो इस अनुच्छेद के अंतर्गत, उस पर कार्यवाही की जा सकती हैं।
- राज्य सरकार का विधानसभा में विश्वास मत खोने का प्रश्न सदन में निश्चित किया जाना चाहिए, जब तक यह न हो तब तक मंत्रिपरिषद बनी रहेगी।
- जब केंद्र में कोई नया राजनैतिक दल सत्ता में आता है तो उसे राज्यों में अन्य दलों की सरकार को बर्खास्त करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा।
- अनुच्छेद 356 के अधीन शक्तियाँ, विशिष्ट शक्तियाँ हैं, इनका प्रयोग विशेष परिस्थितियों में यदा-कदा ही करना चाहिए।

उदघोषणा को अस्वीकार करने का प्रस्ताव उदघोषणा के जारी रहने के अनुमोदन के प्रस्ताव से निम्न दो तरह से भिन्न होता है-

- पहला, केवल लोकसभा से ही पारित होना आवश्यक है, जबकि दूसरे को संसद के दोनों सदनों से पारित होने की आवश्यकता है।
- पहले को केवल साधारण बहुमत से स्वीकार किया जाता है, जबकि दूसरे को विशेष बहुमत से स्वीकार किया जाता है।

अनुच्छेद 352 एवं 356 की तुलना

राष्ट्रीय आपात की उदघोषणा राष्ट्रपति द्वारा तब की जाती है, जब भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण संकट में है, जबकि अनुच्छेद 356 के अंतर्गत उदघोषणा तब की जाती है, जब राज्य की सरकार संविधान के प्रावधान के अनुसार कार्य न कर रही हो।

अनुच्छेद 352 के अंतर्गत, राज्य सरकार कार्य करती है उसे निलम्बित नहीं किया जाता, बल्कि केंद्र को राज्य में विद्यमान और प्रशासन को सहवर्ती शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जबकि अनुच्छेद 356 की दशा में राज्य विधानमण्डल को पदच्युत या निलम्बित कर दिया जाता है एवं समस्त विधायी एवं कार्यपालिका शक्ति केंद्र के हाथों में आ जाती है।

अनुच्छेद 352 के अंतर्गत, संसद को राज्य सूची के विषयों पर विधान बनाने की शक्ति मिल जाती है एवं इस शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता, जबकि अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा में संसद उस राज्य के बारे में विधान बनाने की शक्ति राष्ट्रपति या किसी अन्य प्राधिकारी को प्रत्यायोजित कर सकती है।

अनुच्छेद 352 के अंतर्गत, आपात उद्घोषणा के संकल्प को संसद की कुल संख्या का बहुमत एवं सदन में उपस्थित एवं मतदान करने वालों का दो-तिहाई बहुमत प्राप्त होना अनिवार्य है, जबकि अनुच्छेद 356 के अधीन संकटकालीन घोषणा का अनुमोदन सदन में उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों के सामान्य बहुमत से अनुमोदित किया जा सकता है।

घोषणा के संवैधानिक प्रभाव

आपात की उदघोषणा के प्रभावों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है-

केन्द्र-राज्य संबंधों पर प्रभाव

जब आपात उदघोषणा लागू होती है, तब केन्द्र-राज्य संबंधों में तीन मूलभूत परिवर्तन होते हैं, जो निम्न है-

- ***कार्यपालक संबंध***- सामान्य समय में केन्द्र, राज्य को कुछ विशेष संबंध में ही निर्देश दे सकता है, किन्तु आपातकाल के समय केन्द्र की किसी राज्य के किसी भी विषय पर कार्यकारी निर्देश देने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। अत: राज्य की सरकारें पूर्णत: केन्द्र के नियंत्रण में होती हैं, परन्तु उन्हें निलंबित नहीं किया जाता है।
- ***विधायी संबंध***- राष्ट्रीय आपात काल के दौरान संसद को राज्य सूची में वर्णित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यद्यपि किसी भी राज्य की विधायी शक्तियों को निलंबित नहीं किया जाता है, यह संसद की असीमित शक्ति का प्रभाव है, अत: केन्द्र व राज्य के मध्य विधायी शक्तियों के सामान्य वितरण का निलंबन हो जाता है। इस स्थिति में राज्य विधायिका निलंबित नहीं होती, अर्थात संविधान संघीय के स्थान पर एकात्मक हो जाता है। राष्ट्रीय आपातकाल के दौरान यदि संसद सत्र में नहीं है तो राष्ट्रपति राज्य सूची के विषयों पर अध्यादेश जारी कर सकता है।
- ***वित्तीय संबंध***- जब राष्ट्रीय आपातकाल की उदघोषणा लागू हो तब राष्ट्रपति, केन्द्र-राज्य के मध्य करों के संवैधानिक वितरण को संशोधित कर सकता है, अर्थात राष्ट्रपति, केन्द्र से राज्यों को दिए जाने वाले धन को कम अथवा समाप्त कर सकता है। इस प्रकार किए गए संशोधन उस वित्त वर्ष की समाप्ति तक जारी रहता है, जिसमें आपातकाल समाप्त होता है।

लोकसभा व राज्य विधानसभा के कार्यकाल पर प्रभाव

जब राष्ट्रीय आपातकाल की उदघोषणा लागू हो, तब लोकसभा का कार्यकाल इसके सामान्य कार्यकाल (5 वर्ष) से आगे संसद द्वारा विधि बनाकर एक समय में एक वर्ष के लिए (कितने भी समय तक) बढ़ाया जा सकता है। किंतु यह विस्तार आपातकाल की समाप्ति के बाद छह माह से ज्यादा नहीं हो सकता।

संसद, किसी राज्य विधानसभा का कार्यकाल (पाँच वर्ष) प्रत्येक बार एक वर्ष के लिए (कितने भी समय तक) बढ़ा सकती है, जो कि आपातकाल की समाप्ति के बाद अधिकतम छह माह तक ही रहता है।

मौलिक अधिकारों पर प्रभाव

संविधान के अनुच्छेद 358 व 359 राष्ट्रीय आपातकाल के समय, मूल अधिकार पर प्रभाव की व्याख्या करते है। अनुच्छेद 358, अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदान किए गए 6 मूल अधिकारों के निलंबन से संबंधित है, जबकि अनुच्छेद 359 अन्य अधिकारों के निलम्बन से संबंधित है।

जब राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की जाती है, तब अनुच्छेद 358 के अन्तर्गत अनुच्छेद 19 द्वारा दिए गए मूल अधिकार स्वत: निलंबित हो जाते हैं। इनके निलंबन के लिए किसी अन्य घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। अर्थात राज्य अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त 6 अधिकारों को कम अथवा समाप्त करने के लिये स्वतंत्र होता है। इस स्थिति में अनुच्छेद 19 के उल्लंघन को चुनौती नहीं दी जा सकती। राष्ट्रीय आपातकाल की समाप्ति पर अनुच्छेद 19 स्वत: जीवित हो जाता है।

44वें संशोधन, 1978 के अनुसार, अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण के आधार पर घोषित आपातकाल में ही निलंबित किया जा सकता है, सशस्त्र विद्रोह के आधार पर नहीं।

अनुच्छेद 359 राष्ट्रपति को आपातकाल में मूल अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय में जाने के अधिकार को निलंबित करने की शक्ति देता है। अत: 359 के अन्तर्गत, मूल अधिकारों का लागू होना निलंबित होता है, मूल अधिकार वास्तव में जीवित रहता है। यह निलंबन उन्हीं अधिकारों से संबंधित होता है, जो राष्ट्रपति के आदेश में वर्णित होते हैं। यह निलंबन आपातकाल की अवधि अथवा आदेश में उल्लेखित अवधि तक लागू होता है और निलंबन का ये आदेश सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भाग पर लागू हो सकता है। संसद से इसकी मंजूरी लेना आवश्यक है। ऐसे निलंबन को राज्य से साम्य न होने के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

44वें संविधान संशोधन 1978, अनुच्छेद 359 पर दो प्रतिबंध आरोपित करता है–प्रथम, अनुच्छेद 20 तथा 21 के अन्तर्गत, दिए जाने वाले अधिकार, राष्ट्रीय आपातकाल के दौरान निलंबित नहीं होंगे। दूसरा, केवल उन्हीं विधियों को चुनौती से संरक्षण प्राप्त है, जो आपातकाल से संबंधित है।

अनुच्छेद 358 और 359 में अंतर

अनुच्छेद 358 और 359 में निम्नलिखित अंतर है–

- अनुच्छेद 358, केवल अनुच्छेद 19 के अंतर्गत मूल अधिकारों से संबंधित है, जबकि अनुच्छेद 359, उन सभी मूल अधिकारों से संबंधित है, जिनका राष्ट्रपति के आदेश द्वारा निलंबन हो जाता है।
- अनुच्छेद 358, स्वत: ही आपातकाल की घोषणा होने पर अनुच्छेद 19 के अंतर्गत मूल अधिकारों का निलंबन कर देता है। दूसरी ओर, अनुच्छेद 359 मूल अधिकारों का निलंबन स्वत: नहीं करता। यह राष्ट्रपति को यह शक्ति देता है कि, वह मूल अधिकारों के निलंबन को लागू करें।
- अनुच्छेद 358, केवल बाह्य आपातकाल (जब युद्ध या बाह्य आक्रमण के आधार पर आपातकाल घोषित किया जाता है) में लागू होता है न कि आंतरिक आपातकाल (जब सशस्त्र विद्रोह के कारण आपातकाल घोषित होता है) के समय। दूसरी ओर, अनुच्छेद 359 बाह्य तथा आंतरिक दोनों आपातकाल में लागू होता है।
- अनुच्छेद 358, अनुच्छेद 19 के अंतर्गत मूल अधिकारों को आपातकाल की संपूर्ण अवधि के लिए निलंबित कर देता है, जबकि अनुच्छेद 359 मूल अधिकारों के निलंबन को राष्ट्रपति द्वारा उल्लेख की गई अवधि के लिए लागू करता है। यह अवधि संपूर्ण आपातकालीन अवधि अथवा अल्पावधि हो सकती है।
- अनुच्छेद 358 संपूर्ण देश में तथा अनुच्छेद 359 संपूर्ण देश अथवा किसी भाग विशेष में लागू हो सकता है।
- अनुच्छेद 358, अनुच्छेद 19 को पूर्ण रूप से निलंबित कर देता है, जबकि अनुच्छेद 359 अनुच्छेद 20 व 21 के निलंबन को लागू नहीं करता है।
- अनुच्छेद 358, राज्य को अनुच्छेद 19 के अंतर्गत मूल अधिकारों से साम्य नहीं रखने वाले नियम बनाने अथवा कार्यकारी कदम उठाने का अधिकार देता है, जबकि अनुच्छेद 359 केवल उन्हीं मूल अधिकारों के संबंध में ऐसे कार्य करने का अधिकार देता है, जिन्हें राष्ट्रपति के आदेश द्वारा निलंबित किया गया है।

अनुच्छेद 358 और अनुच्छेद 359 में एक समानता भी है। वे उन्हीं विधियों को चुनौती से उन्मुक्ति देते हैं, जो आपातकाल से संबंधित है, उनकों नहीं जो आपातकाल से संबंधित नहीं हैं। ऐसी विधियों के अंतर्गत किए कार्यों को भी दोनों अनुच्छेद संरक्षण देते हैं।

राष्ट्रपति शासन (President Rule)

संविधान के **अनुच्छेद 355** द्वारा संघ का यह संवैधानिक कर्तव्य निश्चित किया गया है कि, वह बाहरी आक्रमण और आंतरिक अशांति से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करे और सुनिश्चित करे कि प्रत्येक राज्य की सरकार इस संविधान में उपबंधों के अनुसार चलाई जा रही है। संविधान के **अनुच्छेद 356** के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या अन्य किसी प्रकार से समाधान हो जाए कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिसके परिणामस्वरूप राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति संकट काल की घोषणा कर सकता है। संविधान द्वारा संघ को **अनुच्छेद 256** और **257** के अधीन इन दोनों अनुच्छेदों में आने वाले विषयों के बारे में राज्यों को निर्देश देने की शक्ति दी गई है। यदि कोई राज्य, संघ द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन करने में असमर्थ रहता है तो इसे सांविधानिक तंत्र विफल होना या संवैधानिक मशीनरी का ठप्प हो जाना समझा जाता है और **अनुच्छेद 356** के अंतर्गत, राष्ट्रपति शासन की घोषणा की जाती है। इसे राज्य 'आपातकाल या संवैधानिक आपातकाल' भी कहा जाता है।

संसदीय अनुमोदन की समयावधि

राष्ट्रपति शासन के प्रभावी होने की घोषणा जारी होने के दो माह के भीतर संसद के दोनों सदनों से अनुमोदन हो जाना चाहिए। यदि राष्ट्रपति शासन की घोषणा के समय लोकसभा विघटित होती है या राष्ट्रपति शासन की घोषणा को स्वीकृत किए बिना लोकसभा विघटित हो जाती है, तब ऐसी घोषणा लोकसभा की पहली बैठक के तीस दिन तक बनी रहती है, परन्तु राज्यसभा द्वारा इसे तय समय में स्वीकृत कर दिया हो।

यदि दोनों सदनों द्वारा राष्ट्रपति शासन की घोषणा को स्वीकृति मिल जाए, तब राष्ट्रपति शासन 6 माह की अवधि तक प्रभावी रहता है और इस अवधि में प्रत्येक 6 माह में स्वीकृति द्वारा अधिकतम 3 वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है। यदि लोकसभा 6 माह की अवधि से पूर्व विघटित हो जाती है, तब ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति शासन की घोषणा लोकसभा की प्रथम बैठक से 30 दिन तक प्रभावी रहेगी, परन्तु इस अवधि में राज्यसभा से स्वीकृति मिलना आवश्यक है। राष्ट्रपति शासन की घोषणा को स्वीकृति देने वाला प्रत्येक प्रस्ताव किसी भी सदन के द्वारा सामान्य बहुमत द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है।

44वें संविधान संशोधन, 1978 में संसद द्वारा राष्ट्रपति शासन को एक वर्ष बाद भी जारी रखने की शक्ति पर प्रतिबंध लगाने का उपबंध जोड़ा गया, जिसमें प्रावधान किया गया कि, एक वर्ष के बाद, राष्ट्रपति शासन को 6 माह के लिए केवल तब बढ़ाया जा सकता है, जब संसद के दोनों सदनों का अनुमोदन प्राप्त हो।

राष्ट्रपति शासन अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत, दो आधारों पर लगाया जा सकता है, जिसमें से एक तो अनुच्छेद 356 स्वयं है और दूसरा अनुच्छेद 365 में उल्लेखित है–

- यदि राष्ट्रपति आश्वस्त है तो अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को अपातकाल की घोषणा जारी करने का अधिकार देता है यदि राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुरूप न चल रही हो। राष्ट्रपति, राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या राज्यपाल की रिपोर्ट के बिना भी राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर सकता है।
- अनुच्छेद 365 के अनुसार, यदि राज्य केन्द्र द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन कर पाने में असमर्थ पाया जाता है उस स्थिति में भी राष्ट्रपति राज्य के संविधान व्यवस्था के अनुरूप न चल पाने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है।

घोषणा के संवैधानिक प्रभाव

राज्यों में, संवैधानिक मशीनरी के ठप्प हो जाने पर घोषित आपात या राष्ट्रपति शासन के निम्न संवैधानिक प्रभाव दिखाई देते हैं–

- उदघोषणा के अधीन राज्य विधानमंडल की शक्तियों का प्रयोग संसद या संसद द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति कर सकता है।
- राज्य विधानसभा का विघटन किया जा सकता है या उसे निलम्बित अवस्था में रखा जा सकता है।
- राष्ट्रपति, उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्ति अपने हाथ में ले सकता है।
- **अनुच्छेद 356** के अधीन, राष्ट्रपति शासन के प्रवर्तन के दौरान संसद, राज्य की विधायी शक्तियाँ राष्ट्रपति को सौंप सकती है और **अनुच्छेद 357** के अंतर्गत,राष्ट्रपति को यह अधिकार दे सकती है कि वह इन शक्तियों को अन्य प्राधिकारियों को दे दे।
- आपात की अवधि में राष्ट्रपति संविधान के **अनुच्छेद 19** द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रताओं पर निर्बन्धन लगा सकता है और उसके द्वारा प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त अन्य अधिकारों के साथ संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी समाप्त किया जा सकता है।

अनुच्छेद 356 के अधीन उदघोषणा के द्वारा साधारणतया राज्य सरकार और राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति में समाहित कर दी जाती हैं, इसलिए जनभाषा में इसे राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होना कह दिया जाता है, हालांकि संविधान में इस अभिव्यक्ति का कहीं उल्लेख नहीं है।

व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य

अनुच्छेद 356, जिसके अधीन संघ, राज्यों पर राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है, संविधान का सर्वाधिक आलोचित एवं विवादग्रस्त उपबंध रहा है। सर्वोच्च न्यायालय ने एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ के निर्णय में 11 मार्च, 1994 को कहा कि राष्ट्रपति शासन केवल ऐसी स्थिति में लागू किया जाना चाहिए जब कोई अन्य उपाय न हो और स्थितियाँ इतनी खराब हो जाए कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार चलाना असंभव हो जाए। बोम्मई निर्णय के पश्चात अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति उदघोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अंतर्गत हो गई है। इसके अंतर्गत न्यायालय केवल दो बातों की परीक्षा करेगा, प्रथम क्या राष्ट्रपति के समाधान के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान थी और अनुच्छेद 356 में वर्णित स्थिति उत्पन्न हो गई थी तथा द्वितीय, क्या समाधान अनुचित है या असद्भावपूर्ण है या पूर्णतया बाह्य और असंगत है।

राष्ट्रपति शासन एवं अरुणाचल प्रदेश प्रकरण, 2016

- अरुणाचल प्रदेश में 16 जनवरी 2016 को 'संवैधानिक संकट' के आधार पर राष्ट्रपति शासन की सिफारिश को स्वीकृति प्रदान की गई।

अरुणाचल प्रदेश घटनाक्रम और राज्य में राजनीतिक संकट की शुरूआत

- 9 दिसंबर, 2015 को राज्यपाल जे. पी. राजखोवा ने विधानसभा अध्यक्ष की उपेक्षा करते हुए राज्य विधानसभा के सत्र की तिथियों को आगे बढ़ा दिया। इससे तत्कालीन मुख्यमंत्री (नबाम टुकी) एवं उनके मध्य विरोध प्रारंभ हो गया।
- 16 दिसंबर, 2015 को कांग्रेस के 21 बागी विधायकों द्वारा भाजपा के 11 एवं 2 निर्दलीय विधायकों के साथ मिलकर किसी अस्थायी स्थान पर विधानसभा का सत्र आयोजित किया गया। इस सत्र में विधानसभा अध्यक्ष नबाम रेबिया पर महाभियोग चलाया गया। इन विधायकों में से 14 को अध्यक्ष द्वारा एक दिन पूर्व ही अयोग्य घोषित किया गया था। अध्यक्ष ने इस सत्र को भी असंवैधानिक घोषित किया।
- हालांकि राज्य की कांग्रेस सरकार ने केन्द्र के इस कदम के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर करते हुए इसे लोकतंत्र की हत्या के रूप में वर्णित किया।
- सुप्रीम कोर्ट ने अरुणाचल प्रदेश में कांग्रेस की सरकार को पुनर्बहाल करते हुए राज्यपाल के द्वारा पूर्व में लिए गए सभी निर्णयों को 'असंवैधानिक' घोषित कर दिया।

उत्तराखंड प्रकरण, 2016– उत्तराखंड में राजनीतिक संकट का आरंभ 18 मार्च, 2016 को हुआ, जब कांग्रेस के 9 विधायक पार्टी से अलग होकर विपक्ष से मिल गए और राज्यपाल से भेंट कर उत्तराखंड सरकार को बर्खास्त करने की माँग की।

- यद्यपि राज्यपाल ने विधानसभा में शक्ति परीक्षण के लिए 28 मार्च की समय सीमा तय की थी, किन्तु उसके एक दिन पूर्व ही राज्य में 'संवैधानिक संकट' का हवाला देते हुए राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।
- अनुच्छेद 356 के अनुसार, किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन तभी लागू किया जा सकता है जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो, जिसमें राज्य की सरकार को संविधान के प्रावधानों के अनुरूप चलाना संभव न हो।
- उत्तराखंड के मामले में, 18 मार्च को विनियोग विधेयक विधानसभा में प्रस्तुत किया गया। 71 सदस्यों की विधानसभा में 67 सदस्य उपस्थित थे। 35 ने विनियोग विधेयक के विरोध में मतदान किया तथा मत विभाजन की माँग की। यद्यपि मत विभाजन न किए जाने के बावजूद यह दावा किया गया कि विनियोग विधेयक ध्वनि मत से पारित कर दिया गया, तथा विधेयक को राज्यपाल की सहमति के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया। इसके निम्नलिखित निहितार्थ हैं–
  - 1 अप्रैल, 2016 से खर्च की अनुमति देने वाला विनियोग विधेयक स्वीकृत नहीं किया गया।
  - द्वितीय, विनियोग विधेयक के पारित न होने की स्थिति में 18 मार्च, 2016 से सरकार का सत्ता में बने रहना असंवैधानिक है।
  - इस कारण बागी विधायक तथा विपक्ष के लोग राज्यपाल से मिलकर सरकार के बर्खास्तगी की माँग करने लगे, जिस कारण राज्यपाल ने सदन को निलंबित घोषित कर दिया तथा मुख्यमंत्री को सदन में बहुमत सिद्ध करने के लिए 28 मार्च तक की समय सीमा प्रदान की।

दिल्ली प्रकरण, 2014

फरवरी 2014 में, दिल्ली में मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल द्वारा इस्तीफा दिए जाने के पश्चात राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था। ऐसे समय में विधानसभा को निलंबित रखा गया एवं इस घोषणा का अनुमोदन संसद के बजट सत्र में किया गया था। विधान सभा को उस समय तक भंग नहीं किया गया था।

वित्तीय आपात (Financial Emergency)

भारत में वित्तीय स्थिरता बनाए रखने व वित्तीय संकट से निपटने हेतु संविधान के अनुच्छेद 360 के अंतर्गत राष्ट्रपति को वित्तीय आपात घोषित करने का प्राधिकार प्रदान किया गया है। इसके अंतर्गत, यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनसे भारत के वित्तीय स्थायित्व या वित्तीय साख को खतरा है जैसे अत्यधिक मंदी की स्थिति तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है, जिससे इसके विरुद्ध तुरंत कदम उठाना अनिवार्य हो जाता है और राज्य के अस्तित्व के संकट को टाला जा सके।

ऐसी उदघोषणा को किसी अन्य उदघोषणा द्वारा वापस लिया जा सकता है या उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। वित्तीय आपात की उदघोषणा को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है। जो 2 माह की अवधि तक प्रवर्तन में रहती है यदि इस बीच दोनों सदनों द्वारा उसका अनुमोदन कर दिया जाए तो अनुच्छेद 352 के अधीन की उदघोषणाओं के विपरीत इसे अनिश्चित काल तक जारी रखा जा सकता है, जब तक कि उसे वापस न ले लिया जाए या उसमें परिवर्तन न कर दिया जाए।

वित्तीय आपात की अवधि राज्य को वित्त संबंधी कुछ विनिर्दिष्ट सिद्धांतों का

पालन करने का निर्देश देने का अधिकार रखती है, इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति राज्य को ऐसे अन्य निर्देश दे सकता है जिन्हें वह आवश्यक समझें।

वित्तीय संकट की उदघोषणा के प्रभाव

- वित्तीय आपात की उदघोषणा के प्रवर्तन की अवधि में संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य के वित्त संबंधी ऐसे सिद्धांतों का पालन करने के लिए ऐसे निर्देश देने तक होगा जो निर्देशों में विनिर्दिष्ट किए जाए।
- वित्तीय आपात के समय संघ तथा राज्यों के अधिकारियों के वेतन में, जिनमें उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश भी शामिल होंगे, आवश्यक कटौती की जा सकती है।
- राज्य सरकारों को यह निर्देश दिया जा सकेगा कि समस्त धन विधेयक या अन्य वित्तीय विधेयक राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखे जाएंगे।
- राष्ट्रपति को केंद्र एवं राज्यों के मध्य वित्तीय आवंटन प्रावधानों के बारे में आवश्यक संशोधन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।
- संघीय कार्यकारिणी, राज्य कार्यकारिणी को शासन संबंधी आदेश दे सकती है।

भारत की स्वतंत्रता से लेकर अभी तक वित्तीय आपात अनुच्छेद-360 का प्रयोग नहीं हुआ है।

आपातकालीन उपबंधों की आलोचना (Criticism of Emergency Provisions)

आपातकाल के समय कार्यपालिका एवं विधायी समस्त शक्तियाँ केन्द्र में निहित हो जाती है तथा राज्य विधायिका का निलंबन या विघटन हो जाता है और राज्यों को केन्द्र के निर्देशानुसार कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है। इस स्थिति में संविधान का संघीय प्रभाव नष्ट हो जाता है तथा केन्द्र सर्वशक्तिमान बन जाता है। आपातकाल के समय अनुच्छेद 20 व 21 के अधीन प्राप्त अधिकारों के अलावा अन्य अधिकार निलंबित हो जाते हैं और इस दौरान मूल अधिकारों का हनन होने पर, उसके उल्लंघन को चुनौती नहीं दी जा सकती। अत: इस स्थिति में मूल अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं और परिणाम स्वरूप संविधान की प्रजातंत्रीय आधारशिला नष्ट हो जाती है।

आपातकाल के समय समस्त कार्य राष्ट्रपति के आदेश पर संचालित होते हैं तथा बाद में राष्ट्रपति के कृत्यों पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है। अत: आपातकाल की अवधि राष्ट्रपति को तानाशाह बना सकती है।

वित्तीय आपातकाल की स्थिति में राज्य के वित्तीय अधिकार केन्द्र में होते हैं, जिन्हें कम किया जा सकता है। इस प्रकार वित्तीय आपातकाल की स्थिति राज्य की वित्तीय स्वायत्ता को निरर्थक कर देती है।

राष्ट्रीय आपातकाल (अनुच्छेद 352)	*राष्ट्रपति शासन (अनुच्छेद 356)*
1. यह केवल तब उदघोषित किया जाता है जब भारत अथवा इसके किसी भाग की सुरक्षा पर युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह का खतरा हो।	1. इसकी घोषणा तब की जाती है जब किसी राज्य की सरकार संविधान के प्रावधान के अनुसार कार्य न कर रही हो और इनका कारण युद्ध, बाह्य आक्रमण व सैन्य विद्रोह न हो।
2. इसकी घोषणा के बाद राज्य कार्यकारिणी व विधायिका संविधान के प्रावधानों के अंतर्गत कार्य करती रहती है। इसका प्रभाव यह होता है कि राज्य की विधायी एवं प्रशासनिक शक्तियाँ केंद्र को प्राप्त हो जाती है।	2. इस स्थिति में राज्य कार्यपालिका बर्खास्त हो जाती है तथा राज्य विधायिका या तो निलंबित हो जाती है अथवा विघटित हो जाती है। राष्ट्रपति, राज्यपाल के माध्यम से राज्य प्रशासन चलाता है तथा संसद राज्य के लिए कानून बनाती है।
3. इसके अंतर्गत, संसद राज्य विषयों पर स्वय नियम बनाती है अर्थात यह शक्ति किसी अन्य निकाय अथवा प्राधिकरण को नहीं दी जाती है।	3. इसके अंतर्गत, संसद राज्य के लिए नियम बनाने का अधिकार राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा नियुक्त अन्य किसी प्राधिकारी को सौंप सकती है। अब तक यह पद्धति रही है कि राष्ट्रपति संबंध राज्य से संसद के लिए चुने गए सदस्यों की सलाह पर विधियाँ बनाता है। यह कानून 'राष्ट्रपतिके नियम' के रूप में जाने जाते हैं।
4. इसके लिए अधिकतम समयावधि निश्चित नहीं है। इसे प्रत्येक छह माह बाद संसद से अनुमति लेकर अनिश्चित काल तक लागू किया जा सकता है।	4. इसके लिए अधिकतम तीन वर्ष की अवधि निश्चित की गई है। इसके पश्चात इसकी समाप्ति तथा राज्य में सामान्य संवैधानिक तंत्र की स्थापना आवश्यक है।
5. इसके अंतर्गत सभी राज्यों तथा केन्द्र के बीच संबंध परिवर्तित होते हैं।	5. इसके तहत केवल उस राज्य जहाँ पर आपातकाल लागू हो तथा केन्द्र के बीच संबंध परिवर्तित होते हैं।
6. इसकी घोषणा करने अथवा इसे जारी रखने से संबंधित सभी प्रस्ताव संसद में विशेष बहुमत द्वारा पारित होने चाहिए।	6. इसको घोषणा करने अथवा इसे जारी रखने से संबंधित सभी प्रस्ताव संसद के सामान्य बहुमत द्वारा पारित होने चाहिए।
7. यह नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रभावित करता है।	7. यह नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रभावित करते हैं।
8. लोकसभा इसकी घोषणा वापस लेने के लिए प्रस्ताव पारित कर सकती है।	8. इसमें ऐसा कोई उपबंध नहीं है। इसे राष्ट्रपति स्वयं वापस ले सकता है।

लोक सेवाएँ
(Civil Services)

स्वतंत्रता के पश्चात भारत द्वारा एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श रखा गया और लोकतांत्रिक पद्धति से चुने प्रतिनिधियों को इस कार्य हेतु उत्तरदायी बनाया गया। सरकार के मंत्री के रूप में यह प्रतिनिधि जनकल्याण सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण करते हैं, परंतु देश का प्रशासन लोक सेवा अधिकारियों के एक विशाल समूह द्वारा चलाया जाता है, जो संसदीय शासन व्यवस्था की स्थायी कार्यपालिका बनाते हैं। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए कुशल लोक सेवा अधिकारियों के समूह की आवश्यकता होती है, जिनकी भूमिका विधि निर्माण से कार्यान्वयन तक अति महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि कुशल एवं योग्य लोक सेवकों की भर्ती के लिए एक निष्पक्ष व स्वायत्त संवैधानिक संस्था के रूप में लोक सेवा आयोगों की स्थापना की गई है जिन्हें संसदीय लोकतंत्र को बनाए रखने वाले स्तम्भ के चयन जैसे महत्वपूर्ण कार्य करने के कारण लोकतंत्र का संरक्षक भी कहा जाता है।

संसदीय लोकतंत्र में लोक सेवा आयोग की **आवश्यकता के प्रमुख कारण** निम्नलिखित हैं:–

- यह आयोग लोक सेवा सम्बन्धी विषयों के संदर्भ में स्वतंत्र विचार रखने के कारण यह कार्यपालिका के राजनीति एवं प्रशासनिक तंत्र के मध्य आवश्यक संतुलन स्थापित करने में सहायक होते हैं।
- लोक सेवाओं में नियुक्ति हेतु योग्यतम प्रत्याशियों का चयन करके प्रशासनिक तंत्र की सक्षमता प्रदान करते हैं।
- लोक सेवाओं के संदर्भ में सरकार को आवश्यक तकनीकी परामर्श प्रदान करने का कार्य भी इनके द्वारा किया जाता है।
- लोक सेवाओं को भाई-भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार से दूर रखते हुए योग्य प्रशासकों की नियुक्ति को सम्भव बनाते हैं।

लोक सेवाओं का वर्गीकरण
(Classification of Civil Services)

अखिल भारतीय सेवाएँ

अखिल भारतीय सेवाएँ वे सेवाएँ हैं, जो राज्य व केन्द्र सरकारों में समान होती है। इन सेवाओं के सदस्य राज्य व केंद्र के अधीन शीर्ष पदों पर होते हैं। अखिल भारतीय सेवा अधिनियम, 1951 ने मुख्य रूप से दो सेवाओं को प्रारम्भ किया-

- भारतीय प्रशासनिक सेवा।
- भारतीय पुलिस सेवा।
- भारतीय वन सेवा।

(1963 में अधिनियम में संशोधन करके **भारतीय वन सेवा** को भी जोड़ दिया गया।)

भारतीय संसद को यह अधिकार है कि, वह देश की आवश्यकताओं के संदर्भ में **नई अखिल भारतीय सेवाओं** की स्थापना कर सकती है, लेकिन इसका आरंभ **अनुच्छेद 249** के अंतर्गत, **राज्यसभा** द्वारा ही हो सकता है और फिर लोकसभा अपनी सहमति देकर नई सेवा की स्थापना कर सकती है।

केंद्रीय सेवाएँ

अखिल भारतीय सेवाओं के अतिरिक्त भी विभिन्न प्रकार की सेवाएँ केंद्रीय स्तर पर होती हैं, जिन्हें केंद्रीय सेवाएँ कहा जाता है, वे केन्द्र सरकार के विभिन्न विभागों में विशिष्ट पदों पर आसीन होते हैं। स्वतंत्रता से पूर्व केन्द्रीय सेवाएँ, प्रथम, द्वितीय अधीनस्थ व निम्न श्रेणी में वर्गीकृत थीं।

स्वतंत्रता के पश्चात, अधीनस्थ व निम्न श्रेणी का नामकरण तृतीय व चतुर्थ श्रेणी के रूप में कर दिया गया। पुन: 1974 में केन्द्रीय सेवाओं को प्रथम, द्वितीय श्रेणी से समूह 'क', 'ख', 'ग' व 'घ' में वर्गीकृत किया गया। वर्तमान में समूह 'क' की 34 व समूह 'ख' की 25 केन्द्रीय सेवाएँ हैं। समूह 'क' तथा 'ख' में राजपत्रित अधिकारी व समूह 'ग' तथा 'घ' लिपिकीय व श्रमिक कर्मचारी होते हैं, जैसे– भारतीय कस्टम तथा एक्साईज सेवा, भारतीय ऑडिट एवं एकाउण्ट सेवा, आयकर अधिकारी सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय प्रतिरक्षा लेखा सेवा, भारतीय रेल सेवा आदि।

राज्य सेवाएँ

राज्यों के लिए अलग से लोक सेवा आयोगों का प्रावधान किया गया है, जिनके द्वारा राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। इसके सदस्य केवल राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करते हैं। वे सरकार के विभागों में विभिन्न पदों पर आसीन होते हैं। राज्य प्रशासनिक पदानुक्रम में ये सेवाएँ अखिल भारतीय सेवाओं के बाद आती हैं। प्रत्येक सेवा का नाम उसके राज्य के नाम पर रखा गया है। इनमें राज्य सिविल सेवा- राज्य न्यायिक सेवा, राज्य पुलिस सेवा, राज्य चिकित्सा सेवा तथा राज्य शिक्षा सेवा आदि सेवाएँ सम्मिलित हैं।

भारत में लोक सेवक
(Civil Servant in India)

संविधान के भाग-14 में अनुच्छेद 308 से 314 तक अखिल भारतीय सेवाओं, राज्य सेवाओं व केन्द्रीय सेवाओं से संबंधित उपबंध दिए गए हैं। भारतीय संविधान के अनुसार, केंद्र तथा राज्यों के लिए अलग-अलग लोक सेवा आयोगों की स्थापना की गई है। अखिल भारतीय सेवाओं तथा केंद्रीय सेवाओं के लिए नियुक्ति संघ लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा एवं इसी प्रकार राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर राज्यपाल द्वारा। राज्य सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति करता है।

लोक सेवकों की भर्ती और सेवा शर्तें

अनुच्छेद 309, संसद व राज्य विधायिका को क्रमश: केंद्र व राज्य सरकारों के अधीन लोक सेवाओं के अंतर्गत किसी पद पर नियुक्त व्यक्ति की भर्ती व सेवा शर्तों को नियमन करने के लिए शक्तियाँ प्रदान करता है। इन कानूनों के बनने तक राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल इन मामलों के विनियमन के लिए नियम बना सकता है। किसी भी व्यक्ति की लोक सेवा में भर्ती के तरीकों में शामिल हैं- नियुक्ति, चयन, प्रतिनियुक्ति, पदोन्नति तथा स्थानांतरण द्वारा नियुक्ति।

एक लोक सेवक की सेवा शर्तों में शामिल हैं-वेतन, भत्ते, समयबद्ध वेतन वृद्धि, अवकाश, पदोन्नति, कार्यकाल अथवा सेवा समाप्ति, स्थानांतरण, प्रतिनियुक्ति, विभिन्न अधिकार, अनुशासनात्मक कार्यवाही, छुट्टियाँ, कार्य के घंटे और सेवानिवृत्ति के लाभ, जैसे- सेवावृत्ति, भविष्य निधि व ग्रेच्युटी आदि।

लोक सेवकों का कार्यकाल

अनुच्छेद 310 के अनुसार, रक्षा सेवाओं, केन्द्र की सिविल सेवाओं और अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य अथवा सैन्य नागरिक पदों पर आसीन व्यक्ति राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे। इसी प्रकार, राज्य की लोक सेवाओं से संबद्ध सदस्य अथवा राज्य के अधीन सिविल पदों पर आसीन व्यक्ति, राज्य के राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहेंगे।

लोक सेवकों हेतु संवैधानिक सुरक्षा

लोक सेवा के समस्त अधिकारी यथास्थिति, राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के प्रसाद-पर्यंत पद धारण करते हैं, किंतु लोक सेवकों की पद की सुरक्षा को सुनिश्चित बनाए रखने हेतु संविधान के अंतर्गत निम्नलिखित दो रक्षोपाय किए गए हैं, जो कि सैन्य कर्मचारियों से भिन्न हैं–

- संविधान के **अनुच्छेद 311(1)** के प्रावधानों के अनुसार, किसी भी लोक सेवक को उसे नियुक्त करने वाले अधिकारी से निम्न स्तर के अधिकारी द्वारा पद से नहीं हटाया जाएगा, इस प्रावधान का उद्देश्य लोक सेवकों को कनिष्ठ स्तर के अधिकारियों की मनमानी से बचाना है।
- किसी भी लोक सेवक को पदच्युत किए जाने से संबंधित कोई आदेश तभी प्रेषित किया जा सकेगा, जब उसके विरुद्ध आरोपों के संबंध में उसे सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर प्रदान किया गया हो। 1976 से पूर्व यह अधिकार दो चरणों में प्रदान किया जाता था–

(i) आरोपों की जाँच के दौरान, एवं
(ii) जाँच समाप्त हो जाने के पश्चात जब कर्मचारी पर आरोप-सिद्ध ठहराया जाए।

अखिल भारतीय सेवाएँ

राज्यसभा एक प्रस्ताव पारित करे कि, ऐसा करना राष्ट्रहित में आवश्यक अथवा उचित है तो संसद एक नवीन अखिल भारतीय सेवा (अखिल भारतीय न्यायिक सेवा सहित) का सृजन कर सकती है। ऐसे किसी संकल्प का राज्यसभा में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित होना आवश्यक है। संसद, अखिल भारतीय सेवाओं में नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती व सेवा-शर्तों का नियमन कर सकती है। उसके अनुसार, इस उद्देश्य के लिए संसद ने अखिल भारतीय सेवा अधिनियम, 1951 को अधिनियमित किया।

ये सेवाएँ 26 जनवरी, 1950 अर्थात संविधान प्रारंभ होने के समय से भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा इस उपबंध के अंतर्गत संसद द्वारा स्थापित सेवाएँ मानी जाएंगी।

अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के अंतर्गत, कोई भी पद जिला न्यायाधीश से कम नहीं होने चाहिए। इस सेवा का सृजन करने वाली विधि को अनुच्छेद 368 के तहत, संविधान में संशोधन नहीं माना जाएगा।

अन्य प्रावधान

अनुच्छेद 312 (क) जिसे 28वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1972 द्वारा जोड़ा गया, संसद को यह अधिकार देता है कि वह 1950 से पूर्व क्राउन इन इंडिया की सिविल सेवा में नियुक्त व्यक्तियों की सेवा-शर्तों को परिवर्तित कर सके अथवा हटा सके। अनुच्छेद 313 संक्रमणकालीन उपबंधों से संबंधित है और यह कहता है कि, जब तक अन्य कोई व्यवस्था न हो, 1950 से पूर्व की लोक सेवाओं से संबंधित कानून रहेंगे। अनुच्छेद 314 में कुछ विशिष्ट सेवाओं के मौजूदा अधिकारियों की सुरक्षा के संबंध में किए गए उपबंधों का 28वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1972 द्वारा निरसन कर दिया गया।

42वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा प्रस्तावित आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के कर्मचारी के अधिकार का लोप कर दिया गया है; किंतु जाँच के प्रथम चरण में दिए गए साक्ष्यों के आधार पर ही प्रस्तावित आदेश के अधिरोपण के रूप में रक्षोपाय अब भी विद्यमान है।

संविधान के **अनुच्छेद 311** में यह भी प्रावधान है कि, यदि सम्बद्ध अभियुक्त को फौजदारी सजा सुनाई जा चुकी हो, किंतु राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल इस बात से संतुष्ट हों कि, सम्बद्ध आरोप की जाँच कराना राष्ट्रीय हित में नहीं है अथवा जाँच अधिकारी इस तथ्य की लिखित रूप में पुष्टि करता है कि जाँच सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में जाँच की प्रक्रिया को टाला जा सकता है।

लोक सेवा आयोग (Public Service Commission)

संघ लोक सेवा आयोग

संघ लोक सेवा आयोग एक स्वतंत्र संवैधानिक निकाय या संस्था है, क्योंकि इसका गठन संवैधानिक प्रावधानों के द्वारा किया गया है। संविधान के भाग-14 में अनुच्छेद 315 से 323 तक संघ लोक सेवा आयोग की स्वतंत्रता शक्तियों व कार्य का वर्णन किया गया है। आयोग में एक अध्यक्ष व कुछ अन्य सदस्य होते हैं, जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इनका कार्यकाल 6 वर्ष की अवधि या 65 वर्ष की आयु तक जो पहले हो। यह निकाय अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों की लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए परीक्षा का आयोजन करता है। साधारणतया आयोग में अध्यक्ष समेत 9 से 11 सदस्य होते हैं, इसके अलावा आयोग के सदस्यों के लिए योग्यता का उल्लेख नहीं है। हालाँकि आवश्यक है कि आयोग के आधे सदस्यों को भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कम-से-कम 10 वर्ष काम करने का अनुभव हो। संविधान में राष्ट्रपति को अध्यक्ष तथा सदस्यों की सेवा की शर्तें निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है।

राज्य लोक सेवा आयोग

संघ लोक सेवा आयोग के सामानांतर राज्यों में राज्य लोक सेवा आयोग का गठन किया गया है, जिसमें एक अध्यक्ष व अन्य सदस्य होते हैं, जिनकी नियुक्ति राज्य का राज्यपाल करता है। इनका कार्यकाल 6 वर्ष की आयु तक, इनमें जो भी पहले हो, अपना पद धारण कर सकता है। इनको पद से हटाए जाने का कार्य केवल राष्ट्रपति निर्धारित प्रक्रिया के द्वारा ही कर सकता है। ये आयोग, राज्य सेवा में नियुक्ति हेतु परीक्षाओं का आयोजन करता है।

संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग

दो या दो से अधिक राज्यों के लिए संविधान में संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की गई है। इस आयोग का गठन सीधे संविधान द्वारा न होकर राज्य विधानमण्डल के आग्रह पर संसद द्वारा किया जाता है। इस प्रकार, संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग संवैधानिक निकाय न होकर सांविधिक निकाय है। इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। ये आयोग राज्यपाल के अनुरोध व राष्ट्रपति की संस्तुति के बाद राज्य की आवश्यकतानुसार कार्य करता है।

अधिकरण (Tribunals)

संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 से एक नया भाग-14 (क) जोड़ा गया। इस भाग को 'अधिकरण' नाम दिया गया। इसमें दो अनुच्छेद हैं- अनुच्छेद 323 (क), जो कि प्रशासनिक अधिकरणों से संबंधित है तथा अनुच्छेद 323 (ख), जो कि अन्य मामलों के अधिकरणों से संबंधित है।

प्रशासनिक अधिकरण

अनुच्छेद 323(क), संसद को यह अधिकार देता है कि, वह केंद्र व राज्य की लोक सेवाओं, स्थानीय निकायों, सार्वजनिक निगमों तथा अन्य सार्वजनिक प्राधिकरणों में नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती व सेवा शर्तों से संबंधित विवादों को सुलझाने के लिए प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना कर सकती है। अर्थात, अनुच्छेद 323 (क) संसद को यह अधिकार देता है कि वह सेवा मामलों से संबंधित विवादों को नागरिक न्यायालय व उच्च न्यायालय के न्यायक्षेत्र से अलग कर, प्रशासनिक अधिकरण के समक्ष प्रस्तुत कर सके।

अनुच्छेद 323(क) केंद्र सरकार को एक केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण और राज्य प्रशासनिक अधिकरण के गठन का अधिकार देता है। यह अधिनियम किसी पीड़ित लोक सेवक को शीघ्र व कम खर्चीला न्याय प्रदान कराने के संबंध में है।

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण (कैट) (Central Administrative Tribunal)

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण (कैट) अपनी प्रधान खंडपीठ दिल्ली व विभिन्न राज्यों में पूरक खंडपीठों के साथ 1985 में गठित हुआ। वर्तमान में इसकी 17 खंडपीठें एवं 30 डिविजन बेंच हैं। इनमें से 15 मुख्य न्यायालयों की प्रधान पीठों में और दो अन्य जयपुर व लखनऊ से संचालित हैं।

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण, अपने अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले लोक सेवकों की भर्ती व सेवा संबंधी मामलों को देखता है। इसके अधिकार क्षेत्र में अखिल भारतीय सेवाओं, केंद्रीय लोक सेवाओं, केंद्र के अधीन नागरिक पदों और सैन्य सेवाओं के सिविल कर्मचारियों को सम्मिलित किया गया है। हालाँकि सैन्य सेवाओं के सदस्य व अधिकारी, उच्चतम न्यायालय के कर्मचारी और संसद के सचिवालय कर्मचारियों को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है।

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण (कैट) एक बहु-सदस्यीय निकाय है, जिसमें एक अध्यक्ष तथा सदस्य होते हैं। पहले कैट के एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष तथा सदस्य होते थे। वर्तमान में, कैट में अध्यक्ष का एक पद तथा सदस्यों के 65 पद स्वीकृत हैं। वे न्यायिक व प्रशासनिक दोनों संस्थानों से लिए जाते हैं और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होते हैं। इनका कार्यकाल पाँच वर्ष अथवा 65 वर्ष की उम्र तक (अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के मामले में) तथा 62 वर्ष (सदस्यों के मामले में) जो भी पहले हो, होता है।

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण, 1908 की सिविल प्रक्रिया संहिता कानून की प्रक्रियाओं से बाध्य नहीं है। ये प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों द्वारा निर्देशित हैं। ये सिद्धांत केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण के व्यवहार को लचीला बनाते हैं।

मूल रूप से किसी अधिकरण के आदेश के विरुद्ध कोई याचिका केवल उच्चतम न्यायालय में ही दी जा सकती है, उच्च न्यायालय में नहीं। हालाँकि, उच्चतम न्यायालय ने चंद्र कुमार मामले (1997) में निर्णय दिया कि उच्च न्यायालय के न्यायक्षेत्र पर यह प्रतिबंध असंवैधानिक है और न्यायिक समीक्षा संविधान की मूल संरचना है। केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के आदेशों के विरुद्ध, संबंधित उच्च न्यायालय की खंडपीठ में भी याचिका दायर की जा सकती है।

राज्य प्रशासनिक अधिकरण

संबंधित राज्य सरकार की विशेष माँग पर प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 केंद्र को राज्य प्रशासनिक अधिकरण गठित करने की शक्ति प्रदान करता है। राज्यों- आंध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, ओडिशा, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल तथा केरल में राज्य प्रशासनिक अधिकरण ों (सैट) की स्थापना की जा चुकी है। हालाँकि मध्य प्रदेश, तमिलनाडु तथा हिमाचल प्रदेश अधिकरणों को समाप्त कर दिया गया है।

क्र.सं.	*न्यायपीठ*	*पीठ का न्यायिक क्षेत्र*
1.	प्रधान न्यायपीठ दिल्ली	दिल्ली
2.	इलाहाबाद पीठ	उत्तर प्रदेश (लखनऊ पीठ के अंतर्गत आने वाले जिलों को छोड़कर)
3.	लखनऊ पीठ	उत्तर प्रदेश (इलाहाबाद पीठ के अंतर्गत आने वाले जिलों को छोड़कर)
4.	कटक पीठ	ओडिशा
5.	हैदराबाद पीठ	आंध्र प्रदेश
6.	बंगलुरु पीठ	कर्नाटक
7.	मद्रास पीठ	तमिलनाडु व पुदुचेरी
8.	एर्णाकुलम पीठ	केरल और लक्षद्वीप
9.	बंबई पीठ	महाराष्ट्र, गोवा, दादरा और नगर हवेली तथा दमन एवं दीव
10.	अहमदाबाद पीठ	गुजरात
11.	जोधपुर पीठ	राजस्थान (जयपुर पीठ के अंतर्गत आने वाले जिलों को छोड़कर)
12.	जयपुर पीठ	राजस्थान (जोधपुर, पीठ के अंतर्गत आने वाले जिलों को छोड़कर)
13.	चंडीगढ़ पीठ	जम्मू एवं कश्मीर, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, चंडीगढ़
14.	जबलपुर पीठ	मध्य प्रदेश
15.	पटना पीठ	बिहार
16.	कलकत्ता पीठ	पश्चिम बंगाल, सिक्किम, अंडमान व निकोबार द्वीप समूह
17.	गुवाहाटी पीठ	असम, मेघालय, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मिजोरम और त्रिपुरा

किंतु जहाँ, हिमाचल प्रदेश ने SAT का पुनर्गठन किया। वहीं अब तमिलनाडु ने भी ऐसे पुनर्गठन करने का अनुरोध किया है।

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के ही समान राज्य प्रशासनिक अधिकरण भी अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले राज्य सरकार के कर्मचारियों की भर्ती व सेवा मामलों को देखता है। राज्य प्रशासनिक अधिकरण के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति संबंधित राज्यपाल की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

इस अधिनियम में दो या दो से अधिक राज्यों के लिए संयुक्त प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना का भी उपबंध है। संयुक्त अधिकरण उन राज्यों के प्रशासनिक अधिकरण के समान ही अधिकार क्षेत्र तथा शक्तियों का उपयोग करता है।

संयुक्त राज्य अधिकरण के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संबंधित राज्यों के राज्यपालों की सिफारिश पर होती है।

अन्य मामलों के लिए अधिकरण

अनुच्छेद 323(ख) संसद तथा राज्य विधायिका को निम्नलिखित मामलों से संबंधित मामलों में न्याय करने के लिए अधिकरण बनाने का अधिकार देता है-

- कर संबंधी।
- विदेशी मुद्रा, आयात और निर्यात।
- औद्योगिक और श्रम।
- भूमि सुधार।
- नगर संपत्ति की अधिकतम सीमा।
- संसद व राज्य विधायिका के लिए निर्वाचन।
- खाद्य सामग्री।
- किराया और किराएदारी का अधिकार।

अनुच्छेद 323(क) तथा 323(ख) में तीन विभेद हैं-

- जहाँ अनुच्छेद 323(क) के अंतर्गत, केवल लोक सेवाओं से संबंधित मामलों के लिए अधिकरण गठित किया जाता है, अनुच्छेद 323(ख) में अन्य मामलों (उपरोक्त वर्णित) के लिए अधिकरण गठित किया जाता है।
- अनुच्छेद 323(क) के अनुसार, केवल संसद ही अधिकरण का गठन करती है, परंतु अनुच्छेद- 323(ख) के अंतर्गत, संसद व राज्य विधायिका अपने अधिकार क्षेत्र से संबंधित अधिकरण का गठन कर सकती है।
- अनुच्छेद 323(क) के अंतर्गत, केंद्र अथवा प्रत्येक राज्य अथवा दो या दो से अधिक राज्यों के लिए केवल एक ही अधिकरण का गठन किया जा सकता है। इसमें शासन क्रम का कोई प्रश्न नहीं है, जबकि अनुच्छेद 323(ख) के अंतर्गत, अधिकरण का गठन एक पदानुक्रम में किया जा सकता है।

निर्वाचन, राजनीतिक दल व दबाव समूह
(Election, Political Parties and Pressure Groups)

संसदीय लोकतंत्र का मूल आधार वयस्क मताधिकार पर आधारित सार्वभौमिक निर्वाचन प्रणाली है, जिसके द्वारा जनता अपनी मत शक्ति का प्रयोग करते हुए शासन हेतु प्रतिनिधियों को चुनकर लोकतंत्र को वास्तविक रूप दे सके। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु स्पष्ट प्रावधान है, किंतु संघ तथा राज्य विधानमंडलों की निर्वाचन प्रक्रिया विधायिका पर छोड़ दी गई है। संविधान में निर्वाचन के संबंध में कुछ प्रावधानों की चर्चा की गई है, जो निम्न है-

संवैधानिक प्रावधान

संविधान के **अनुच्छेद 325** के अंतर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक साधारण **मतदाता सूची** की व्यवस्था का उल्लेख है, जिसमें सांप्रदायिक, पृथक या विशेष प्रतिनिधित्व के लिए कोई प्रावधान नहीं है, साथ ही **अनुच्छेद 326 वयस्क मताधिकार** के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था करता है, जिसके लिए न्यूनतम आयु संविधान के **61वें** संशोधन अधिनियम, 1989 के द्वारा (**21 वर्ष** की आयु-सीमा को घटाकर) **18 वर्ष** निश्चित की गई है। परंतु संविधान द्वारा अनिवासी, पागल, भ्रष्ट, कैदी अथवा अवैध आचरण वाले व्यक्तियों को मताधिकार के लिए अयोग्य घोषित किया गया है।

निर्वाचन आयोग

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 324** से **329** के अंतर्गत, निर्वाचन तंत्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की चर्चा की गई है। संविधान के **अनुच्छेद 324 निर्वाचन आयोग** के नाम से एक स्वायत्त व निष्पक्ष संस्था की व्यवस्था है, जो स्वच्छ एवं निष्पक्ष चुनाव का संचालन करती है। आयोग निर्वाचन के लिए मतदाता-सूची तैयार कराने का कार्य करता है तथा सभी निवार्चनों के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण करता है।

निर्वाचन प्रक्रिया (Election Process)

निर्वाचन सम्बन्धी सभी क्रियाकलाप संविधान द्वारा निर्वाचन आयोग को सौंपे गए हैं। निर्वाचन आयोग संसद अथवा राज्य विधानमंडल के लिए सम्बद्ध सरकार की सहमति से चुनाव-कार्यक्रम निर्धारित करता है। यद्यपि निर्वाचन आयोग चुनाव कार्यक्रम की घोषणा करता है, परंतु वास्तविक रूप में इसकी शुरूआत राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल की अधिसूचना से होती है। चुनाव कार्यक्रम की घोषणा के पश्चात नामांकन के लिए उम्मीदवारों को नामांकन-पत्र दाखिल करने के लिए **आठ दिनों** का समय दिया जाता है। उम्मीदवार को देश का नागरिक होना अनिवार्य है, साथ ही उम्मीदवार के नाम के प्रस्तावक को उम्मीदवार के चुनाव क्षेत्र का मतदाता होना आवश्यक है। स्वतंत्र उम्मीदवार किसी क्षेत्र से चुनाव लड़ सकता है। नामांकन-पत्र दाखिल करने की तिथि के बाद, निर्वाचन अधिकारी नामांकन पत्रों की जाँच करता है। इस प्रक्रिया में किसी अनियमितता के कारण वह नामांकन-पत्र को अस्वीकार कर सकता है। उसके बाद उम्मीदवार को अपना नाम वापस लेने के लिए दो दिन का समय दिया जाता है। तत्पश्चात, निर्वाचन अधिकारी उम्मीदवारों की अंतिम सूची जारी कर देता है और राजनीतिक पार्टियों तथा स्वतंत्र उम्मीदवारों को चुनाव-चिन्ह प्रदान किया जाता है। सुरक्षित चुनाव-चिह्न मान्यता प्राप्त पार्टियों को तथा स्वतंत्र चुनाव चिन्ह अन्य उम्मीदवारों को दिया जाता है।

नामांकन-पत्र वापसी के दिन से प्रत्याशियों को न्यूनतम कम से कम **20** दिन चुनाव प्रचार के लिए दिए जाते हैं। चुनावी खर्चों का निर्धारण चुनाव क्षेत्र में मतदाताओं की संख्या के आधार पर किया जाता है। परंतु इस खर्चे में पार्टियों द्वारा अपने उम्मीदवारों के लिए किए जाने वाले खर्चे शामिल नहीं होते हैं। कम्पनियों द्वारा राजनीतिक पार्टियों को दिए जाने वाले अनुदानों को चुनाव संहिता के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया जाता है। चुनाव प्रचार मतदान की तिथि के **48 घंटे** पहले बंद कर दिया जाता है। निर्वाचन आयोग समय-समय पर आचार-संहिता जारी करता है तथा राजनीतिक नेताओं से इसे पालन करने की अपेक्षा की जाती है।

चुनाव सुधार (Electoral Reforms)

भारत जैसे बहुहित समूह वाले देश में निष्पक्ष चुनाव कराना वस्तुतः एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। एक स्वायत्त संवैधानिक संस्था द्वारा सावधानीपूर्वक आयोजन के बावजूद भी चुनावों में गड़बड़ी होने के आरोप लगते रहे हैं, इसलिए समय-समय पर चुनाव सुधारों की आवश्यकता पड़ती रहती है।

भारत में चुनाव सुधार से संबंधित कुछ समितियाँ निम्नलिखित हैं-

- तारकुंडे समिति
- के. संथानम समिति
- दिनेश गोस्वामी समिति
- इन्द्रजीत गुप्ता समिति

परिसीमन आयोग

1952 में, संसद ने परिसीमन आयोग अधिनियम पारित करके यह प्रावधान किया कि **प्रत्येक 10 वर्ष** के अंतराल पर होने वाली जनगणना के पश्चात निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन किया जाना चाहिए। इस आयोग में अध्यक्ष मुख्य चुनाव आयुक्त होता है। जन-साधारण के सुझाव एवं आपत्तियों पर आयोग द्वारा अनिवार्य रूप से खुली बैठकों में चर्चा की जाती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के पश्चात ही आयोग परिसीमन सम्बन्धी आदेश प्रदान करता है। आयोग का निर्णय अंतिम होता है और इसके विरूद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। परिसीमन आयोग की यह व्यवस्था को **'गैरीमेण्डरिंग'** (Gerrymandering) व्यवस्था कही जाती है, जिसमें निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन इस प्रकार किया जाता है कि, जिससे किसी विशेष राजनीतिक दल अथवा वर्ग को लाभ न पहुँचे।

परिसीमन के प्रकार

चुनाव क्षेत्र से संबंधित परिसीमन का आधार जनसंख्या का आकार होता है। इसके अतिरिक्त विकास के संकेतकों के साथ चुनाव क्षेत्रों के आकार तथा इनकी भौगोलिक स्थिति की तुलना का भी प्रावधान किया गया है। इस समय जो निर्वाचन क्षेत्र हैं, उनके परिसीमन का आधार जनसंख्या है।

1970 के दशक में, **वी.एम. तारकुण्डे** की अध्यक्षता में एक समिति, जिसका गठन सरकार द्वारा न होकर एक **'सिटिजन्स फॉर डेमोक्रेसी'** नामक संगठन की ओर से जयप्रकाश नारायण द्वारा किया गया था, ने सिफारिश की कि मताधिकार की आयु सीमा 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष की जाए। सभी राजनीतिक दलों के लिए आय के स्रोतों का उल्लेख तथा आय-व्यय का पूर्ण लेखा-जोखा रखना अनिवार्य करने के साथ चुनावों के समय राजनीतिक दलों द्वारा प्रत्याशियों पर किया जाने वाला व्यय प्रत्याशियों के हिसाब में जोड़ा जाए। राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किए जाएँ और संघीय निर्वाचन आयोग बहु-सदस्यीय बनाया जाए तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा केवल प्रधानमंत्री के परामर्श से नहीं,

अपितु एक तीन सदस्यीय समिति की सिफारिश पर की जाए, जिसमें प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विपक्ष का नेता अथवा उसका प्रतिनिधि सदस्य हों; तारकुण्डे समिति द्वारा प्रस्तुत सिफारिशों में मताधिकार की आयु 18 वर्ष करना, राज्यों में निर्वाचन आयोगों की स्थापना करना, संघीय निर्वाचन आयोग को बहु-सदस्यीय बनाना, इत्यादि सिफारिशें सरकार द्वारा मान ली गई।

1981 में, चुनाव आयुक्त **श्यामलाल शकधर** ने सर्वप्रथम मतदाताओं को परिचय पत्र देने की सिफारिश की थी।

वर्ष 1990 में, विधि मंत्री **दिनेश गोस्वामी** को चुनाव संबंधी सुझाव देने को कहा गया। इस समिति की सिफारिशों में कब्जा किए गए मतदान केंद्रों पर पुनर्मतदान कराना, सीटों के आरक्षण हेतु चक्रानुक्रम पद्धति अपनाना, मतदान इलेक्ट्रॉनिक मशीनों द्वारा कराना, मतदाताओं को परिचय पत्र उपलब्ध कराया जाना आदि महत्वपूर्ण बिन्दु थे।

के. संथानम समिति ने भी इस दिशा में कुछ सुझाव जैसे- चुनाव में भाग लेने वालों की न्यूनतम शैक्षिक अर्हता का निर्धारण, समय-समय पर निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन, निर्वाचक नामावलियों को हमेशा अद्यतन करने की व्यवस्था आदि महत्वपूर्ण सुझाव सम्मिलित थे।

22 मई, 1998 को सर्वदलीय सम्मेलन की सिफारिश पर कम्युनिस्ट पार्टी के वरिष्ठ सांसद **इंद्रजीत गुप्त** की अध्यक्षता में समिति गठित की गई, जिसकी प्रमुख सिफारिशें थी कि राजनीतिक दलों को चुनाव में व्यय की जाने वाली राशि सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जानी चाहिए और चुनावी खर्चे के लिए सार्वजनिक कोष की स्थापना होनी चाहिए। जिसमें प्रति वर्ष केंद्र एवं राज्यों को 600-600 करोड़ रुपए का योगदान देना चाहिए।

चुनाव प्रक्रिया में सुधार हेतु जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में भी 1989 में संशोधन कर धारा-61ए जोड़ी गई है, जिससे मतदान में इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन का प्रयोग किया जा सके। इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (ईवीएम) **सर्वप्रथम 1998** में, राजस्थान, मध्य प्रदेश एवं दिल्ली के चुनावों में प्रयोग की गई एवं इसके उत्साहजनक परिणाम के फलस्वरूप वर्ष 1999 में गोवा विधानसभा चुनाव में पूर्ण रूप से ई.वी.एम. का प्रयोग किया गया।

2009 में किए गए प्रावधान के अनुसार, अब लोक सभा और राज्य विधानसभा के चुनाव के दौरान एक्जिट पोल करने व उसके परिणामों को प्रकाशित करने पर रोक लगा दी गई है। चुनाव आयोग द्वारा अधिसूचित अवधि के दौरान यदि चुनाव परिणामों को प्रकाशित या प्रचारित किया जाता है तो दो साल की कैद या जुर्माना या दोनों का भागी होगा। 2009 में किए गए सुधारों के तहत, जमानत राशि में बढ़ोत्तरी की गई ताकि जो गंभीर उम्मीदवार नहीं हैं, उनको हतोत्साहित किया जा सके। इन सुधारों के तहत मतदाता निबंधन पदाधिकारी के किसी आदेश के खिलाफ सुनवाई के लिए जिले में अपीलीय अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है। इन्हीं सुधारों के अंतर्गत, विदेशों में रहने वाले भारतीयों को वोट देने का अधिकार दिया गया। वर्तमान में, विदेश में रहने वाले भारतीय, प्रॉक्सी के जरिए मतदान कर सकते हैं। 2017 में जारी अधिसूचना द्वारा लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए चुनाव खर्च सीमा को 15 लाख रुपए से बढ़ाकर बड़े राज्यों, जैसे-मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र आदि में 70 लाख तथा छोटे राज्यों, जैसे-गोवा व पूर्वोत्तर राज्यों में 54 लाख रुपये कर दी गई है।

चुनावी बॉन्ड

चुनावी बॉन्ड का आशय, एक ऐसे बॉण्ड से होता है, जिसके ऊपर एक करेंसी नोट की तरह उसकी वैल्यू या मूल्य लिखा होता है। यह बॉण्ड; व्यक्तियों, संस्थाओं और संगठनों द्वारा राजनीतिक दलों को पैसा दान करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। ये चुनावी बॉन्ड 1,000 रुपए, दस हजार रुपए, एक लाख रुपए, दस लाख रुपए और एक करोड़ रुपए के मूल्य में उपलब्ध होंगे।

1. भारत का कोई भी नागरिक या संस्था या कोई कंपनी चुनावी चंदे के लिए बॉन्ड खरीद सकेंगे।
2. ये चुनावी बॉन्ड एक हजार रुपए, दस हजार रुपए, एक लाख रुपए, दस लाख रुपए और एक करोड़ रुपए के मूल्य में उपलब्ध होंगे।
3. दानकर्ता चुनाव आयोग में रजिस्टर्ड उस पार्टी को ये दान दे सकते हैं, जिस पार्टी ने पिछले चुनावों में कुल वोटों का कम से कम 1% वोट हासिल किया है।
4. बॉन्ड के लिए दानकर्ता को अपनी सारी जानकारी (केवाईसी) बैंक को देनी होगी।
5. चुनावी बॉन्ड खरीदने वालों का नाम गोपनीय रखा जाएगा।
6. इन बांड्स पर बैंक द्वारा कोई ब्याज नहीं दिया जाएगा
7. इन बॉन्ड्स को स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की चुनिन्दा शाखाओं से ही खरीदा जा सकेगा।
8. बैंक के पास इस बात की जानकारी होगी कि कोई चुनावी बॉन्ड किसने खरीदा है।
9. बॉन्ड्स खरीदने वाले को उसका जिक्र अपनी बैलेंस शीट में भी करना होगा।
10. बाँड्स को जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्टूबर महीने में खरीदा जा सकता है।
11. बॉन्ड खरीदे जाने के 15 दिन तक मान्य होंगे।
12. राजनीतिक दलों को चुनाव आयोग को भी बताना होगा कि उन्हें कितना धन चुनावी बॉन्ड से मिला है।

वर्ष 2017 के बजट से पहले यह नियम था कि, यदि किसी राजनीतिक पार्टी को 20 हजार रुपये से कम का चंदा मिलता है तो उसे चंदे का स्रोत बताने की जरुरत नहीं है इसी का फायदा उठाकर अधिकतर राजनीतिक दल कहते थे कि उन्हें जो भी चंदा मिला है, वह 20 हजार रुपये प्रति व्यक्ति से कम है, इसलिए उन्हें इसका स्रोत बताने की जरुरत नहीं है।

राज्यों के चुनाव के संदर्भ में चुनाव आयोग की शक्ति

संविधान के अनुच्छेद 324 के अंतर्गत, चुनाव आयोग को एक स्वतंत्र निकाय के रूप में भारत में चुनाव कराने उसकी देख-रेख करने दिशा-निर्देश देने एवं नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त है। इस संस्था को चुनाव संबंधी सभी विवादों में चुनाव न्यायाधिकरण स्थापित करने का अधिकार है।

जब किसी राज्य में चुनाव तिथि की घोषणा कर दी जाती है और इस संबंध में दिशा-निर्देश जारी कर दिया जाता है, तो चुनाव संबंधी सभी गतिविधियों के अनुवीक्षण करने का अधिकार चुनाव आयोग को मिल जाता है। चुनाव आयोग, चुनाव आचार संहिता लागू करता है। चुनाव के समय, सभी दल एवं जनता से इस आचार संहिता के पालन की अपेक्षा की जाती है।

चुनाव प्रक्रिया प्रारंभ होने के पश्चात चुनाव संबंधी सभी मामले चुनाव आयोग की देख-रेख में संपन्न होते हैं। केन्द्रीय कार्यपालिका इस संबंध में हस्तक्षेप नहीं करती। यदि कोई राज्य सरकार विधानमंडल का चुनाव स्थगित करना चाहती है तो चुनाव आयोग उपयुक्त संवैधानिक प्रावधान लागू कर सकता है।

भारत में राजनीतिक दल (Political Parties in India)

राजनीतिक दल, वे स्वैच्छिक संगठन अथवा लोगों का संगठित समूह होते हैं, जो समान दृष्टिकोण रखते हैं तथा जो संविधान के प्रावधानों के अनुसार राष्ट्र को आगे बढ़ाने के लिए राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दलों का पंजीकरण निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाता है और पंजीकृत राजनीतिक

दलों, चाहे राष्ट्रीय स्तर के हों या राज्य-स्तर के हों, को आरक्षित चुनाव चिह्न आबंटित किया जाता है। राजनीतिक दलों को मान्यता निर्वाचन आयोग द्वारा इसके लिए घोषित 'निर्वाचन प्रतीक (आरक्षण और आबंटन) आदेश, 1968' के अधीन बनाये गए नियमों के अनुसार प्रदान की जाती है। जो राजनीतिक दल मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल के रूप में अपना पंजीकरण कराना चाहते हैं, वह इसके लिए आयोग के समक्ष आवेदन करते हैं।

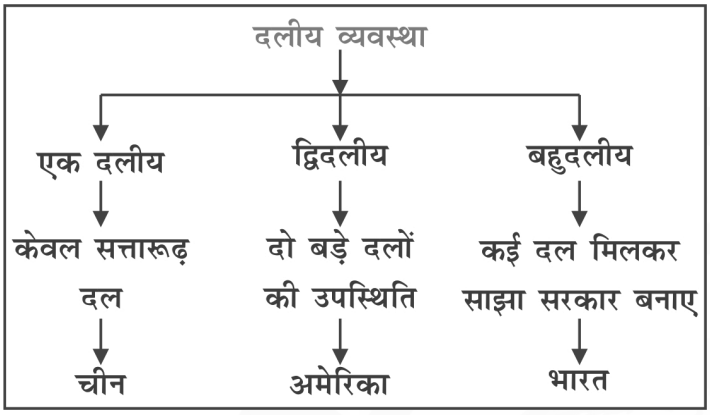

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत, राजनीतिक दल का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकारों का गठन उस राजनीतिक दल द्वारा ही किया जाता है, जो चुनाव में बहुमत प्राप्त करता है। लोकसभा के चुनाव में बहुमत प्राप्त करने वाला दल केन्द्र में सरकार बनाता है। राज्य विधानसभाओं के चुनाव में वास्तविक अर्थ में राजनीतिक दल का गठन, 1885 में हुआ, जब कांग्रेस अस्तित्व में आई। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कई राजनीतिक दलों का गठन हुआ, लेकिन उनका अस्तित्व न के बराबर रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी करीब 1967 तक सम्पूर्ण भारत में कांग्रेस का ही प्रभुत्व रहा, लेकिन अन्य छोटे दल इस समय अपना अस्तित्व स्थापित करने में सफल रहे। 1977 में पाँच दलों के विलय से जनता पार्टी का गठन हुआ। वर्तमान में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की संख्या 8 तथा राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों की संख्या लगभग 60 है। इसके अतिरिक्त भारत में पंजीकृत लेकिन गैर-मान्यता प्राप्त दलों की संख्या लगभग 2000 है।

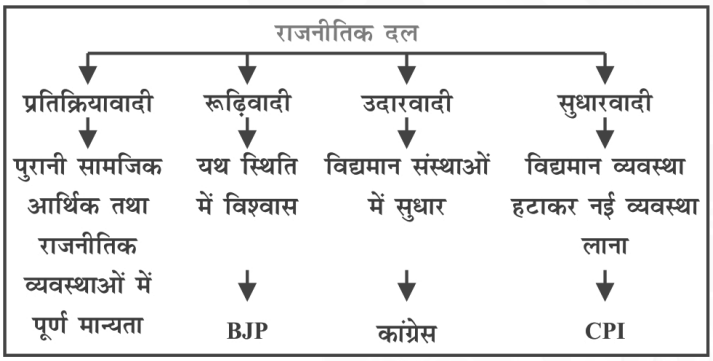

राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना

राष्ट्रीय दल

वर्तमान में एक दल को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता निम्नलिखित अर्हताएँ पूर्ण करने पर दी जाती है-

- यदि वह लोकसभा अथवा विधानसभा के आम चुनावों में चार अथवा अधिक राज्यों में वैध मतों का छः प्रतिशत मत प्राप्त करता है तथा इसके साथ वह किसी राज्य या राज्यों में 4 या अधिक लोकसभा सीटें प्राप्त करता हो।
- यदि वह लोकसभा में 2% स्थान जीतता है तथा ये स्थान तीन विभिन्न राज्यों से चुने जाते हैं।
- यदि कोई दल कम से कम चार राज्यों में राज्यस्तरीय दल के रूप में मान्यता रखता हो।

राज्यस्तरीय दल

- यदि उस दल ने राज्य की विधानसभा के आम चुनाव में उस राज्य में हुए कुल वैध मतों का 6% प्राप्त किया हो तथा इसके अतिरिक्त उसने संबंधित राज्य में दो स्थान प्राप्त किए हो।
- यदि वह राज्य की लोकसभा के लिए हुए आम चुनावों में उस राज्य से हुए कुल वैध मतों का 6% प्राप्त करे तथा इसके अतिरिक्त उसने संबंधित राज्य में लोक सभा की एक सीट जीती हो।
- यदि राज्य की विधान सभा में उस दल ने तीन प्रतिशत या तीन सीटें जो भी ज्यादा हो प्राप्त किए हों।
- यदि प्रत्येक 25 सीटों में से उस दल ने लोकसभा की कम से कम एक सीट जीती हो या लोकसभा चुनावों में उस संबंधित राज्य में उसे विभाजन से कम से कम इतनी सीटें प्राप्त की हों।
- यदि वह राज्य में लोकसभा के लिए हुए आम चुनाव में अथवा विधानसभा चुनाव में कुल वैध मतों का 8% प्राप्त कर लेता है। (इसे 2011 में जोड़ा गया।)

दल-बदल कानून (Anti-Defection Law)

52वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1985 द्वारा सांसदों तथा विधायकों द्वारा एक राजनीतिक दल से दूसरे दल में दल-परिवर्तन के आधार पर निरर्हता के बारे में प्रावधान किया गया है। इस हेतु संविधान के चार अनुच्छेदों में परिवर्तन किया गया है तथा संविधान में एक नई अनुसूची (दसवीं अनुसूची) जोड़ी गई है। इस अधिनियम को सामान्यतः 'दल-बदल कानून' कहा जाता है।

बाद में 91वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा दसवीं अनुसूची के उपबंधों में एक परिवर्तन किया गया है। इसने एक उपबंध को समाप्त कर दिया अर्थात अब विभाजन के मामले में दल-बदल के आधार पर अयोग्यता नहीं मानी जाएगी।

दल-बदल को रोकने के लिए प्रावधान

52वां संविधान संशोधन द्वारा संविधान में दसवीं अनुसूची जोड़कर निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं-

सदन की सदस्यता के लिए अयोग्यता

संसद या राज्य विधानमंडल के सदस्यों को निम्नलिखित आधार पर अयोग्य घोषित किया जा सकता है-

- यदि वह उस राजनीतिक दल की सदस्यता छोड़ देता है, जिसके चुनाव चिह्न पर निर्वाचित हुआ था, या अपने दल के सचेतक (Whip) के निर्देश के विरोध में मतदान करे।
- सचेतक के विरुद्ध मतदान करने के आधार पर उसे सदस्यता से तब वंचित नहीं किया जाता, जब उसे दल द्वारा ऐसा करने के लिए माफ कर दिया जाता है।
- यदि संसद या राज्य विधानमंडल का कोई सदस्य निर्दलीय सदस्य के रूप में निर्वाचित किया गया है और वह किसी दल में शामिल हो जाता है, तो सदन की उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।
- यदि संसद या राज्य विधानमंडल का कोई नामजद सदस्य सदन की सदस्यता के लिए शपथ ग्रहण करने के 6 माह बाद किसी राजनीतिक दल में शामिल हो जाता है, तो सदन की उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।

सदन की सदस्यता के लिए अयोग्यता से छूट

निम्नलिखित आधार पर संसद या विधानमंडल का कोई सदस्य सदन की सदस्यता के लिए अयोग्य नहीं होता-

दलों के विलय पर

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल आपस में विलय का निर्णय करें और उन दलों के संसदीय तथा विधायक दल के संबंधित कम से कम दो तिहाई सदस्य ऐसे विलय के पक्ष में संकल्प पारित कर दें, तब विलय के लिए दल छोड़ने वाले संसद या राज्य विधानमंडल के सदस्य उसकी सदस्यता के लिए अयोग्य नहीं होते।

दलों के विभाजन पर

जब किसी राजनीतिक दल का विभाजन होता है, तब दल के विभाजन के कारण दल से अलग होने वाले संसद सदस्य हेतु विभाजन केवल तब माना जाएगा, जब संसद या विधानमंडल के कम-से-कम एक तिहाई सदस्य सामूहिक रूप से दल को विभाजित करने की घोषणा करें।

सदन के पदाधिकारी के रूप में चुने जाने पर

यदि लोकसभा तथा विधानसभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष पद पर, राज्यसभा के उपसभापति या राज्य विधान परिषद के सभापति या उपसभापति के पद पर चुने जाने के कारण कोई सदस्य अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देता है, तो उसे सदन की सदस्यता के लिए अयोग्य नहीं घोषित किया जाएगा।

दल से निकाले जाने पर

यदि संसद या राज्य विधानमंडल के किसी सदस्य को अनुशासनहीनता के कारण दल से निकाल दिया जाता है, तो वह संबंधित सदन की सदस्यता के लिए अयोग्य नहीं होगा, क्योंकि दल-बदल से संबंधित कानून अनुशासन से संबंधित मामलों पर लागू नहीं होता है। वह अयोग्य तब होता है, जब कोई सदस्य स्वेच्छा से दल बदलता है या दल के सचेतक के निर्देश के विरुद्ध मतदान करता है।

अयोग्यता से संबंधित प्रश्न का निर्णय

लोकसभा तथा राज्य विधानसभा के सदस्यों की अयोग्यता से संबंधित निर्णय संबंधित सदन के अध्यक्ष तथा राज्यसभा और राज्य विधान परिषद के सदस्यों की अयोग्यता से संबंधित निर्णय सम्बद्ध सदन के सभापति द्वारा किया जाएगा।

वर्तमान स्थिति

91वां संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 दल-बदल पर अंकुश लगाने संबंधी महत्वपूर्ण पहल है। इसके अनुसार, अब दल-बदल करने पर संबंधित सदस्य की सदन की सदस्यता स्वत: समाप्त हो जाएगी। संशोधन के द्वारा 10वीं अनुसूची की धारा-3 को समाप्त कर दिया गया है, जिसमें किसी दल (पार्टी) के एक-तिहाई सदस्य एक बार किसी एक दल के टिकट पर चुनकर आने के बाद यदि कोई सदस्य उस दल को छोड़ता है, तो उसे दल की सदस्यता भी छोड़नी होगी। साथ ही ऐसा सदस्य जब तक पुन: निर्वाचित होकर नहीं आ जाता, तब तक निगम का अध्यक्ष किसी अन्य लाभ का पद धारण नहीं कर सकता है।

जन प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the people's Act)

संविधान के अनुच्छेद 81 व 170 में, संसद तथा राज्यों की विधानसभाओं में अधिकतम सीटों की संख्या संबंधी प्रावधानों के साथ उन सिद्धांतों का भी उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं में सीटों का आवंटन किया जाता है। लोकतंत्र में शासन प्रणाली को प्रभावी और सुचारू रूप से चलाने के लिए भारत सरकार द्वारा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम बनाया गया तथा समय-समय पर इनमें संशोधन भी किया गया।

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 का अधिनियम लोकसभा के साथ-साथ राज्यों की विधानसभाओं तथा विधान परिषदों में सीटों के आवंटन के उद्देश्य से किया गया। लोकसभा एवं विभिन्न राज्यों के लिए कुल कितनी सीटें होंगी, साथ ही विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं में कितनी सीटें होगी, इसके लिए 1 मार्च, 1950 को विभिन्न राज्यों की जनसंख्या को ध्यान में रखा गया।

यह अधिनियम राष्ट्रपति को शक्ति प्रदान करता है कि, वे चुनाव आयोग से परामर्श करके लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं एवं विधान परिषदों की सीटें भरने के लिए विभिन्न चुनाव क्षेत्रों की संख्या को सीमित कर सकते हैं।

अधिनियम पुन: लोकसभा चुनाव क्षेत्रों तथा विधानसभा एवं विधान परिषद चुनाव क्षेत्रों के निर्वाचकों के निबंधन का प्रावधान करता है। विस्थापित व्यक्तियों को रियायत देने के लिए एक विशेष प्रावधान भी किया गया है, खासकर उन व्यक्तियों के लिए जो वर्ष 1949 के बाद पाकिस्तान से भारत आए थे। मतदाता सूची के निर्माण, ऐसी सूची-पत्रों का मुद्रण काल, तथा विशेष मामलों में ऐसी अवधि में सूची-पत्रों के पुनरीक्षण का भी प्रावधान किया गया है।

कुछ कार्यवाहियाँ संविधान सभा सचिवालय द्वारा भी लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं के चुनावों के लिए मतदाता सूची को तैयार करने के लिए की गई थीं। ऐसी कार्यवाहियों की वैधता के लिए अधिनियम में एक प्रावधान भी किया गया है।

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 में चुनावों से संबंधित सभी प्रावधान नहीं थे, बल्कि इसमें लोकसभा एवं राज्यों की विधानसभाओं के लिए सीटों के आवंटन तथा चुनाव क्षेत्रों के सीमाकंन की व्यवस्था की गई थी। इसके अलावा मतदाता की अर्हता तथा मतदाता-सूचियों के निर्माण का भी प्रावधान किया गया था।

संसद के दोनों तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभा एवं विधान परिषद के चुनाव, इन सदनों के लिए अर्हता एवं अयोग्यता, भ्रष्ट आचरण तथा अन्य चुनाव संबंधी प्रावधान तथा चुनाव संबंधी विवादों पर निर्णय, ये सब बाद में अपनाए जाने वाले उपायों पर छोड़ दिया गया। इसलिए इन बिन्दुओं पर प्रावधान करने के लिए जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 अधिनियमित किया गया।

मोटे तौर पर, यह अधिनियम निम्नलिखित चुनावी विषयों से संबंधित है-

- संसद तथा राज्य विधायिकाओं के लिए अर्हताएँ एवं अयोग्यताएँ।
- आम चुनावों की अधिसूचना।
- चुनाव संचालन के लिए प्रशासनिक मशीनरी।
- राजनीतिक दलों का निबंधन।
- चुनाव संचालन।
- मान्यता प्राप्त दलों के उम्मीदवारों के लिए कुछ सामग्री की नि:शुल्क आपूर्ति।
- चुनाव संबंधी विवाद।
- भ्रष्ट आचरण एवं चुनावी अपराध।

जन-प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1988

- Electronic Voting Machine (EVM) के उपयोग को मान्यता प्रदान की गई।
- चुनाव कार्यों में बाधा उत्पन्न करने के लिए दंडात्मक प्रावधान प्रदान किया गया।
- निर्वाचन प्रक्रिया से संबंधित कर्मचारियों को निर्वाचन आयोग के अधीन घोषित किया गया।
- मतदाता केन्द्रों पर कब्जा करने जैसे अपराध को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अंतर्गत शामिल किया गया।

जन-प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1992

इस अधिनियम के अनुसार, प्रत्याशियों को अंतिम सूची के प्रकाशन के पूर्व यदि किसी प्रत्याशी की मृत्यु हो जाती हैं तो चुनाव प्रक्रिया को स्थगित नहीं किया जाएगा तथा संबंधित राजनीतिक दल को 7 दिन के भीतर किसी अन्य प्रत्याशी को नामांकित करने की सुविधा दी जाएगी।

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम और अपराध

जन प्रतिनिधि अधिनियम में उन अपराधों का वर्णन किया गया है, जिसके आधार पर दोषी पाए गए व्यक्ति को अयोग्य घोषित किया जा सकता है। अधिनियम की धारा-2 के अनुसार, भारतीय दंड संहिता, सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, सीमा शुल्क अधिनियम, विधि विरुद्ध क्रियाकलाप अधिनियम, आतंकवादी और विध्वंशकारी अधिनियम, धार्मिक संस्था अधिनियम, उपासना स्थल अधिनियम आदि के अंतर्गत किसी अपराध के लिए दोषी ठहराए गये, व्यक्ति को दोष सिद्ध की तिथि से 6 वर्ष की अवधि तक चुनाव के लिए अयोग्य माना जाएगा। इसी प्रकार जमाखोरी, मुनाफाखोरी विधि, खाद्य व औषधि विधि, दहेज अधिनियम, सती अधिनियम के अंतर्गत, किसी अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो और न्यूनतम 6 माह का दंड दिया गया हो तो ऐसे व्यक्ति को दोष सिद्ध की तिथि से 6 वर्ष के लिए चुनाव से आयोग्य माना जाएगा। अधिनियम की धारा-2(3) के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति इन अपराधों से भिन्न किसी अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो और न्यूनतम 2 वर्ष की सजा पाता हो तो दोष सिद्ध होने की तिथि से छोड़े जाने की तिथि से 6 वर्ष तक चुनाव से अयोग्य बना रहेगा।

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम में आपराधिक पृष्ठभूमि के लोगों को शामिल होने से रोकने के लिए अनेक प्रावधान है, लेकिन न्यायपालिका के उदारवादी दृष्टिकोण के कारण अपराधी पृष्ठभूमि के लोगों को राजनीति में प्रवेश का प्रतिबंध नहीं लगता था, लेकिन 2013 में न्यायपालिका ने एक ऐतिहासिक निर्णय लिया और यह स्पष्ट किया कि, किसी भी व्यक्ति को किसी भी न्यायालय द्वारा दंड सुनाए जाने की स्थिति में निर्णय की तिथि के समय से ही उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी। न्यायपालिका के इस दृष्टिकोण ने राजनीति में इन असामाजिक तत्वों को शामिल करने में प्रतिबंध लगाया, जिसे लोकतंत्र मूल्यों की सुदृढ़ता स्थापित होने में सहायता मिलेगी और राजनीति में आपराधिक पृष्ठभूमि के लोगों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगेगा।

जन-प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1996

चुनाव सुधारों को लेकर गठित विभिन्न समितियों की सिफारिशों और न्यायपालिका के दिए गए निर्देशों को लेकर जन प्रतिनिधित्व **अधिनियम, 1951 में संशोधन किया गया**-

- राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों का नामांकन पत्र एक मतदाता द्वारा तथा निर्दलीय प्रत्याशियों का नामांकन पत्र 10 मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित होना चाहिए।
- कोई भी प्रत्याशी दो से अधिक स्थानों से चुनाव नहीं लड़ सकता।
- चुनाव के दौरान किसी प्रत्याशी की मृत्यु हो जाने पर चुनाव प्रक्रिया स्थगित नहीं की जाएगी।
- किसी राजनीतिक दल द्वारा किसी प्रत्याशी के चुनाव प्रचार हेतु व्यय की गई धन राशि यदि दल द्वारा अपने व्यय में प्रदर्शित नहीं की जाती है तो ऐसे व्यय को प्रत्याशी द्वारा व्यय की गई राशि मानी जाएगी।
- चुनाव से संबंधित कार्यों में बाधा डालने के लिए किया गया कोई भी कार्य संघीय अपराध माना जाएगा।
- निर्वाचन की निर्वाचन संबंधी कार्यों के लिए सरकारी कर्मचारी रखा जाएगा और उसकी संतुष्टि के आधार पर ही निर्णय लिए जाएँगे।

दबाव समूह (Pressure Group)

वर्तमान समय में भारतीय राजनीति प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशेष महत्व है। 'दबाव समूह' शब्द का उदभव संयुक्त राज्य अमेरिका से हुआ है। दबाव समूह उन लोगों का समूह होता है, जो सक्रिय रूप से संगठित है तथा अपने हितों को बढ़ावा देते हैं और उनकी प्रतिरक्षा करते हैं। ये समूह सरकार पर दबाव बना कर उनकी लोक-नीति बदलने का प्रयास करते हैं। इन्हें हितैषी समूह या हितार्थ समूह भी कहा जाता है। स्वतंत्रता पूर्व से ही भारतीय शासन को दबाव समूह प्रभावित करते रहे हैं। स्वतंत्रता के पूर्व दबाव समूह थे- ब्रह्म समाज, धर्मसभा, तरुण बंगाल समूह, सत्य शोधक समाज, ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन आदि, जिनका आशय समाज सुधार हेतु शासन पर दबाव डालना था। 1885 में कांग्रेस तथा 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना करके भारत में राजनीतिक दबाव समूह का गठन किया गया। ये दोनों दल शासन की नीतियों को व्यापक रूप से प्रभावित करने लगे। बाद में कांग्रेस की ओर से अन्य दबाव समूहों, यथा-कृषक संघ, श्रमिक संघ तथा छात्र संघ का गठन किया गया है। भारत में राजनीति को प्रभावित करने वाले दबाव समूहों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है-

संस्थानात्मक दबाव समूह

संस्थानात्मक दबाव समूह का तात्पर्य उस दबाव समूह से हैं, जो सरकार या राजनीतिक दलों के नीतियों को प्रभावित करते हैं। ये दबाव समूह राजनीतिक दलों के अपने आन्तरिक संगठन होते हैं, जैसे- राजनीतिक दलों की कार्यसमिति, संसदीय बोर्ड, चुनाव समिति, युवा संगठन, महिला संगठन, कृषक संगठन, अनुसूचित जाति तथा जनजाति संगठन, छात्र संगठन आदि। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों के संगठन को भी संस्थानात्मक समूहों में रखा जा सकता है, जो शासन या राजनीतिक दलों के नीतियों को प्रभावित करते हैं।

समुदायात्मक दबाव समूह

समुदायात्मक दबाव समूह अपने हित के संरक्षण के लिए सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं। ये अत्यधिक अनुभवी एवं परिष्कृत, अत्यधिक शक्ति सम्पन्न और भारत में दबावकारी समूहों में से सबसे बड़े होते हैं। ऐसे समूह के उदाहरण श्रमिक संघ, व्यवसायिक संघ तथा कृषक संघ हैं।

समुदायात्मक समूह के अधीन कई व्यावसायिक संघ भी हैं, जो राजनीतिक दलों की नीतियों को प्रभावित करते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री' और 'एसोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री' है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कृषक संघ का इतिहास काफी पुराना है। वर्ष 1936 में ही 'अखिल भारतीय किसान सभा' का गठन किया गया था, जो किसानों के हितों के लिए सरकार की नीतियों को प्रभावित करती रही है।

उदा: भारतीय किसान यूनियन, हिन्द किसान पंचायत।

उक्त संगठनों के अतिरिक्त समुदायात्मक दबाव समूह के रूप में सरकारी कर्मचारियों के संघ तथा छात्रों के संघ भी अपने हितों के सरंक्षण के लिए राजनीतिक दलों की नीतियों को प्रभावित करते हैं। सरकारी कर्मचारियों के संगठन में ऑल इंडिया रेलवे मैन एसोसिएशन, आल इंडिया पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ वर्कर्स यूनियन, ऑल इंडिया टीचर्स एसोसिएशन प्रमुख है। छात्र संगठनों में भाजपा का अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, साम्यवादी दलों का आल इंडिया स्टुडैन्ट्स फेडरेशन, कांग्रेस का नेशनल स्टुडैन्ट्स यूनियन ऑफ इंडिया तथा समाजवादियों का समता युवाजन सभा प्रमुख है। कुछ साम्प्रदायिक संगठन भी समुदाय के रूप में एकबद्ध होकर अपने हितों के संरक्षण में संलग्न हैं। ऐसे संगठनों में हिन्दू महासभा, कायस्थ सभा, ऑल इंडिया कांफ्रेंस ऑफ इंडियन क्रिश्चियन तथा पारसी सेन्ट्रल एसोसिएशन प्रमुख हैं।

असमुदायात्मक दबाव समूह

असमुदायात्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार का दबाव समूह संगठित संघ नहीं होता और इसमें साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय, गाँधीवादी समुदाय, भाषागत समुदाय, सिण्डीकेट तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, बाबरी मस्जिद एक्शन कमिटी, जमायते- इस्लाम-ए-हिन्द, तथा जमायते-इस्लाम, जैन समाज, वैष्णव समाज, नायर सेवा समाज, बजरंग दल प्रमुख हैं। जातीय संगठन में तमिलनाडु में नादर जाति संघ, आन्ध्र प्रदेश में कम्मा तथा रेड्डी जातीय समुदाय, कर्नाटक में लिंगायत और ओक्का-लिंगा, राजस्थान में जाट एवं राजपूत गुट तथा गुजरात में क्षत्रिय महासभा ऐसे संगठन है, जो अपने-अपने राज्यों के राजनीतिक दलों पर काफी प्रभाव रखते हैं। वैसे गाँधीवादी संगठन जो राजनीतिक दलों की नीतियों को प्रभावित करते हैं, वे हैं-सर्व सेवा संघ, सर्वोदय, भूदान, खादी ग्रामोद्योग संघ, गाँधी प्रतिष्ठान आदि।

विशेष वर्गों के लिए उपबंध
(Special Categories Provision)

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्रता, समानता व न्याय के लक्ष्य को स्थापित करने का संकल्प रखा गया और सभी वर्गों को सामाजिक और राजनीतिक न्याय दिलाने तथा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए समाज के उपेक्षित और शोषित लोगों के लिए कुछ विशेष प्रावधान किए गए हैं। संविधान के **भाग-16** में **अनुच्छेद 330** से लेकर **अनुच्छेद 342** तक कुछ वर्गों के लिए विशेष उपबंध किए गए हैं।

अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए उपबंध (Provisions for schedule caste and schedule tribe)

संविधान में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की कोई परिभाषा नहीं है। इस संदर्भ में राष्ट्रपति को यह शक्ति प्राप्त है कि, वह प्रत्येक राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके इनकी सूची जारी करे। संसद इस सूची का पुनरीक्षण कर सकती है। अनुच्छेद (341-342) के अधीन दी गई शक्तियों के अनुसार, संसद ने अधिनियमों द्वारा इन आदेशों में संशोधन भी किए हैं। दिए गए उपबंध इस प्रकार हैं-

- अनुसूचित जातियों और जनजातियों की उन्नति के लिए संविधान द्वारा दिए गए विशेष उपबंधों हेतु अन्य नागरिक न्यायालय में इनकी विभेदकारी प्रकृति के आधार पर आक्षेप नहीं कर सकते।
- भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र में अबाध संचरण और निवास करने के मूल अधिकारों पर भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों की दशा में राज्य उनके हितों की सुरक्षा के लिए विशेष निर्बंधन अधिरोपित कर सकता है।
- संविधान के **अनुच्छेद 164(1)** में 94वां संशोधन, 2006 द्वारा मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा के साथ-साथ छत्तीसगढ़ एवं झारखण्ड राज्यों में जनजातियों के कल्याण हेतु एक प्रभारी मंत्री का उपबन्ध किया गया है, जो अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण का प्रभारी हो सकता है। झारखंड के राज्य बनने के साथ ही बिहार से जनजाति प्रभारी मंत्री का पद समाप्त कर दिया गया है।
- **अनुच्छेद 275(1)** कल्याण योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए अलग से वित्तीय सहायता का प्रावधान किया गया है।
- **अनुच्छेद 335** के अनुसार, संघ या राज्य के क्रियाकलापों से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के लिए स्थान आरक्षित करने का प्रावधान किया गया है। साथ ही संविधान संशोधन, 2002 में **अनुच्छेद 16(4A)** के अंतर्गत, सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जाति/जनजाति के कर्मियों के लिए पदोन्नति में आरक्षण की व्यवस्था की गई है।
- **अनुच्छेद 338** में, अनुसूचित जातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किए जाने का प्रावधान किया गया है।
- **अनुच्छेद 338(क)** में अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किए जाने का प्रावधान किया गया है।
- **अनुच्छेद 339(1)** के अनुसार, राज्यों में स्थित अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन एवं अनुसूचित जातियों के कल्याणार्थ प्रतिवेदन देने हेतु राष्ट्रपति द्वारा संविधान के प्रवृत्त होने के दस वर्ष पश्चात आदेश द्वारा एक आयोग का गठन किया जाएगा।
- संसद के सदस्यों को और जनता के अन्य सदस्यों को सरकार के उपर्युक्त दायित्वों के निर्वहन में सहभागी बनाने के लिए तीन संसदीय समितियाँ बनाकर उनकी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए योजनाएँ बनाने और उनके कार्यकरण की समीक्षा करने तथा इन जातियों और जनजातियों से संबंधित विषयों पर भारत सरकार को परामर्श देने का कार्य सौंपा गया है।
- संविधान की पाँचवीं एवं छठी अनुसूची के अंतर्गत अनुसूचित जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन संबंधी विशेष संवैधानिक उपबंध किए गए हैं।
- संविधान के नीति निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 46 में यह कहा गया है कि राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के, शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

विधान मंडलों में आरक्षण

संविधान के अनुच्छेद 330, 332 और 334 के प्रावधानों के अंतर्गत, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विधान मंडलों में प्रतिनिधित्व संबंधी आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

अनुच्छेद 330 और **332** के अंतर्गत, क्रमशः लोकसभा एवं राज्य के विधानसभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ स्थान आरक्षित किए गए हैं। आरक्षण का प्रावधान इनकी जनसंख्या के आधार पर किया गया है। वर्तमान समय में लोकसभा में अनुसूचित जाति के लिए 84 तथा अनुसूचित जनजाति के लिए 47 स्थान आरक्षित हैं।

भारतीय संविधान में मूल आरक्षण की अवधि 10 वर्षों के लिए निर्धारित की गई थी। परंतु प्रत्येक दस वर्ष पर संविधान संशोधन द्वारा इसकी अवधि बढ़ायी जाती रही है। संविधान के **104वें संशोधन अधिनियम** द्वारा लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों, जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण एवं आंग्ल-भारतीय सदस्यों के मनोनयन की व्यवस्था को 26 जनवरी, 2020 से समाप्त कर दिया गया है।

अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग

संविधान के **अनुच्छेद 338** में जनजातियों के विकास एवं सुरक्षा के संदर्भ में राष्ट्रपति द्वारा एक अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग बनाने का प्रावधान किया गया है। 89वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा अनुसूचित जाति एवं जनजाति राष्ट्रीय आयोग को दो भागों- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग एवं राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के रूप में विभाजित कर दिया गया है।

इस अधिनियम द्वारा संविधान में **अनुच्छेद 338(ए)** अन्तः स्थापित किया गया है। राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग में एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा तीन अन्य सदस्य होंगे। इन अधिकारियों की सेवा-शर्तों एवं पदावधि इत्यादि का निर्धारण समय-समय पर राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किया जाएगा। इसी प्रकार, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग में भी एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा तीन अन्य सदस्य होंगे। इनकी सेवा-शर्तों, पदावधि इत्यादि का निर्धारण भी राष्ट्रपति द्वारा ही किया जाएगा।

अल्पसंख्यकों के लिए उपबंध (Provision for Minorities)

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक वर्ग को परिभाषित नहीं किया गया है। कुछ वर्गों के अधिकारों को सुरक्षित रखने व उनके गरिमामय जीवन को सुनिश्चित करने के लिये संविधान में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग किया है।

परंतु अल्पसंख्यक समुदाय से अभिप्राय उस समुदाय से है, जिनकी संख्या किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले बहुसंख्यकों से कम होती है। ये अल्पसंख्यक, धर्म अथवा भाषा के आधार पर घोषित किए जाते हैं। भारत में प्रमुख अल्पसंख्यक वर्ग मुस्लिम, सिख, बौद्ध, जैन, ईसाई और पारसी है।

अल्पसंख्यक वर्ग के लिए संवैधानिक प्रावधान

अनुच्छेद 29

- ***29(1)*** भारत के राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।
- ***29(2)*** राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षण संस्थान में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 30

- ***30(1)*** धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक-वर्गों को अपनी रूचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।
- ***30(1)*** शिक्षण संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षण संस्थान के विरूद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि, वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।

अनुच्छेद 350 (ख)

भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी

संसद ने संविधान, संघ और राज्य विधियों में उपबंधित अल्पसंख्यकों के रक्षोपायों के कार्यकरण का पर्यवेक्षण करने के लिए इसी अनुच्छेद द्वारा क्रमशः 6 समुदायों - मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, जैन, इसाई तथा पारसी को अल्पसंख्यक घोषित किया गया, जो कि अल्पसंख्यक मंत्रालय के अधीन कार्य करता है।

पिछड़े वर्गों के लिए उपबंध (Provision for Backward Caste)

सामान्यतः पिछड़े वर्ग के अंतर्गत उन समुदायों को शामिल किया जाता है, जो सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टिकोण से पिछड़े हों। सामाजिक तथा शैक्षणिक पिछड़ेपन के निर्धारण का दायित्व केंद्र तथा राज्य सरकारों को सौंपा गया है।

- संविधान के **अनुच्छेद 340** में पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति के संदर्भ में प्रावधान किया गया है। ऐसे आयोग का गठन राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है।
- ***1953*** में राष्ट्रपति ने अपनी इस शक्ति का प्रयोग करते हुए **काका कालेलकर** की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया था। इस आयोग को सौंपे गए कार्य निम्नलिखित थे:
- उन परिस्थितियों को ज्ञात करना, जो जनता के किसी वर्ग या समूह को 'पिछड़ा वर्ग' निर्धारित करती हों।
- सम्पूर्ण भारत के लिए पिछड़े समुदायों की सूची तैयार करना।
- पिछड़े वर्ग की कठिनाइयों की समीक्षा और उनकी स्थिति सुधारने के लिए सिफारिश करना।

काका कालेलकर आयोग में दिए गए तथ्यों, अस्पष्टता और अव्यावहारिकता के कारण सरकार इसे अमान्य घोषित करते हुए राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया कि वे खुद के द्वारा बनाई गई सूची के अनुसार ऐसे वर्गों की पहचान में सहायता करें।

- दूसरा 'पिछड़ा वर्ग' आयोग 1979 को **बी.पी. मंडल की अध्यक्षता** में गठित किया गया। इस रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने 1990 में सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित करने की घोषणा की। लेकिन इस पर विवाद खड़ा होने पर 1993 में पिछड़े वर्गों के लिए संसद ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम पारित किया, जिसके अधीन एक आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने पिछड़े वर्ग की जातियों के लिए केंद्र सरकार के अधीन नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित कर दिए, जिन्हें 9 सितंबर, 1993 से कार्यान्वित कर दिया गया है।

संविधान के अनुच्छेद 164(1) के अंतर्गत पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए एक मंत्री नियुक्त करने की भी व्यवस्था की गई है।

- संविधान के 93वां संशोधन अधिनियम, 2005 द्वारा सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए निजी एवं बिना सरकारी अनुदान प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। वंचित वर्गों के समान विकास की दशा में निश्चित रूप से यह एक प्रशंसनीय प्रयास है।
- संसद ने 102वां संविधान संशोधन के माध्यम से संविधान में अनुच्छेद 338(ख) शामिल करके राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया है। राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग में एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और तीन अन्य सदस्य होंगे। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों की सेवा-शर्तें एवं पदावधि वही होगी जो राष्ट्रपति तय करेंगे। राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को अपनी स्वयं की प्रक्रिया विनियमित करने की शक्ति होगी।

पिछड़ा वर्ग आयोग

पिछड़े वर्ग अधिनियम 1993 के द्वारा गठित पिछड़ा वर्ग आयोग के अंतर्गत एक अध्यक्ष एवं पाँच सदस्य होते हैं,जिनका कार्यकाल 3 वर्ष का होता है। आयोग को पिछड़े वर्गों को सूचीबद्ध करना, क्रीमी लेयर वाले पिछड़े वर्गों का आँकलन करना एवं पिछड़े वर्गों की आवश्यकताओं, एवं विकास के संबंध में केंद्र सरकार को सुझाव प्रस्तुत करना आदि कार्य सौंपे गए हैं।

एंग्लो-इंडियन वर्ग के लिये प्रावधान (Provision for Anglo-Indian)

आंग्ल-भारतीय का आशय ऐसे व्यक्ति से है, जिसके पिता या जिनके कोई भी पुरुष पूर्वज यूरोपीय वंश के थे, लेकिन वे भारत में आकर बस गए और इस प्रकार स्थायी रूप से न कि अस्थायी तौर पर बसे लोगों ने जिन्हें जन्म दिया है।

- अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गों की तरह संविधान ने आंग्ल-भारतीय समुदाय के लोगों को परिभाषित किया है।

राजभाषा
(Official Language)

- संविधान के भाग–17 में अनुच्छेद 343 से 351 तक राजभाषा से संबंधित है। ये उपबंध चार शीर्षकों में विभाजित हैं–

i. संघ की भाषा
ii. प्रादेशिक भाषाएँ
iii. न्यायपालिका और विधि की पाठभाषा
iv. अन्य विशेष निर्देशों की भाषा

- संविधान की 8वीं अनुसूची भाषाओं से संबंधित है, जिसमें वर्तमान में 22 भाषाएँ हैं।
- एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 1652 मातृभाषाएँ प्रचलन में हैं, जबकि संविधान द्वारा 22 भाषाओं को राजभाषा की मान्यता प्रदान की गई है।
- संविधान में मूल रूप से केवल 14 भाषाओं को राजभाषा की मान्यता दी गई थी, लेकिन 21वें संविधान संशोधन द्वारा सिन्धी को तथा 71वें संविधान संशोधन द्वारा नेपाली, कोंकणी तथा मणिपुरी को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया। 92वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा संविधान की आठवीं अनुसूची में चार नई भाषाओं– बोडो, डोगरी, मैथिली तथा संथाली को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया।
- इन 22 भाषाओं के अतिरिक्त, अंग्रेजी भी सहायक राजभाषा है और यह मिजोरम, नागालैंड तथा मेघालय की राजभाषा है।

भाषाएँ

1.	असमिया	2.	बांग्ला
3.	गुजराती	4.	हिन्दी
5.	कन्नड़	6.	कश्मीरी
7.	कोंकणी	8.	मलयालम
9.	मणिपुरी	10.	मराठी
11.	नेपाली	12.	ओडिया
13.	पंजाबी	14.	संस्कृत
15.	सिंधी	16.	तमिल
17.	तेलुगू	18.	उर्दू
19.	बोडो	20.	डोगरी
21.	मैथिली	22.	संथाली

संघ की भाषा (Language of Union)

- संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार, संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। परन्तु संघ द्वारा आधिकारिक रूप से प्रयोग होने वाले संख्याओं का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा।
- संविधान की स्थापना के बाद 15 वर्षों तक अर्थात 1965 तक संघ की भाषा के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता था और संसद को यह अधिकार दिया गया था कि, वह चाहे तो संघ की भाषा के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग की अवधि को बढ़ा सकती है।
- संसद ने 1963 में राजभाषा अधिनियम, 1963 पारित करके यह व्यवस्था कर दी कि संघ भाषा के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग 1971 तक करता रहेगा। इस नियम में संशोधन करके यह व्यवस्था कर दी गई है कि संघ की भाषा के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग अनिश्चित काल तक रहेगा।

राजभाषा आयोग

- संविधान के अनुच्छेद 344 में, राष्ट्रपति को राजभाषा आयोग का गठन करने का अधिकार दिया गया है।
- राष्ट्रपति अपने इस अधिकार का प्रयोग प्रत्येक दस वर्ष की अवधि के पश्चात करेंगे।
- राजभाषा आयोग में उन भाषाओं के प्रतिनिधियों को शामिल किया जाएगा, जो संविधान की आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।

राजभाषा आयोग के कार्य

- राजभाषा आयोग का कर्तव्य निम्नलिखित विषयों पर राष्ट्रपति को सिफारिश देना होता है–
  - संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा के अधिकाधिक प्रयोग के विषय में।
  - संघ के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग के निर्बंधन के विषय में,
  - उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में और संघ तथा राज्य के अधिनियमों तथा उनके अधीन बनाए गए नियमों में प्रयोग की जाने वाली भाषा के विषय में,
  - संघ के किसी एक या अधिक उल्लिखित प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों के विषय में,
  - संघ की राजभाषा तथा संघ और किसी राज्य के बीच अथवा एक राज्य तथा दूसरे राज्य के बीच पत्राचार की भाषा तथा उनके प्रयोग के विषय में, और
  - संघ की राजभाषा के बारे में या किसी अन्य विषय में जो राष्ट्रपति आयोग को सौंपे।

राजभाषा पर संयुक्त संसदीय समिति

- राजभाषा आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए संसदीय समिति का गठन किया जाता है, इस समिति में लोकसभा के 20 तथा राज्यसभा के 10 सदस्यों को शामिल किया जाता है।
- संसदीय समिति राजभाषा आयोग द्वारा की गई सिफारिशों का पुनरीक्षण करती है।

प्रादेशिक भाषाएँ

- संविधान में विभिन्न राज्यों में प्रयोग की जाने वाली भाषाओं के संबंध में निम्न उपबंध किए गए।

राज्य की राजभाषा या राजभाषाएँ

- संविधान के अनुच्छेद 345 के अधीन प्रत्येक राज्य के विधानमंडल को यह अधिकार दिया गया है कि, वह संविधान की आठवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट भाषाओं में से किसी एक या एक से अधिक को सरकारी कार्यों के लिए राज्य की भाषा के रूप में अंगीकार कर सकता है।

राज्य व राज्य/संघ के बीच संवाद के लिए राजभाषा

- अनुच्छेद 346 के अनुसार, संघ व राज्यों के मध्य तथा विभिन्न राज्यों के मध्य संपर्क भाषा के रूप में संघ की राजभाषा तत्समय प्राधिकृत भाषा का

प्रयोग होगा, परन्तु दो या दो से अधिक राज्य अगर सहमत हों तो परस्पर संवाद के लिए हिन्दी के प्रयोग के लिए स्वतंत्र होंगे।

राज्य की जनसंख्या के किसी समूह द्वारा बोली जाने वाली भाषा

- अल्पसंख्यकों के भाषाई हितों को सुरक्षित रखने हेतु राष्ट्रपति राज्य को उसके (किसी राज्य की जनसंख्या के पर्याप्त भाग के) द्वारा बोली जाने वाली भाषा को मान्यता देने का निर्देश (राज्य द्वारा माँग किए जाने पर) दे सकता है। यह प्रावधान अनुच्छेद 247 के अंतर्गत है।

उच्चतम और उच्च न्यायालयों तथा अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा

- संविधान में प्रावधान किया गया है कि, जब तक संसद द्वारा कानून बनाकर अन्यथा प्रावधान न किया जाए, तब तक उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी होगी और संसद तथा राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित कानून अंग्रेजी में होंगे।
- किसी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति से हिन्दी या राज्य की किसी अन्य भाषा को उच्च न्यायालय की भाषा का दर्जा दे सकता है, परन्तु यह न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय, डिक्री व आदेश पर लागू नहीं होगा।
- राज्य विधानसभा में विधेयकों, अधिनियमों, अध्यादेशों, आदेशों, नियमों आदि में अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी भी भाषा के प्रयोग को निर्धारित किया जा सकता है,परन्तु अंग्रेजी में सबका प्रकाशन अनिवार्य है।

विशेष निर्देश

- संविधान में भाषाई अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा व हिन्दी भाषा के उत्थान के लिए कुछ विशिष्ट निर्देश दिए गए हैं।

भाषाई अल्पसंख्यकों की सुरक्षा

- प्रत्येक पीड़ित व्यक्ति अपनी शिकायत के निवारण हेतु संघ अथवा राज्य के किसी अधिकारी को संघ अथवा उस राज्य की राजभाषा में आवेदन कर सकता है।
- प्रत्येक राज्य अथवा स्थानीय प्राधिकरण को राज्य में भाषाई अल्पसंख्यक समूह के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में देने हेतु उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध करानी होंगी।
- भाषाई अल्पसंख्यकों की जाँच और उनकी रिपोर्ट के लिए राष्ट्रपति को एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए। राष्ट्रपति द्वारा यह रिपोर्ट संसद तथा संबंधित राज्य सरकारों को भेजी जानी चाहिए।

हिन्दी : राष्ट्रभाषा नहीं

- सामान्यत: हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है, परन्तु आधिकारिक रूप में इसे ऐसा कोई दर्जा प्राप्त नहीं है।
- गुजरात उच्च न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह स्पष्ट कर दिया है कि, हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किए जाने की कोई औपचारिक अधिसूचना उपलब्ध नहीं है।
- संविधान के अनुच्छेद 343 में, हिन्दी को संघ की केवल राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है।

स्मरणीय तथ्य	
संघ की भाषा (Language of the Union)	
अनुच्छेद 344	राजभाषा के संबंध में आयोग और संसद की समिति।
प्रादेशिक भाषाएं (Regional Languages)	
अनुच्छेद 345	राज्य की राजभाषा या राजभाषाएँ।
अनुच्छेद 346	एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा।
अनुच्छेद 347	किसी राज्य की जनसंख्या के किसी अनुभाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा के संबंध में विशेष उपबंध।
उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों आदि की भाषा (Language of the Supreme Court, High Courts etc.)	
अनुच्छेद 348	उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में और अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा।
अनुच्छेद 349	भाषा से संबंधित कुछ विधियां अधिनियमित करने के लिए विशेष प्रक्रिया।
विशेष निदेश (Special Directives)	
अनुच्छेद 350	व्यथा के निवारण के लिए अभ्यावेदन में प्रयोग की जाने वाली भाषा।
अनुच्छेद 350(क)	प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएँ।
अनुच्छेद 350(ख)	भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी।
अनुच्छेद 351	हिन्दी भाषा के विकास के लिए निदेश।

संविधान संशोधन
(Constitutional Amendments)

संविधान एक गतिशील अवधारणा है, जिसमें बदलती परिस्थितियों के अनुरूप विकास की सम्भावनाओं को भी जगह दी जाती है। संविधान का विकास मुख्यत: परम्पराओं द्वारा, न्यायिक व्याख्या द्वारा तथा संविधान संशोधन की पद्धति के द्व ारा होता है। परम्पराएँ और प्रथाएँ राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप को निर्धारित करती हैं। न्यायिक समीक्षा के अंतर्गत उच्चतम न्यायालयों द्वारा समय-समय पर, संवैधानिक समस्याओं की व्याख्या भी की गई है, किंतु लिखित संविधान के विकास का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत 'औपचारिक संशोधन' ही है, जिसके द्वारा संविधान में नई परिस्थितियों के अनुरूप नए उपबन्धों को स्थापित कर संविधान को व्यावहारिक बनाया जाता है। भारतीय संविधान के **भाग-20** के अंतर्गत, **अनुच्छेद 368** में संविधान संशोधन से संबंधित प्रक्रिया का विस्तृत उपबंध है।

संविधान संशोधनों के प्रकार (Types of Constitutional Amendments)

संविधान के संशोधन हेतु किसी विधेयक को संसद की प्रक्रिया की दृष्टि से भारतीय संविधान के अनुच्छेदों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

साधारण बहुमत-

- वे अनुच्छेद, जिन्हें संसद में साधारण बहुमत से संशोधित किया जा सकता है। साधारण बहुमत से किए गए संशोधन को संविधान संशोधन नहीं कहा जाता।

विशेष बहुमत-

- वे अनुच्छेद, जिन्हें संसद में **दो-तिहाई** (2/3) बहुमत से संशोधित किया जा सकता है।
- वे अनुच्छेद, जिन्हें संसद में **दो-तिहाई** (2/3) बहुमत के साथ भारत के **आधे राज्यों** के विधानमंडलों के संकल्पों की स्वीकृति द्वारा संशोधित किया जा सकता है।
- विशेष बहुमत से किए गए संशोधन को संविधान संशोधन कहा जाता है।

संविधान संशोधन की प्रक्रिया (Process of Constitutional Amendments)

- संविधान के संशोधन का आरंभ संसद के किसी सदन में किया जा सकता है। इस प्रयोजन के लिए विधेयक संसद में पुर:स्थापित करके ही किया जा सकेगा, राज्य विधानमंडल में नहीं।
- विधेयक को किसी मंत्री या गैर-सरकारी सदस्य द्वारा पुर:स्थापित किया जा सकता है और इसके लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक नहीं है।
- विधेयक को दोनों सदनों में विशेष बहुमत से पारित कराना अनिवार्य है। यह बहुमत (50 प्रतिशत से अधिक) सदन की कुल सदस्य संख्या के आधार पर सदन में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत या मतदान द्व ारा होना चाहिए।
- प्रत्येक सदन में विधेयक को अलग-अलग पारित कराना अनिवार्य है। दोनों सदनों के बीच असहमति होने पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विधेयक को पारित कराने का प्रावधान नहीं है।
- यदि विधेयक संविधान की संघीय व्यवस्था के संशोधन के मुद्दे पर हो तो इसे आधे राज्यों के विधानमंडलों से भी सामान्य बहुमत से पारित होना चाहिए। यह बहुमत सदन में उपस्थित सदस्यों के बीच मतदान के तहत हो।
- संसद के दोनों सदनों से पारित होने एवं राज्य विधानमंडलों की संस्तुति के बाद जहाँ आवश्यक हो, फिर राष्ट्रपति के पास सहमति के लिए भेजा जाता है।
- राष्ट्रपति विधेयक को सहमति देंगे। वे न तो विधेयक को अपने पास रख सकते हैं और न ही संसद के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं।
- राष्ट्रपति की सहमति के बाद विधेयक एक अधिनियम बन जाता है। (संविधान संशोधन अधिनियम) और संविधान में अधिनियम की तरह इसका समावेश कर लिया जाएगा।

साधारण बहुमत द्वारा संशोधन प्रक्रिया

संविधान में कई ऐसे उपबंध हैं, जिनके संशोधन के लिए किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। अभिप्राय है कि इन अनुच्छेदों के संशोधन के लिए संसद के दोनों सदनों में केवल साधारण बहुमत की आवश्यकता पड़ती है।

- नए राज्यों का प्रवेश या गठन।
- नए राज्यों का निर्माण और उसके क्षेत्र, सीमाओं या संबंधित राज्यों के नामों का परिवर्तन।
- राज्य विधानपरिषद का निर्माण या उसकी समाप्ति।
- दूसरी अनुसूची- राष्ट्रपति, राज्यपाल, लोकसभा अध्यक्ष, न्यायाधीश आदि के लिए परिलब्धियां, भत्ते, विशेषाधिकार आदि।
- संसद में गणपूर्ति।
- संसद सदस्यों के वेतन एवं भत्ते।
- संसद में प्रक्रिया नियम।
- संसद, इसके सदस्यों और इसकी समितियों को विशेषाधिकार।
- संसद में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग।
- उच्चतम न्यायालयों में अवर न्यायाधीशों की संख्या।
- उच्चतम न्यायालय के न्यायक्षेत्र को ज्यादा महत्व प्रदान करना।
- राजभाषा का प्रयोग।
- नागरिकता की प्राप्ति एवं समाप्ति।
- संसद एवं राज्य विधानमंडल के लिए निर्वाचन।
- निर्वाचन क्षेत्रों का पुनर्निर्धारण।
- केंद्रशासित प्रदेश।
- पांचवीं अनुसूची- अनुसूचित क्षेत्रों एवं अनुसूचित जनजातियों का प्रशासन।
- छठी अनुसूची- जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन।

संविधान संशोधन विधेयकों के लिए संयुक्त अधिवेशन नहीं

संविधान संशोधन विधेयक पारित करने की प्रक्रिया साधारण विधेयकों के पारित करने की प्रक्रिया से भिन्न है। अनुच्छेद 108 के अंतर्गत, किसी विधेयक को पारित करने के सम्बन्ध में दोनों सदनों के मध्य उत्पन्न गतिरोध को दूर करने हेतु राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाए जाने का प्रावधान है। यह प्रावधान संविधान के संशोधन सम्बन्धी विधेयकों के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। अर्थात यह विधेयक दोनों सदनों में अलग-अलग पारित होना आवश्यक है।

संसद के विशेष बहुमत द्वारा संशोधन प्रक्रिया

संशोधन का प्रस्ताव किसी भी सदन में रखा जा सकता है, किंतु उसे पारित तब माना जाएगा, जब संसद के दोनों सदनों द्वारा दो-तिहाई बहुमत से उसका अनुमोदन कर दिया जाए।

संविधान की इस संशोधन प्रक्रिया में प्रत्येक सदन में सदस्यों की कुल संख्या का बहुमत तथा उस सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।
इस तरह से संशोधन व्यवस्था में शामिल है-

- मूल अधिकार।
- राज्य के नीति निदेशक तत्व।
- वे सभी उपबंध, जो प्रथम एवं तृतीय श्रेणियों से संबद्ध नहीं है।

दो-तिहाई बहुमत तथा राज्य विधान मंडलों की स्वीकृति द्वारा संशोधन प्रक्रिया

जिन उपबंधों का संबंध केंद्र और राज्यों दोनों के ही अधिकार क्षेत्र से है, उनमें संशोधन न तो केंद्र कर सकता है और न ही राज्य। इस प्रकार की संशोधन प्रक्रिया में केंद्र और राज्य दोनों की स्थिति महत्वपूर्ण होने के कारण यह प्रक्रिया अत्यंत जटिल मानी जाती है।
संशोधन की इस प्रक्रिया में संविधान के कुछ ऐसे अनुच्छेद आते हैं, जिनमें संशोधन करने के लिए संसद के दो-तिहाई बहुमत के साथ-साथ भारत के कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। निम्न अनुच्छेदों के संशोधन में यह प्रक्रिया अपनाई जाती है-

- ***अनुच्छेद 54***- राष्ट्रपति का निर्वाचन।
- ***अनुच्छेद 55***- राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि।
- ***अनुच्छेद 73***- संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार।
- ***अनुच्छेद 162***- राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार।
- ***अनुच्छेद 241***- संघ-राज्य क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय।
- ***अनुच्छेद 279(A)***- GST का प्रावधान संबंधित क्षेत्र। GST परिषद, केंद्र एवं राज्य सरकारों का संयुक्त मंच होगा।
- संघीय न्यायपालिका।
- राज्यों के लिए उच्च न्यायालय।
- संघ-राज्य संबंध।
- सातवीं अनुसूची का कोई भी विषय।
- संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व।
- संविधान संशोधन से संबंधित अनुच्छेद 368।

संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयक के विषय में राष्ट्रपति की अनुमति को औपचारिकता बनाए रखा गया है। ताकि यह ज्ञात हो सके कि, संशोधन विधेयक किस तिथि से संविधान के भाग के रूप में प्रवृत्त हुआ है। राष्ट्रपति के पास संशोधन विधेयक के संदर्भ में वीटो का अधिकार नहीं है। गोलकनाथ मामले (1967) के प्रतिक्रिया स्वरूप लागू किया गया। अनुच्छेद 368(2) के अंतर्गत, "अनुमति देगा" शब्दों से राष्ट्रपति की वीटो सम्बन्धी शक्ति समाप्त हो गई।
न्यायालय ने अपनी व्याख्याओं में संविधान के कुछ आधारिक लक्षणों को स्पष्ट किया है, जिन्हें अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित नहीं किया जा सकता। यदि संविधान संशोधन अधिनियम लाने का उद्देश्य संविधान की आधारिक संरचना अथवा ढाँचे में परिवर्तन लाना हो तो न्यायालय को उक्त अधिनियम को शून्य घोषित करने की शक्ति होगी, क्योंकि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' का अभिप्राय ऐसे परिवर्तन से है, जो संविधान के मूल ढाँचे को प्रभावित नहीं करता है और ऐसा करना नया संविधान बनाने के तुल्य होगा। न्यायालय की विभिन्न व्याख्याओं में संविधान के निम्न आधारभूत लक्षणों की चर्चा की गई है।

- संविधान की सर्वोच्चता।
- विधि का शासन।
- शक्ति के पृथक्करण का सिद्धांत।
- संविधान की प्रस्तावना में घोषित उद्देश्य।
- न्यायिक पुनर्विलोकन।
- परिसंघवाद।
- पंथनिरपेक्षता।
- प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतांत्रिक गणराज्य की संरचना।
- व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा।
- राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता।
- समता का सिद्धांत।
- भाग-3 के अन्य मौलिक अधिकारों का सार।
- सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की संकल्पना लोक कल्याणकारी राज्य का सृजन।
- मौलिक अधिकार और निदेशक तत्वों के मध्य संतुलन।
- संसदीय प्रणाली का शासन।
- स्वतंत्रता एवं निष्पक्ष निर्वाचन का अधिकार।
- अनुच्छेद 368 के द्वारा संशोधनकारी शक्ति पर लगाए गए निर्बन्धन।
- न्यायपालिका की स्वतंत्रता, तथा।
- न्याय का वास्तव में सुलभ होना।

संविधान संशोधन प्रक्रिया पर केन्द्र की स्थिति

24वें संशोधन के अनुसार, जब कोई संशोधन विधेयक संसद में दोनों सदनों द्व ारा पारित हो जाता है, तो राष्ट्रपति उस पर किसी भी स्थिति में अपनी स्वीकृति नहीं रोकेगा। केशवानंद भारती मामले (1972-73) में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय अनुच्छेद 368 द्वारा संविधान संशोधन के प्रावधान की स्वतंत्रता को कम करता है। इसके अनुसार, संविधान के मूल ढाँचे में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। न्यायालय द्वारा लिए गए निर्णय को सरकार चुनौती के रूप में नहीं ले सकती है। इससे स्पष्ट है कि, संविधान केन्द्र के हाथों का खिलौना नहीं है। जब भी केन्द्र संविधान की परिधि से बाहर जाने की कोशिश करता है, न्यायालय का निर्णय उसे पुन: संविधान के दायरे में ला खड़ा करता है।

मूल अधिकारों में संशोधन (Amendment in Fundamental Rights)

मूल अधिकारों में संशोधन काफी वाद-विवाद का विषय रहा है, इसके परिण ामस्वरूप न्यायपालिका और संसद दोनों के मत में समय-समय पर बदलाव देखा गया है। इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न निम्नलिखित है-

- मूल अधिकार संशोधनीय हैं या नहीं अर्थात क्या संसद संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार को समाप्त कर सकती है?
- संविधान संशोधन के संदर्भ में संसद का अधिकार, उसकी सीमा और विस्तार क्या है?

उच्चतम न्यायालय द्वारा समय-समय पर इस संदर्भ में तर्क प्रस्तुत किया गया है। इसे निम्नलिखित मामलों तथा परिणाम संसदीय प्रतिक्रिया के आलोक में समझा जा सकता है।

शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ वाद, 1951

- 1951 में, संविधान के प्रवृत्त होने के एक वर्ष के भीतर, प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम को पारित किया गया। इस अधिनियम से अनुच्छेद 31 द्वारा प्रत्याभूत संपत्ति के अधिकार को सीमित किया गया। इस संशोधन की संवैधानिकता पर शंकरी प्रसाद वाद में प्रश्नचिन्ह लगाया गया।
- याचिकाकर्ता ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि, अनुच्छेद 13(2) राज्य को ऐसी विधि निर्माण के लिए प्रतिषिद्ध करता है, जो मूल अधिकार को समाप्त या न्यून करती है।

- अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त शब्द विधि के अधीन, सभी अधिनियम आते हैं अर्थात उसमें संविधान संशोधन भी सम्मिलित है। इस तर्क को अस्वीकार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए जो संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया जाता है। वह अनुच्छेद 13(2) के अंतर्गत विधि नहीं है। न्यायालय ने यह व्यवस्था दी कि इस अनुच्छेद में विधि का अर्थ है, सामान्य विधि, संविधान संशोधन अधिनियम नहीं (अर्थात सांविधिक विधि नहीं)।
- मूल अधिकार अनुच्छेद 368 के अधीन, संसद की संशोधन करने की शक्ति के अधीन है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाए तो, यह कहना उचित होगा कि सामान्य विधियों से मूल अधिकारों का संशोधन नहीं किया जा सकता, किन्तु संवैधानिक विधियों द्वारा किया जा सकता है।

सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य वाद, 1965

- 17वें संशोधन अधिनियम, 1964 की वैधता, को उसी आधार पर चुनौती दी गई, जैसे शंकरी प्रसाद मामले में दी गई थी।
- सज्जन सिंह वाद में उच्चतम न्यायालय अपने पूर्ववर्ती शंकरी प्रसाद वाले निर्णय पर दृढ़ रहा।

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य वाद, 1967

- 1967 में न्यायालय ने गोलकनाथ में अपने पूर्ववर्ती विनिश्चियों को उलट दिया। बहुमत ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि, संविधान ने मूल अधिकारों को एक सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है।
- अनुच्छेद 368 के अधीन कार्य करते हुए संसद या किसी अन्य प्राधिकारी को यह शक्ति नहीं है कि, वह मूल अधिकारों को न्यून करे या समाप्त कर सके। न्यायालय ने विधायी शक्ति और संविधान संशोधन की शक्ति के बीच भेद करने से इंकार कर दिया।
- यह निर्णय 11 न्यायाधीशों के पीठ द्वारा दिया गया- जिसमें गया। यह माना कि मूल अधिकारों के संशोधन के बारे में जो मत पहले प्रकट किया गया है, वह ठीक नहीं है अर्थात मूल अधिकारों का संशोधन 368 के अंतर्गत नहीं किया जा सकता है।

गोलकनाथ वाद की प्रतिक्रियास्वरूप संसद ने 24वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1971 पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 में खंड (4) और अनुच्छेद 368 में एक नया खंड (1) अंत:स्थापित किया गया। इस संशोधन द्वारा यह घोषणा की गई कि, अनुच्छेद 368 के अनुसार पारित संविधान का संशोधन अनुच्छेद 131 के अंतर्गत विधि नहीं होगा। इस प्रकार, अनुच्छेद 13 संविधान का संशोधन करने वाले विधि अधिनियमों पर लागू नहीं होगा।

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वाद, 1973

- 1973 में केशवानंद भारती वाद में यह विषय फिर से उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया। इस मामले में उठाए गए विभिन्न प्रश्नों में से एक, अनुच्छेद 368 के तहत, संसद के संविधान संशोधन की शक्ति की सीमा का प्रश्न था। उच्चतम न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश, एस. एम. सीकरी की अध्यक्षता में 13 न्यायाधीशों की एक संवैधानिक पीठ ने, इस मामले को संचालित किया। बहुमत (7 न्यायाधीश) ने 24वें संविधान संशोधन अधिनियम को विधिमान्य ठहराते हुए गोलकनाथ वाद में दिए निर्णय को उलट दिया। किन्तु, साथ ही एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया।
- न्यायालय ने यह कहा कि, संसद मूल अधिकारों वाले भाग का संशोधन करने के लिए उतनी ही सक्षम है, जितनी कि संविधान के किसी अन्य भाग को, किन्तु संविधान का संशोधन करके संसद संविधान के मूल ढाँचे (आधारिक संरचना/ आधारभूत लक्षण) को न तो संक्षिप्त कर सकती है, न ही समाप्त कर सकती है और न ही नष्ट कर सकती है।
- गोलकनाथ वाद के पश्चात किसी भी मूल अधिकार को न तो छीना जा सकता था और न ही न्यून किया जा सकता था। केशवानंद वाद के पश्चात न्यायालय को यह विनिश्चय करता है कि कोई मूल अधिकार मूल ढाँचा है या नहीं। यदि वह मूल ढाँचा है तो कदापि हटाया नहीं जा सकता।

गोलकनाथ में सर्वोच्च न्यायालय ने शंकरी प्रसाद और सज्जन सिंह वाद में दिए निर्णय को उलट दिया। बाद में केशवानंद मामले में गोलकनाथ वाद में दिए निर्णय को पलट दिया गया।

42वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1976

- संसद ने अनुच्छेद 368 में, संशोधन कर उपरोक्त निर्णय पर पुन: प्रतिक्रिया व्यक्त की। घोषणा की गई कि संसद की संविधान संशोधन करने की संवैधानिक शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बंधन नहीं है और संविधान का कोई भी संशोधन किसी भी न्यायालय में किसी भी आधार (मूल अधिकारों में से किसी के उल्लंघन सहित) पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है।
- इस प्रकार न्यायपालिका ने जो मूल ढाँचे का सिद्धांत (केशवानंद भारती वाद) दिया, उसे विनष्ट करने के लिए 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा अनुच्छेद 368 में खंड (4) अंत:स्थापित किया गया। इस खंड का उद्देश्य **न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति पर अंकुश लगाना था।**
- इस खंड से यह अधिनियमित किया गया कि, संविधान के (जिसके अंतर्गत भाग-3 के उपबंध है) इस अनुच्छेद के अधीन किया गया कोई संशोधन किसी न्यायालय में किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।

मिनर्वा मिल्स वाद, 1980

- उच्चतम न्यायालय ने मिनर्वा मिल्स वाद में यह अभिनिर्धारित किया कि, 42वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31(ग) में किया गया संशोधन अविधिमान्य है, क्योंकि इससे संविधान के मूल ढाँचे को क्षति पहुंचती है।
- अनुच्छेद 368 का खंड 4 और 5 अविधिमान्य है, क्योंकि वे संविधान के दो मूल ढांचे का उल्लंघन करते हैं। न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति से वंचित नहीं किया जा सकता है।

वामन राव बनाम भारत संघ वाद, 1981

इस मामले में न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि, मूल ढाँचे का सिद्धांत 24 अप्रैल, 1973 (केशवानंद भारती वाद में निर्णय सुनाए जाने की तारीख) के पश्चात पारित संविधान संशोधन अधिनियमों पर लागू होगा।

निष्कर्ष

इन संशोधनों और विनिश्चयों का परिणाम यह है कि-

- मूल अधिकारों का संशोधन किया जा सकता है।
- प्रत्येक मामले में न्यायालय यह विचार करेगा कि, क्या मूल अधिकारों के संशोधन से संविधान के किसी आधारिक लक्षण (मूल ढाँचे) का निराकरण या विनाश या क्षय हो रहा है। यदि इसका उत्तर 'हाँ' में है तो संशोधन उस विस्तार तक शून्य होगा।
- हालांकि, उच्चतम न्यायालय द्वारा भारतीय संविधान के 'मूल ढाँचे' के सभी विशेषताओं को परिभाषित करना और उसकी स्पष्ट व्याख्या करना अभी शेष है।

संविधान संशोधन का महत्व (Significance of Constitutional Amendments)

- संविधान कोई साध्य न होकर साध्य की प्राप्ति हेतु साधन मात्र है। अत: उसे समय एवं राज्य की आवश्यकताओं का प्रतिरूप होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्रांतिकारी दौर में कोई भी संविधान अनन्य स्थायित्व का दावा करते हुए कह नहीं सकता कि, वह परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल होने की क्षमता भी रखता है।
- संविधान के अंतर्गत, वर्णित आदर्शों, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संविधान के उन उपबंधों में संशोधन करना आवश्यक है, जो उनसे मेल नहीं खाते।
- सामाजिक-आर्थिक न्याय की प्राप्ति हेतु परम्परावादी मान्यताओं में शांतिपूर्ण परिवर्तन संविधान संशोधन के माध्यम से ही सम्भव है।
- संविधान संशोधन के माध्यम से उसमें कोई नई बात अथवा किसी नए तथ्य को समाविष्ट किया जाता है।
- संविधान को जन-आकांक्षाओं, इच्छाओं एवं आवश्यकताओं का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। वर्तमान संविधान यदि मौजूदा आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने में अक्षम है तो उसमें यथोचित परिवर्तन कर देना चाहिए।

संविधान संशोधन के प्रक्रिया की आलोचना (Criticism of the process of Consititutional Amendments)

- भारत में संविधान संशोधन के लिए कोई विशेष निकाय नहीं है।
- संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में, जहाँ पर एक विशेष संस्था (एमेंडमेंट कन्वेंशन) है, भारत के लिए भी संशोधन हेतु एक विशेष संस्था होनी चाहिए।
- राज्य विधानमंडल, संविधान संशोधन विधेयक को प्रारंभ नहीं कर सकते (अमेरिका के विपरीत)। यह भारत के संघीय संरचना के आधार पर की जाने वाली आलोचना है। उपर्युक्त बिन्दु में भी एक अपवाद है। (राज्य विधानमंडल राज्य विधान परिषद के सृजन और उत्सादन के लिए प्रस्ताव ला सकते हैं) यहाँ भी संसद इसे या तो पारित कर सकती है या नहीं या इस पर कोई कार्यवाही नहीं कर सकती है।
- राज्य विधानमंडल द्वारा अनुसमर्थन और अस्वीकृति के लिए कोई समय-सीमा नहीं निर्धारित की गई है।
- किसी संविधान संशोधन अधिनियम के संदर्भ में गतिरोध हो तो संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई प्रावधान नहीं है, जो कि साधारण विधेयक के मामले में उपलब्ध है।
- संशोधन प्रक्रिया से संबद्ध व्यवस्था बहुत अपर्याप्त है, अत: इन्हें न्यायपालिका को संदर्भित करने के व्यापक अवसर प्राप्त हो जाते हैं, जिसे हमने ऊपर देखा है। इसने न्यायपालिका और संसद के मध्य टकराव को बढ़ाया है, जिससे भारतीय राजव्यवस्था का संतुलन कमजोर हुआ है।

प्रमुख संविधान संशोधन (Main Constitutional Amendments)

- ***पहला संशोधन (1951)–*** इस संशोधन द्वारा दो नए अनुच्छेद 13(क) और 13(ख) तथा नवीं अनुसूची को शामिल किया गया, ताकि भूमि सुधार कानूनों को न्यायालय में चुनौती न दी जा सके। अनुच्छेद 15(4) जोड़ा गया।
- ***सातवां संशोधन (1956)–*** राज्यों का 4 वर्गों में विभाजन समाप्त कर उन्हें 14 राज्यों और 6 केन्द्रशासित प्रदेशों में विभक्त कर दिया गया। इस संशोधन द्वारा यह भी व्यवस्था हुई है कि, एक ही व्यक्ति दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है।
- ***नौंवा संशोधन (1960)–*** प्रथम अनुसूची में आवश्यक परिवर्तन करके बेरुबाड़ी क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) को दे दिया गया।
- ***दसवां संशोधन (1961)–*** दादरा और नागर हवेली को भारतीय संघ में शामिल कर उन्हें संघीय क्षेत्र की स्थिति प्रदान की गई।
- ***12वां संशोधन (1962)–*** गोवा, दमन और दीव का भारतीय संघ में एकीकरण किया गया।
- ***13वां संशोधन (1962)–*** 1 दिसम्बर, 1963 को नागालैण्ड को एक राज्य की स्थिति प्रदान की गई। संघ राज्य क्षेत्रों में लोकसभा में सदस्यों की अधिकतम संख्या 20 से बढ़ाकर 25 कर दी गई।
- ***14वां संशोधन (1962)–*** पाण्डिचेरी को संघ राज्य क्षेत्र के रूप में प्रथम अनुसूची में जोड़ा गया।
- ***18वां संशोधन (1966)–*** पंजाब और हिमाचल प्रदेश संघ राज्य क्षेत्रों के पुनर्गठन के लिए संसद को शक्ति प्रदान करना।
- ***21वां संशोधन (1967)–*** आठवीं अनुसूची में सिन्धी भाषा को भी भारतीय भाषाओं के अंतर्गत सम्मिलित कर लिया गया।
- ***22वां संशोधन (1969)–*** संसद ने मेघालय को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में स्थापित करने की शक्ति प्रदान की गई। दो नए अनुच्छेद 244(क) और 371(ख) (असम के कबाइली क्षेत्रों के लिए) जोड़े गए।
- ***24वां संशोधन (1971)–*** यह संशोधन गोलकनाथ के मामले में उत्पन्न स्थिति के संदर्भ में पारित हुआ। तदनुसार, इस अधिनियम के द्वारा मूल अधिकारों सहित संविधान में संशोधन करने के संसद के अधिकारों के बारे में सभी प्रकार के संदेहों को दूर करने के लिए अनुच्छेद 13 और अनुच्छेद 368 में संशोधन किया गया।
- ***27वां संशोधन (1971)–*** उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के पाँच राज्यों-असम, नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर एवं त्रिपुरा तथा दो संघीय क्षेत्रों-मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश का गठन किया गया।
- ***31वां संशोधन (1973)–*** इस संशोधन अधिनियम के द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ लोकसभा में राज्यों के प्रतिनिधियों की अधिकतम संख्या 500 से बढ़ाकर 525 तथा संघ राज्य क्षेत्रों के सदस्यों की अधिकतम संख्या को 25 से घटाकर 20 किया गया।
- ***36वां संशोधन (1975)–*** सिक्किम को भारतीय संघ में 22वें राज्य के रूप में प्रवेश दिया गया।
- ***42वां संशोधन (1976)–*** यह, संविधान में किए गए अब तक के संशोधनों में सबसे व्यापक संशोधन है। इस संविधान संशोधन में एक प्रकार से संपूर्ण संविधान का पुनरीक्षण किया गया। इसकी व्यापकता को दृष्टिगत करते हुए ही इसे **'लघु संविधान'** कहा जाता है। मुख्यत: यह संशोधन **'स्वर्ण सिंह आयोग'** की सिफारिशों को लागू करने के लिए किया गया था। संवैधानिक संशोधन में कुल 59 प्रावधान थे और यह भारतीय संविधान का सर्वाधिक व्यापक एवं विवादास्पद संवैधानिक संशोधन था।

इस संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में 'प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य' शब्दों के स्थान पर 'प्रभुत्व संपन्न समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य' शब्द और 'राज्य की एकता' शब्दों के स्थान पर 'राष्ट्र की एकता और अखण्डता' शब्द स्थापित किए गए। इसके अतिरिक्त मौलिक अधिकार, राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत, संघीय कार्यपालिका, संसद, संघीय न्यायपालिका, भारत का नियंत्रक-महालेखा परीक्षक, राज्य कार्यपालिका, राज्य विधान मंडल, उच्च न्यायालय, संघ तथा राज्यों के संबंध, लोक सेवा, आपात उपबंध, संविधान संशोधन, सातवीं अनुसूची आदि से संबद्ध उपबंधों का संशोधन किया गया। इस अधिनियम द्वारा लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया गया।

तत्कालीन शासक वर्ग के द्वारा इस संवैधानिक संशोधन के चाहे जो भी लक्ष्य और उद्देश्य बतलाए गए हों, वस्तुतः इसका सर्वप्रमुख उद्देश्य प्रधानमंत्री एवं कार्यपालिका के हाथ में अधिकाधिक शक्ति का संकेन्द्रण था।

44वां संशोधन (1978)– इस संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार से हटाकर केवल संवैधानिक अधिकार बना दिया गया। संविधान के इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद-352 के अंतर्गत, आपात उपबंधों में 'आंतरिक अशांति' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द का प्रयोग किया गया। अनुच्छेद 74 में यह उपबंध जोड़ा गया कि "राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से किसी परामर्श पर साधारण रूप से या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा करेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात दिए गए परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।"

अनुच्छेद 356 को संशोधित करके किसी भी राज्य में राष्ट्रपति द्वारा प्रशासन की अवधि, एक समय में एक वर्ष से घटाकर 6 महीने कर दी गई।

छठी लोकसभा चुनाव के दौरान जनता पार्टी ने घोषणापत्र में कहा था कि, वह 42वें संवैधानिक संशोधन के प्रावधानों को रद्द कर देगी, लेकिन सत्ता में आने के पश्चात इसे रद्द करने के बजाए इसके संदर्भ में गुण-अवगुण के आधार पर व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया गया। 42वां संशोधन, 1976 के कुछ प्रावधान 44वें संशोधन 1978 में रद्द कर दिए गए तथा कुछ नए तथ्य संविधान में जोड़े गए। कुल मिलाकर 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा भारतीय संविधान को फिर से सामान्य स्थिति में लाने का प्रयास किया गया है।

44वें संशोधन का महत्व

भारतीय संविधान संशोधन के इतिहास में 44वें संशोधन, 1978 का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इस संशोधन के द्वारा न केवल 42वें संशोधन की आपत्तिजनक बातों को रद्द किया गया, बल्कि मूल अधिकार तथा आपातकालीन प्रावधानों में भी संशोधन कर नए तथ्य जोड़े गए।

संविधान संशोधन विधेयक व सामान्य विधेयक में अंतर

संवैधानिक सुधार विधेयक और अन्य विधेयकों में प्रमुख अंतर निम्न हैं–

- संविधान द्वारा राज्य विधानमंडलों को संवैधानिक सुधार विधेयक लाने का अधिकार नहीं दिया गया है। संविधान सुधार का अधिकार केवल केन्द्रीय विधानमंडल अर्थात संसद को है।
- संविधान सुधार विधेयक में संसद के दोनों सदनों में मतभेद होने पर संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। उल्लेखनीय है कि, इस संबंध में संसद के दोनों सदनों को बराबरी का अधिकार दिया गया है, जबकि अन्य विधेयकों के मामले में लोकसभा अपनी संख्यात्मक विशेषता के कारण लाभ की स्थिति में रहती है।
- संविधान सुधार विधेयक को स्वीकृति देने से राष्ट्रपति मना नहीं कर सकता तथा वह इसे पुनर्विचार के लिए भी सदन को नहीं लौटा सकता, जबकि अन्य विधेयकों में राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त होता है।

संपत्ति के मूल अधिकार को रद्द कर दिया गया। अब संपत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार है। इस संशोधन द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी गई है कि 'व्यक्ति के जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार (अनुच्छेद 21) को शासन के द्व ारा आपातकाल में भी स्थगित या सीमित नहीं किया जा सकता। आपातकालीन प्रावधानों का शासन द्वारा दुरुपयोग रोकने के लिए भी कुछ प्रावधान किए गए। मंत्रिमंडल द्वारा लिखित परामर्श के बाद ही राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा कर सकता है। यह आपातकाल युद्ध, बाहरी आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में ही घोषित किया जा सकेगा। मूल संविधान में सशस्त्र विद्रोह के स्थान पर आंतरिक अशांति शब्द का प्रयोग किया गया था। आपातकाल की घोषण ा के एक माह के अंदर संसद के विशेष बहुमत से इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी। 38वें संविधान संशोधन को रद्द कर दिया गया, जिसमें व्यवस्था की गयी थी कि राष्ट्रपति द्वारा 352वें अनुच्छेद के अंतर्गत की गई संकटकालीन घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि, वह मंत्रिमंडल की सलाह, जो उसे दी गई है, को पुनः मंत्रिमंडल के विचारार्थ वापस भेज सकता है तथा पुनः दी गई सलाह को मानने के लिए बाध्य होगा। राष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी विवाद को हल करने के लिए उच्चतम न्यायालय को अधिकार दिया गया। लोकसभा तथा विधानसभाओं की अवधि पुनः 5 वर्ष कर दी गई।

52वां संशोधन (1985)– संविधान में दसवीं अनुसूची जोड़ी गई। इसके द्वारा राजनीतिक दल-बदल पर कानूनी रोक लगाने का प्रयास किया गया।

53वां संशोधन (1986)– इसके द्वारा मिजोरम को राज्य की श्रेणी में रखा गया तथा अनुच्छेद 371(छ) को जोड़कर मिजोरम राज्य के लिए विशेष व्यवस्था की गई।

55वां संशोधन (1986)– अरुणाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया।

56वां संशोधन (1987)– इसमें गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने तथा 'दमन व दीव' को नया संघीय क्षेत्र बनाने की व्यवस्था की गई।

61वां संशोधन (1989)– मतदान की न्यूनतम आयु **21 वर्ष** से घटाकर **18 वर्ष** करने के लिए संविधान में अनुच्छेद 326 में संशोधन किया गया।

65वां संशोधन (1990)– इसके द्वारा अनुच्छेद 338 में संशोधन करके अनुसूचित जाति तथ जनजाति आयोग के गठन की व्यवस्था की गई।

71वां संशोधन (1992)– तीन और भाषाओं– **कोंकणी, मणिपुरी** और नेपाली को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया।

73वां संशोधन (1992)– संविधान में एक नया ***भाग-9*** तथा अनुच्छेद 243-243(यछ) तथा ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गई है और पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

74वां संशोधन (1992)– शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। एक नया भाग-**9(क)** और नई अनुसूची, **12वीं** अनुसूची जोड़कर शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

79वां संशोधन (1999)– अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की अवधि 25 जनवरी, 2010 ई॰ तक के लिए बढ़ा दी गई है।

80वां संशोधन (2000)– राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि हुई है। अब राज्यों को 'प्रत्यक्ष केन्द्रीय करों' से प्राप्त कुल धनराशि का **26 प्रतिशत** हिस्सा मिलेगा।

83वां संशोधन (2000)– अनुसूचित जनजातियों से पूरी तरह आबाद अरुणाचल प्रदेश की पंचायतों में अनुसूचित जातियों के लिए किसी प्रकार का आरक्षण करने की आवश्यकता नहीं है।

84वां संशोधन (2001)– इसमें 1976 के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम में निर्वाचन क्षेत्रों में परिसीमन पर लगे प्रतिबंध को हटाने का प्रावधान है तथा यह 1991 की जनगणना के आधार पर राज्य के भीतर परिसीमन की अनुमति प्रदान करता है। ज्ञातव्य है कि, 1976 में लगाया गया प्रतिबंध 2001 तक मान्य था। इसी प्रकार, इस विधेयक द्वारा संविधान के संबंधित अनुच्छेदों के प्रावधानों में भी संशोधन करते हुए लोकसभा एवं विधानसभा सीटों की संख्या-निर्धारण पर लगे प्रतिबंध को 2000 से **2026** तक बढ़ा दिया गया है। इस विधेयक द्वारा 2026 तक लोकसभा एवं राज्य विधानसभा की सीटों के राज्यवार विभाजन पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया है।

84वें संशोधन का महत्व

भारतीय संविधान का 84वां संशोधन, संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन से

संबंधित है। यह 1991 के जनगणना पर आधारित है, क्योंकि जो राज्य परिवार नियोजन का पालन कर रहें हैं, उनकी उपेक्षा न हो। इसलिए 2001 की जनगणना को इसका आधार नहीं बनाया गया है। अंतर्राज्यीय जल विवादों का निर्णय अनुच्छेद 262 द्वारा किया जाता है। अनुच्छेद 262 के अनुसार–संसद, विधि द्वारा किसी अंतर्राज्यिक जल प्रयोग वितरण या नियंत्रण के संबंध में किसी विवाद या परिवाद के न्याय निर्णय के लिए उपबंध कर सकेगी।

85वां संशोधन (2001)– सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के कर्मचारियों को पदोन्नति में आरक्षण की सुविधा।

86वां संशोधन (2002)– 6 से 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान।

88वां संशोधन (2003)– केन्द्र सरकार द्वारा सेवाकर की वसूली एवं उसका केन्द्र तथा राज्य सरकारों में वितरण।

89वां संशोधन (2003)– अनुसूचित जनजाति के लिए राष्ट्रीय आयोग का गठन।

92वां संशोधन (2003)– संविधान की आठवीं अनुसूची में बोडो, डोगरी, मैथिली और संथाली भाषाएँ सम्मिलित की गईं।

93वां संशोधन (2006)– शिक्षण संस्थानों में, अनुसूचित जाति/जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गों के नागरिकों के दाखिले के लिए सीटों के आरक्षण की व्यवस्था, संविधान के **अनुच्छेद 15** की धारा (4) के प्रावधानों के तहत की गई है।

94वां संशोधन (2006)– संविधान के अनुच्छेद 164 की धारा(1) के प्रावधान में बिहार के लिए झारखंड अलग कर दिया जाएगा।

95वां संशोधन (25 जनवरी, 2019)– अनुच्छेद 334 में संशोधन कर अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए लोकसभा एवं विधानसभाओं में आरक्षण की अवधि 60 वर्ष से 70 वर्ष बढ़ाया जाना।

96वां संशोधन (23 सितम्बर, 2011)– 8वीं अनुसूची में संशोधन कर 'उड़िया' शब्द के स्थान पर 'ओडिया' शब्द का प्रतिस्थापन।

97वां संशोधन (12 जनवरी, 2012)– अनुच्छेद 19(1)(ब) में संशोधन कर 'सहकारी समितियों' शब्द को जोड़ना। सहकारी समितियों को बढ़ावा देने हेतु अनुच्छेद-43(इ) को जोड़ा जाना एवं भाग 9 (ख) का जोड़ा जाना।

98वां संविधान संशोधन अधिनियम (2012)– हैदराबाद- कर्नाटक क्षेत्र के लिए विकास की जरूरतों को पूरा करने, मानव संसाधन को बढ़ाने और शैक्षिक व व्यावसायिक प्रशिक्षण से सेवा और आरक्षण के साथ रोजगार को बढ़ावा देने के लिए स्थानीय कार्यकर्ताओं एवं संस्थानों को धन के न्यायसंगत आबंटन हेतु विशेष प्रावधान।

99वां संविधान संशोधन अधिनियम (2014) (NJAC)- सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए ''राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग'' की स्थापना का प्रावधान, जिसे सर्वोच्च न्यायालय द्व ारा 2015 में असंवैधानिक घोषित कर दिया गया।

100वां संविधान संशोधन अधिनियम (2015)- भारत द्वारा बांग्लादेश के कुछ भू-भाग का अधिग्रहण एवं कुछ अन्य भू-भाग का बांग्लादेश को हस्तांतरण से संबंधित।

101वां संविधान संशोधन अधिनियम (2016)- ये संशोधन अधिनियम वस्तु एवं सेवा कर (GST) से संबंधित है। इस संशोधन के द्वारा संविधान में अनुच्छेद 246Aए 269A तथा 279A जोड़े गये तथा अनुच्छेद 268A को हटा दिया गया।

102वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 2018- सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय के अधीन गठित 'राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग' को संवैधानिक दर्जा दिया गया। संविधान में अनुच्छेद 338(B) तथा 342 (A) के साथ 388(B) को भी शामिल किया गया, जिनका संबंध राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग तथा राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग से है।

103वाँ संशोधन अधिनियम 2019- स्वतंत्र भारत में पहली बार आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिये आरक्षण की व्यवस्था की गई।

अनुच्छेद 16 में संशोधन कर सार्वजनिक रोजगार में आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिये 10% आरक्षण की व्यवस्था की गई।

104वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 2019- यह अधिनियम, अनुसूचित जातियों (SC) और अनुसूचित जनजातियों (ST) के आरक्षण से संबंधित प्रावधानों में संशोधन करता है। बिल एससी और एसटी के लिए आरक्षण को 25 जनवरी, 2030 तक 10 वर्षों के लिए करता है। इसी के द्वारा आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए आरक्षण की व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

संविधान की अनुसूचियाँ
(Schedules of Constitution)

संविधान के परिशिष्ट के रूप में जोड़ी गयी अनुसूचियों में कुछ अनुच्छेदों से सम्बन्धित व्याख्याओं एवं प्रविष्टियों का उल्लेख किया गया है, जो इन अनुच्छेदों की विस्तृत व्याख्या करती हैं। भारतीय संविधान के मूल प्रारूप में केवल 8 अनुसूचियों की व्यवस्था की गई थी, लेकिन वर्तमान में अनुसूचियों की संख्या 12 हो गई है।

पहली अनुसूची (First Schedule)

संविधान की इस अनुसूची में 'भारत संघ के राज्य क्षेत्र एवं संघ शासित प्रदेशों' का विवरण है। वर्तमान में इसमें 28 राज्य व 8 संघ शासित प्रदेशों का उल्लेख है।

दूसरी अनुसूची (Second Schedule)

इस अनुसूची में संवैधानिक अधिकारियों यथा राष्ट्रपति, राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, लोकसभा अध्यक्ष व उपाध्यक्ष, राज्यसभा के सभापति व उपसभापति, राज्य विधान सभाओं के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष, विधान परिषद के सभापति व उपसभापति व नियंत्रक महालेखा परीक्षक आदि के 'वेतन एवं उपलब्धियों के संबंध में प्रावधान' किया गया है।

तीसरी अनुसूची (Third Schedule)

इस अनुसूची में राष्ट्रपति, राज्यों के राज्यपाल, संघ के मंत्रियों, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, नियंत्रक- महालेखा परीक्षक तथा संसद एवं राज्य विधानमंडलों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा ली जाने वाली **शपथ** की चर्चा की गयी है।

चौथी अनुसूची (Fourth Schedule)

इस अनुसूची में विभिन्न राज्यों को संसद के उच्च एवं स्थायी सदन राज्य सभा के लिए स्थानों के आवंटन के संदर्भ में उपबन्ध किये गये हैं।

पांचवीं अनुसूची (Fifth Schedule)

इस अनुसूची के अन्तर्गत, अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में विशेष प्रावधान किए गए हैं। यह प्रावधान यहां के निवासियों के पिछड़ेपन को आधार बनाकर किए गये हैं।

इस अनुसूची के माध्यम से अनुसूचित जनजातियों को निम्न **संवैधानिक सुरक्षा** प्रदान की गयी है–

- इन क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार इन क्षेत्रों से सम्बन्धित राज्यों को प्रशासन सम्बन्धी आवश्यक निर्देश देने तक ही होगा।
- इनसे सम्बन्धित राज्यों का राज्यपाल इन क्षेत्रों के प्रशासन सम्बन्धी रिपोर्ट प्रतिवर्ष राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत करेगा।
- राज्यपाल इस क्षेत्र में कल्याण एवं शान्ति के निर्देश देने के साथ भूमि स्थानांतरण पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।
- अनुसूचित क्षेत्र वाले राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण एवं उन्नति सम्बन्धी विषयों पर परामर्श हेतु जनजातीय सलाहकार परिषदों का गठन किये जाने का प्रावधान है।

छठी अनुसूची (Sixth Schedule)

इस अनुसूची में **असम, मेघालय, त्रिपुरा** तथा **मिजोरम** राज्यों के जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में उपबंध है।

सातवीं अनुसूची (Seventh Schedule)

इस अनुसूची में केन्द्र राज्य सम्बन्धों के संदर्भ में तीन सूचियों का उल्लेख हैं- (i) **संघ-सूची,** (ii) **राज्य-सूची, और;** (iii) **समवर्ती-सूची।**

संघ-सूची में 97 विषय शामिल हैं, जिन पर संसद को कानून बनाने का अधिकार है। राज्य-सूची में 66 विषय हैं, जिन पर राज्य विधान मंडल कानून बना सकता है। समवर्ती-सूची में 47 विषय हैं, जिन पर संसद तथा राज्य विधानमंडल दोनों कानून बना सकते हैं, लेकिन विवाद की स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून प्रभावी होता है।

आठवीं अनुसूची (Eighth Schedule)

इस अनुसूची में संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त **22 भाषाओं** की सूची है।

नौवीं अनुसूची (Ninth Schedule)

संविधान में प्रथम संशोधन द्वारा जोड़ी गयी इस अनुसूची में उन अधिनियमों को सम्मिलित किया गया है, जिनकी वैधानिकता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकता थी। परन्तु वर्तमान में यह अनुसूची न्यायिक पुनर्विलोकन के दायरे में है। इस अनुसूची में सम्मिलित अधिनियमों की संख्या 284 है।

दसवीं अनुसूची (Tenth Schedule)

52वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ी गयी इस अनुसूची में दल-बदल संबंधी कानून का प्रावधान है।

ग्यारहवीं अनुसूची (Eleventh Schedule)

73वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ी गयी। इस अनुसूची में पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इस अनुसूची में कुल **29** विषय हैं, जिन पर कानून निर्माण का अधिकार ग्राम पंचायतों को है।

बारहवीं अनुसूची (Twelth Schedule)

74वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ी गयी। इस अनुसूची में नगरपालिकाओं की संरचना, गठन, सदस्यों की योग्यता, निर्वाचन, नगर पंचायतों के अधिकार एवं शक्तियों तथा उत्तरदायित्वों के विषय में प्रावधान किया गया है। 12वीं अनुसूची में ऐसे कुल 18 विषयों का उल्लेख किया गया है, जिन पर कानून बनाने का अधिकार नगरपालिकाओं को प्राप्त है।

स्वायत्त जिले एवं स्वायत्त क्षेत्र

भारत के उत्तरपूर्वी क्षेत्र जनजाति बाहुल्य क्षेत्र हैं। वहां की अपनी परम्परागत राजनैतिक विशिष्टताओं के कारण असम के उत्तरी कछार पहाड़ी क्षेत्र, कार्बी आंग्लॉन्गजिला एवं बोडोलैण्डजिला (2003 के संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा समाविष्ट), मेघालय के खासी पहाड़ी क्षेत्र, जयंतिया पहाड़ी क्षेत्र, गारो पहाड़ी क्षेत्र, मिजोरम के चकमा, मारा एवं लाई जिले तथा त्रिपुरा जनजातीय क्षेत्र (त्रिपुरा) स्वायत्त जिले के रूप में स्थापित किये गये हैं। यदि इन स्वायत्त जिलों के भीतर पृथक अनुसूचित जनजातियां हो तो राज्यपाल एक जन-अधिसूचना जारी करके उस क्षेत्र अथवा क्षेत्रों (जनजातियों द्वारा निवासित) को पृथक क्षेत्र घोषित कर सकता है। स्वायत्त जिलों एवं स्वायत्त क्षेत्रों के संदर्भ में राज्यपाल द्वारा निम्नलिखित विषयों में जन-अधिसूचना जारी की जा सकती है:

- राज्यपाल उल्लेखित स्वायत्त क्षेत्रों में किसी भी क्षेत्र को समाविष्ट कर सकता है।
- राज्यपाल द्वारा उल्लेखित स्वायत्त क्षेत्रों में से किसी भी क्षेत्र को बाहर किया जा सकता है।
- वह नए स्वायत्त जिले का गठन कर सकता है।
- राज्यपाल द्वारा किसी भी स्वायत्त जिले का आकार घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता है, तथा;
- वह दो अथवा तीन स्वायत्त जिलों अथवा भागों को संयुक्त करके एक स्वायत्त जिले का गठन कर सकता है।

जिला एवं क्षेत्रीय परिषदें

संविधान के प्रावधानों के अनुसार, प्रत्येक स्वायत्त जिले में एक जिला परिषद का उपबन्ध किया गया है। इस 30 सदस्यीय जिला परिषद में से अधिकतम चार सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाएंगे और शेष अन्य सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होंगे। 2003 के संशोधन अधिनियम द्वारा इस उपबंध में संशोधन करके असम राज्य के संदर्भ में यह प्रावधान किया गया

'बोडोलैंड' का विवाद और नया बोडो अग्रीमेंट 2020

केंद्र, असम और बोडो उग्रवादियों के प्रतिनिधियों ने '2020 बोडो अग्रीमेंट' पर हस्ताक्षर किए।

समझौते के तहत उग्रवादी संगठन 'नेशनल डेमोक्रैटिक फ्रंट ऑफ बोडोलैंड' (NDFB) के 1550 कैडर 30 जनवरी को अपने 500 हथियार सौंप आत्मसमर्पण कर देंगे। इस दौरान NDFB/P, NDFB/RD, NDFB/S देश की मुख्याधारा में शामिल हो जाएंगे। उनके काडर का पुनर्वास किया जाएगा। इसके तहत, बोडो क्षेत्रों के विकास के लिए तीन वर्षों में 1500 करोड़ रुपये के विकास पैकेज, जिससे विशिष्ट परियोजनाओं का आने वाले समय में क्रियान्वयन किया जा सके। इस समझौते से बोडो टेरिटोरियल काउंसिल (BTC) के क्षेत्र और शक्तियों का विस्तार होगा।

बोडो समुदाय के सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषायी विषयों को सुरक्षित किया जाएगा। जनजातियों के भूमि अधिकारों का सरंक्षण होगा। जनजातीय क्षेत्रों का तेजी से विकास भी होगा। उपेन्द्रनाथ ब्रह्मा के नाम पर कोकराझार जिले में सांस्कृतिक परिसर की स्थापना की जाएगी।

बोडोलैंड टेरिटोरियल एरिया डिस्ट्रिक्ट (BTAD) के बाहर बोडो कचारी वेलफेयर काउंसिल की स्थापना की जाएगी। 125 वें संविधान संशोधन द्वारा BTC की वित्तीय व प्रशासनिक शक्तियों में सुधार तथा BTAD में एक अलग डीआईजी पद तैयार किया जाएगा। बोडो माध्यम स्कूलों के लिए अलग शिक्षा निदेशालय गठित किया जाएगा।

20 फरवरी, 2003 को दूसरा समझौता हुआ, जिसके तहत संविधान की छठी अनुसूची के तहत BTC की स्थापना की गई। यह समझौता केंद्र सरकार, असम सरकार और बोडो लिबरेशन टाइगर्स (BLT) के बीच हुआ था। समझौते के अनुसार, कोकराझार, बक्सा, उदलगुरी और चिरांग जिलों को मिलाकर BTAD का गठन किया गया। BTC को 40 विषयों के संबंध में विधायी अधिकार दिए गए। गैर-आदिवासियों को भूमि अधिकार सहित उनके अधिकारों को सरंक्षण दिया गया।

संवैधानिक एवं गैर-संवैधानिक निकाय
(Constitutional and Non-Constitutional Bodies)

संवैधानिक निकाय (Constitutional Bodies)

वे निकाय या आयोग, जिनका गठन संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों द्वारा किया गया है, उन्हें संवैधानिक निकाय माना जाता है। इन निकायों की शक्ति का स्त्रोत संविधान होता है तथा इन निकायों में किसी भी प्रकार का बदलाव लाने के लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार गठित निकाय या आयोगों के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इन्हें संविधान में वर्णित विधियों के अधीन राष्ट्रपति द्वारा ही हटाया जा सकता है।

संघ लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission)

संविधान के भाग 14 में, अनुच्छेद 315 से 323 तक संघ लोक सेवा आयोग की स्वतंत्रता, शक्तियों व कार्य का वर्णन किया गया है। संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष व अन्य सदस्य होते हैं, जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करती है। जोकि सामान्यत: 9 से 11 होती है। आयोग के सदस्यों की योग्यता का संविधान में उल्लेख नहीं है, परन्तु आधे से अधिक सदस्यों को भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कम से कम 10 वर्ष काम करने का अनुभव हो।

कार्यकाल

आयोग के अध्यक्ष व सदस्य अपना पद ग्रहण करने की तिथि से 65 वर्ष या 6 वर्ष की अवधि जो पहले हो, तक पद धारण कर सकते हैं, इसके अलावा वे कभी भी राष्ट्रपति को अपना त्याग पत्र दे सकते हैं। उनका कार्यकाल समाप्त होने से पहले उन्हें राष्ट्रपति द्वारा संविधान में वर्णित प्रक्रिया के माध्यम से हटाया जा सकता है।

कार्यवाहक अध्यक्ष की नियुक्ति

राष्ट्रपति दो परिस्थितियों में संघ लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य को कार्यवाहक अध्यक्ष नियुक्त कर सकता है-

- यदि अध्यक्ष का पद रिक्त हो।
- यदि अध्यक्ष अपना काम अनुपस्थिति या अन्य दूसरे कारणों से नहीं कर पा रहा हो।

सदस्यों की बर्खास्तगी

राष्ट्रपति द्वारा सदस्यों को निम्नलिखित परिस्थितियों में हटाया जा सकता है।

- यदि उसे दिवालिया घोषित कर दिया गया हो।
- यदि वह पदावधि के दौरान किसी अन्य वैतनिक कर्तव्यों में संलग्न हो।
- राष्ट्रपति की दृष्टि में मानसिक एवं शारीरिक अक्षमता के कारण कार्य करने में असमर्थ हो।
- यदि किसी प्रकार के दुर्व्यवहार या कदाचार में लिप्त पाया जाता है। इस प्रकार के मामले की जांच के उपरांत उच्चतम न्यायालय सदस्य को हटाने का परामर्श दे सकती है, जिसे मानना राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी है।

आयोग के कार्य एवं शक्तियाँ

- यह अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं व केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों की लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए परीक्षाएं आयोजित करता है।
- संघ लोक सेवा आयोग दो या अधिक राज्यों के अनुरोध पर उनके लिए संयुक्त भर्ती की योजना बनाने में सहायता करता है।
- यह राज्यपाल के अनुरोध पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद सभी या कुछ मामलों पर राज्यों को सलाह देता है।
- सिविल सेवाओं और पदों पर नियुक्ति करने में, पदोन्नति तथा स्थानांतरण या प्रतिनियुक्ति करने की सिफारिश करना।
- राष्ट्रपति को अनुच्छेद 323 के तहत, आयोग द्वारा प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को प्रतिवेदन सौंपता है।
- अल्पकालीन नियुक्ति, एक वर्ष की से अधिक तक व नियुक्तियों से संबंधित विषय पर परामर्श देना।

संघ लोक सेवा आयोग की स्वतंत्रता

- संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को कार्यकाल की सुरक्षा प्राप्त है।
- अध्यक्ष व सदस्यों की सेवा की शर्तें राष्ट्रपति द्वारा तय की जाती है, जिसमें नियुक्ति के बाद अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
- अध्यक्ष, कार्यकाल के पश्चात् पुन: नियुक्ति का पात्र नहीं हो सकता तथापि सदस्य संघ अथवा राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में चुने जा सकते है।

संघ लोक सेवा आयोग की सीमाएं

संघ लोक सेवा आयोग की निम्नलिखित सीमाएं है-

- पिछड़ी जातियों की नियुक्ति में आरक्षण के मुद्दे पर।
- एक वर्ष से कम अवधि अथवा अस्थायी नियुक्ति के मुद्दे पर।
- अनुसूचित जातियों व जनजातियों द्वारा सेवा में नियुक्ति के दावे पर।

राज्य लोक सेवा आयोग (State Public Service Commission)

संविधान के भाग 14 में ही अनुच्छेद 315 से 323 में राज्य लोक सेवा आयोग के गठन का उल्लेख किया गया है। राज्य लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष व अन्य सदस्य होते हैं। सदस्यों की संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है। लेकिन सामान्यत: राज्यपाल द्वारा विवेकानुसार सदस्ये की नियुक्ति की जाती है। संविधान में सदस्यों की योग्यता का वर्णन नहीं किया है, परन्तु आधे से अधिक सदस्यों के लिए आवश्यक है कि, भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कम से कम 10 वर्ष तक कार्य करने का अनुभव रहा हो। अध्यक्ष व सदस्यों की सेवा शर्तों का निर्धारण राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

कार्यकाल

आयोग के सदस्य व अध्यक्ष पद ग्रहण करने की तिथि से 6 वर्ष या 62 वर्ष तक की आयु तक पद धारण कर सकते हैं। इसके अलावा वो कभी भी अपना इस्तीफा राज्यपाल को सौंप सकते हैं।

सदस्यों की बर्खास्तगी

राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल करता है, परन्तु इन्हें केवल राष्ट्रपति द्वारा ही हटाया जा सकता है। इन्हें हटाने का आधार संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के जैसा ही होता है।

- यदि उसे दिवालिया घोषित किया गया हो।

- यदि वो अपनी पदावधि में किसी वैतनिक नियोजन में संलग्न हो।
- यदि वो राष्ट्रपति की दृष्टि में मानसिक या शारीरिक रूप से शिथिल हो।
- यदि वो कदाचार का दोषी पाया जाता है। (ऐसे मामले राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को सौंपता है और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सलाह राष्ट्रपति पर बाध्यकारी होती है)

कार्यवाहक अध्यक्ष की नियुक्ति

राज्यपाल निम्न दो आधारों पर राज्य लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य को कार्यवाहक अध्यक्ष नियुक्त कर सकते हैं-

- यदि अध्यक्ष का पद रिक्त हो।
- यदि अध्यक्ष किसी कारण से अनुपस्थित हो।

कार्य एवं शक्तियाँ

- यह राज्य की सेवाओं में नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का आयोजन करता है।
- यह सिविल सेवाओं और पदों में भर्ती से संबंधित विषय पर परामर्श देता है।
- राज्य सरकार के अधीन काम करने वाले व्यक्ति की पेंशन संबंधी मामले का निर्धारण करता है।
- कार्मिक प्रबंधन से संबंधित सभी मामलों पर परामर्श देता है।
- राज्य सेवा के अनुशासिक विषयों पर कार्यवाही करता है।
- स्थानांतरण, पदोन्नति एक सेवा से दूसरी सेवा में तबादला आदि पर संबंधित विभाग की अनुशंसा करता है।

राज्य लोक सेवा आयोग की स्वतंत्रता

- राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति के बाद इनकी सेवा शर्तों में अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।
- राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को दिये जाने वाले वेतन-भत्ते राज्य की संचित निधि पर भारित होते हैं।
- राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को केवल राष्ट्रपति द्वारा संविधान में वर्णित आधार पर ही हटाया जा सकता है।
- राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्य किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग में पुनर्नियुक्ति के पात्र नहीं होते, हालांकि वे संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के रूप में नियुक्त हो सकते हैं।

राज्य लोक सेवा आयोग की सीमाएं

- पिछड़ी जातियों की नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के मुद्दे पर राज्य लोक सेवा आयोग की शक्तियाँ सीमित है।
- अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की नियुक्ति के दावे के संबंध में राज्य लोक सेवा आयोग सीमित अधिकार रखता है।

संयुक्त लोक सेवा आयोग(Joint Public Service Commission)

संविधान में दो या अधिक राज्यों के लिए संयुक्त लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की गई है। इसका गठन संबंधित राज्यों के विधानमंडल के आग्रह पर संसद द्वारा किया जाता है। संयुक्त राज्य लोक आयोग सेवा के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इनका कार्यकाल 6 वर्ष या 62 वर्ष की आयु, जो भी पहले हो, तक होता है। ये अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को देकर पदमुक्त होते हैं। संयुक्त लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या व सेवा शर्तें राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है। ये आयोग अपनी वार्षिक रिपोर्ट संबंधित राज्य के राज्यपाल को सौंपता है।

निर्वाचन आयोग(Election Commission)

भारतीय संविधान के भाग (15) **अनुच्छेद 324** से **329** के अंतर्गत, निर्वाचन तंत्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की चर्चा की गई है। संविधान के **अनुच्छेद 324 निर्वाचन आयोग** के नाम से एक स्वायत्त व निष्पक्ष संस्था की व्यवस्था है, जो स्वच्छ एवं निष्पक्ष चुनाव का संचालन करती है। आयोग निर्वाचन के लिए मतदाता-सूची तैयार कराने का कार्य करता है तथा सभी निवार्चनों के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण करता है।

नियुक्ति

निर्वाचन आयोग मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों, जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियत करता है, से मिलकर बनता है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति संसद द्वारा बनाई गई विधि के अनुसार **राष्ट्रपति** द्वारा की जाती है। संविधान ने निर्वाचन आयोग के आयुक्तों की संख्या का कोई निश्चित निर्धारण नहीं किया है तथा इस कार्य को राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया है।

स्वतंत्रता से लेकर 1989 तक निर्वाचन आयोग एक सदस्यीय रहा है, परन्तु 1989 में राष्ट्रपति द्वारा दो और आयुक्तों की नियुक्ति करके आयोग को बहु-सदस्यीय बना दिया गया। परन्तु 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा इसे पुनः एक सदस्यीय आयोग बना दिया गया। 1993 में एक संसदीय अधिनियम द्वारा इसे पुनः तीन सदस्यीय आयोग बनाया गया जिसमें एक मुख्य चुनाव आयुक्त एवं दो अन्य आयुक्त हैं जिनके द्वारा बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाता है।

योग्यता

भारतीय संविधान ने निर्वाचन आयोग के सदस्यों के लिए कोई योग्यता का निर्धारण नहीं किया है, बल्कि राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है।

कार्यकाल

संविधान में निर्वाचन आयुक्तों की सेवा अवधि के लिए भी कोई प्रावधान नहीं किया गया है, सामान्यतः उनका कार्यकाल पांच वर्ष का होता है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयानुसार, अन्य निर्वाचन आयुक्तों को अपने पद से राष्ट्रपति, मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहमति से हटा सकता है, परंतु मुख्य निर्वाचन आयुक्त को पदच्युत करने के लिए वही विधि अपनाई जाती है, जिस विधि से सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पदच्युत किया जाता है, अर्थात् संसद के दोनों सदनों में महाभियोग प्रस्ताव **दो-तिहाई** बहुमत से पारित हो जाने पर ही मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से हटाया जा सकता है।

वेतन एवं भत्ते

मुख्य निर्वाचन आयुक्त के वेतन तथा भत्ते समय-समय पर निर्धारित किए जाते हैं। परंतु उनके वेतन तथा भत्तों में उनकी सेवा अवधि के बीच कोई परिवर्तन नहीं किए जा सकते हैं।

चुनाव आयोग के कार्य

भारतीय संविधान द्वारा निर्वाचन आयोग को प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य सौंपे गये हैं –

- निर्वाचन आयोग निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन अथवा सीमांकन (Delimitation of Constituencies) करता है।
- आयोग राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, संसद एवं राज्य विधानमण्डलों के चुनावों का अधीक्षण, नियंत्रण एवं निदेशन करता है।
- आयोग विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करता है। इस सम्बन्ध

में उसके द्वारा कुछ मापदण्ड निर्धारित किए जा सकते हैं और इनमें जाने का अधिकार भी आयोग के पास होता है।

- आयोग प्रत्येक लोक सभा अथवा विधान सभा निर्वाचनों से पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करता है। इस कार्य के पूर्ण होने पर ही निर्वाचन कराए जाते हैं।
- आयोग, निर्वाचन हेतु सामान्य नियमों का निर्धारण करता है तथा चुनावों की तिथियों एवं कार्यक्रम सम्बन्धी अधिसूचना जारी करता है। साथ ही वह नामांकन-पत्रों की सुरक्षा भी सुनिश्चित करता है।
- आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करता है। चुनाव चिन्ह के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के मध्य किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने की स्थिति में आयोग से विवाद का निष्पक्ष एवं न्यायिक ढंग से निपटारा करने की अपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।
- आयोग चुनाव के समय राजनीतिक दलों एवं प्रत्याशियों हेतु आचार-संहिता का निर्धारण करता है।
- आयोग संसद सदस्यों एवं राज्य विधानमण्डल के सदस्यों की अयोग्यता सम्बन्धी मामलों में क्रमशः राष्ट्रपति एवं सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल को परामर्श प्रदान करता है।
- आयोग द्वारा किन्हीं विशिष्ट कारणों से चुनावों का स्थगन अथवा उन्हें रद्द किया जा सकता है।
- आयोग विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा रेडियो तथा टेलीविजन पर चुनाव प्रचार हेतु समय एवं दिन का निर्धारण करता है।
- चुनावों तथा इनसे उत्पन्न विवादों की जाँच हेतु निर्वाचन अधिकारियों की नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा ही की जाती है।
- आयोग मतदाताओं को आवश्यक राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करता है।

वित्त आयोग(Finance Commission)

भारत के संविधान में अनुच्छेद 280 के अंतर्गत, अर्द्ध-न्यायिक निकाय के रूप में वित्त आयोग की व्यवस्था की गई। इसका गठन राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक पांचवें वर्ष या आवश्यकतानुसार उससे पहले किया जाता है।

संरचना

वित्त आयोग में एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होते है, जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इनका कार्यकाल राष्ट्रपति के आदेश के तहत तय होता है। इनकी पुनर्नियुक्ति भी हो सकती है।

संविधान ने संसद को इन सदस्यों की योग्यता और चयन विधि का निर्धारण करने का अधिकार दिया है। इसी के तहत, संसद ने आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की विशेष योग्यताओं का निर्धारण किया है। अध्यक्ष सार्वजनिक मामलों का अनुभवी होना चाहिए और अन्य चार सदस्यों को निम्नलिखित में से चुना जाना चाहिए-

- किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश या इस पद के लिए योग्य व्यक्ति।
- ऐसा व्यक्ति जिसे भारत के लेखा एवं वित्त मामलों का विशेष ज्ञान हो।
- ऐसा व्यक्ति, जिसे प्रशासन और वित्तीय मामलों का व्यापक अनुभव हो।
- ऐसा व्यक्ति, जो अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञाता हो।

कार्य

वित्त आयोग, भारत के राष्ट्रपति को निम्नांकित मामलों पर सिफारिशें करता है-

- संघ और राज्यों के बीच करों के शुद्ध आगामों का वितरण और राज्यों के बीच ऐसे आगमों का आवंटन।
- भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्व में सहायता अनुदान को शासित करने वाले सिद्धांत।
- राज्य वित्त आयोग द्वारा की गयी सिफारिशों के आधार पर राज्य में नगरपालिकाओं और पंचायतों के संसाधनों की अनुपूर्ति के लिए राज्य की संचित निधि के संवर्धन के लिए आवश्यक उपाय।
- राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सुदृढ़ वित्त के हित में निर्दिष्ट कोई अन्य विषय।

1960 तक आयोग असम, बिहार, ओडिशा एवं पश्चिम बंगाल को प्रत्येक वर्ष जूट और जूट उत्पादों के निर्यात शुल्क में निवल प्राप्तियों के ऐवज में दी जाने वाली सहायता राशि के बारे में भी सुझाव देता था। संविधान के अनुसार, यह सहायता राशि दस वर्ष की अस्थायी अवधि तक दी जाती रही।

आयोग अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता है, जो इसे संसद के दोनों सदनों में रखता है। रिपोर्ट के साथ उसका आकलन संबंधी ज्ञापन एवं इस संबंध में उठाए जा सकने वाले कदमों के बारे में विवरण भी रखा जाता है।

15वां वित्त आयोग

इसका गठन राष्ट्रपति द्वारा नवंबर 2017 में किया गया। इसके अध्यक्ष नंद किशोर सिंह (N.K Singh) है। यह आयोग 1 अप्रैल 2020 से शुरू होने वाले 5 वर्षों के लिए सुझाव पेश करेगा। यह आयोग सिफारिशों के लिए 2011 की जनगणना के आंकड़ों का उपयोग करेगा।

15वें वित्त आयोग पर विवाद-

13वें वित्त आयोग तक 1971 की जनगणना का इस्तेमाल किया गया तथा 14वें वित्त आयोग द्वारा 1971 तथा 10% वेटेज के साथ 2011 की जनगणना का प्रयोग किया गया ,किन्तु 15वें वित्त आयोग द्वारा 1971 की जनगणना को हटा दिया गया। Terms of Reference (TOR) के संदर्भ में, 2011 का डेटा शामिल किया गया है, जिस पर विवाद की स्थिति उत्पन्न हुई है। यह विवाद मुख्यतः दक्षिण भारतीय राज्यों द्वारा प्रारंभ किया गया है। दक्षिणी राज्यों में जनसंख्या वृद्धि पहले से ही प्रतिस्थापन स्तर तक पहुँच चुकी है। अतः उनका मानना है कि, 2011 की जनगणना के आँकड़ों का उपयोग संसाधनों के आवंटन में उनके हिस्से में कटौती करेगा। इस संबंध में केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक व पुदुचेरी राज्य सक्रिय भूमिका में है। दक्षिणी राज्य पिछले TOR जैसी स्थिति चाहते है तथा वे 1971 की जनगणना के आँकड़ों के आधार पर सिफारिशें चाहते हैं।

राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग (National Commission for Scheduled Tribes)

संविधान के **अनुच्छेद 338** में, जनजातियों के विकास एवं सुरक्षा के संदर्भ में राष्ट्रपति द्वारा एक अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग बनाने का प्रावधान किया गया है। 89वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा अनुसूचित जाति एवं जनजाति राष्ट्रीय आयोग को दो भागों- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग एवं राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के रूप में विभाजित कर दिया गया है।

इस अधिनियम द्वारा संविधान में **अनुच्छेद 338(ए)** अन्तः स्थापित किया गया है। राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग में एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा तीन अन्य सदस्य होंगे। इन अधिकारियों की सेवा-शर्तों एवं पदावधि इत्यादि का निर्धारण समय-समय पर राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किया जाएगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग में भी एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा तीन अन्य सदस्य होंगे। इनकी सेवा-शर्तों, पदावधि इत्यादि का निर्धारण भी राष्ट्रपति द्वारा ही किया जाएगा।

राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग
(National Commission for Scheduled Castes)

इस आयोग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं:

- आयोग उन सभी विषयों की निगरानी व अन्वेषण का कार्य करता है, जो अनुसूचित जातियों के लिए इस संविधान या अन्य किसी विधि या सरकार के किसी आदेश के अधीन उपबंधित रक्षा सम्बन्धी उपायों से संबंधित हो।
- अनुसूचित जाति के किसी व्यक्ति को उसके अधिकारों व सुरक्षा से वंचित रखने संबंधी मामलों की जांच आयोग द्वारा की जाती है।
- अनुसूचित जातियों के सामाजिक- आर्थिक विकास की योजना-प्रक्रिया में भाग लेना और उन पर सलाह देना तथा संघ व किसी राज्य के अधीन उनके विकास की गति का मूल्यांकन जैसे कार्य आयोग को सौंपे गये हैं।
- आयोग द्वारा अनुसूचित जातियों के कल्याणार्थ किए गए विभिन्न रक्षोपायों के कार्यकरण के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष अथवा जब भी राष्ट्रपति इसकी अपेक्षा करे राष्ट्रपति के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।
- आयोग इन प्रतिवेदनों में उन उपायों के संबद्ध में जो संवैधानिक रक्षोपायों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए संघ या किसी राज्य सरकार द्वारा किए जाने चाहिए तथा अनुसूचित जातियों के संरक्षण, कल्याण एवं सामाजिक आर्थिक विकास हेतु अन्य उपायों के संबंध में अनुशंसा करता है।
- आयोग अनुसूचित जातियों के संरक्षण, कल्याण, विकास एवं उन्नयन के बारे में ऐसे कृत्यों का निर्वहन करता है जो राष्ट्रपति, संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, नियम द्वारा विनिर्दिष्ट करे।

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग
(National Commission of Backward Classes)

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग एक संवैधानिक संस्था है, इसकी स्थापना 123वें संवैधानिक संशोधन विधेयक 2018 तथा 102वें संशोधन के द्वारा की गयी थी। राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को संवैधानिक संस्था बनाने के लिये नया अनुच्छेद 338 बी संविधान में शामिल किया गया था।

संघटन: इस बिल के अनुसार राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग में पांच सदस्य होते हैं, इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल पदभार ग्रहण करने की तारीख से तीन वर्ष का होगा। एक सदस्य को सिर्फ दो बार ही आयोग में नियुक्त किया जा सकता है। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष या सदस्य राष्ट्रपति को पत्र लिखकर अपना त्यागपत्र दे सकते हैं। आयोग के अध्यक्ष को कदाचार के आरोप में हटाया जा सकता है, यदि सर्वोच्च न्यायालय कदाचार के आरोपों को सही पाते हुए राष्ट्रपति को रिपोर्ट करे। इस आधार पर आयोग के अध्यक्ष को राष्ट्रपति के आदेश से हटाया जा सकता है। आयोग के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सदस्यों का वेतन व भत्ता भारत सरकार के सचिव के बराबर निर्धारित किया गया है।

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपनी होगी और बाद में यह रिपोर्ट संसद और राज्य विधान सभाओं में प्रस्तुत की जाएगी।

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग के कार्य

- संविधान द्वारा प्रदान किये गए अधिकारों इत्यादि की निगरानी करना।
- पिछड़ा वर्ग के अधिकारों के हनन संबधी शिकायत का निवारण करना।
- पिछड़ा वर्ग के सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए सुझाव देना।
- राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को शिकायतों की छानबीन इत्यादि के सम्बन्ध में सिविल कोर्ट के समान शक्तियाँ दी गई हैं भगवान लाल साहनी को राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग का चेयरमैन नियुक्त किया गया तथा कौशलेन्द्र सिंह पटेल तथा आचार्य तल्लोजू को इस आयोग का सदस्य नियुक्त किया गया है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग
(National Commission for Minorities)

संसद ने संविधान और संघ राज्य विधियों में उपबंधित अल्पसंख्यकों के रक्षोपायों के कार्यकरण का पर्यवेक्षण करने के लिए राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 अधिनियमित किया गया है।

इस आयोग के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:

- संघ और राज्यों के अधीन अल्पसंख्यकों के उन्नति के लिए किए गए विकास कार्यों का मूल्यांकन करना।
- अल्पसंख्यकों के लिए संविधान द्वारा प्रदत्त रक्षोपायों तथा संसद और राज्यों की विधायिका द्वारा अधिनियमित किए गए कानूनों के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करना।
- अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के प्रभावकारी कार्यान्वयन के लिए केंद्रीय तथा राज्य सरकारों को सुझाव देना।
- अल्पसंख्यकों के साथ विभेद किये जाने वाले कारणों की समीक्षा एवं इसको दूर करने के लिए प्रभावशाली उपायों की अनुशंसा करना।
- अल्पसंख्यकों में शिक्षा का विकास तथा सामाजिक-आर्थिक मुद्दों के संबंध में शोध कार्य संचालित करना।
- अल्पसंख्यकों से संबंधित किसी भी समस्या के लिए समय-समय पर अथवा विशेष प्रतिवेदन तैयार करके केंद्रीय सरकार के समक्ष प्रस्तुत करना।
- अल्पसंख्यकों से संबंधित, कोई भी निर्देश जो केंद्रीय सरकार द्वारा दिया गया हो, उस पर अमल करना।

भारत का नियंत्रक-महालेखा परीक्षक
(Comptroller and Auditor General of India)

संसदीय लोकतंत्र के अंतर्गत, कार्यपालिका के वित्तीय आदान-प्रदान के औचित्य निर्धारण के लिये स्वतंत्र लेखा परीक्षा की व्यवस्था की अपरिहार्यता को देखते हुये नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक पद की व्यवस्था की गयी है, जिसके द्वारा देश की समस्त वित्तीय प्रणाली का नियंत्रण किया जाता है।

भारतीय संविधान के भाग 5 में नियंत्रक-महालेखा परीक्षक का पद भारत शासन अधिनियम, 1985 के अधीन महालेखा परीक्षक के पद के अनुरूप सृजित किया गया है। अनुच्छेद 148 के प्रावधानों के अधीन भारत के नियंत्रक- महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा 6 वर्ष के कार्यकाल के लिये की जाती है, परंतु इसको पदच्युत करने के लिये संसद के दोनों सदनों के समावेदन की आवश्यकता होती है। इस रूप में यह पद उस नियम का अपवाद दिखाई देता है, जिसमें संघ के सभी लोक सेवक राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत पद धारण करते हैं। अपने पद त्याग के पश्चात् भारत का नियंत्रक-महालेखा परीक्षक भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ का पद धारण नहीं कर सकता।

नियंत्रक-महालेखा परीक्षक की सेवा शर्तें

नियंत्रक-महालेखा परीक्षक अधिनियम 1971 को 1976 में संशोधित करके नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के लिए निम्नलिखित सेवा शर्तों का उपबन्ध किया गया है–

- नियंत्रक-महालेखा परीक्षक अपने पद पर 65 वर्ष तक की आयु तक ही कार्य कर सकता है।
- वह राष्ट्रपति को सम्बोधित कर अपने हस्ताक्षरित लेख द्वारा किसी भी समय त्यागपत्र दे सकता है।
- अनुच्छेद 148(1) के द्वारा संसद के दोनों सदनों के समावेदन द्वारा उसे हटाया जा सकता है।
- उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश के समान वेतन का अधिकारी होगा।

- उसकी सेवा शर्तें अन्य विषयों पर उन्हीं नियमों पर अवधारित होंगी, जो भारत सरकार के सचिव स्तर के भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यों हेतु लागू है।
- नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के कार्यालय के प्रशासनिक व्यय आदि भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद 149 से 151 के अंतर्गत नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों और शक्तियों का उल्लेख किया गया है।

भारत के नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के कार्यों और शक्तियों के प्रयोग में स्वतंत्रता के उद्देश्य से एक अधिनियम पारित किया गया, जिसे 1976 में संशोधित करके नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों के परिप्रेक्ष्य में कुछ उपबंध निश्चित किए गए, जो इस प्रकार हैं–

- भारत और प्रत्येक राज्य तथा विधानसभा या प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र की संचित निधि से सभी प्रकार के व्यय की संपरीक्षा और उन पर यह प्रतिवेदन कि क्या ऐसा व्यय विधि के अनुसार है।
- संघ और राज्यों की आकस्मिकता निधि और लोक लेखाओं से हुए सभी व्ययों की संपरीक्षा और उनका प्रतिवेदन।
- संघ या राज्य के विभाग द्वारा किए गए सभी व्यापार तथा विनिर्माण के हानि और लाभ लेखाओं की संपरीक्षा और उन पर प्रतिवेदन।
- संघ और प्रत्येक राज्य की आय और व्यय की संपरीक्षा, जिससे कि उसका यह समाधान हो जाए कि राजस्व के निर्धारण, संग्रहण और उचित आवंटन के लिए पर्याप्त परीक्षण करने के उपरांत नियम और प्रक्रियाएँ बनाई गई हैं।
- संघ और राज्य के राजस्वों द्वारा पर्याप्त रूप से वित्त पोषित सभी निकायों और प्राधिकारियों की, सरकारी कम्पनियों की, अन्य निगमों या निकायों की, जब ऐसे निगमों या निकायों से संबंधित विधि द्वारा इस प्रकार अपेक्षित हो, प्राप्ति और व्यय की संपरीक्षा और उस पर प्रतिवेदन।

इसके अतिरिक्त नियंत्रक-महालेखा परीक्षक का एक और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व यह है कि, वह सरकारी लेखा खाताओं में अतिव्यय होने की स्थिति में मितव्ययता की दृष्टि से लोक लेखा समिति को इससे अवगत कराये। अनुच्छेद 151 के अनुसार, नियंत्रक-महालेखा परीक्षक संघीय खातों से सम्बद्ध प्रतिवेदनों को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करता है और राज्यों के लेखाओं संबंधी प्रतिवेदनों को राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। राष्ट्रपति और राज्यपाल उनको क्रमशः संसद और राज्यों के विधानमंडल के समक्ष रखते हैं।

भारत के नियंत्रक-महालेखा परीक्षक को राष्ट्रीय वित्त का संरक्षक कहा जाता है। यद्यपि इसके नाम से नियंत्रण और लेखा परीक्षण दोनों ही कार्य स्पष्ट होते हैं, परंतु वास्तव में भारत में नियंत्रक-महालेखा परीक्षक भारत की संचित निधि से धन के निर्गम पर कोई नियंत्रण नहीं रख सकता है। वह केवल व्यय हो जाने के बाद ही उस व्यय के औचित्य के निर्धारण का अधिकार रखता है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक वस्तुतः लोकवित्त के संदर्भ में किये गये व्ययों का लेखांकन करता है और इसका परीक्षण कर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति व राज्यपाल के माध्यम से संसद व विधानमंडलों के समक्ष रखवाता है, जिससे सदन लोकवित्त सम्बन्धी अनियमितताओं पर चर्चा कर सके।

भारत का महान्यायवादी (Attorney General of India)

अनुच्छेद 76 के प्रावधानों के अधीन, राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की योग्यता रखने वाले किसी व्यक्ति को भारत का महान्यायवादी नियुक्त करेगा। वह भारत सरकार का **प्रथम विधि अधिकारी** (First Legal Officer) होगा।

यह परंपरा है कि, सरकार परिवर्तित होने पर महान्यायवादी त्यागपत्र दे देता है तथा नयी सरकार अपनी रुचि के अनुसार, किसी व्यक्ति को महान्यायवादी नियुक्त करती है। महान्यायवादी विधि संबंधी किसी भी विषय पर भारत सरकार को परामर्श देता है। वह भारत के राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गए किसी भी विधि संबंधी कार्य को पूरा करता है। वह संविधान या राष्ट्रपति द्वारा प्रदान किए गए किसी भी कार्य को संपन्न करता है।

अपने कर्तव्यों के निर्वाह में वह भारतीय क्षेत्र के सभी न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार होने का अधिकारी होता है और जिन वादों (cases) में भारत सरकार को परामर्श देने के लिए उसे बुलाया जाता है, उनमें वह भारत सरकार के विरुद्ध न तो कोई परामर्श देगा और न ही कोई विवरण देगा। न ही वह भारत सरकार की अनुमति के बिना आपराधिक मामलों के किसी अभियुक्त का बचाव करेगा। वह किसी कंपनी के निदेशक के रूप में नियुक्त नहीं हो सकता।

महान्यायवादी न्यायालय के समक्ष केन्द्र व संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु उसे निजी तौर पर (कानून संबंधी) पेशा करने का अधिकार है, बशर्ते कि किसी वाद (case) का एक पक्ष स्वयं राज्य न हो। यद्यपि उसे वेतन भुगतान नहीं किया जाता, किंतु वह राष्ट्रपति द्वारा अवधारित (determined) पारिश्रमिक (wages) प्राप्त करता है। वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता, परन्तु उसे लोकसभा व राज्यसभा-दोनों ही सदनों की संसदीय गतिविधियों व बैठकों में भाग लेने तथा बोलने का अधिकार प्राप्त है। उसे केवल वोट देने का अधिकार नहीं है। उसे संसद सदस्य की तरह सभी विशेषाधिकार (privilege) व उन्मुक्तियाँ (immunitiy) प्राप्त होंगे। महान्यायवादी का पारिश्रमिक सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश के वेतन के समान होगा। उसकी सहायता के लिए दो महाधिवक्ता (Solicitor General) व चार सहायक महाधिवक्ता (Assistant Solicitor General) होंगे। महान्यायवादी, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा और ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेगा, जो राष्ट्रपति अवधारित करेगा।

राज्य का महाधिवक्ता (Advocate General for the State)

संविधान के अनुच्छेद 165 में राज्य के लिए एक महाधिवक्ता की व्यवस्था की गई है, जो कि भारत के महान्यायवादी का अनुपूरक होता है। ये राज्य का सर्वोच्च कानूनी अधिकारी होता है। इसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। राज्य का महाधिवक्ता बनने के लिए उस व्यक्ति में उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता होनी चाहिए।

कार्यकाल

भारत के संविधान में राज्य के महाधिवक्ता के कार्यकाल को निश्चित नहीं किया गया है तथा न ही उसे हटाये जाने के प्रकारों का वर्णन किया गया है। वह अपने पद पर राज्यपाल के प्रसादपर्यंत कार्यरत रहता है। सामान्यतः, वह विधानसभा के भंग होने पर अपना त्यागपत्र राज्यपाल को संबोधित कर देगा। राज्य के महाधिवक्ता के वेतन भत्तों का निर्धारण भी राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

कार्य एवं शक्तियाँ

राज्य में वह मुख्य कानून अधिकारी होता है। इस दृष्टि से महाधिवक्ता के कार्य निम्नवत हैं-

- राज्य सरकार को विधि संबंधी ऐसे विषयों पर सलाह दे, जो राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गए हों।
- स्वरूप से ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करे, जो राज्यपाल द्वारा सौंपे गए हों।
- संविधान या किसी अन्य विधि द्वारा प्रदान किए गए कृत्यों का निर्वहन करना।

अपने कार्य संबंधी कर्तव्यों के तहत उसे राज्य के किसी भी न्यायालय के समक्ष सुनवायी का अधिकार है। इसके अतिरिक्त उसे विधानमंडल के दोनों सदनों या संबंधित समिति अथवा उस सभा में, जहाँ के लिए वह अधिकृत है, में बिना

मताधिकार के बोलने व भाग लेने का अधिकार है। उसे वे सभी विशेषाधिकार एवं भत्ते मिलते हैं। जो विधानमंडल के किसी सदस्य को मिलते हैं।

सांविधिक निकाय Statutory Bodies

सांविधिक निकाय वह निकाय है, जिसे संसद के अधिनियम या राज्य विधान द्वारा गठित किया जाता है। इसकी स्थापना प्राय: विशेष कार्यों को करने के लिये की जाती है, जिनका निष्पादन अत्यधिक प्रभाव पूर्ण तरीकों से किया जाता है।

नीति आयोग (National Institution for Transforming India-NITI)

सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग नामक नया संस्थान बनाया है। यह संस्थान सरकार के थिंक टैंक के रूप में सेवाएं प्रदान करेगा और उसे निर्देशात्मक एवं नीतिगत गतिशीलता प्रदान करेगा। नीति आयोग, केन्द्र और राज्य स्तरों पर सरकार को नीति के प्रमुख कारकों के संबंध में प्रासंगिक महत्वपूर्ण एवं तकनीकी परामर्श उपलब्ध कराएगा। इसमें आर्थिक मोर्चे पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आयात, देश के भीतर, साथ ही साथ अन्य देशों की बेहतरीन पद्धतियों का प्रसार, नए नीतिगत विचारों का समावेश और विशिष्ट विषयों पर आधारित समर्थन से संबंधित मामले शामिल होंगे। 15 मार्च, 1950 को जिस प्रस्ताव के माध्यम से योजना आयोग की स्थापना की गई थी, उसके स्थान पर नया प्रस्ताव लाया गया है। सरकार ने यह कदम राज्य सरकारों, विशेषज्ञों तथा प्रासंगिक संस्थानों सहित सभी हितधारकों से व्यापक विचार विमर्श के बाद उठाया है।

नीति आयोग के प्रमुख कार्य

- विकास प्रक्रिया में निर्देश और रणनीतिक परामर्श देना।
- राज्यों के साथ सतत आधार पर संरचनात्मक सहयोग की पहल और तंत्र के माध्यम से सहयोगपूर्ण संघवाद को बढ़ावा देना।
- ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजना तैयार करने के लिए तंत्र विकसित करता है और इसे उत्तरोत्तर उच्च स्तर तक पहुँचाता है।
- आयोग राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, प्रैक्टिशनरों तथा अन्य हितधारकों के सहयोगात्मक समुदाय के जरिए ज्ञान, नवाचार, उद्यमशीलता आधारित सहायक प्रणाली बनाता है।
- कार्यक्रमों और नीतियों के क्रियान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर जोर देना।

नीति आयोग के प्रमुख उद्देश्य

नए भारत को प्रशासनिक परिवर्तन की आवश्यकता है, जिसमें सरकार सक्षमकारी होगी न कि पहला और आखिरी सहारा। खाद्य सुरक्षा से आगे बढ़कर कृषि उत्पादन के मिश्रण तथा किसानों को उनकी उपज से मिलने वाले वास्तविक लाभ पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा। भारत समान विचारधारा वाले वैश्विक मुद्दों, विशेषकर जिन क्षेत्रों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है, पर बहसों और विचार-विमर्शों में सक्रिय भूमिका निभाएगा। आर्थिक रूप से जीवंत मध्यवर्ग की भागीदारी बनाए रखने के लिए इसकी क्षमता का पूर्ण दोहन सुनिश्चित किया जाएगा।

उद्यमशीलता, वैज्ञानिक और बौद्धिक मानव पूँजी के भारत के भंडार का लाभ उठाया जाएगा। प्रवासी भारतीय समुदाय की भौगोलिक आर्थिक और भौगोलिक राजनीतिक शक्ति को शामिल किया जाएगा। आधुनिक तकनीकी के इस्तेमाल से संपूर्ण और सुरक्षित आवास सुविधा के लिए अवसर के रूप में शहरीकरण का इस्तेमाल किया जाएगा। शासन में जटिलता और परेशानियों की संभावनाओं को कम करने के लिए प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जाएगा।

नीति आयोग की संरचना, उद्देश्य और कार्य

योजना आयोग का गठन एक मंत्रिमंडलीय प्रस्ताव के जरिए 15 मार्च, 1950 को किया था। इसके लगभग 65 वर्षों के बाद देश के अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था से उभरते वैश्विक परिदृश्य की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक के रूप में स्वयं को परिवर्तित किया है। राजनीतिक रूप से भी बहुलवाद को व्यापक तरीके से अंगीकार किया गया है और सरकारी विनियंत्रण में संघीय सर्वसहमतियों को नया आकार दिया गया है। इन बदली हुई परिस्थितियों में राज्य, केन्द्र का केवल अनुबंध बन कर नहीं रहना चाहते। वे आर्थिक विकास और प्रगति के निर्धारण में अपना निर्णायक अधिकार चाहते हैं। एक ही सिद्धांत वाले दृष्टिकोण में अनावश्यक तनाव उत्पन्न करने और राष्ट्रीय प्रयास की संपूर्णता को कमतर बनाने की क्षमता होती है, जो केन्द्रीय योजना में प्राय: अंतर्निहित होती है।

भारत के बदलाव की गतिशीलता के हृदय में प्रौद्योगिकी क्रांति और सूचनाओं तक बेहतर पहुंच और उन्हें साझा करने की भावना अंतर्निहित है। इस बदलाव की प्रक्रिया में कुछ परिवर्तनों का, जहाँ अनुमान लगाया जाता है और योजना बनायी जाती है, इनमें से कई बाजार तत्वों और बड़े वैश्विक बदलावों के परिणामस्वरूप हैं। हमारे संस्थानों और राजनीति का उद्भव और परिपक्वता भी केन्द्रीकृत योजना की भूमिका को निम्न बना देती है, जिसे पुन:परिभाषित करने की जरूरत है।

भारत में प्रभावी शासन निम्नलिखित स्तंभों पर आधारित होगा-

- जनता पर अत्यधिक केंद्रित कार्यक्रम, जो समाज के साथ-साथ व्यक्ति की भी आकांक्षा पूरी करता हो।
- जनता की जरूरतों का अनुमान लगाने और उन्हें पूरा करने में अत्यधिक सक्रिय हो।
- नागरिकों की भागीदारी सुनिश्चित हो।
- सभी परिप्रेक्ष्यों में महिलाओं का सशक्तिकरण हो।
- सभी समूहों के समावेश के साथ, ग्रामीण क्षेत्र, किसान (गाँव एवं किसान) और युवा एवं अल्पसंख्यक समुदाय के सभी वर्गों पर विशेष ध्यान।
- देश के युवाओं के लिए समान अवसर।
- पारदर्शिता जो सरकार को सक्रिय एवं प्रभावशाली तथा जिम्मेदार बनाने के लिए प्रौद्योगिकी का उपयोग करती हो।

शासन संरचना के संदर्भ में हमारे देश की जरूरतें बदली हैं, ऐसे में एक ऐसे संस्थान की स्थापना की आवश्यकता है, जो दिशात्मक और नीति निर्धारक सरकार के थिंक टैंक के रूप में कार्य करे, सभी/प्रत्येक स्तर पर नीति-निर्धारण के प्रमुख तत्वों के बारे में रणनीतिक और तकनीकी सलाह दे। इसमें आर्थिक मोर्चे पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आयात के मामले, देश के भीतर और अन्य देशों में उपलब्ध सर्वोत्तम उपायों के प्रसार, नए नीतिगत विचारों को अपनाने और विषय आधारित विशिष्ट सहायता शामिल है।

इन आशाओं को जीवंत बनाने के लिए ही सरकार ने नीति आयोग (राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान) की स्थापना का निर्णय लिया गया। इसे राज्य सरकारों, संसद सदस्यों, विषय विशेषज्ञ और संबंधित संस्थानों सहित तमाम हितधारकों के बीच विचार-विमर्श के बाद स्थापित किया गया।

नीति आयोग की संरचना

- भारत के प्रधानमंत्री अध्यक्ष।
- गवर्निंग काउंसिल में राज्यों के मुख्यमंत्री और केन्द्रशासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल होते हैं।
- विशिष्ट मुद्दों और ऐसे आकस्मिक मामले, जिनका संबंध एक से अधिक राज्य या क्षेत्र से हो, को देखने के लिए क्षेत्रीय परिषद गठित की जाएगी। ये परिषदें विशिष्ट कार्यकाल के लिए बनायी जाएंगी। भारत के प्रधानमंत्री के निर्देश पर क्षेत्रीय परिषदों की बैठक होगी और इसकी संबंधित क्षेत्र के

राज्यों के मुख्यमंत्री और केन्द्र शासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल होंगे (इनकी अध्यक्षता नीति आयोग के उपाध्यक्ष करेंगे।)
- संबंधित कार्य क्षेत्र की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ और कार्यरत लोग, विशेष आमंत्रण के रूप में प्रधानमंत्री द्वारा नामित किए जाएंगे।

पूर्णकालिक संगठनात्मक संरचना (प्रधानमंत्री व अध्यक्ष होने के अलावा)

- ***उपाध्यक्ष:*** प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त।
- पूर्णकालिक सदस्य।
- ***अंशकालिक सदस्य:*** अग्रणी विश्व- विद्यालय शोध संस्थानों से अधिकतम दो पदेन सदस्य, ये अंशकालिक सदस्य बारी के आधार पर होंगे।
- ***पदेन सदस्य:*** केन्द्रीय मंत्रिपरिषद से अधिकतम चार सदस्य प्रधानमंत्री द्व ारा नामित होंगे। यदि बारी के आधार को प्राथमिकता दी जाती है तो यह नियुक्ति विशिष्ट कार्यकाल के लिए होगी।
- ***मुख्य कार्यकारी अधिकारी:*** भारत सरकार के सचिव स्तर के अधिकारी को निश्चित कार्यकाल के लिए प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त किया जाएगा।
- सचिवालय आवश्यकता अनुसार।

नीति आयोग की नियुक्तियाँ

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने नीति आयोग में निम्नलिखित नियुक्तियाँ की है:
उपाध्यक्ष: राजीव कुमार।(अर्थशास्त्री)
पूर्णकालिक सदस्य: डॉ. विनोद पॉल (लोक स्वास्थ्य विशेषज्ञ) रमेश चन्द्र (Ramesh Chandra) (कृषि विशेषज्ञ) डॉ. वी. के. सारस्वत, पूर्व सचिव, (DRDO रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन)।
पदेन सदस्य: राजनाथ सिंह, निर्मला सीतारमण, पीयूष गोयल।
विशेष आमंत्रित सदस्य: नितिन गडकरी, थावर चंद गहलोत, रमेश पोखरियाल निशंक (सभी केन्द्रीय मंत्री)।
मुख्य कार्यकारी अधिकारी: योजना आयोग के पूर्व सचिव अमिताभकांत को मुख्य कार्यकारी अधिकारी (सीईओ) नियुक्त किया गया।
नीति आयोग, सहकारी संघवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता, नागरिकों की भागीदारी को बढ़ावा देने, अवसरों तक समतावादी पहुँच, प्रतिभागी एवं अनुकूलनीय शासन और विकसित हो रही प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रयोग के जरिए, शासन प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश और कार्यनीतिक योगदान देगा। सहकारी संघवाद, अवसरों के प्रति समतावादी एवं समावेशी पहुँच, प्रौद्योगिकी का समुचित उपयोग एवं सहभागी शासन पर आधारित आर्थिक विकास पर जोर देते हुए नीति आयोग महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश एवं सरकार तथा शासन प्रक्रिया को कार्यनीतिक योगदान प्रदान करेगा।
केन्द्र से राज्यों की तरफ चलने वाले एकपक्षीय नीतिगत क्रम को एक महत्त्वपूर्ण विकासवादी परिवर्तन के रूप में राज्यों की वास्तविक और सतत भागीदारी से बदल दिया जाएगा। त्वरित गति से कार्य करने के लिए सरकार को रणनीतिक दृष्टिकोण उपलब्ध कराने के साथ-साथ प्रासंगिक विषयों से निपटने के लिए इस संस्थान के पास आवश्यक संसाधन, ज्ञान, कौशल और क्षमता होनी चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि, विश्व के सकारात्मक प्रभावों को अपनाते हुए संस्थान को इस नीति का पालन करना होगा कि भारत के परिप्रेक्ष्य में एक ही मॉडल प्रत्यारोपित नहीं किया जा सकता है। विकास के लिए हमें अपनी नीति स्वयं निर्धारित करनी होगी। देश में और देश के लिए क्या हितकारी है, संस्थान को इस पर ध्यान केंद्रित करना होगा, जो विकास के लिए भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित होगा।

राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council)

योजना के समर्थन में देश के संसाधनों एवं प्रयासों को गतिशील बनाने, सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों को बढ़ावा देने तथा देश के सभी भागों में संतुलित एवं तीव्र विकास को बढ़ावा देने के लिए 'राष्ट्रीय विकास परिषद' का गठन 6 अगस्त, 1952 को किया गया था। यह एक संविधानेत्तर संस्था है। इसका गठन केन्द्र सरकार के एक शासकीय आदेश के द्वारा हुआ था।

उद्देश्य-

'राष्ट्रीय विकास परिषद' की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए की गई थी-
- योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन में राज्यों का सहयोग प्राप्त करना।
- योजना के समर्थन में राष्ट्र के संसाधनों एवं प्रयासों को गतिशील बनाना।
- सभी अहम क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों को बढ़ावा देना।
- देश के सभी भागों में तीव्र एवं संतुलित विकास को बढ़ावा देना।

कार्य

राष्ट्रीय विकास परिषद के निम्नलिखित कार्य है-
- राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक व आर्थिक नीति से जुड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।
- समय-समय पर योजना संचालन की समीक्षा करना तथा उपायों की अनुशंसा करना, जिससे राष्ट्रीय योजना के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकें।
- राष्ट्रीय योजना में निर्धारित लक्ष्य और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपायों की सिफारिश करना।

संरचना

राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमंत्री, सभी कैबिनेट मंत्री, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री, सभी केन्द्रशासित प्रदेशों के उपराज्यपाल/मुख्यमंत्री शामिल होते हैं। (गौरतलब है कि अभी तक योजना आयोग के सभी सदस्य भी इसमें शामिल होते थे।) वर्तमान में नीति आयोग के सभी सदस्य इसमें शामिल होते हैं।

महत्त्व

राष्ट्रीय विकास परिषद सहकारी संघवाद की भावना को बढ़ावा देता है। केन्द्र एवं राज्यों के बीच योजनाओं के प्रारूप के संबंध में यह विस्तृत विचार-विमर्श करता है। केन्द्र-राज्य के बीच सहभागिता, समन्वय एवं सहयोग को बढ़ावा देता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, परिषद में केन्द्र एवं राज्यों के अलावा अन्य हितों से जुड़े प्रतिनिधियों को भी अपनी बात कहने का मौका दिया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद संघवादी व्यवस्था का प्रतीक है। इसके संगठन का चरित्र राष्ट्रीय है। स्वयं प्रधानमंत्री के अध्यक्ष होने के कारण इसे एक विशेष प्रकार का नेतृत्व, नियंत्रण तथा महत्व प्राप्त है। विकास की गति को बढ़ाने, क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त कर संतुलित विकास को बढ़ावा देने, गरीबी, बेरोजगारी व पिछड़ापन को दूर करने में परिषद की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

सूचना आयोग(Information Commission)

केन्द्रीय सूचना आयोग की स्थापना सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 के तहत दी गई है। स्पष्ट है कि, सूचना आयोग एक सांविधिक संस्था है, संवैधानिक नहीं। प्रत्येक लोक प्राधिकारी के कार्यकरण में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के संवर्द्धन के लिए तथा लोक प्राधिकारियों के निमंत्रणाधीन सूचना तक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए नागरिकों के सूचना के अधिकार की

व्यावहारिक शासन पद्धति स्थापित करने हेतु एक केन्द्रीय सूचना आयोग तथा राज्यों में राज्य सूचना आयोग का गठन किया गया है।

आयोग की संरचना

केन्द्रीय सूचना आयोग में एक मुख्य सूचना आयुक्त तथा अधिकतम 10 सूचना आयुक्त हो सकते हैं। मुख्य सूचना आयुक्त एवं सूचना आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा एक समिति की सिफारिश पर की जाती है। इस समिति का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है और सदस्य के तौर पर लोक सभा में विपक्ष का नेता तथा प्रधानमंत्री द्वारा नामनिर्दिष्ट एक मंत्री शामिल होता है।

केन्द्रीय सूचना आयोग के कार्यों का साधारण अधीक्षण, निदेशन और प्रबंधन मुख्य सूचना आयुक्त द्वारा होता है। इसकी सहायता सूचना आयुक्तों द्वारा की जाती है। मुख्य सूचना आयुक्त और सूचना आयुक्त विधि, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, समाजसेवा, प्रबंधन, पत्रकारिता, जनसंपर्क माध्यम या प्रशासन का व्यापक ज्ञान और अनुभव रखने वाले प्रख्यात व्यक्ति होते हैं। मुख्य सूचना आयुक्त या सूचना आयुक्त संसद या विधान मंडल के सदस्य नहीं होते और न ही कोई लाभ का पद धारण कर सकते हैं। इनके लिए यह भी प्रावधान है कि, ये किसी राजनीतिक दल से संबंधित नहीं होंगे और न ही किसी वृत्ति या व्यापार में शामिल होंगे। केन्द्रीय सूचना आयोग का मुख्यालय दिल्ली में है, लेकिन आयोग केन्द्र सरकार की अनुमति से देश में अन्य स्थानों पर कार्यालय स्थापित कर सकता है।

पदावधि एवं सेवा-शर्तें

मुख्य सूचना आयुक्त तथा सूचना आयुक्त पद ग्रहण करने की तारीख से 3 वर्ष या 65 वर्ष की उम्र (इनमें जो भी पहले हो) तक पद धारण करता है। इस स्थिति में मुख्य सूचना आयुक्त या सूचना आयुक्त पुनर्नियुक्ति के पात्र नहीं होंगे। मुख्य सूचना आयुक्त तथा सूचना आयुक्त राष्ट्रपति या उसके द्वारा इस निर्मित प्राधिकृत किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष शपथ ग्रहण करते हैं।

शक्तियां एवं कार्य

सूचना का अधिकार अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए आयोग का यह कर्तव्य होगा कि, वह निम्नलिखित किसी ऐसे व्यक्ति से शिकायत प्राप्त करे और उसकी जाँच करे-

- जो लोक सूचना अधिकारी की नियुक्ति न हो पाने के कारण किसी सूचना पाने के लिए आवेदन करने में असमर्थ रहा हो।
- जिसे इस अधिनियम के अधीन अनुरोध की गई किसी जानकारी को देने से इंकार कर दिया गया हो।
- इस अधिनियम के अधीन विनिर्दिष्ट समय-सीमा के भीतर सूचना के संबंध में कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया गया हो।
- किसी व्यक्ति से ऐसी फीस की रकम अदा करने की अपेक्षा की गई है, जो वह अनुचित समझता हो।
- यदि उसे लगता हो कि दी गई सूचना अपूर्ण, भ्रामक एवं मिथ्या है।
- इस अधिनियम के अधीन अभिलेखों तक पहुँच से संबंधित किसी अन्य विषय के संबंध में।
- यदि आयोग को यह समाधान हो जाता है कि, किसी विषय में जाँच करने के लिए युक्तियुक्त आधार है तो वह जाँच का आदेश दे सकता है।

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो
(Central Bureau of Investigation: CBI)

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो की स्थापना का मूल 1941 में तत्कालीन ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा निर्मित 'विशेष पुलिस स्थापना' (Special Police Establishment: SPE) में निहित है। SPE का निर्माण द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत के युद्ध तथा आपूर्ति विभाग के साथ लेन-देन में रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार के मामलों की जाँच-पड़ताल के लिए किया गया था। SPE का अधीक्षण युद्ध विभाग में विहित था। कालांतर में, संथानम समिति की अनुशंसाओं के आधार पर भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए गृह मंत्रालय के एक प्रस्ताव द्वारा CBI की स्थापना की गयी। तत्पश्चात, इसे कार्मिक मंत्रालय में स्थानांतरित कर दिया गया और वर्तमान में यह एक अनुलग्न कार्यालय की तरह कार्य करता है। वर्तमान में CBI के निदेशक ऋषि कुमार शुक्ल है।

- CBI एक वैधानिक निकाय नहीं है। यह दिल्ली विशेष पुलिस स्थापना अधिनियम, 1946 से अपनी शक्तियाँ प्राप्त करता है।
- CBI केन्द्र सरकार की प्रमुख जाँच एजेंसी है। यह भ्रष्टाचार की रोकथाम और प्रशासन की एकता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 के तहत यह केन्द्रीय सतर्कता आयोग (CVC) के अधीक्षण के तहत कार्य करती है।

CBI की अध्यक्षता निर्देशक द्वारा की जाती है तथा एक विशेष निदेशक या अतिरिक्त निदेशक इसे सहायता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, इसमें कई संयुक्त निदेशक, उपमहानिरीक्षक, पुलिस अधीक्षक और सामान्य रैंक के अन्य पुलिसकर्मी सम्मिलित होते हैं।

- CBI निदेशक, पुलिस महानिरीक्षक के रूप में दिल्ली विशेष पुलिस स्थापना के तहत संगठन के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है।
- केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) अधिनियम, 2003 (विनीत नारायण वाद) द्वारा CBI के निदेशक को 2 वर्ष के कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान की गयी है।
- CVC अधिनियम, 2003 CBI के निदेशक और CBI में पुलिस अधीक्षक तथा इससे उच्च अधिकारियों के चयन की व्यवस्था भी प्रदान करता है। CBI के निदेशक को एक समिति की अनुशंसा पर केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। इस समिति में निम्नलिखित सदस्य सम्मिलित होते हैं-
  - केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त, अध्यक्ष के रूप में,
  - अन्य सतर्कता आयुक्त,
  - गृह सचिव भारत सरकार तथा
  - कैबिनेट सचिवालय के सचिव (समन्वय और लोक शिकायत)

शाखाएँ

वर्तमान में (2013), CBI की निम्नलिखित शाखाएँ हैं-

- भ्रष्टाचार निरोधक शाखा।
- आर्थिक अपराध शाखा।
- विशेष अपराध शाखा।
- नीतिगत एवं अंतर्राष्ट्रीय पुलिस सहयोग शाखा। भारत के लिए CBI ही इंटरपोल की अधिकारिक इकाई है।
- प्रशासनिक शाखा।
- योजन निदेशालय।
- केंद्रीय फोरेंसिक विज्ञान प्रयोगशाला।

CBI के कार्य

CBI के कार्य निम्नलिखित हैं-

- केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और कदाचार के मामलों की जाँच करना।
- राजकोषीय तथा आर्थिक कानूनों के उल्लंघन से संबंधित मामलों की जाँच करना। इनमें निर्यात और आयात नियंत्रण, केन्द्रीय उत्पाद एवं सीमा शुल्क,

आय कर, विदेशी मुद्रा विनिमय के विनियमन आदि से संबंधित कानूनों के उल्लंघन के मामले सम्मिलित हैं। हालांकि, ऐसे मामलों में संबंधित विभागों के अनुरोध या परामर्श के आधार पर ही कदम उठाये जाते हैं।

- पेशेवर अपराधियों के संगठित गिरोहों द्वारा प्रतिबद्ध राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव वाले गंभीर अपराधों की जाँच करना।
- भ्रष्टाचार निरोधक एजेंसियों और विभिन्न राज्य पुलिस बलों के मध्य समन्वय स्थापित करना।
- राज्य सरकार के अनुरोध पर सार्वजनिक महत्व के किसी मामले को जाँच के लिए अपने हाथ में लेना।
- अपराध से संबंधित आँकडों का निरीक्षण करना और आपराधिक सूचनाओं का प्रसार करना।

CBI भारत सरकार की एक बहुविषयक जांच एजेंसी है। CBI को भ्रष्टाचार संबंधी मामलों की जाँच, आर्थिक अपराध और पारंपरिक अपराध के मामलों की जाँच का उत्तरदायित्व प्राप्त है। सामान्यत: यह केन्द्र सरकार, केन्द्रशासित प्रदेश तथा उनके लोक उद्यमों के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार के अनुसंधान तक सीमित रहती है। परन्तु यह राज्य सरकारों द्वारा अनुरोध करने या उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा निर्देश देने पर पारंपरिक अपराधों जैसे हत्या, अपहरण, बलात्कार आदि की भी जाँच करती है। CBI भारत में इंटरपोल के 'राष्ट्रीय केन्द्रीय ब्यूरो' (National Central Bureau) के रूप में कार्य करती है। CBI की इंटरपोल विंग भारतीय कानून प्रवर्तन एजेंसियों और इंटरपोल के सदस्य देशों से होने वाली जांच संबंधी गतिविधियों के अनुरोधों का समन्वय करती है।

CBI का पिंजरे में बंद तोते के रूप में होना और इसे मुक्त करने के लिए कदम- उच्चतम न्यायालय ने कोलगेट घोटाला मामले की सुनवायी करते हुए CBI की स्वतंत्रता पर प्रश्न उठाते हुए कहा था कि यह 'अपने मालिक की आवाज में बोलने वाला तोता' है। तत्पश्चात उच्चतम न्यायालय ने केन्द्र को CBI को निष्पक्ष बनाने का निर्देश दिया और यह भी निर्देश दिया कि यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि CBI सभी बाहरी दबावों से मुक्त हो।

केंद्रीय सतर्कता आयोग (Central Vigilance Commission CVC)

भ्रष्टाचार निवारण समिति (जिसे संथानम समिति के रूप में जाना जाता है) के द्वारा की गई सिफारिशों के अनुसरण में भारत सरकार द्वारा भ्रष्टाचार वॉचडॉग के रूप में केन्द्रीय सतर्कता आयोग का गठन फरवरी, 1964 में किया गया। उच्चतम न्यायालय के निर्णय के परिणामस्वरूप आयोग को 'केन्द्रीय सतर्कता आयोग अध्यादेश-1998' के माध्यम से वैधानिक दर्जा दिया गया। केन्द्रीय सतर्कता आयोग विधेयक वर्ष, 2003 में संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया। 11 सितंबर, 2005 को राष्ट्रपति की मंजूरी मिलने के बाद यह केन्द्रीय सर्तकता आयोग अधिनियम, 2003 के रूप में प्रभावी हो गया।

संरचना

केन्द्रीय सतर्कता आयोग एक बहुसदस्यीय संस्था है, जिसमें एक केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त (अध्यक्ष) तथा अधिकतम दो सतर्कता आयुक्त सदस्य होते हैं। अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा एक समिति की सिफारिश पर की जाती है। इस समिति का अध्यक्ष प्रधानमंत्री तथा दो अन्य सदस्य केन्द्रीय गृह मंत्री तथा लोकसभा में विपक्ष का नेता होता है, लेकिन समिति में किसी रिक्त स्थान के आधार पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति की वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। अध्यक्ष एवं सदस्यों का कार्यकाल 4 वर्ष या 65 वर्ष (इनमें जो भी पहले हो) का होता है। कार्यकाल की समाप्ति के पश्चात वे पुनर्नियुक्ति के पात्र नहीं होते हैं। पद ग्रहण करने से पहले अध्यक्ष एवं सदस्यों को राष्ट्रपति या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति के समक्ष शपथ-ग्रहण करनी पड़ती है।

यह प्रावधान है कि, केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त और सतर्कता आयुक्त ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाएंगें, जो अखिल भारतीय सेवा में या संघ की किसी सिविल सेवा में या संघ के अधीन किसी सिविल सेवा के पद पर रह चुके हैं या जिनके पास सतर्कता, नीति बनाने और प्रशासन, जिसके अंतर्गत पुलिस प्रशासन भी है, से संबंधित विषयों का ज्ञान और अनुभव है। वर्तमान सतर्कता आयुक्त सुरेश एन पटेल है।

कार्य एवं शक्तियाँ

केन्द्रीय सतर्कता आयोग के निम्नलिखित कार्य हैं-

- भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 के अंतर्गत, अन्वेषण के संबंध में अथवा लोक सेवकों की विशिष्ट श्रेणियों के लिए आपराधिक प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत अपराधों के संबंध में दिल्ली विशेष पुलिस स्थापना के कार्यों का अधीक्षण करना तथा इस उत्तरदायित्व का निष्पादन करने के लिए दिल्ली विशेष पुलिस स्थापना (CBI) को निर्देश देना।
- भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अंतर्गत, अभिकथित रूप से किए गए अपराधों के संबंध में दिल्ली विशेष पुलिस स्थापना (CBI) द्वारा किए जा रहे अन्वेषण कार्य की प्रगति की समीक्षा करना।
- ऐसे किसी भी लेन-देन के मामले की जाँच करना अथवा करवाना, जिसमें भारत सरकार के कार्यकारी नियंत्रणाधीन संगठन में कार्यरत लोक सेवक के बारे में संदेह हो कि उसने ऐसा कार्य किसी अनुचित प्रयोजन से अथवा भ्रष्टाचार-पूर्ण तरीके से किया है।
- सतर्कता संबंधी पहलू वाले अनुशासनिक मामलों में अन्वेषण, जाँच, अपील, पुनरीक्षण आदि के विभिन्न चरणों में अनुशासिक तथा अन्य प्राधिकारियों को स्वतंत्र तथा निष्पक्ष सलाह देना।
- भारत सरकार के मंत्रालयों अथवा विभागों तथा संघ के कार्यकारी नियंत्रण में आने वाले अन्य संगठनों के सतर्कता तथा भ्रष्टाचार निवारण संबंधी कार्य की सामान्य जाँच एवं निगरानी करना।
- निदेशक (केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो), निदेशक (प्रवर्तन निदेशालय) तथा दिल्ली विशेष पुलिस स्थापना में पुलिस अधीक्षक तथा इससे ऊपर के स्तर के अधिकारियों की चयन समितियों की अध्यक्षता करना।
- जनहित प्रकटीकरण तथा मुखबिर संरक्षण के अंतर्गत, प्राप्त शिकायतों की जाँच करना अथवा करवाना तथा उचित कार्यवाही की सिफारिश करना।
- केन्द्र सरकार के किसी केन्द्रीय अधिनियम द्वारा या उसके द्वारा स्थापित निगमों, केन्द्रीय सरकार के स्वामित्वाधीन या उसके नियंत्रणाधीन सरकारी कंपनियों, सोसाइटियों और स्थानीय प्राधिकरणों के कतिपय प्रवर्गों के लोक सेवकों द्वारा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 मे अभिकथित अपराधों की जांच करना।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (National Human Rights Commission)

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 (2006 में संशोधित) के तहत किया गया। यह एक सांविधिक स्वायत्त निकाय है। इसका गठन संसदीय अधिनियम के माध्यम से किया गया है। मानवाधिकार संरक्षण के प्रयासों को सशक्त एवं निष्पक्ष बनाना व एक स्वतंत्र संस्था के रूप में मानवाधिकारों के उल्लंघन से जुड़े मुद्दों पर सरकार का ध्यान आकृष्ट करना इसका उद्देश्य है, ताकि समस्याओं का समाधान किया जा सके। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में स्थित है। यह आयोग उन्हीं मामलों की जाँच कर सकता है, जिन्हें घटित हुए एक वर्ष से कम समय हुआ हो।

आयोग की संरचना

आयोग एक बहु-सदस्यीय संस्था है, जिसमें एक अध्यक्ष व चार सदस्य होते हैं। आयोग का अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय का कोई सेवानिवृत्त न्यायाधीश होना चाहिए। एक सदस्य उच्चतम न्यायालय में कार्यरत अथवा सेवानिवृत्त न्यायाधीश, एक उच्च न्यायालय का कार्यरत या सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश होना चाहिए। दो अन्य व्यक्तियों को मानवाधिकार से संबंधित जानकारी अथवा कार्यानुभव होना चाहिए। इन पूर्णकालिक सदस्यों के अतिरिक्त आयोग में अन्य पदेन सदस्य भी होते हैं- राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति व राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग एवं राष्ट्रीय महिला आयोग के अध्यक्ष। राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग तथा राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग के चेयरपर्सन्स और राष्ट्रीय विकलांग जन आयोग के चीफ कमीश्नर आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के नेतृत्व में गठित छह सदस्यीय समिति की सिफारिश के आधार पर होती है। समिति में प्रधानमंत्री, लोकसभा अध्यक्ष, राज्यसभा के उप-सभापति, संसद के दोनों सदनों के मुख्य विपक्षी दल के नेता व केंद्रीय गृहमंत्री होते हैं। इसके अतिरिक्त, भारत के मुख्य न्यायाधीश की सलाह पर, उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश अथवा उच्च न्यायालय के किसी मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति हो सकती है।

वेतन/कार्यकाल/पदमुक्ति

अध्यक्ष व सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्ष या 70 वर्ष की उम्र (जो पहले ही), तक होता है।

राष्ट्रपति अध्यक्ष व सदस्यों को उनके पद से किसी भी समय निम्नलिखित परिस्थितियों में हटा सकता है:

- यदि वह दिवालिया हो जाए।
- यदि वह अपने कार्यकाल के दौरान, अपने कार्यक्षेत्र से बाहर के किसी प्रदत्त रोजगार में संलिप्त होता है।
- यदि वह मानसिक व शारीरिक कारणों से कार्य करने में असमर्थ हों।
- यदि वह मानसिक रूप से अस्वस्थ हो तथा सक्षम न्यायालय ऐसी घोषणा करे।
- यदि वह न्यायालय द्वारा किसी अपराध का दोषी हों।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति, अध्यक्ष तथा किसी भी सदस्य को उसके दुराचरण या अक्षमता के कारण भी पद से हटा सकता है। हालाँकि इस स्थिति में राष्ट्रपति इस विषय को उच्चतम न्यायालय में जाँच के लिए सौंपेगा। यदि जाँच के उपरांत उच्चतम न्यायालय इन आरोपों को सही पाता है तो उसकी सलाह पर राष्ट्रपति इन सदस्यों व अध्यक्ष को उनके पद से हटा सकता है।

आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों के वेतन, भत्तों व अन्य सेवा शर्तों का निर्धारण केंद्रीय सरकार द्वारा किया जाता है, परंतु नियुक्ति के उपरांत उनमें अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त सभी उपबंधों का उद्देश्य, आयोग की कार्यशैली को स्वायत्तता, स्वाधीनता तथा निष्पक्षता प्रदान करना है।

आयोग के कार्य

आयोग के कार्य निम्नानुसार हैं-

- मानवाधिकारों के उल्लंघन की जाँच करना अथवा किसी लोक सेवक के समक्ष प्रस्तुत मानवाधिकार उल्लंघन की प्रार्थना, जिसकी वह अवहेलना करता हो, की जाँच स्व प्रेरणा या न्यायालय के आदेश से करना।
- न्यायालय में लंबित किसी मानवाधिकार से संबंधित कार्यवाही में हस्तक्षेप करना।
- जेलों व बंदीगृहों में जाकर वहां की स्थिति का अध्ययन करना व इस बारे में सिफारिशें करना।
- मानवाधिकार की रक्षा हेतु बनाए गए संवैधानिक व विधिक उपबंधों की समीक्षा करना तथा इनके प्रभावी कार्यान्वयन हेतु उपायों की सिफारिशें करना।
- आतंकवाद सहित उन सभी कारणों की समीक्षा करना, जिनसे मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है तथा इनसे बचाव के उपायों की सिफारिश करना।
- मानवाधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय संधियों व दस्तावेजों का अध्ययन व उनको प्रभावशाली तरीके से लागू करने हेतु सिफारिशें करना।
- मानवाधिकारों के क्षेत्र में शोध करना और इसे प्रोत्साहित करना।
- लोगों के बीच मानवाधिकारों की जानकारी फैलाना व उनकी सुरक्षा के लिए उपलब्ध उपायों के प्रति जागरूक करना।
- मानवाधिकारों के क्षेत्र में कार्यरत गैर-सरकारी संगठनों के प्रयासों की सराहना करना।
- ऐसे आवश्यक कार्यों को करना, जो मानवाधिकारों के प्रचार के लिए आवश्यक हों।

राष्ट्रीय महिला आयोग (National Commission for Women)

भारत सरकार द्वारा भारत में महिलाओं की स्थिति पर 1974 में एक समिति गठित की गई, जिसमें महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक विकास को गति देने और शिकायतों के निपटारे को बढ़ावा देने तथा निगरानी कार्यों को पूरा करने के लिए एक राष्ट्रीय महिला आयोग के गठन की सिफारिश की गई थी। इसके बाद गठित की गई कई महिला संबंधी समितियों, आयोगों एवं योजनाओं (महिलाओं से संबंधित राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना-1988 सहित) द्वारा भी महिलाओं के लिए इस प्रकार के एक शीर्ष निकाय के गठन की सिफारिश की गई। जनवरी, 1992 में महिलाओं के हितों एवं अधिकारों के संरक्षण व संवर्द्धन हेतु महिलाओं के लिए 'राष्ट्रीय महिला आयोग' की स्थापना की गई।

राष्ट्रीय महिला आयोग एक सांविधिक (न कि एक संवैधानिक) निकाय है। इसका गठन महिलाओं के लिए राष्ट्रीय आयोग अधिनियम, 1990 (भारत सरकार का 1990 का अधिनियम संख्या 20) के अधीन किया गया है। वर्तमान में महिला आयोग की अध्यक्ष यह रेखा शर्मा है। भारत सरकार का महिला एवं बाल विकास मंत्रालय आयोग का नोडल मंत्रालय है।

अपने जनादेश के साथ आयोग महिलाओं के विकास एवं सशक्तिकरण के लगभग सभी पहलुओं को अपने अधिकार क्षेत्र में शामिल करता है। आयोग के उद्देश्य इस प्रकार हैं-

- महिलाओं के लिए संवैधानिक और कानूनी सुरक्षा उपायों की समीक्षा करना।
- उपचारात्मक विधायी उपायों की सिफारिश करना।
- शिकायतों के निवारण को बढ़ावा देना।
- महिलाओं को प्रभावित करने वाले सभी नीतिगत मामलों पर सरकार को सलाह देना।

आयोग की संरचना

धारा 3 के तहत, 1990 के अधिनियम में आयोग की संरचना का प्रावधान है। आयोग एक बहुसदस्यीय संस्था है, जिसमें एक अध्यक्ष, पांच सदस्य और एक सदस्य सचिव शामिल होते हैं। आयोग का अध्यक्ष महिलाओं के हितों के लिए प्रतिबद्ध व्यक्ति को बनाया जाना चाहिए। पाँच सदस्यों का चयन योग्यता एवं सत्यनिष्ठा के अलावा कानून या विधायन, ट्रेड यूनियनवाद, महिलाओं की रोजगार संभावना बढ़ाने वाले उद्योग या संगठन के प्रबंधन, महिलाओं के गैर-सरकारी संगठनों, प्रशासन, आर्थिक विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा

या सामाजिक कल्याण से जुड़े अनुभवों के आधार पर किया जाता है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति से जुड़ा एक-एक सदस्य भी आयोग में होना आवश्यक है।

अध्यक्ष, सदस्य और सदस्य-सचिव का नामांकन केन्द्र सरकार (महिला एवं बाल विकास मंत्रालय) द्वारा किया जाता है। उनके वेतन, भत्ते और अन्य सेवा शर्तें भी केन्द्र सरकार द्वारा निर्धारित होती है।

सदस्य सचिव प्रबंधन, संगठनात्मक संरचना या सामाजिक आंदोलनों के क्षेत्र में एक विशेषज्ञ होना चाहिए या केन्द्र की सिविल सेवा या अखिल भारतीय सेवा का एक अधिकारी होना चाहिए।

आयोग के कार्य

1990 के अधिनियम की धारा 10(1), राष्ट्रीय महिला आयोग के लिए चौदह सूत्रीय जनादेश प्रदान करता है। जनादेश को सामान्य अवलोकन प्रदान किया गया है, जिनमें है-

- संविधान और कानून के अधीन महिलाओं को उपलब्ध कराये गये सुरक्षा उपाय से जुड़े सभी मामलों की जाँच एवं परीक्षण करना।
- इन सुरक्षापायों के कार्यपालन के संबंध में केन्द्र सरकार को वार्षिक या अन्य अनुकूल समय पर रिपोर्ट भेजना।
- केन्द्र या किसी राज्य द्वारा महिलाओं की दशा सुधारने के लिए इन सुरक्षापायों के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु सिफारिशें देना।
- महिलाओं को प्रभावित करने वाले संविधान के मौजूदा उपबंधों और कानूनों की समीक्षा करना तथा इस प्रकार के कानूनों में किसी भी प्रकार की कमी को पूरा करने के लिए संशोधनों का सुझाव देना।
- महिलाओं से जुड़े संविधान के उपबंधों एवं कानूनों के उल्लंघन के मामले को हाथ में लेना।
- महिलाओं के विरूद्ध भेद-भाव और उत्पीड़न से पैदा होने वाली विशेष समस्याओं या स्थितियों में विशेष अध्ययनों और जाँच का आह्वान करना तथा इन समस्याओं के समाधान के लिए अनुमोदित की गई रणनीतियों के समक्ष आने वाली बाधाओं की पहचान करना।

राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग (National Child Rights Protection Commission)

राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग, बाल अधिकार अधिनियम के संरक्षण के लिए आयोग संसद के एक अधिनियम 2005 के तहत, मार्च 2007 में स्थापित किया था। यह आयोग एक वैधानिक निकाय है। यह आयोग देश में बाल अधिकारों का संरक्षण, संवर्द्धन और प्रतिरक्षण करता है। अधिनियम के अंतर्गत बाल अधिकारों में संयुक्त राष्ट्र समझौता (20 नवंबर, 1989) द्वारा अंगीकृत बच्चों के अधिकारों को शामिल किया गया है। भारत सरकार द्वारा 11 दिसंबर, 1992 को इस समझौते का अनुमोदन किया गया था। इस समझौते के तहत, 0 से 18 वर्ष के आयु वर्ग में एक व्यक्ति के रूप में 'बाल' को परिभाषित किया गया है। आयोग बच्चों से जुड़े सभी कानूनों एवं कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन की जिम्मेदारी निभाता है। प्रत्येक बच्चों तक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए यह समुदायों और परिवारों में एक गहरी पैठ चाहता है। आयोग के लिए, बच्चों के सभी अधिकार बराबर महत्व के हैं।

आयोग के संघटन

राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग सार्वभौमिकता और बाल अधिकारों की पवित्रता के सिद्धांत पर जोर देता है और देश की नीतियों से संबंधित सभी बच्चों में तात्कालिकता के स्वर को पहचानता है। आयोग बहुसदस्यीय निकाय है, जिसमें एक अध्यक्ष एवं छह सदस्य होते हैं। छह सदस्यों में से दो महिला सदस्यों का होना अनिवार्य है। आयोग का अध्यक्ष ऐसे व्यक्ति को बनाया जाता है, जिसने बच्चों के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष कार्य किया हो। छह सदस्यों का चयन ऐसे व्यक्तियों में से किया जाता है, जिनमें श्रेष्ठ, गुण, योग्यता, सत्यनिष्ठा और स्थिरता हो।

आयोग के कार्य

आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं-

- बाल अधिकारों के संरक्षण हेतु विभिन्न कानूनों द्वारा उपलब्ध कराये गये सुरक्षा उपायों की जाँच एवं समीक्षा करना तथा उनके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए उपायों की सिफारिश करना।
- केन्द्र सरकार को वर्तमान वार्षिक और इस तरह के अन्य अंतराल पर आयोग के रूप में उन रक्षा उपायों के कार्यकरण पर रिपोर्ट भेजना।
- बाल अधिकारों के उल्लंघन की जाँच करने एवं इस तरह के मामले में कार्यवाही की सिफारिश करना।
- आतंकवाद, सांप्रदायिक हिंसा, दंगों, प्राकृतिक आपदा, घरेलू हिंसा, एचआईवी/एड्स, तस्करी, दुराचार, अत्याचार और शोषण, अश्लील साहित्य तथा वेश्यावृत्ति जैसे कारकों का परीक्षण करना, जो बच्चों के अधिकारों के उपभोग को बाधित करते हैं और उपचारात्मक उपायों की सिफारिश करना।
- विशेष देखभाल की जरूरत वाले बच्चों से जुड़े मामलों को देखना और उपचारात्मक उपाय सुझाना। इन बच्चों में तनावग्रस्त बच्चे, सीमांत बच्चे, किशोर अपराधी, कानूनी लड़ाई में फँसें बच्चे, कैदियों के बच्चे इत्यादि शामिल है।
- संधियों एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय उपकरणों का अध्ययन करने और बाल अधिकारों पर मौजूदा नीतियों, कार्यक्रमों और अन्य गतिविधियों की संविधिक समीक्षा करने तथा सर्वोत्तम हित में उनके प्रभावी कार्यान्वयन के लिए सिफारिश करना।
- बाल अधिकारों के क्षेत्र में शोध कार्य हाथ में लेना और उसे प्रोत्साहित करना।
- समाज के विभिन्न वर्गों के बीच बाल अधिकार साक्षरता को फैलाना और इन अधिकारों के संरक्षण हेतु उपलब्ध सुरक्षा उपायों के बारे में जागरूकता बढ़ाना।
- किसी किशोर संरक्षण गृह या किसी भी अन्य आवास या संस्था का निरीक्षण करना जहां बच्चों को उपचार, सुधार और संरक्षण के उद्देश्य से रखा जाता है।
- आयोग निम्नलिखित से जुड़े मामले में शिकायतों की जांच कर सकता है एवं अपनी पहल पर इन मामलों को संज्ञान में ले सकता है-
  - बाल अधिकारों के अभाव और उल्लंघन।
  - बच्चों के संरक्षण और विकास के लिए उपलब्ध कराने के कानूनों की गैर कार्यान्वयन।
  - बच्चों की कठिनाइयां समाप्त करने और उनके लिए कल्याण और राहत सुनिश्चित करने हेतु लिए गये नीतिगत निर्णयों या निर्देशों का गैर अनुपालन।
- ऐसे अन्य कार्यों को निष्पादित करना, जो बाल अधिकारों के संवर्द्धन हेतु आवश्यक समझ जाएं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि, आयोग ऐसे किसी मामले की जाँच नहीं कर सकता है, जो बाल अधिकारों के संरक्षण हेतु राज्य आयोग या किसी अन्य वैधानिक आयोग के समक्ष लंबित हो।

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद (National Security Council)

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद (एनएससी) का गठन श्रम मंत्रालय (भारत सरकार) द्वारा 4 मार्च 1966 में राष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरण पर एक स्वैच्छिक आंदोलन को विकसित करने और बनाये रखने के लिए किया गया था। परिषद एक शीर्ष गैर लाभकारी, त्रिपक्षीय निकाय है, जो कि सोसायटी पंजीकरण अधिनियम, 1860 और बॉम्बे पब्लिक ट्रस्ट एक्ट, 1950 के तहत पंजीकृत है। अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् विभिन्न गतिविधियां संचालित करती है, जो निम्नलिखित है–

- देश भर में विशेष प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों, सम्मेलनों, सेमिनारों और कार्यशालाओं का आयोजन एवं संचालन करना।
- इस तरह के सुरक्षा ऑडिट, जोखिम मूल्यांकन तथा जोखिम निर्धारण जैसे परामर्शी अध्ययनों का आयोजन करना।
- सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण को बढ़ावा देने वाली प्रचार सामग्री और प्रकाशनों का डिजाइन एवं विकास।
- सुरक्षा दिवस, अग्नि सेवा सप्ताह, विश्व पर्यावरण दिवस जैसे विभिन्न अभियानों को आयोजित करने वाले संगठनों को प्रोत्साहन।

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का मिशन है–

- राष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरण पर एक स्वैच्छिक आंदोलन उत्पन्न करना, विकसित करना एवं उसे बनाए रखना आदि समाज को ऐसी उपयुक्त नीतियों, प्रथाओं और प्रक्रियाओं को अंगीकार करने के लिए शिक्षित और प्रभावित किया जा सके, जो सभी प्रकार की दुर्घटनाओं से होने वाली आर्थिक हानि और मानवीय क्षति का निवारण या कम करती है।
- मानव गतिविधि के औद्योगिक एवं अन्य क्षेत्रों में सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा पर्यावरण पर विश्वस्तरीय मानकों और कार्य व्यवहारों की उपलब्धि को संवर्द्धित करना।
- राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद को प्रभावित करने वाले मामलों में सामुदायिक जागरूकता को मजबूत बनाना तथा इसकी सक्रिय भागीदारी को अभिप्रेरित करना।
- सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के क्षेत्र में काम करने वाले राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के सहयोगीकारी तथा समन्वयकारी प्रयासों को विकसित करना।

इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, 1966 के बाद शासी निकाय के सक्षम मार्गदर्शन के तहत आंदोलन के विकास में अग्रणी है और राष्ट्र के लिए समर्पित सेवा कर रहा है।

केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड (Central Board of Film Certification- CBFC)

केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अधीन एक संस्था है। यह चलचित्र अधिनियम, 1952 के प्रावधानों का अनुसरण करते हुए फिल्मों के सार्वजनिक प्रदर्शन का नियंत्रण करता है। भारत में किसी भी फिल्म के सार्वजनिक प्रदर्शन में पूर्व इसकी अनुमति लेना अनिवार्य है।

- ***संरचना***– बोर्ड में केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त अध्यक्ष एवं गैर सरकारी सदस्यों को शामिल किया जाता है। बोर्ड का मुख्यालय मुंबई में स्थित है तथा इसके नौ क्षेत्रीय कार्यालय हैं। जो मुंबई, कोलकाता, चेन्नई, बंगलौर, तिरुवनंतपुरम, हैदराबाद, नई दिल्ली, कटक और गुवाहाटी में स्थित है।

क्षेत्रीय कार्यालयों में सलाहकार पैनलों की सहायता से फिल्मों का परीक्षण किया जाता है। इन पैनलों के सदस्यों का नामांकन केन्द्र सरकार द्वारा समाज के विविध स्तरों के व्यक्तियों का समावेश करते हुए किया जाता है। इन सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष होता है।

- ***प्रमाणन***– CBFC द्वारा फिल्मों के प्रमाणन हेतु चलचित्र अधिनियम, 1952, चलचित्र (प्रमाणन) नियम, 1983 तथा 5(ख) के तहत केन्द्र सरकार द्वारा जारी किए गए निर्देशों का अनुसरण किया जाता है।

इसके द्वारा फिल्मों को चार वर्गों के अंतर्गत प्रमाणित किया जाता है–

- ***U-*** अनिर्बंधित सार्वजनिक प्रदर्शन (सभी के देखने योग्य)।
- ***U/A-*** अनिर्बंधित सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए, किन्तु 12 वर्ष से कम आयु के बालक/बालिका को माता–पिता के मार्गदर्शन के साथ फिल्म देखने की चेतावनी के साथ।
- ***A-*** वयस्क दर्शकों के लिए निर्बंधित।
- ***S-*** व्यक्तियों की किसी विशिष्ट श्रेणी हेतु निर्बंधित।

CBFC के प्रमुख उद्देश्य

- समाज के लिए बेहतर एवं उपयुक्त मनोरंजन, मनोविनोद एवं शिक्षा सुनिश्चित करना।
- प्रमाणन प्रक्रिया को पारदर्शी एवं उत्तरदायी बनाना।
- बैठकों एवं कार्यशालाओं के माध्यम से सदस्यों, मीडिया एवं फिल्म निर्माताओं को सेंसरशिप मार्गदर्शिका तथा फिल्मों की वर्तमान प्रवृत्ति के मध्य सामंजस्य स्थापित करने हेतु सुझाव देना।
- प्रमाणन प्रक्रिया का कम्प्यूटरीकरण तथा मूलभूत सुविधाओं के उन्नयन के माध्यम से प्रमाणन में आधुनिक तकनीक अपनाना।
- स्वैच्छिक प्रकटीकरण, ई–शासन का क्रियान्वयन, RTI प्रश्नों के उत्तर और वार्षिक रिपोर्ट के मुद्रण इत्यादि के माध्यम से बोर्ड के क्रियाकलापों की पारदर्शिता बनाये रखना।
- CBFC को एक उत्कृष्ट प्रमाणन केन्द्र के रूप में विकसित करना।

KGS IAS

KHAN GLOBAL STUDIES

Most Trusted Learning Platform

GET IN ON Google Play

Download on the App Store

Download The Khan Global Studies App

KHAN GLOBAL STUDIES

Most Trusted Learning Platform

Karol Bagh Office

57/14, Near Grover Mithaiwala, Old Rajendra Nagar,
New Delhi - 110060
Phone No.: +91 1149 052 928, +91 9205 777 818

Mukherjee Nagar Office

704, Ground Floor, Main Road Front of Batra Cinema
Mukherjee Nagar, Delhi - 110009
Phone No.: +91 1143 017 512, +91 9205 777 817

Connect With Us